यह ग्रन्थ रजिस्टर्ड है कोई सज्जन न छापे

ओ३म्

मीमांसार्य्यभाष्य

जिसको

निखिलतन्त्रस्वतन्त्र श्रीपं० आर्य्यमुनिजी प्रोफेसर
संस्कृत फिलासफी डी. ए. वी. कालिज लाहौर

ने

निर्माण किया

और

पं० देवदत्तशर्म्मा

ने

ऐङ्गलो-संस्कृत यन्त्रालय लाहौर में मुद्रित
कराके प्रकाशित किया

सं० १९६३ सन् १९०७ ई०

प्रथमवार १०००] [मूल्य ५)

मीमांसार्य्यभाष्य की विषयसूची

प्रथमाध्याय

विषय			पृष्ठ	पंक्ति

द्वितीयाध्याय

इतिशम्

ओ३म्

मीमांसार्य्यभाष्यभूमिका

यस्मिन् विश्वमिदं विभाति निखिलं यत्रैव यात्यप्ययं ।
येनादौ प्रकटीकृता भगवती वेदैकरूपा गिरा ॥
यद्रूपस्य विवेचनाद्धि मुनिना लब्धं पदं वैदिकं ।
तं बन्दे जगदादिकारणविभुं वेदैकवेद्यं शिवम् ॥

मीमांसामुनिजैमिनेर्मतमिदं नैशो जगत्कारणं ।
पुण्यापुण्यफलस्य भोगनियमे कर्त्तुः कृतिर्वर्णिता ॥
एवं तत्त्वविवेचने विमतयो जल्पन्ति केचिन्मृषा ।
तेषां दोषनिवारणाय मुनिना भाष्यं कृतं वैदिकम् ॥

मीमांसाशास्त्र=यह वह शास्त्र है जिसका प्रचार अन्य शास्त्रों की अपेक्षा अति न्यून पाया जाता है, इसी कारण इस शास्त्र के विषय में लोग विविध विप्रतिपत्तियों से ग्रस्त हैं।

कोई कहता है यह शास्त्र केवल कर्म को कारण कथन करता है, कोई कहता है कि इस शास्त्र में ईश्वर का स्वीकार नहीं, कोई कहता है कि इसमें पशुओं की आहुति देना लिखा है और कोई कहता है कि यज्ञ में पशुओं के अङ्ग काटने का क्रम इस शास्त्र में वर्णित है, जैसाकि "**अथातोब्रह्मजिज्ञासा**" ब्र० सू० १।१।१

में स्वामी शङ्कराचार्य्य लिखते हैं कि "यथा च हृदयाद्यव दानानामानन्तर्य्यनियमः" =जैसे पशु के हृदयादि अङ्गों के काटने का क्रम नियत है कि प्रथम पशु के हृदय को काटे, फिर जिह्वा को और उसके अनन्तर वक्षस्थल=छाती को काटे, वैसे ब्रह्मजिज्ञासा में आनन्तर्य्यरूप क्रम नियत अपेक्षित नहीं, एवं पशुयज्ञवादी इस शास्त्र को गोमेध, अश्वमेध तथा नरमेध आदि निन्दित यज्ञों से कलङ्कित करते हैं।

हम यहां इस बात को बलपूर्वक कहसकते हैं कि उक्त बातों का गन्धमात्र भी इस शास्त्र में नहीं, यह केवल आधुनिक टीकाकारों की लीला का फल है जो इस वैदिक दर्शन पर उक्त कलङ्क लगाये जाते हैं।

कई एक आधुनिक टीकाकारों के भक्त यह आक्षेप किया करते हैं कि उन टीकाकारों को क्या प्रयोजन था जो अन्यथा अर्थ करते और वह टीकाकार जिनको सहस्रों वर्ष व्यतीत होगए वह आधुनिक और आजकल के लेखक प्राचीन, यह अभिनवनय क्या? इसका उत्तर यह है कि अन्यथा अर्थ करने में उनका अज्ञान और कहीं २ स्वार्थ भी कारण है, अज्ञान यह कि इन टीकाटिप्पणों के समय में लोग वैदिकप्रथानुकूल मूलशास्त्रों का अभ्यास नहीं करते थे किन्तु "अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः" इस औपनिषद वाक्य के अनुसार अन्धपरम्परा से एक दूसरे का अनुकरण करना श्रेय समझते थे जैसाकि पार्थसारथिमिश्र ने मीमांसादर्शन की व्याख्या शास्त्रदीपिका में जीवात्मा को सर्वव्यापक माना है और ईश्वर का खण्डन किया है, क्या कोई पूर्वमीमांसा के किसी सूत्र से जीवात्मा को सर्वव्यापक सिद्ध कर

सकृता है और ईश्वर का खण्डन किसी सूत्र से निकाल सकृता है, कदापि नहीं, सम्पूर्ण मीमांसादर्शन में एकभी सूत्र ऐसा नहीं जिसमें जीवात्मा को सर्वव्यापक माना हो अथवा जिसमें ईश्वर का खण्डन किया हो, शास्त्रदीपिकाकार ने यह भाव कुमारिलभट्ट से लिया है।

यद्यपि कुमारिलभट्ट की इस अंश में हमारे हृदय में अत्यन्त श्रद्धा है कि उन्होंने वैदिकधर्म के लिये अपने शरीर को भी अर्पण कर दिया परन्तु इस भाव से हम उनके अवैदिक भावों को जो उन्होंने ईश्वर के कर्तृत्व का खण्डन और जीवात्मा को विभु माना है नहीं मान सकृते, इस भूल का कारण मूलसूत्रों का वैदिक दृष्टि से अनभ्यास है और स्वार्थ इस प्रकार है कि जब मन चाहा कि मांसभक्षण तथा मद्यपान करें तो इन टीकाकारों ने पशुयज्ञ तथा सौत्रामणि आदि इस प्रकार के स्वार्थप्रधान यज्ञ मीमांसा में भरदिये जिनमें मांस तथा मद्य का विधान उनके लेख से स्पष्ट पाया जाता है।

और जो यह आक्षेप था कि तुम पुराने टीकाकारों को आधुनिक कैसे कहते हो, क्योंकि वह तुम से प्रथम हैं ? इसका उत्तर यह है कि हम उनको वैदिकधर्म की अपेक्षा से आधुनिक कहते हैं अपनी अपेक्षा से नहीं और अपने आपको वैदिक तथा प्राचीन इसलिये कहसक्ते हैं कि सूत्रों के अर्थ हम सर्वदा वैदिक-प्रथा तथा प्राचीनशैली के अनुसार करते हैं आधुनिक टीकाकारों की भांति कपोल कल्पित नहीं, हम दृढ़ प्रतिज्ञापूर्वक कहसक्ते हैं कि हमारा अर्थ सूत्रों तथा वैदिक सम्प्रदाय से किञ्चिन्मात्र भी विपरीत नहीं है परन्तु आधुनिक टीकाकारों का मन्तव्य तथा सूत्रार्थ सर्वथा विपरीत है, देखिये महर्षिजैमिनि महर्षिव्यास के सर्वप्रधान

शिष्य थे और महर्षिव्यास का अपने दर्शन में जीवात्माविषयक अणुवाद प्रसिद्ध है जिसको कोई भी अन्यथा नहीं करसक्ता ।

एवं ईश्वर का उपपादन "जन्माद्यस्ययतः" ब्र० सू० १ । १ । २ इत्यादि सूत्रों में महर्षिव्यास ने स्पष्ट किया है, फिर इस मन्तव्य से विरुद्ध जैमिनि का अनीश्वरवाद तथा जीवात्मा विषयक विभुवाद कैसे होसक्ता है ।

तात्पर्य्य यह है कि जिसप्रकार आधुनिक टीकाकारों की जीव के विभु मानने और ईश्वर के खण्डन करने की भूल है इसीप्रकार पशुयज्ञ विषयक भी भारी भूल है जिसको हम आगे भलेप्रकार स्पष्ट करेंगे ।

अब यहां यह विवेचन करते हैं कि ईश्वरविषयक पूर्व-मीमांसाकार का क्या मत है, हमारे विचार में महर्षिजैमिनि ईश्वर को जगत् का कारण मानते हैं, जैसाकि :-

(१) वेदप्रतिपाद्य अर्थ को धर्म वही मानसक्ता है जो ईश्वरवादी हो अन्य नहीं ।

(२) वेद को अपौरुषेय=जीवरचित न होना वही मान-सक्ता है जो ईश्वरवादी हो ।

(३) "अथातो धर्मजिज्ञासा" मी० १ । १ । १ इत्यादि सूत्रों में अभ्युदय और निःश्रेयस के हेतुभूतधर्म का निरूपण ईश्वरवादी ही करसक्ता है नास्तिक नहीं ।

इत्यादि हेतुओं से हम यह स्पष्ट पाते हैं कि महर्षिजैमिनि ईश्वरवादी हैं ।

और जिनका यह विचार है कि उक्त महर्षि अनीश्वरवादी हैं

तथा केवल कर्म को कारण मानते हैं, यह बातें आधुनिक टीकाकारों ने प्रसिद्ध की हैं.जो सर्वथा मिथ्या हैं

और जिन लोगों का यह विचार है कि जीव तथा ईश्वर का प्रतिपादक कोई सूत्र मीमांसा में नहीं ? इसका उत्तर यह है कि वह लोग आधुनिक टीकाकारों की आंख से देखते हैं, यदि महर्षिजैमिनि की रचना को वैदिक आंख से देखें तो एक नहीं कई एक सूत्र जीव, ईश्वर के वर्णन में स्पष्ट पाए जाते हैं, जैसाकि "लोके कर्माणि वेदवत्ततोऽधिपुरुषज्ञानम्" मी०६।२।१६ इस सूत्र में पूर्वपक्षी का कथन यह है कि लोक में शुभाशुभ कर्मों के फल मिलने से अधिपुरुष=ईश्वर का ज्ञान होसक्ता है फिर ईश्वरज्ञान के लिये वेद के मानने की क्या आवश्यकता है। "अपराधेऽपि च तैः शास्त्रम्" मी० १७ इस सूत्र में पूर्वसूत्रोक्त पूर्वपक्ष में यह युक्ति वर्णन की है कि लोक में जब कोई पुरुष अपराध करता है तो तैः=वह लौकिक लोग शास्त्रं=दण्डशास्त्र का प्रमाण देकर उसके अपराध को सिद्ध करदेते हैं, एवं लौकिकशास्त्र से ही सब काम सिद्ध होसक्ते हैं फिर वेद को उसके ज्ञान का साधन मानने की क्या आवश्यकता है, इसका उत्तर यह दिया है कि "अशास्त्रात्तूपसम्प्राप्तिः शास्त्रंस्यान्नप्रकल्पकं तस्मादर्थेन गम्येता प्राप्ते वा शास्त्रमर्थवत्" मी० १८=ऐसा मानने से उपसम्प्राप्तिः=उस ईश्वर की प्राप्ति अशास्त्रा=बिना ही वेद के होजानी चाहिये पर नहीं होती, इसलिये उसकी प्राप्ति के लिये शास्त्रं,स्यात्=वेद रूप शास्त्र अवश्य मानना चाहिये, न,प्रकल्पकं=केवल कपोलकल्पित शास्त्र नहीं। यदि इस शास्त्र में ईश्वर का स्वीकार न होता तो इस

वेदसाधनैकगम्य ईश्वरप्राप्तिअधिकरण में अधिपुरुष = ईश्वर प्राप्ति की चर्चा क्यों कीजाती, इससे स्पष्ट पाया जाता है कि मीमांसा में ईश्वर का स्वीकार भले प्रकार किया गया है ।

और इससे पूर्व अधिकरणों में जीव के कर्मों की व्यवस्था कीगई है जिससे जीव का एकदेशी होना स्पष्ट सिद्ध होता है, हम यहां पर पूर्वोत्तरपक्षद्वारा इस विषय को विस्तार के भय से नहीं लिखते, जो महाशय जीव के स्वरूप का वर्णन देखना चाहें वह इसी अधिकरण के भाष्य में देखलें ।

तात्पर्य्य यह है कि मीमांसाशास्त्र में अणु जीव और सर्वव्यापक सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर का स्वीकार स्पष्ट पाया जाता है जिसको बिना विचारे आधुनिक टीकाकारों ने ईश्वर का खण्डन और जीव को विभु इस शास्त्र के टीकाटिप्पणों में लिखमारा है जो वेद तथा मूलशास्त्र विरुद्ध होने से वैदिकों को सर्वथा त्याज्य है ।

इसी प्रकार पशुयज्ञ भी इस शास्त्र में सर्वथा निर्मूल है परन्तु आधुनिक टीकाकारों ने इसे भी अपनी चाल से उक्त शास्त्र में भर दिया है, सूत्रों में पशुहिंसा कहीं भी विधान नहीं कीगई और जहां कहीं पशुओं का दान के उद्देश से उल्लेख आया है वहां अल्पबुद्धि पुरुष यज्ञ में पशुओं का हवन समझ लेते हैं जैसाकि "जाघनी चैक देशत्वात्" मी० ३ । ३ । २० इत्यादि सूत्रों के अर्थ यह करते हैं कि पशु की पूंछ काटकर उससे हवन करे, पर सूत्रकार का यह आशय कदापि नहीं, सूत्र के सीधे अर्थ यह हैं कि "जाघनी" पशु का एकदेश है इसलिये इसका पशुयज्ञ में उत्कर्ष कर लेना अर्थात् जिन यज्ञों में पशुओं का दान

दिया जाता है वहां इस वाक्य को लेजाकर यह अर्थ करना कि दानार्ह पशु की पूंछ पकड़कर यजमान दान करे। इस भाव को छिपाकर अवैदिक लोगों ने यज्ञ में पशुहनन की प्रथा चलादी है जो वैदिकभाव से सर्वथा विपरीत है।

महर्षिजैमिनि जैसे वेदानुयायी पुरुष ऐसे निषिद्ध यज्ञों का विधान कब करसकते थे, यह लीला केवल मांसभक्षी और सुरापी लोगों की है जैसाकि "**सौत्रामण्यां सुरांपिवेत**" इत्यादि वाक्य रचकर यह लिख मारा है कि "**सौत्रामणी**" यज्ञ में शराब पीवे। और वेदभगवान् ने "**यथामांसं यथासुरा यथाक्षाधिदेवने**" अथर्व० ६।७।१ इत्यादि मन्त्रों में मद्य, मांस तथा जुआ आदि का स्पष्ट निषेध किया है और "**मुग्धादेवा उत शुना यजन्त**" अथर्व० ७।१।५ इत्यादि मन्त्रों में पशु हवन का स्पष्ट खण्डन किया है, फिर कौन कह सकता है कि वैदिकधर्मप्रधान मीमांसाशास्त्र में पशुयज्ञ और मांसभक्षण की विधि है।

कई एक लोग मांसभक्षण में उस सूक्त का प्रमाण दिया करते हैं जिसमें अतिथि से पूर्व खाने का निषेध किया है वह इसमें युक्ति यह देते हैं कि अतिथि से पूर्व मांस खाने का निषेध है अतिथि को खिलाकर खाने में कोई दोष नहीं? इसका उत्तर यह है कि अथर्व० कां० ९ सू० ३ में यह बात नहीं पाई जाती कि अतिथि से पूर्व खाने का निषेध है, क्योंकि वह प्रकरण पूर्व ही पूरा हो चुका है, प्रकरण यह है कि दूध और रसादि पदार्थ अतिथि से प्रथम न खाय। यज्ञ के अविच्छेद के लिये यह एक व्रत विधान किया गया

है, इस व्रत के अनन्तर यह विधान किया है कि "एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेवनाश्नीयात्" अथर्व० ९। ३। ६। ९=अधिगवक्षीर=नई ब्याईहुई गौ का दूध और मांस कदापि न खाय! यहां यह मंत्र मांस का अत्यन्त निषेध करता है और वह अतिथि से पूर्व खाने के निषेध रूप व्रत से अनन्तर किया गया है, अतएव सर्वथा निषेध है विधि का कल्पक नहीं। इसका विशेष रूप से निरूपण तृतीयाध्याय चतुर्थपाद के १३वें सूत्र में किया गया है यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं।

और बात यह है कि आधुनिक मीमांसक लोग जो मांसभक्षण विधान करते हैं वह विधिपूर्वक मानते हैं, जैसाकि :-

मधुपर्के तथा यज्ञे पित्र्यदैवत कर्मणि।
अत्रैव पशवो हिंस्याः नान्यत्रेत्यब्रवीत्मनुः॥

इत्यादि प्रक्षिप्त श्लोकों में वर्णन किया है कि यज्ञ में पशुहिंसा तथा यज्ञशेष मांस को ही भक्ष्य मानना चाहिये, यह आधुनिक मीमांसकों के मत में विधिपूर्वकता है।

परन्तु मीमांसा में यह भाव कदापि नहीं, जैसाकि "अपि वा दानमात्रं स्यात् भक्षशब्दानभि सम्बन्धात्" मी० १०। ७। १८ इत्यादि सूत्रों में यज्ञ में पशुओं का दानमात्र ही विधान किया है हिंसा नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि वेदों के जिन मंत्रों से पशुहिंसा निकाली जाती है उनमें हिंसा का विधान नहीं, जैसाकि यजुर्वेद के २४ वें अध्याय में यज्ञोपयोगी पशुओं का वर्णन आया है वहां भक्षण विधायक शब्दों के न पाए जाने से दानमात्र का ही आशय है हिंसा का नहीं।

और जो लोग इस अध्याय से अनेक पशुहिंसासाध्य अश्वमेध यज्ञ का निरूपण सिद्ध करते हैं वह इसलिये ठीक नहीं कि इस अध्याय में अश्वमेध का वर्णन नहीं पायाजाता किन्तु इस चराचर ब्रह्माण्ड के उपयोगी पदार्थों का वर्णन पायाजाता है, जैसाकि "पष्ठवाहो विराज उक्षाणो बृहत्या ऋषभा ककुभेऽनड्वाहः पङ्क्त्यै धेनवोऽतिछन्दसे" यजु० ४० । १.३ अर्थ—पष्ठवाह=पीठ से बोझ उठाने वाले घोड़े आदि, विराजे=राजा के लिये, उक्षाणः=पुष्टबैल, बृहत्यै = बड़ी २ गाढ़ी और रथों के लिये ऋषभा = बड़े २ बलिष्टबैल, ककुभे = बड़े २ कंधोवाले होने के लिये अर्थात् सांड छोड़ने के लिये, अनड्वाह = मामूली बैल, पङ्क्त्यै = पङ्क्ति बांधकर चलने वाले हल आदि साधनों के लिये, धेनवः = दुग्ध देने वाली गौयें अतिछन्दसे = वेदपारग विद्वानों के लिये उपयोगी हैं, इत्यादि मंत्रों में वर्णन किया है।

पर "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" ऐसा मानने वालों के मत में उक्त प्रकार के बैल तथा गौओं का विराट् आदि देवताओं के उद्देश से अश्वमेधयज्ञ में हनन करना विधान किया है, परन्तु यह इसलिये ठीक नहीं कि अतिछन्दस नाम वेदपारग के लिये गौएं लिखी हैं उसके लिये गौओं के हनन का क्या प्रयोजन! और यदि यह मानाजाय कि अतिछन्दस नाम वेदोक्त आचार से हीन पुरुष का है तो भी गौओं का हनन उसके लिये विधि नहीं होसक्ती, इससे ज्ञात होता है कि इस चराचर संसार में जिस २ वस्तु का जिस २ काम के लिये उपयोग है उन सब वस्तुओं का संक्षेप से इस अध्याय में निरूपण है हिंसा के अभिप्राय से नहीं।

और जिस अश्वमेध का "शबर" आदि टीकाकार वर्णन करते हैं उसमें असंख्यात जीवों का हवन पायाजाता है ऐसे अश्वमेध का मीमांसा सूत्रों में गंध भी नहीं।

यह उपकार **"श्रीमन्महर्षिस्वामीदयानन्दसरस्वती"** का है जिन्होंने अश्वमेधादि यज्ञों के सच्चे अर्थ करके सहस्रों उपयोगी पशुओं की जानें बचाईं तथा सहस्रों पुरुषों से अमेध्य मांसभक्षण छुड़ाकर उनको कृतार्थ किया और षट्शास्त्रकर्त्ताओं का वेदानुयायी होना सिद्ध किया।

अन्यथा सब शास्त्रों में उनके भाष्यकार जुदे २ गीत गाते थे और अपना २ मत सर्वोपरि बताते थे, यह उक्त महर्षि का ही पुरुषार्थ है कि इन टीकाकारों के भ्रमो को छेदन भेदन करके मूलसूत्रों से शास्त्रों का ऐक्य कर दिखलाया और इस भाव को भले प्रकार दर्शाया कि शास्त्र परस्पर विरुद्ध नहीं, छओं दर्शन ईश्वर को प्रतिपादन करते हैं, वेद को ईश्वरीय मानते हैं और जीव के पुण्य पाप से सुख दुःख की व्यवस्था मानते हैं, एवंविध दर्शनों के सब सिद्धान्त मिलते हैं। भेद केवल प्रक्रियांश में है अर्थात् वैदिक सिद्धान्तों के वर्णन करने की प्रक्रिया दर्शनों में भिन्न २ है, इसका नाम प्रकारभेद है वैदिक सिद्धान्तों का भेद नहीं।

और जिन लोगों का यह विचार है कि दर्शनों में एक दूसरे के सिद्धान्तों का खण्डन पायाजाता है, जैसाकि (१) **"न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्"** सां० १।२५ (२) **"ईक्षतेर्नाशब्दम्"** ब्र० सू० १।१।५ (३) **"रचनानुपपत्तेश्चनानुमानम्"** ब्र० सू० २।२।१।

(१) हम वैशेषिकादि शास्त्रकारों के समान द्रव्यादि षट्-पदार्थों के मानने वाले नहीं।

(२) ब्रह्म में इच्छा पाये जाने से अशब्द = जड़प्रकृति जगत् का कारण नहीं।

(३) प्रकृति में रचना करने का सामर्थ्य न पाये जाने से उसका मानना ठीक नहीं।

एवं सांख्यशास्त्र की मानी हुई प्रकृति का वेदान्त में तथा वैशेषिक के माने हुए षट्पदार्थों का सांख्य में खण्डन है और सांख्य तथा मीमांसा वाले ईश्वर को जगत् का कर्त्ता नहीं मानते और वेदान्त केवल ब्रह्म को ही अभिन्ननिमित्तोपादनकारण मानता है और अन्य शास्त्रकार प्रकृति वा परमाणुओं को उपादानकारण मानते हैं, फिर शास्त्रों का ऐक्य और एक वैदिक-सिद्धान्त का स्वीकार कैसे?

इसका उत्तर यह है कि षट्दर्शनों में परस्पर खण्डन कहीं भी नहीं पाया जाता और जो "न वयं षट् पदार्थ०" इत्यादि सूत्रों से विरोध सिद्ध किया है वह अत्यन्त भूल है, यहां योगाचार के मत का पूर्वपक्ष है, इस सूत्र में पूर्वपक्षी का कथन यह है कि हम वैशेषिकादिकों के समान षट्पदार्थों के मानने वाले नहीं, वहां प्रकरण यह है कि वस्तु तथा अवस्तु दोनों पदार्थों के मध्य अविद्या कोई पदार्थ नहीं ठहर सकता? इस पर पूर्वपक्षी ने कहाकि हम वैशेषिकों के समान नियत पदार्थ नहीं मानते जो हमारे मत में दोष हो। आगे सिद्धान्त सूत्र में यह लिखा है कि अनियत पदार्थ मानने पर भी अयौक्तिक पदार्थों का स्वीकार नहीं होसकता, यदि यह सूत्र सिद्धान्ती की ओर से होता तो इसका खण्डन कदापि न

किया जाता, इससे सिद्ध है कि "**हम षट्पदार्थवादी नहीं**" यह कथन पूर्वपक्षी का है फिर शास्त्रों का परस्पर विरोध कैसे ? और जिन वेदान्तसूत्रों को सांख्य के खण्डन में लगाया गया है उनका सांख्य के खण्डन में तात्पर्य्य नहीं किन्तु ईक्षणकर्तृत्वहेतु से ब्रह्म को शब्द प्रमाण प्रतिपाद्य कथन करने में तात्पर्य्य है, इसीलिये कहा है कि ब्रह्म अशब्द नहीं अर्थात् शब्द प्रमाण शून्य नहीं। इसी प्रकार "**रचनानु०**" सूत्र में चार्वाक मत का खण्डन है कि रचना की अनुपपत्ति से यह पायाजाता है कि अनुमान सिद्ध यह जड़वाद ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से इस जड़ जगत् की रचना कदापि सिद्ध नहीं होसकती, इसका विशेष रूप से निरूपण वेदान्तार्य्यभाष्य के द्वितीयाध्याय में स्पष्ट है विशेष जानने वाले वहां देखलें।

इस प्रकार विवेचन करने से कोई विरोध प्रतीत नहीं होता, यह भाष्यकारों की भूल है जिन्होंने सूत्रों के आशय को एक दूसरे के खण्डन में वर्णन करदिया है, षड्दर्शनों में एकभी, सूत्र ऐसा नहीं पाया जाता जिसमें दूसरे दर्शन के सिद्धान्त का खण्डन हो।

और जो यह कहाजाता है कि सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय इन दर्शनों में जीवात्मा को ज्ञानस्वरूप नहीं माना, यह भी टीकाकारों की भूल है, उक्त दर्शनों में जीवात्मा को स्पष्टरूप से ज्ञानस्वरूप वर्णन किया है, जैसाकि "**जड़व्यावृत्तो जडं-प्रकाशयति चिद्रूपः**" सां० ६ । ५० = जड़ से भिन्न जड़ पदार्थों का प्रकाशक चैतन्यस्वरूप जीव है "**द्रष्टादृशिमात्रः**

शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः " यो० २ । २० = वह जीवात्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप होने पर भी बुद्धिवृत्ति से ज्ञान विषय के समान प्रतीत होता है । " आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यान्निष्पद्यते तदन्यत् " वैशे० ३ । १९ = आत्मा और इन्द्रिय के सम्बन्ध से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह स्वरूपभूत ज्ञान से भिन्न है "इच्छा द्वेषप्रयत्नसुखदुःख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति " न्या० १ । १ । १० = इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख, ज्ञान यह आत्मा के लिङ्ग हैं, इत्यादि सूत्रों में जीवात्मा का ज्ञानस्वरूप होना उक्त दर्शनों में स्पष्ट है, और इसी स्वरूप के आविर्भाव को उक्त दर्शन-कार कैवल्य कहते हैं फिर मुक्ति में जीव का पाषाणकल्प होना कदापि सिद्ध नहीं होसक्ता, यह आक्षेप टीकाकारों की भूल से दर्शनों पर आता है कि जीव में स्वरूपभूत ज्ञान नहीं तथा जीव मुक्ति में पाषाणकल्प होजाता है ।

और उक्त दर्शनों में जिस पद का नाम कैवल्य अथवा अपवर्ग है उसीको पूर्व तथा उत्तरमीमांसा में ऐश्वर्यप्राप्ति अथवा ब्रह्मलोकप्राप्ति के नाम से कथन किया है अर्थात् जब जीव प्रकृति के बन्धनों से रहित होकर केवल अपने शुद्धस्वरूप से विराजमान होता है तब उसको ईश्वर के योग से ऐश्वर्य्य प्राप्ति होती है, वैदिक लोग उसीको ब्रह्मलोक प्राप्ति नाम से भी कथन करते हैं ।

लोक शब्द के अर्थ यहां किसी स्थानविशेष के नहीं किन्तु ब्रह्म की अवस्था प्राप्ति के हैं अर्थात् तद्धर्मतापत्ति से ब्रह्म के आनन्द को जीव मुक्ति अवस्था में अनुभव करता है, इस प्रकार दर्शनों का मुक्ति विषय में ऐक्य है ।

और जो उपादान कारण विषय में दर्शनों का मतभेद कहा जाता है उसका उत्तर यह है कि छओंदर्शन उपादान कारण को ईश्वर से भिन्न मानते हैं कोई उसको प्रकृति नाम से कथन करता है, कोई परमाणु नाम से, हां नाममात्र अंश में शास्त्रों की प्रक्रिया का भेद है उपादानत्वेन अभिमत पदार्थ का भेद नहीं, क्योंकि "स्वधयातदेकं" ऋ० १० । ११ । १२९ इस मन्त्र में जिसको उपादान कारण कथन किया है उसीको शास्त्रकार प्रकृति तथा परमाणु नाम से कथन करते हैं किसी अन्य पदार्थ को नहीं, वर्णन करने की रीति तथा प्रक्रिया यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ।

और जो कई एक वेदविरोधी यह कहते हैं कि सांख्य तथा मीमांसाकार ईश्वर को नहीं मानते ? इसका उत्तर पूर्व देचुके हैं कि यह टीकाकारों की भूल है सांख्य तथा मीमांसा में ईश्वर का स्पष्ट रीति से स्वीकार है और जब उत्तरोत्तर दर्शनकार पूर्व दर्शनों के अनुक्त विषय का वर्णन करते हैं तो विरोध का अवकाश ही कैसे ? जैसाकि वैशेषिक में अभ्युदय और निःश्रेयस के साधनभूत षट्पदार्थों का वर्णन करने के अनन्तर वादकथा के नियमोपयोगी शास्त्र की आवश्यकता हुई तो महर्षिगोतम ने न्यायशास्त्र की रचना की, एवं सांख्यलिखित प्रकृति पुरुष के विवेकज्ञान के अनन्तर चित्तवृत्ति निरोधरूप योग की आवश्यकता हुई तो महर्षिपतञ्जलि ने योग का निर्माण किया, इसी प्रकार उक्त रीति से पदपदार्थ बोध के अनन्तर वैदिक वाक्यार्थ बोध के लिये महर्षिजैमिनि ने मीमांसा निर्माण की और जब महर्षि व्यासजी ने उक्त पांच दर्शनों में यह न्यूनता देखी कि इनमें पूर्णरीति से ब्रह्मबोधक वाक्यों का विचार नहीं कियागया तो महर्षि ने

ब्रह्मसूत्रों का निर्माण किया जिसका नाम वेदान्त दर्शन है, जब दर्शनों के निर्माण का यह क्रम पायाजाता है तो परस्परविरोध की सम्भावना होनी असम्भव है ।

प्रसङ्गसङ्गति से यहां दर्शनों का अविरोध निरूपण किया गया अब प्रकृत मीमांसादर्शन का प्रयोजन वर्णन करते हैं, "मीमांसा" शब्द के अर्थ विचार करने के हैं अर्थात् जिस शास्त्र में विचार किया गया हो उसका नाम "**मीमांसा**" है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि इसमें मुख्यतया वैदिक वाक्यों का विचार किया गया है जो मनुष्य के जीवन को पवित्र करने का एकमात्र उद्देश्य हैं, इसकी अपेक्षा सब विचार गौण हैं, इस शास्त्र के बिना वैदिकवाक्यों का विचार दुष्कर ही नहीं अपितु असम्भव है ।

कौन अर्थवाद वाक्य और कौन विधिवाक्य है, इस प्रकार का बोध मीमांसाशास्त्र से ही होसक्ता है अन्य किसी से नहीं, अर्थवाद वाक्यों का निरूपण मी० १ । २ । १ आदि में विस्तार से किया गया है यहां उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं, केवल विधिवाक्य और मीमांसाशास्त्र के अनुसार उनके शब्दबोध का प्रकार तथा विधियों के भेद यहां निरूपण किये जाते हैं:-
"**आत्मानमुपासीत**" = परमात्मा की उपासना करे, "**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः**" = वेद का अध्ययन करे "**अहरहः सन्ध्यामुपासीत**" = प्रत्येक मनुष्य प्रतिदिन सायंप्रातः सन्ध्या करे, "**अग्निहोत्रं जुहोति**" = अग्निहोत्र करे "**संगच्छध्वं संवदध्वं**" ऋ० ८ । ८ । ४९ = तुम सब मिलकर रहो और

मुख से एकही बात कहो "मातृदेवोभव पितृदेवोभव" = माता पिता को देव समान समझो "यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि" = जो उत्तम कर्म हैं उनका अनुष्ठान करो अन्य का नहीं, इत्यादि विधियें हैं। यह विधियें भावीसुख को उद्देश्य रखकर पुरुष को उपासनादि कर्मों में प्रवृत्त करती हैं अर्थात् भावी सुख की कामना वाले पुरुष को नियमपूर्वक प्रतिदिन उपासनादि कर्मों का अनुष्ठान करने की प्रेरणा करती हैं।

"उपासीत" इसमें दो अंश हैं एक धातु दूसरा प्रत्यय और प्रत्यय में भी दो अंश हैं एक आख्यातत्त्व और दूसरा लिङ्त्व, लट् लिट् लुट् लट् लेट् लोट् लङ् लिङ् लुङ् लङ् इन दश लकारों का नाम "आख्यात" है और इनमें रहने वाले धर्म का नाम "आख्यातत्त्व" है और वह दशों लकारों में वर्त्तमान होने से लिङ् का साधारण धर्म है, लिङ्त्वधर्म लिङ्मात्र में वर्त्तमान होने से असाधारण धर्म है, यह दोनों धर्म लिङ् में वर्त्तमान हुए "भावना" को कहते हैं अर्थात् इन दोनों अंशों का वाच्य "भावना" है।

"भवितुर्भवनानुकूलो व्यापार विशेषो भावना" = भावी वस्तु की उत्पत्ति के जनक व्यापारविशेष का नाम भावना है। यह दो प्रकार की होती है, एक शाब्दीभावना, दूसरी आर्थीभावना, पुरुष की प्रवृत्ति के जनक प्रयोजक के व्यापार विशेष का नाम "शाब्दीभावना" है अर्थात् प्रेरक के जिस व्यापारविशेष से पुरुष की प्रवृत्ति होती है उसका नाम शाब्दी-

भावना है, यही लिङ्त्व अंश का वाच्य है क्योंकि लिङ् अर्थात् उपासीत के श्रवण करने से पुरुष को शीघ्र ही प्रतीत होजाता है कि यह मुझको उपासना में प्रवृत्त करता है अर्थात् मेरी प्रवृत्ति के जनक व्यापारविशेष वाला है और जो जिससे नियमपूर्वक प्रतीत होता है वह उसका वाच्य होता है यह नियम है, जैसाकि गामानय=गौ को ला, इस लौकिकवाक्य में गो शब्द का अर्थ गोत्व तथा गोत्व का आश्रय है, क्योंकि "गो" शब्द के श्रवण से गोत्व और गोत्व के आश्रय की नियमपूर्वक प्रतीति होती है, यह व्यापारविशेष लौकिकविधि वाक्यों में पुरुषनिष्ठ होने के कारण अभिप्रायविशेष नाम से और वैदिक वाक्यों में लिङादि शब्दनिष्ठ होने के कारण शाब्दीभावना नाम से कहा जाता है। अधिक क्या प्रेरणा का नाम ही शाब्दीभावना है, यह किं भावयेत्=किसको बनावे, केन भावयेत्=किससे बनावे, कथं भावयेत्=कैसे बनावे, इस प्रकार साध्य, साधन तथा इतिकर्त्तव्यता की अपेक्षा करती है, वक्ष्यमाण पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना इसका साध्य है और विधि का ज्ञान पुरुषप्रवृत्ति का हेतु होने से साधन है, क्योंकि विधिज्ञान से ही पुरुष प्रवृत्त होता है, अर्थवादबोधित कर्म की प्रशंसा का नाम "इतिकर्त्तव्यता" है, क्योंकि जब पुरुष कर्म की प्रशंसा सुनता है तब उसके करने में शीघ्र ही प्रवृत्त होजाता है अर्थात् शाब्दीभावना विधिज्ञान के द्वारा पुरुषप्रवृत्ति को बनाती है, इसलिये पुरुष की प्रवृत्ति उसका साध्य है, और पुरुष की प्रवृत्ति विधिज्ञान के अधीन है इसलिये विधिज्ञान साधन है, और कर्म की प्रशंसा सुनकर पुरुष कर्म करने के लिये उत्साहित होता है इसलिये कर्म की प्रशंसा "इतिकर्त्तव्यता" है।

फल की इच्छा से उत्पन्न हुई उपासनादि क्रियाविषयक पुरुष की प्रवृत्तिविशेष का नाम "**आर्थीभावना**" है अर्थात् पुरुष की उस प्रवृत्तिविशेष को आर्थीभावना कहते हैं जो अपने प्रयोजन के सिद्ध करने वाले उपासनादि कर्मों के करने के लिये हुई हो।

यह भावना भी "**किं भावयेत्**" "**केन भावयेत्**" "**कथं भावयेत्**" इस प्रकार साध्य, साधन और इतिकर्त्तव्यता की अपेक्षा करती है।

भावी सुख इसका साध्य है, और भावी सुख का हेतु होने से उपासनादिकर्म साधन तथा यमनियमादि उसका अंग होने से "इतिकर्त्तव्यता" हैं। यह दोनों भावना विधिप्रत्यय का वाच्य हैं और प्रयोजन का साधक उपासनारूप कर्म धातु का वाच्य है। धात्वर्थ और प्रत्ययार्थ में प्रत्ययार्थ प्रधान होता है और धात्वर्थ अप्रधान, इसलिये धात्वर्थ का प्रत्ययार्थ के साथ करणरूप से अन्वय होता है यह इस शास्त्र की मर्यादा है, इसलिये "**आत्मानमुपासीत**" इस विधि का यह अर्थ हुआ कि "**मोक्षकामः पुरुषः परमात्मोपासनेन मोक्षं भावयेत**" = मोक्ष की कामना वाले पुरुष को चाहिये कि वह परमात्मा की उपासना से मोक्ष को सम्पादन करे। यहां मुक्ति प्रयोजन है उसकी इच्छा से जो परमात्मा की उपासना के लिये मोक्षकाम पुरुष की प्रवृत्ति होती है उसको "आर्थीभावना" कहते हैं। मोक्ष उसका साध्य तथा मोक्ष का हेतु होने से उपासना साधन है और यम नियमादि "इतिकर्त्तव्यता" हैं।

"अपूर्वविधि" "नियमविधि" तथा "परिसंख्याविधि" इस भेद से विधि तीन प्रकार की होती है।

"प्रमाणान्तरेणाप्राप्तस्य प्रापको विधिरपूर्वविधिः"= तीनों कालों में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो अर्थ प्राप्त नहीं है उसको प्राप्त कराने वाली विधि का नाम "अपूर्वविधि" है, जैसाकि "मोक्षकामःपुरुषःपरमात्मानमुपासीत"= परमात्मा की उपासना से मोक्ष को बनावे। परमात्मा की उपासना इस विधि के बिना अन्य किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं, इसको प्राप्त कराने से इसका नाम "अपूर्वविधि" है, क्योंकि यह अपूर्व अर्थ का विधान करती है।

"पक्षेऽप्राप्तस्य प्रापको विधिर्नियमविधिः"=पक्षमें जो अर्थ प्राप्त नहीं है उसकी प्राप्ति कराने वाली विधि का नाम "नियमविधि" है, जैसाकि "शुचिरुपासीत"= पवित्र होकर उपासना करे, परमात्मा की उपासना पवित्र और अपवित्र दोनों पक्षों में प्राप्त है, जब मनुष्य अपवित्रता काल में परमात्मा की उपासना करता है उस पक्ष में अप्राप्त जो पवित्रता उसका विधान करने से यह "नियम विधि" कहलाती है अर्थात् "यदि परमात्मा की उपासनाकरे तो पवित्रता के साथ ही करे अन्यथा नहीं" यह नियम का स्वरूप है।

"उभयोश्चयुगपत्प्राप्तावितरव्यावृत्तिपरोविधिः परिसंख्याविधिः"=एक काल में दो अर्थों की प्राप्ति होने पर जो उनमें से एककी निवृत्ति को विधान करती है उसका नाम

"परिसंख्याविधि" है, जैसाकि "शुचिःकुर्वीत" = पवित्र होकर करे, परमात्मा की उपासना में प्रवृत्त हुए पुरुष के पवित्रता और अपवित्रता दोनों स्वतः प्राप्त हैं, इन दोनों के प्राप्त होनेपर उक्त विधि अपवित्रता की निवृत्ति का ही विधान करती है पवित्रता का नहीं अर्थात् "अपवित्र हुआ परमात्मा की उपासना न करे" इन तीनों विधियों में अपूर्वविधि चार प्रकार की होती है, उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि, अधिकारविधि।

कर्मस्वरूपमात्रबोधको विधिरुत्पत्तिविधिः = कर्म के स्वरूपमात्र का बोधन करने वाली विधि का नाम "उत्पत्तिविधि" है जैसाकि "आत्मानमुपासीत" = परमात्मा की उपासना करे, "अग्निहोत्रंजुहोति" = अग्निहोत्र करे, "सन्ध्यामुपासीत" = सन्ध्या करे।

"अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिर्विनियोगविधिः" = अंग तथा प्रधान के सम्बन्ध को बोधन करने वाली विधि का नाम "विनियोगविधि" है अर्थात् जिन अंगों से उपासना, अग्निहोत्र, सन्ध्याआदि प्रधान कर्म होसकते हैं उन अंगों का उक्त प्रधान कर्मों के साथ जो अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है उसको बोधन करने वाली विधि "विनियोगविधि" कहाती है। उपासना कर्म का अंग यमनियमादि अग्निहोत्र कर्म का अंग घृतादि और सन्ध्या कर्म का अंग शुचित्व तथा नीरोगतादि हैं।

"प्रयोगप्राशुभावबोधको विधिःप्रयोगविधिः" = कर्म के अनुष्ठान की शीघ्रता को बोधन करने वाली विधि का

नाम "प्रयोगविधि" है अर्थात् कर्म के अनुष्ठान काल में इसके अनन्तर अमुक कर्त्तव्य है, इसके अनन्तर अमुक कर्त्तव्य है, इस प्रकार कर्माङ्गों के क्रम को बोधन करके जो अनुष्ठान की शीघ्रता को बोधन करे उसका नाम "प्रयोगविधि" है।

"कर्मजन्यफलस्वाम्यबोधिकोविधिरधिकारविधिः"— कर्मजन्यफल के भोक्ता को बोधन करने वाली विधि का नाम "अधिकारविधि" है अर्थात् कर्म से जो फल होता है जिसका दूसरा नाम प्रयोजन है उसका भोक्ता कौन है इसका निर्णय करके बोधन करने वाली विधि का नाम "अधिकारविधि" है। इसी प्रकार के वाक्यार्थ विचार का भाण्डार "मीमांसाशास्त्र" है।

जो लोग इसमें पशुयज्ञ किंवा पशुओं के हृदयादि अवयवों के खण्डन का क्रम वर्णन करते तथा मानते हैं वह वैसी ही भूल करते हैं जैसाकि अवैदिक लोग "शुनःशेप" की कथा का उदाहरण देकर नरमेधादि यज्ञों का विधान कथन करते हैं, वह कथा यों है कि "अजीगर्त्त" नामक पिता से शुनःशेप को मूल्य लेकर "ऐक्ष्वाक" नामक ऋषि ने नरमेध यज्ञ किया। जिस प्रकार इस अनर्थ का गन्ध मात्र भी वेद में नहीं पायाजाता इसी प्रकार पशुयज्ञ किंवा पशुओं के हृदयादि अवयवों के खण्डन का भी गन्ध वेद तथा मीमांसा के सूत्रों में नहीं, प्रत्युत "मांसपाकप्रतिषेधश्च तद्वत्" मी० १२। २। २ इस सूत्र में मांसपाक का निषेध किया है, इसका विषय वाक्य मन्त्र यह है जिसमें बलपूर्वक मांस का निषेध पायाजाता है जैसाकि :—

यन्नीक्षणं मांस्पचन्या उखाया या पात्राणि यूष्ण

आसेचनानि । ऋ० २ । ३ । ११ । १३

अर्थ–जिस बर्त्तन में भोजन पकाया जाय उसकी भलीभांति परीक्षा करले कि इसमें मांस तो नहीं पकाया गया । इससे स्पष्ट पायाजाता है कि वैदिक कर्मों में मांस का अत्यन्त निषेध है फिर पशुयज्ञ की तो कथाही क्या ।

वस्तुगत्या मीमांसाशास्त्र का रहस्य यह है कि यह शास्त्र वैदिक वाक्यों की मीमांसा करता है स्वतन्त्र किसी बात का निषेध किंवा विधान नहीं करता, यह लोगों की अत्यन्त भूल है जो इस शास्त्र को पशुहिंसा में लगाते हैं, पशुहनन में इसका तात्पर्य्य कदापि नहीं, इस अर्थ को चित्रवद्दर्शाने के लिये हम यहां इसके मुख्य २ अधिकरणों की समालोचना करते हैं :–

इस शास्त्र का तात्पर्य्य यह है कि ईश्वर के आदेश से बिना धर्म का प्रचार नहीं होसकता, इसलिये इसके प्रथमपाद में ईश्वर के आदेशरूप वेदप्रतिपाद्य अर्थ को धर्म सिद्ध किया गया है और वह वेदप्रतिपाद्य अर्थ यज्ञादि कर्म हैं जिनको धर्म कथन करने के अनन्तर उसके प्रतिपादक वेद को नित्य सिद्ध किया है ।

द्वितीयपाद में "सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्" यजु० ४० । ८ इत्यादि वाक्य निराकार ब्रह्मरूप सिद्ध वस्तु को प्रतिपादन करते हैं, इनमें कर्तव्य का विधान नहीं अर्थात् उक्त वाक्यों में प्रतिपादन किये हुए ब्रह्म को क्या करे, यह निर्णय नहीं, इसलिये ऐसे वाक्यों को सिद्धवस्तु के बोधन करने वाले वाक्य कहते हैं । ऐसे वाक्यों की विधिवाक्यों के साथ एकवाक्यता करके अर्थबोधकता कथन कीगई है जैसाकि "ओ३म्क्रतो स्मर" यजु० ४० । १५ इस वाक्य में "क्रतुः" शब्द से जीव को यह

बोधन किया है कि क्रतो = हे जीव तू ओ३म् = ओंकार रूप ब्रह्मको स्मर = स्मरण कर, "स्मर" यह लोट लकार का रूप होने से विधि है, क्योंकि लोट, लेट आदि लकार प्रायः विध्यर्थ में ही होते हैं, इस विधि-वाक्य के साथ उक्त वाक्य की एकवाक्यता करने अर्थात् दोनों वाक्यों को मिलाने से यह अर्थ होते हैं कि जो ब्रह्म सर्वत्र परिपूर्ण अकाय आदि विशेषणों से युक्त तथा सर्वज्ञ सर्वशक्ति वेदों का प्रकाशक है, हे जीव तु उस ब्रह्म का स्मरण कर अर्थात् उसकी उपासना कर, इस प्रकार सिद्ध वाक्यों को विधिवाक्यों के साथ मिलाकर अर्थ करना अर्थवाद अधिकरण में वर्णन किया है।

"समेषु वाक्यभेदः स्यात्" मी० २।१।४७ इत्यादि सूत्रों में वर्णित इस वाक्यभेदाधिकरण का आशय यह है कि जो वाक्य वा मन्त्र परस्पर निराकांक्ष हों अर्थात् आपस में एक दूसरे के अन्वय=सम्बन्ध की आवश्यकता न रखते हों वहां वाक्यभेद से अन्वय होना चाहिये।

इस सूत्र के भाष्य में इसके कई उदाहरण दिये गए हैं, इसको स्पष्ट करने के लिये हम यहां यह उदाहरण देते हैं कि "एता ऐन्द्राग्ना द्विरूपा अग्नीषोमीया वामना अनड्वाह अग्नावैष्णवा वशा मैत्रावरुण्योऽन्यत ऐन्यो मैत्र्यः" यजु० २४।८=छोटे २ बैल, बन्ध्या गौएं तथा जन्तु जो इतस्ततः प्राप्त होसकते हैं और जो मैत्री करने वाले हैं। यह सब वाक्य परस्पर सम्बन्ध न होने से निराकांक्ष हैं अर्थात् एक दूसरे की आवश्यकता नहीं रखते इसलिये यह वाक्यभेदाधिकरण के विषयवाक्य कहलाते हैं, वाक्य भेद करने से उक्त मन्त्र के यह

अर्थ होते हैं कि "वामना अनड्वाहःपालनीयाः, वशाः पालनीयाः=छोटे२ बैल तथा गौएं आदि सब पशुओं का पालन करना चाहिये, और इन पशुओं को "द्विरूपाः" इसलिये कहा गया है कि उत्पत्ति स्थिति करने वाला परमात्मा इनका देवता=स्वामी है, इसी कारण "अग्नीषोमीयाः" आदि विशेषण दिये गए हैं कि उत्पत्ति तथा स्थिति कारक परमात्मा रूप स्वामी वाले उक्त जीव हैं इसलिये इनका पालन करना चाहिये।

इस अध्याय को पशुहिंसाप्रधान मानने वाले "अग्नीषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि वाक्यों का आधार ऐसेही मन्त्रों को मानते हैं, परन्तु उक्त वाक्य की भांति इस अध्याय में इस आशय का अंशमात्र भी नहीं पायाजाता, क्योंकि इस अध्याय में पशुहिंसा का कहीं भी कथन नहीं आया।

और यह बात होभी कैसे सकती है कि संसारभर के पशु जो इस अध्याय में वर्णन किये हैं वह सब हिंसा के निमित्त से ही किये गए हैं अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं। और जो "आलभेत" पद के अर्थ मारने के लिये जाते हैं यह भी ठीक नहीं, क्योंकि वादी भी कई एक स्थलों में इस पद के अर्थ "स्पर्श" तथा "लाभकरने" के मानते हैं जैसाकि "महीधर" अपने भाष्य के पृ० ८७३ में कात्यायन सूत्र का प्रमाण देकर यह लिखते हैं कि "यजमानमालभेत"=यजमान का स्पर्श करे, क्या! यहां भी "आलभेत" पद के अर्थ यजमान को मारने के हैं? इस पद के अर्थ "मीमांसार्य्यभाष्य" में विस्तारपूर्वक वर्णन किये गए हैं यहां दुहराने से ग्रन्थ बढ़ता है, और इस अध्याय का समा

धान निखिलशास्त्रनिष्णात पण्डित श्रीस्वामी हरिप्रसादजी ने निज रचित "वेदप्रसाद" नामक वेदों के व्याख्यान में भले प्रकार किया है, इसलिये भी यहां विस्तार की आवश्यकता नहीं ।

महीधरादिकों ने जो इस अधिकरण को "इषेत्वोर्ज्जेत्वा" यजु० १ । १ इस मन्त्र पर घटाया है वह इसलिये ठीक नहीं कि उन्होंने "इषे" को शाखा तथा "ऊर्ज्जे" को पात्रविशेष मानकर यह अर्थ किये हैं कि "इषे त्वां छिनद्मि उर्ज्जे- त्वां मार्ज्मि"=हे शाखे तुमको काटूं, हे ऊर्ज्जे तुमको मार्जन करूं, इस प्रकार उक्त अधिकरण का आश्रय लेकर छेदन क्रिया और मार्जन क्रिया का ऊपर से अध्याहार करके इस मन्त्र को जड़ पदार्थों की प्रार्थना में लगादिया है, भला यहां वाक्यभेदाधिकरण का क्या प्रयोजन ?

उक्त मन्त्र का भाव यह है कि सर्वप्रकाशक तथा दिव्यगुणयुक्त परमात्मा हमारी इन्द्रियों को ज्ञानवृद्धि और बलवृद्धि के लिये श्रेष्ठ कामों में लगाए, इस प्रकार यहां "इषे" आदि वाक्य निराकांक्ष नहीं किन्तु चतुर्थी विभक्ति का अर्थ रखकर कर्त्ता के साथ परस्पर साकांक्ष हैं ।

इस प्रकार वेद को जड़ वस्तुओं की प्रार्थना विषयक लापन करने में पौराणिक टीकाकारों ने मीमांसा से बहुत काम लिया है जिसका लेशमात्र भी सूत्रों में नहीं पायाजाता, और होही कैसे सकताथा जबकि "अथातोधर्मजिज्ञासा" इस प्रथम सूत्र से लेकर "अन्वाहार्य्यं च दर्शनात्" इस अन्तिम सूत्र

पर्य्यन्त सम्पूर्ण मीमांसाशास्त्र में स्वर्ग की मुख्यता और अन्य साधनों की गौणता वर्णन कीगई है, ऐसे शास्त्र में मुख्यतया जड़ पदार्थ कैसे वर्णन किये जासक्ते हैं।

"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादि वाक्यों में यह वर्णन किया है कि स्वर्ग की कामना वाला पुरुष दर्शपूर्णमास याग करे तथा स्वर्ग की कामना वाला ज्योतिष्टोम याग करे। इस प्रकार सर्व कर्मों का लक्ष्य एकमात्र स्वर्ग ही है और अन्य सब कर्म उसके अङ्ग हैं, इस प्रकार सब यज्ञ उस स्वर्ग के साधन हैं जिसको मीमांसाशास्त्र एकमात्र लक्ष्य रखता है।

मीमांसाशास्त्र के अनुसार स्वर्ग कोई स्थान विशेष नहीं किन्तु प्रीति का नाम ही स्वर्ग है जैसाकि उक्त शास्त्र के भाष्यकार "शबरस्वामी" लिखते हैं कि "ननु, स्वर्गशब्दो लोके प्रसिद्धो विशिष्टे देशे, यस्मिन् न उष्णं, न शीतं, न क्षुत्, न तृष्णा, न अरतिः, न ग्लानिः, पुण्यकृत एव प्रेत्य तत्र गच्छन्ति, नान्ये। अत्र उच्यते, यदि तत्र केचित् अमृत्वा गच्छन्ति, तत आगच्छन्ति अजनित्वा, तर्हि स प्रत्यक्षो देश एवञ्जातीयकः नतु अनुमानात् गम्यते" शा० भा० ६।१।१ = पूर्वपक्षी का कथन यह है कि स्वर्ग शब्द उस देश का वाचक है जिसमें न अधिक गर्मी, न सरदी, न प्यास, न भोगों की अरुची और न ग्लानि होती है, पुण्यात्मा लोग वहां जाते हैं अन्य नहीं, इसका समाधान यह किया है कि यदि वहां जीते ही लोग जाते हैं और फिर यहां आजाते हैं तो वह

देश प्रत्यक्ष हुआ और यह बुद्धि में नहीं आता कि ऐसा कोई देश होगा, और आगे पूर्वपक्षी यह कहता है कि कई एक सिद्ध पुरुष उसको देख आए हैं उन्होंने यहां आकर वर्णन किया है इसका उत्तर सिद्धान्ती ने यह दिया कि ऐसे सिद्धों के होने में कोई प्रमाण नहीं जो इसी देह से स्वर्गलोक में चले जायं और फिर आकर कथन करें, **आख्यानमपि पुरुषप्रणीतत्वात्** = जो कहानियें इस विषय में पाई जाती हैं वह मनुष्य रचित होने से आदरयोग्य नहीं, अतएव स्वर्ग कोई देशविशेष नहीं।

इस प्रकार स्वर्ग के स्थानविशेष होने का खण्डन करके प्रीति को ही स्वर्ग माना है और वह प्रीति परमात्मा का प्रेम है जिसको औपनिषद लोगों ने "**रसो ह्येव सः रसं ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति**" इत्यादि वाक्यों में रस तथा आनन्द शब्द से वर्णन किया है और इसीको "**नवारे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवंति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रियाभवंति**" बृह० २। ४। ५। इत्यादि वाक्यों में आत्मा शब्द से कथन किया है, और इसी प्रीतिरूप स्वर्ग को "**साधकन्तुतादर्थ्यात्**" मी० ६। १।२ इस सिद्धान्त सूत्र में वर्णन किया है कि कोई द्रव्यविशेष स्वर्ग नहीं किन्तु स्वर्ग के साधक होने से द्रव्यों में उपचार से स्वर्ग शब्द का प्रयोग पाया जाता है मुख्यतया नहीं, इसलिये मीमांसाशास्त्र में निरूपण किये यज्ञ उक्त स्वर्ग के साधन हैं और तद्विहित विधियें उसी स्वर्ग का विधान करती हैं जिसका वर्णन निम्नलिखित मंत्र में वर्णित है कि :-

यज्ञेनयज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानःसचन्त यत्र पूर्वेसाध्याः सन्तिदेवाः।

यजु० ३१।१६।

अर्थ—उस परमपूजनीय परमात्मा का ज्ञानरूप यज्ञ से विद्वान् लोग पूजन करते हैं और पूजारूप धर्मों को धारण करते हुए दुःख से सर्वथा रहित उस (नाकं) स्वर्ग पद को प्राप्त होते हैं जिसको साधन सम्पन्न पुरुष पूर्व सृष्टियों में प्राप्त हुए हैं।

यही स्वर्ग मीमांसाशास्त्र का एकमात्र लक्ष्य है और ज्ञान-यज्ञ तथा कर्मयज्ञ सब इसी के साधन वर्णन किये गए हैं, इसी स्वर्ग की सिद्धि के लिये परमात्मा के इस वृहत् ब्रह्माण्ड में अहर्निश वसन्त ऋतुरूप घृत, ग्रीष्म ऋतुरूप समिधा और शरद ऋतुरूप हविः से हवन होरहा है जो प्रत्येक मनुष्य को वैदिक यज्ञ की शिक्षा देरहा है। इसी स्वर्ग के साधन सब कर्म मीमांसा में कथन किये गये हैं जिनका विस्तार इस शास्त्र में भले प्रकार पाया जाता है पर उनमें प्रधान तीन ही याग हैं जिनको प्रकृति याग कहाजाता है अर्थात् एक "दर्शपूर्णमास" दूसरा "ज्योतिष्टोम" जिसको "सोम" याग भी कहते हैं और तीसरा "अश्वमेध" इनके अतिरिक्त और सब इनकी विकृति हैं, इसलिये उक्त तीनों याग "प्रकृतियाग" कहलाते हैं, "दर्शपूर्णमास" घृत दधि,पय तथा अन्न साध्य याग है, यह याग दर्श = अमावस्या और पूर्णमास = चन्द्रमा के पूर्ण होने वाले पर्व में किया जाता है इसलिये इसका नाम "**दर्शपूर्णमास**" है और "ज्योतिष्टोम" सोम आदि औषध रस साध्य याग है इसमें ज्योतिः = स्वतःप्रकाश परमात्मा की स्तुति कीजाती है, इस याग की सात संस्था हैं,

ओ३म्

अथ मीमांसार्य्यभाषाभाष्यं प्रारभ्यते

सङ्गति—महर्षि जैमिनि अभ्युदय तथा निःश्रेयस के हेतु वेदोक्त धर्म का विस्तार पूर्वक निरूपण करने के लिये मीमांसाशास्त्र का आरम्भ करते हुए प्रथम धर्मजिज्ञासा की आवश्यक्ता कथन करते हैं:—

अथातोधर्मजिज्ञासा । १ ।

पदच्छेद—अथ । अतः । धर्मजिज्ञासा ।

पदार्थ—(अथ) गुरुकुल में यथाविधि वेदाध्ययन के अनन्तर (धर्मजिज्ञासा) धर्म के जानने की इच्छा करनी चाहिये (अतः) इसलिये कि वह अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति का साधन है।

भाष्य—इस लोक तथा परलोक में अर्थात् इस जन्म और जन्मान्तर में अभीष्ट कार्य्यों के उदय का नाम **"अभ्युदय"** और दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का नाम **"निःश्रेयस"** है, यह दोनों धर्म से प्राप्त होते हैं इसलिये धर्मकी जिज्ञासा करना आवश्यक है।

सं०—अब धर्म का लक्षण करते हैं:—

चोदनालक्षणोऽर्थोधर्मः । २ ।

पद०—चोदनालक्षणः । अर्थः । धर्मः ।

पदा०—(चोदनालक्षणः) विधिप्रतिपाद्य (अर्थः) अर्थको (धर्मः) धर्म कहते हैं।

भाष्य–प्रवर्त्तक वचन का नाम "चोदना" है अर्थात् जिसके श्रवण करने से प्रेरणा पाई जाय उसको चोदना कहते हैं। चोदना, नोदना, प्रेरणा, वेदाज्ञा, उपदेश, विधि, यह सब समानार्थक शब्द हैं जैसाकि इसी सूत्र के भाष्यकी व्याख्या में कुमारिलभट्ट ने कहा है कि चोदनाचोपदेशश्चविधिश्चैकार्थवाचिनः = चोदना, उपदेश तथा विधि, यह एक ही अर्थ के वाची हैं, इनके लिये प्रायः वेद में लिङ्, लोट आदि लकारों का प्रयोग आता है, सूत्र में लक्षण शब्द का अर्थ प्रमाण है "लक्ष्यतेऽनेनेतिलक्षणं = जिस से वस्तु जानीजाय उसको लक्षण कहते हैं, इसका चोदना पद के साथ बहुब्रीहि समास है।

अर्थनीय का नाम "अर्थ" है, अर्थनीय वह कहलाता है जिस की इच्छा कीजाय, इच्छा दो ही पदार्थों की कीजाती है जो सुख वा सुख का साधन हों, यहां पर अर्थ शब्द से सुख के साधन का ग्रहण है सुख का नहीं, इसलिये चोदना लक्षण = प्रमाण है जिस में ऐसा जो सुख का साधन कर्मरूप अर्थ वह धर्म है।

भाव यह है कि धर्म वही होता है जो विधिप्रतिपाद्य और इस ज़न्म तथा परजन्म में सुख का साधन हो। सूत्रकार ने जो चोदनालक्षण पद के साथ अर्थ पद का समानाधिकरण दिखलाया है उसका अभिप्राय यही है कि जिसको वेद की विधि प्रतिपादन करती है वही अर्थ होता है, और जो विधि प्रतिपाद्य अर्थ है वही धर्म है अन्य नहीं।

सं०–अब धर्मप्रमाण की परीक्षा का आरम्भ करते हैं:—

तस्यनिमित्तपरीष्टिः। ३।

पद०—तस्य । निमित्तपरीष्टिः ।

पदा०—(तस्य) पूर्वोक्त धर्म के (निमित्तपरीष्टिः) प्रमाण की परीक्षा की जाती है ।

भाष्य—यहां "तत्" शब्द से पूर्वसूत्र में कथन किये हुए धर्म का ग्रहण है, प्रमाण का नाम "**निमित्त**" तथा परीक्षा का नाम "**परीष्टि**" और युक्तिपूर्वक विचार का नाम "**परीक्षा**" है। धर्म में वेद आज्ञा ही प्रमाण है वा प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण भी, यह संशय विना परीक्षा के निवृत्त नहीं होसक्ता और न प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों का धर्म में अप्रमाण होना निश्चय होसक्ता है, अतएव प्रमाण परीक्षा का आरम्भ किया गया है ।

सं०—अब प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हुए उसकी धर्म में अप्रमाणता कथन करते हैं :—

सत्सम्प्रयोगेपुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षमनिमित्तं विद्यमानोप-लम्भात् । ४ ।

पद०—सत्सम्प्रयोगे । पुरुषस्य । इन्द्रियाणां । बुद्धिजन्म । तत् । प्रत्यक्षं । अनिमित्तं । विद्यमानोपलम्भात् ।

पदा०—(पुरुषस्य) पुरुष को (इन्द्रियाणां) अपने चक्षुआदि इन्द्रियों का (सत्सम्प्रयोगे) विद्यमान घटपटादि पदार्थों के साथ संयोगादि सम्बन्ध होने पर (बुद्धिजन्म) जो ज्ञान उत्पन्न होता है (तत्) उसका नाम (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष है, वह (अनिमित्तं) धर्म में प्रमाण नहीं होसक्ता, क्योंकि वह (विद्यमानोपलम्भात्) विद्यमान पदार्थ के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने से उत्पन्न होता है

भाष्य—इन्द्रियों का विषय के साथ सम्बन्ध होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसको "प्रत्यक्ष" कहते हैं। वाह्य और आभ्यन्तर भेद से इन्द्रियें दो प्रकार की हैं, श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण, यह पांच वाह्य इन्द्रिय हैं और छटा मन आभ्यन्तर इन्द्रिय है, यह इन्द्रियें जिस विषय के साथ सम्बद्ध होती हैं उसी विषय का ज्ञान होता है अन्यका नहीं, जैसाकि श्रोत्र से शब्द का, चक्षु से रूप का, त्वक् से स्पर्श का, रसना से रस का, घ्राण से गन्ध का ज्ञान होता है, पर यह तभी होसक्ता है जब शब्द, स्पर्श रूपादि विषय विद्यमान हों, जैसाकि वाह्य इन्द्रियों के विषयों में विद्यमानता का नियम है ऐसे ही आभ्यन्तर इन्द्रिय मन के विषय में भी जानना चाहिये।

अग्निहोत्रादि धर्म ज्ञानकाल में विद्यमान नहीं है क्योंकि वह ज्ञान के पश्चात् यत्न से उत्पन्न होता है इसलिये उसके साथ वाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के सन्निकर्ष का असम्भव होने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होसक्ता और प्रत्यक्ष न होने से वह प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय भी नहीं होसक्ता, यहां प्रत्यक्ष प्रमाण को धर्म में अप्रमाण कथन करने से अनुमान को भी अप्रमाण कथन करदिया। जिस पुरुष ने जिसका जिसके साथ दृष्टान्त में नियम से सम्बन्ध देखा है उस पुरुष को उसके देखने से जो उसके दूसरे अज्ञात सम्बन्धि का ज्ञान उत्पन्न होता है उसको "अनुमान" कहते हैं। जैसाकि देवदत्त ने धूम का वन्हि के साथ संयोग सम्बन्ध महानस में नियम से देखा है, कालान्तर में उसको पर्वत में धूम के देखने से "पर्वतोवन्हिमान्" = यह पर्वत वन्हि वाला है, इस प्रकार धूम के सम्बन्धि वन्हि का जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह अनुमान है। यहां धूम व्याप्य तथा वन्हि व्यापक और इन दोनों के सम्बन्ध का नाम "व्याप्ति" है।

जिस पुरुष ने व्याप्य और व्यापक की व्याप्ति का साक्षात्कार किया है उसको ही कालान्तर में व्याप्य के देखने से व्यापक का ज्ञान हो सकता है अन्य को नहीं । जिसकी व्याप्ति होती है उस का नाम "व्यापक" और जिम में व्याप्ति रहती है उस का नाम "व्याप्य" है । धर्म्म के अविद्यमान होने से उसका सम्बन्ध किसी पदार्थ के साथ नहीं दीखता और न कोई देख सकता है, सम्बन्ध के न देखने से उस सम्बन्ध के आश्रय का भी ज्ञान नहीं होसकता ।

सार यह है कि व्याप्ति का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण के अधीन है और प्रत्यक्ष प्रमाण विद्यमान वस्तु विषयक होने से धर्म्म को विषय नहीं कर सकता, जब प्रत्यक्ष प्रमाण से धर्म्म और उसके सम्बन्धरूप व्याप्ति का ज्ञान नहीं होता तो फिर व्याप्ति ज्ञान के बल से होने वाले अनुमान प्रमाण का विषय भी धर्म्म नहीं हो सकता, इस से स्पष्ट होगया कि प्रत्यक्ष और अनुमान यह दोनों प्रमाण धर्म्म में अप्रमाण हैं । वैशेषिकार्य्यभाषाभाष्य में अनुमान और उसके अङ्गों का विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है, विशेष रूप से जानने वाले वहां देखलें ।

सं०—धर्म्म में प्रत्यक्ष और अनुमान की अप्रमाणता कथन करके वेद की प्रमाणता कथन करने के लिये शब्द, अर्थ, के सम्बन्ध को नित्य कथन करते हुए वेद को स्वतः प्रमाण सिद्ध करते हैं :—

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात् । ५ ।

पद०-औत्पत्तिकः। तु। शब्दस्य। अर्थेन। सम्बन्धः। तस्य। ज्ञानं। उपदेशः। अव्यतिरेकः। च। अर्थे। अनुपलब्धे। तत्। प्रमाणं। बादरायणस्य। अनपेक्षत्वात्।

पदा०-(शब्दस्य) वेद वाक्य में स्थित प्रत्येक पदका (अर्थेन) अपने २ अर्थ के साथ (औत्पत्तिकः) स्वाभाविक अर्थात् नित्य सम्बन्ध है, इसी से वह (तस्य) पूर्वोक्त धर्म्म के (ज्ञानं) यथार्थ ज्ञान का साधन है, क्योंकि (उपदेशः) ईश्वर की ओर से उसका उपदेश हुआ है (च) और (अनुपलब्धे, अर्थे) प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जो अर्थ उपलब्ध नहीं होता उसमें (अव्यतिरेकः) उसका व्यतिरेक अर्थात् व्यभिचार नहीं दीखता (बादरायणस्य) बादरायणाचार्य्य के मत में (तत्) वह वाक्य (अनपेक्षत्वात्) अपने प्रामाण्य अर्थात् अपने अर्थ की सत्यता के लिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों की अपेक्षा न रखने से (प्रमाणं) धर्म्म में स्वतः प्रमाण है।

भाष्य-शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य है, इस मत के निराकरणार्थ सूत्र में "तु" शब्द आया है। शब्दार्थ के सम्बन्ध को अनित्य मानने वाले यह कहते हैं कि यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक माना जाय तो एक शब्द से एक ही अर्थ का बोध होगा जिसके साथ उसका स्वाभाविक सम्बन्ध है अन्य का नहीं, क्योंकि उस शब्द का जिस अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध है उस से अन्य अर्थ के बोधन कराने में वह समर्थ नहीं और दूसरे उस सम्बन्ध के जानने के लिये "इस शब्द से अमुक अर्थ को जानना" इस प्रकार के संकेत का मानना भी अवश्य होगा, क्योंकि सम्बन्ध के होने पर भी उसके न जानने से अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता, जब सम्बन्ध को

नित्य मानने पर उसके जानने के लिये संकेत का मानना आवश्यक है तो फिर उसकी अपेक्षा से सम्बन्ध का अनित्य मानना ही श्रेष्ठ है, और सम्बन्ध को संकेतजन्य होने से अनित्य मानने में पूर्वोक्त दोष भी नहीं आता और सम्बन्ध को नित्य मानकर भी संकेत से अभिव्यक्ति मानने की अपेक्षा से केवल संकेतजन्य मानने में लाघव है। इसी मत का निराकरण "तु" शब्द से किया है।

इस से सूत्रकार का यह आशय है कि सब शब्दों का अर्थों के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध है अर्थात् प्रत्येक शब्द अपने अर्थ के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध रखता है, सब के साथ नहीं, इस लिये अनित्यवादी का कथन किया प्रथम दोष नहीं आता, और उस स्वाभाविक सम्बन्धकी अभिव्यक्ति सृष्टि के आदिकाल में ईश्वर के नियम से होती है। ईश्वर ने सृष्टि के आदिकाल में जिस शब्द का जिस अर्थ के साथ सम्बन्ध जना दिया है वह शब्द उसी अर्थ का बोधक होता है अन्य का नहीं, इस से इस मत में कुछ गौरव दोष भी नहीं आता और जो अनित्यवादी ने अपने मत में लाघव दिखलाया है वह उसकी भूल है क्योंकि यदि शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को अनित्य माना जाय तो सर्ग २ में उनकी उत्पत्ति और अनन्त विनाश भी मानने पड़ेंगे, ऐसा मानने में कुछ लाघव नहीं प्रत्युत गौरव है।

जिस प्रकार शब्द अर्थ का सम्बन्ध स्वाभाविक है इसी प्रकार उसका सम्बन्धि शब्द भी स्वाभाविक है, इस लिये उसके समुदायरूप वेद वाक्य से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह यथार्थ ही होता है मिथ्या नहीं, क्योंकि उसका उपदेष्टा परमेश्वर सर्वज्ञ अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान पदार्थों का पूर्णरूप से ज्ञाता है, इसी से जो अर्थ वेद वाक्य

प्रतिपादन करते हैं वह यथार्थ होने से सर्वदेश और सर्वकाल में अव्यभिचारी अर्थात् ठीक २ पाए जाते हैं। और पौरुषेय वाक्यों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसके मिथ्या होने की संभावना हो सकती है क्योंकि उसका वक्ता पुरुष सर्वज्ञ नहीं, इससे पौरुषेय वाक्य धर्म्म में प्रमाण नहीं हो सकते, क्योंकि धर्म्म इन्द्रियागोचर होने से पुरुष के ज्ञान का विषय नहीं है।

पुरुष को जो प्रथम ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष और अनुमान से होता है प्रत्यक्षप्रमाण से वही पदार्थ जाने जाते हैं जो विद्यमान और इन्द्रियों से ग्रहण होसक्ते हैं, और अनुमानप्रमाण भी प्रत्यक्ष के बल से ही अपने अर्थ को सिद्ध करता है इसलिये उसका ज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञान के समान विद्यमान तथा इन्द्रियों से ग्रहण होने योग्य पदार्थों में ही होता है, और इन दो ही प्रमाणों से ज्ञात हुए अर्थ को पुरुष शब्द द्वारा कथन करता है, जब प्रत्यक्ष और अनुमान इन्द्रियों से ग्रहण के अयोग्य अर्थ का ज्ञान नहीं करासक्के तो उनके बल से प्रवृत्त होने वाले पौरुषेय शब्द से भी ज्ञान नहीं होसक्ता, इसलिये वेद वाक्य ही अपौरुषेय होने से धर्म के ज्ञान का साधन है अर्थात्—

सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन। यजु० ३। २

उपत्वाग्ने दिवेदिवे दोषावस्तर्द्धिया वयम्। नमोभरन्त एमसि। साम० १। १४ "कुर्वन्नेवेहकर्माणि" यजु० ४। २

"अग्निहोत्रंजुहोति" "अहरहःसन्ध्यामुपासीत" इत्यादि वेद वाक्यों से ही निश्चित होता है कि अग्निहोत्र संध्यावन्दनादि कर्म धर्म हैं, और इसी से महर्षिव्यास वेद को स्वतः प्रमाण मानते हैं।

जो प्रमाण अपने अर्थ तथा अपने प्रामाण्य के निश्चय कराने के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखता, या यों कहिये कि

जिस प्रमाण को अपने अर्थ के यथार्थ और अयथार्थपन के निर्णय के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती उसको "**स्वतः-प्रमाण**" कहते हैं, जैसे सूर्य्य रूपादि विषयों के प्रकाश करने में किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता वैसे ही वेद वाक्य भी जिस अर्थ का प्रतिपादन करते हैं उसके यथार्थ और अयथार्थता के ज्ञान के लिये किसी अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते, इसी से वह अपने अर्थों में स्वतः प्रमाण हैं। यह बात प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणों में नहीं पाई जाती क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय कभी सत् और कभी असत् होता है जैसाकि घट के ज्ञान और शुक्ति रजत के ज्ञान काल में देखा जाता है, वैसे ही अनुमान के विषय में भी जानना चाहिये। इसी से इन दोनों प्रमाणों को अपने प्रामाण्य निश्चय के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा होती है परंतु वेदवाक्यों में ऐसा नहीं क्योंकि वह अपने प्रामाण्य के लिये अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते इसी कारण वह स्वतःप्रमाण हैं।

इस से यह भी स्पष्ट होगया कि जिस में विधिरूप वेदवाक्य नहीं मिलता वह कदापि धर्म नहीं होसक्ता, इस कथन ने मूर्त्तिपूजादि पौराणिक विषय भी निस्सार सिद्ध कर दिये क्योंकि उनके लिये कोई वेद की विधि नहीं पाई जाती जैसाकि अग्निहोत्र सन्ध्या वन्दनादिक अन्य वैदिक कर्मों के लिये पाई जाती है। अतएव आर्य्यमात्र को यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि वेद प्रतिपाद्य अर्थ ही धर्म है अन्य नहीं।

सं०-पूर्व सूत्र में शब्द, अर्थ के सम्बन्ध को नित्य कथन करके अब शब्द की नित्यता की सिद्धि के लिये शब्द को अनित्य मानने वालों का पक्ष दिखलाते हैं:-

कर्मैके तत्र दर्शनात् । ६ ।

पद०–कर्म । एके । तत्र । दर्शनात् ।

पदा०–(एके) कोई एक वादी (कर्म) शब्द को कार्य्य मानते हैं क्योंकि (तत्र) शब्द में (दर्शनात्) प्रयत्न की विषयता देख पड़ती है ।

भाष्य–जो वस्तु यत्न साध्य होती है वह अनित्य होती है यह नियम है, शब्द भी यत्नसाध्य है क्योंकि प्रथम यत्न होता है और उसके अनन्तर शब्द, यत्न से बिना शब्द का होना कहीं भी नहीं दीखता, इसलिये कई एक वादी शब्द को अनित्य कथन करते हैं ।

ननु–शब्द प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होता किन्तु प्रकट होता है इसलिये अनित्य नहीं ? उत्तर–प्रयत्न से शब्द का प्रकट होना तभी स्वीकार होसक्ता है जब प्रकटता से पूर्व शब्द का होना सिद्ध हो, परन्तु उससे प्रथम उसके सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं मिलता, इससे अनुमान होता है कि शब्द प्रकट नहीं होता किन्तु प्रयत्न से उत्पन्न होता है और इसी से वह कार्य्य है और कार्य्य होने से अनित्य है ।

सं०–अब शब्द की अनित्यता में दूसरा हेतु कहते हैं:–

अस्थानात् । ७ ।

पद०–अस्थानात् ।

पदा०–(अस्थानात्) स्थिर न होने से शब्द अनित्य है ।

भाष्य–जो पदार्थ नित्य होता है वह स्थायी होता है, शब्द अपने उच्चारण काल से पीछे स्थिर हुआ नहीं दीखता प्रत्युत उसका विनाश दीख पड़ता है क्योंकि यदि उसका विनाश न होता तो उच्चारण काल के विना अन्यकाल में भी उसकी स्थिति पाई जाती परन्तु अन्यकाल में स्थिति न रहने से अनुमान होता है कि शब्द अनित्य है ।

सं०—शब्द की अनित्यता में और हेतु यह हैः—

करोतिशब्दात् । ८ ।

पद०—करोतिशब्दात् ।

पदा०—(करोतिशब्दात्) देवदत्त शब्द करता है, ऐसे व्यवहार का विषय होने से शब्द अनित्य है ।

भाष्य—लोक में **यज्ञदत्तोघटंकरोति** = यज्ञदत्त घट को बनाता है, ऐसे व्यवहार का विषय घट अनित्य देखा जाता है, इसी प्रकार **देवदत्तःशब्दंकरोति** = देवदत्त शब्द को करता है, ऐसे व्यवहार का विषय होने से घट की न्याईं शब्द भी अनित्य है ।

सं०—और हेतु कहते हैंः—

सत्वान्तरे च यौगपद्यात् । ९ ।

पद०—सत्वान्तरे । च । यौगपद्यात् ।

पदा०—(सत्वान्तरे, च) इस देश तथा अन्य देश स्थित पुरुष में (यौगपद्यात्) एकही काल में उपलब्धि होने से शब्द अनित्य है ।

भाष्य—जो शब्द को नित्य मानते हैं उनको उसकी नित्यता की न्याईं एकता भी माननी पड़ेगी क्योंकि नित्य मानकर नाना मानना व्यर्थ है, और जो नित्य तथा एक है उसकी जिस देश में उपलब्धि होरही है उससे अन्य देश में नहीं होसक्ती, पर एक ही शब्द नाना देशों में उपलब्ध होता देख पड़ता है अर्थात् ककार शब्द की उपलब्धि जिस देश में देवदत्त को होती है उससे अन्यदेश में यज्ञदत्त को भी होती है, यदि शब्द नित्य और एक ही होता तो एक ही काल में भिन्न देश में स्थित देवदत्त और यज्ञदत्त को उसकी उपलब्धि न होती परन्तु होती है, इससे ज्ञात होता है कि शब्द नाना

हैं और नाना होने से अनित्य है ।

सं०—अब अन्य हेतु कहते हैं :-

प्रकृतिविकृत्योश्च । १० ।

पद०—प्रकृतिविकृत्योः । च ।

पदा०—(च) और (प्रकृतिविकृत्योः) प्रकृति विकृति भाव की उपलब्धि होने से शब्द अनित्य है ।

भाष्य—"दध्यत्र" इसमें इकाररूप प्रकृति के स्थान में यकाररूप विकृति होती है, यदि शब्द नित्य होता तो इकार के स्थान में यकार न होता परन्तु ऐसा होता है, इससे पाया जाता है कि शब्द अनित्य है ।

सं०—और हेतु यह है कि :-

वृद्धिश्च कर्त्तृभूम्नाऽस्य । ११ ।

पद०—वृद्धिः । च । कर्त्तृभूम्ना । अस्य ।

पदा०—(च) और (कर्त्तृभूम्ना) शब्द कर्त्ताओं की अधिकता से (अस्य) शब्द का (वृद्धिः) बढ़ना देख पड़ता है इससे भी अनित्य है ।

भाष्य—जो वस्तु पुरुष के प्रयत्न से बढ़ती है वह अनित्य होती है, शब्द भी पुरुष के प्रयत्न से बढ़ता अर्थात् सूक्ष्यतम, सूक्ष्मतर, सूक्ष्म, स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम, होता देख पड़ता है इस से अनित्य है ।

सं०—पूर्व सूत्रों में अनित्यवादियों का मत दिखलाकर अब उसका क्रम से खण्डन करते हुए प्रथम शब्द का स्थायित्व कथन करते हैं:-

समन्तु तत्र दर्शनम् । १२ ।

पद०—समं । तु । तत्र । दर्शनम् ।

पदा०—(तत्र) नित्य और अनित्यवादी दोनों के मत में (दर्श-

नम्) क्षणमात्र शब्द का प्रत्यक्ष (समं) समान है ।

भाष्य–सूत्र में "तु" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है, अनित्यवादियों के मत में शब्द प्रयत्न से उत्पन्न होता है और नित्य वादियों के मत में प्रयत्न से प्रकट होता है, इसलिये उत्पत्ति और प्रकट होने से आगे के क्षण में शब्द का दर्शन दोनों मतों में समान है ।

भाव यह है कि यदि प्रयत्न से शब्द की उत्पत्ति की न्याईं उसकी प्रकटता मानी जाय तो प्रयत्न से उत्तरकाल में शब्द का प्रत्यक्ष होना उसकी अनित्यता का साधक नहीं होता, इसलिये शब्द प्रयत्न से प्रकट होने के कारण नित्य है ।

सं०–अब सातवें सूत्र में किये हुए पूर्वपक्ष का खण्डन करते हैं :–

सतःपरमदर्शनं विषयानागमात् । १३ ।

पद०–सतः । परम् । अदर्शनं । विषयानागमात् ।

पदा०–(सतः) विद्यमान शब्दका (अदर्शनं) जो दूसरे क्षण में दर्शन नहीं होता वह (परं) केवल (विषयानागमात्) शब्द के व्यंजक न रहने से है ।

भाष्य–सातवें सूत्र में जो यह कथन किया है कि उच्चारणकाल से अनन्तर क्षण में स्थिर न रहने से शब्द अनित्य है, यह ठीक नहीं, क्योंकि उस क्षण में उसका अदर्शन अपने न रहने के कारण नहीं किन्तु अभिव्यञ्जक के न रहने से है अर्थात् जिसने शब्द को प्रकट करना था वह उसकाल में नहीं है उसके न रहने से शब्द का भी उसकाल में अदर्शन है, अतएव शब्द नित्य है ।

सं०–अब आठवें सूत्र में किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

प्रयोगस्यपरम् । १४ ।

पद०-प्रयोगस्य । परम् ।

पदा०-(प्रयोगस्य) "देवदत्तःशब्दंकरोति" इस वाक्य में करोति शब्द का प्रयोग (परं) उच्चारण के अभिप्राय से आया है।

भाष्य-आठवें सूत्र के पूर्वपक्ष में जो करोति शब्द से शब्दको अनित्य कथन किया गया है यह ठीक नहीं, क्योंकि "**यज्ञदत्तोघटंकरोति** = यज्ञदत्त घट को करता है, इसकी न्याईं **देवदत्तःशब्दंकरोति** = देवदत्त शब्द को करता है, यहां करोति शब्द नहीं आया किन्तु उच्चारण के तात्पर्य्य से आया है, इसलिये "**देवदत्तःशब्दं करोति**" का उक्त अर्थ नहीं प्रत्युत देवदत्त शब्द का उच्चारण करता है यह अर्थ है, अतएव शब्द नित्य है ।

सं०-अब नवम सूत्र में कथन किये हुए पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

आदित्यवद्यौगपद्यम् । १५ ।

पद०-आदित्यवत् । यौगपद्यम् ।

पदा०-(यौगपद्यम्) एकही शब्द का नानादेशों में एकही काल में उपलब्ध होना (आदित्यवत्) सूर्य्य की न्याईं जानना चाहिये ।

भाष्य-जैसे एकही सूर्य्य महान् होने से नानादेशों में स्थित पुरुषों को एकही काल में उपलब्ध होता है वैसे ही शब्द भी महान् होने से नाना देशस्थ पुरुषों को उपलब्ध होता है, और वह स्वरूप से नाना नहीं, अतएव शब्दभी अनित्य नहीं किन्तु नित्य है ।

सं०—अब दशम सूत्र में कथन किये हुए पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

शब्दान्तरमविकारः । १६ ।

पद०—शब्दान्तरं । अविकारः ।

पदा०—(अविकारः) "दध्यत्र" इसमें यकार इकार का विकार नहीं, किन्तु (शब्दान्तरं) इकार से अन्य शब्द है ।

भाष्य—यदि यकार इकार का विकार होता तो यकार के प्रयोग के लिये इकार का नियम से ग्रहण होता क्योंकि विकार के लिये उसकी प्रकृति का ग्रहण नियम से देख पड़ता है जैसाकि दधि के लिये दूध का, परन्तु यकार के लिये इकार का नियम से सर्वत्र ग्रहण न होने के कारण इकार का यकार विकार नहीं किन्तु शब्दान्तर है और शब्दान्तर होने से नित्य है जैसाकि महाभाष्यकार ने भी कहा है कि:—

सर्वे सर्व पदादेशा दाक्षिपुत्रस्यपाणिनेः ।
एक देश विकारे तु नित्यत्वं नोपपद्यते ॥

महा० १ । १ । २० = पाणिनि के मत में आदेश विकार नहीं किन्तु शब्दान्तर है क्योंकि वह शब्द को नित्य मानते हैं ।

सं०—अब एकादश सूत्र में कथन किये हुए पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

नादवृद्धिपरा । १७ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(नादवृद्धिपरा) शब्दोच्चारण कर्त्ताओं की अधिकता से नादकी वृद्धि होती है शब्द की नहीं ।

भाष्य—जो सावयव पदार्थ होता है वही बढ़ता है निरवयव नहीं, शब्द निरवयव पदार्थ होने के कारण उच्चारण कर्त्ताओं की अधिकता से बढ़ नहीं सक्ता और जो बढ़ता देख पड़ता है वह नाद है शब्द नहीं।

कर्ण शुष्कलीमण्डल की सम्पूर्ण नेमी को व्याप्त करने वाले शब्द के संयोग विभागों का नाम "नाद" है, उन्हीं के व्यवधान रहित अनेकवार ग्रहण होने से शब्द की वृद्धि उपलब्ध होती है, वस्तुतः वह वृद्धि नाद की है शब्द की नहीं, इसलिये शब्द अनित्य नहीं किन्तु नित्य है।

सं०—अनित्य वादियों ने शब्द को अनित्य सिद्ध करने के लिये जो हेतु कथन किये उन सब का समाधान करके, अब उसकी नित्यता की सिद्धि के लिये उपक्रम करते हैं:—

नित्यस्तुस्याद्दर्शनस्यपरार्थत्वात्।१८।

पद०—नित्यः। तु। स्यात्। दर्शनस्य। परार्थत्वात्।

पदा०—(नित्यः) शब्द नित्य (स्यात्) है (तु) अनित्य नहीं, क्योंकि (दर्शनस्य) उसका उच्चारण (परार्थत्वात्) श्रोताके अर्थ ज्ञान के लिये है।

भाष्य—श्रोता को अर्थ का ज्ञान होना शब्द के उच्चारण का फल है अर्थात् अर्थ के ज्ञान का कारण शब्द है और कार्य्यकाल में कारण का होना आवश्यक है, यदि शब्द को अनित्य मानाजाय तो ठीक नहीं क्योंकि वह कार्य की उत्पत्ति कालतक नहीं रहता अर्थात् गकार, औकार, विसर्ग, इनतीनों के मिलने से गौः शब्द बनता है जिससे श्रोता को गोत्व और उसके आश्रय व्यक्ति का ज्ञान होता है, और शब्द को अनित्य मानने से औकार के उच्चारण

काल में गकार और विसर्ग के उच्चारणकाल में औकार नहीं रह सक्ता,उनके न रहने से अर्थ का ज्ञान होना असम्भव है परन्तु होता है इसलिये शब्द नित्य है ।

सं०—अब शब्द की नित्यता में दूसरा हेतु कहते हैं:—

सर्वत्र यौगपद्यात् । १९ ।

पद०—सर्वत्र । यौगपद्यात् ।

पदा०—(सर्वत्र) सब गौ शब्दों में (यौगपद्यात्) एकहीकाल में "यह वही गकार है" इस प्रकार की अबाधित प्रत्यभिज्ञा होने से शब्द नित्य है ।

भाष्य—जिसको पूर्व देखा हो उसको ही फिर कालान्तर में देखने से"यह वही है" इस प्रकार का जो ज्ञान होता है उसको "**प्रत्यभिज्ञा**" कहते हैं, जो प्रत्यभिज्ञा किसी प्रमाण से बाधित नहीं होती उससे वह वस्तु स्थायी सिद्ध होती है जैसाकि जो मैं कुमारावस्था में अपने पिता पितामह को देखता था वही मैं वृद्धावस्था में अपने पुत्र पौत्रादिकों को देखता हूं, इस प्रत्यभिज्ञा से आत्मा का स्थायी होना सिद्ध होता है, इसी प्रकार शब्द में भी सबको समान प्रत्यभिज्ञा होती है, इससे सिद्ध होता है कि शब्द स्थायी है क्षणिक नहीं और जो स्थायी है वह नित्य है ।

सं०—शब्द के नित्य होने में और हेतु कहते हैं:—

संख्याभावात् । २० ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(संख्याभावात्) अष्टकृत्वोगोशब्दउच्चारितः = देवदत्त ने आठवार गो शब्द का उच्चारण किया,इसप्रकार संख्या का सद्भाव पाए जाने से शब्द नित्य है ।

भाष्य-यदि शब्द नित्य न होता तो देवदत्तने "आठ गो शब्दों का उच्चारण किया" ऐसा व्यवहार होना चाहिये था, परन्तु "देवदत्त ने आठ वार गो शब्द का उच्चारण किया" ऐसा व्यवहार होता है, इससे स्पष्ट है कि शब्द नित्य है।

सं०-शब्द के नित्य होने में और हेतु यह है:-

अनपेक्षत्वात् ॥ २१ ॥

पद०-एकपद ।

पदा०-(अनपेक्षत्वात्) शब्दनाश के कारण का ज्ञान न होने से शब्द नित्य है।

भाष्य-जिन पदार्थों की उत्पत्ति का ज्ञान नहीं होता उनको देखकर भी उनके नाश का ज्ञान होजाता है जैसा कि नूतन पट को देखकर सर्वसाधारण को यह ज्ञान होजाता है कि यह अवश्य फटेगा क्योंकि जिन तन्तुओं के संयोग से यह बना है उनका वियोग इसके नाश का कारण है परन्तु शब्द में यह नहीं देखाजाता कि अमुक इसके नाशका कारण है, और यह भी नियम है कि सावयव वस्तु के नाशका कारण ज्ञात हो सक्ता है निरवयव का नहीं, शब्द निरवयव है इसलिये इसके नाश का कारण ज्ञात होना असम्भव है और न यह उत्पन्न होता और न नाश को प्राप्त होता है किन्तु प्रकट और अप्रकट होता है, अतएव नित्य है।

सं०-ननु, शब्द वायु का कार्य्य है क्योंकि जब कण्ठादिकों के साथ प्राणवायु का संयोग होता है तब इसकी उत्पत्ति होती है, और जिस की उत्पत्ति होती है वह नित्य नहीं होसक्ता इसलिये शब्द अनित्य है ? उत्तरः-

प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२ ॥

पद०—प्रख्याभावात् । च । योगस्य ।

पदा०—(योगस्य) शब्द में वायु अवयवों के सम्बन्ध का (प्रख्याभावात्) श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष न होने से (च) और त्वक् इन्द्रिय से शब्द के स्पर्श का प्रत्यक्ष न होने से शब्द वायु का कार्य्य नहीं ।

भाष्य—जो जिसका कार्य्य होता है उसके अवयवों का सम्बन्ध उसमें अवश्य देखा जाता है जैसाकि मिट्टी के कार्य्य घट में मिट्टी के अवयवों का सम्बन्ध दीखता है, यदि शब्द वायु का कार्य्य होता तो श्रोत्र इन्द्रिय से शब्द में भी वायु के अवयवों का सम्बन्ध प्रत्यक्ष होता परन्तु ऐसा न होने से ज्ञात होता है कि शब्द वायु का कार्य्य नहीं और यह भी नियम है कि कारण का गुण कार्य्य में अवश्य आता है यदि शब्द वायु का कार्य्य होता तो उसमें वायु का स्पर्शगुण अवश्य आता, परन्तु शब्द में स्पर्शगुण का प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय द्वारा नहीं होता इससे भी शब्द वायु का कार्य्य नहीं।

सं०—शब्द के नित्यत्व में और हेतु यह है:—

लिङ्गदर्शनाच्च । २३ ।

पद०—लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) वेद में शब्द के नित्य होने का चिन्ह पाया जाता है, इससे भी शब्द नित्य है ।

भाष्य—**यज्ञेनवाचःपदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम** । ऋ० ८ । २ । २३ अर्थ—पूर्व पुण्य के प्रभाव से वेद प्राप्ति की योग्यता को प्राप्त हुए ऋषियों ने ईश्वर प्रेरणा से अपने

हृदय में प्रविष्ट वेदरूप वाणी को प्राप्त किया। इस वेद मन्त्र में पूर्व स्थित वेद वाणी का लाभ कथन करने से ज्ञात होता है कि शब्द नित्य है।

सं०—शब्द तथा शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होने पर भी वेद वाक्य धर्म में प्रमाण नहीं होसक्ता, अब यह पूर्वपक्ष करते हैं:—

उत्पत्तौवाऽवचनाःस्युरर्थस्या तन्निमित्तत्वात्। २४।

पद०—उत्पत्तौ। वा। अवचनाः। स्युः।अर्थस्य।अतन्निमित्तत्वात्।

पदा०—वा शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (उत्पत्तौ) शब्द तथा शब्दार्थ का सम्बन्ध नित्य होने के कारण वेदवाक्य में स्थित पदों से पदार्थज्ञान की उत्पत्ति होने पर भी वह पद (अवचनाः, स्युः) वाक्यार्थ के बोधक नहीं होसक्ते क्योंकि (अर्थस्य) वाक्यार्थ का ज्ञान (अतन्निमित्तत्वात्) वाक्य जन्य होता है पद जन्य नहीं।

भाष्य—यद्यपि पद तथा पदार्थ का सम्बन्ध नित्य है और वर्णों के नित्य होने से उनका समुदायरूप पद भी नित्य है, इसलिये पदों से पदार्थज्ञान किसी अन्य की अपेक्षा से विना भी होसक्ता है परन्तु पदसमुदायरूप वाक्य और उनके अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं हो-सक्ता क्योंकि वाक्यार्थ पदार्थों से विलक्षण होता है और पद का पदार्थ के साथ ही नित्य सम्बन्ध है वाक्यार्थ के साथ नहीं, इसलिये पद समुदायरूप वाक्य का वाक्यार्थ के साथ कोई अनित्य सम्बन्ध मानना पड़ेगा और उसके अनित्य होने से पुरुष कल्पित संकेत की अपेक्षा अवश्य होगी, और ऐसा होने से "कुर्वन्नेवेहकर्माणि" "अग्निहोत्रंजुहोति" "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" इत्यादि

वेद वाक्य अपने अर्थ का बोधन करने में संकेत की अपेक्षा रखने के कारण धर्म में प्रमाण नहीं होसक्ते क्योंकि "वादरायणस्यानपेक्षत्वात्" इस पांचवे सूत्र में अन्य की अपेक्षा न रखकर अर्थ के बोधन करने से ही वेद वाक्य को धर्म में स्वतःप्रमाण कहा है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

तद्भूतानांक्रियार्थेनसमाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् । २५ ।

पद०-तद्भूतानां।क्रियार्थेन।समाम्नायः।अर्थस्य।तन्निमित्तत्वात् ।

पदा०-(तद्भूतानां) अपने २ अर्थों में वर्त्तमान पदों का (क्रियार्थेन) क्रियावाची पदों के साथ (समाम्नायः) पाठ होने के कारण उनके समुदाय से ही वाक्यार्थ का ज्ञान होता है क्योंकि (अर्थस्य) वाक्यार्थज्ञान की उत्पत्ति में (तन्निमित्तत्वात्) पदार्थज्ञान ही एक कारण है अन्य नहीं ।

भाष्य-क्रियावाले पद समुदाय का नाम वाक्य है उससे अतिरिक्त वाक्य कोई वस्तु नहीं और पदों का अपने अर्थों के साथ नित्य सम्बन्ध है और पदों से उपस्थित पदार्थों के समुदाय का नाम ही वाक्यार्थ है, पदार्थों के समुदाय से बिना वाक्यार्थ कोई वस्तु नहीं, इसलिये वाक्य तथा वाक्यार्थ के सम्बन्ध मानने की कोई आवश्यक्ता नहीं क्योंकि पद पदार्थ के सम्बन्ध ही से वाक्यार्थ होता है वह कोई अपूर्व वस्तु नहीं, पदार्थ से वाक्यार्थ में केवल इतनी विशेषता है कि पदार्थ का भान आपस के सम्बन्ध से विना ही होजाता है और वाक्यार्थ में उनके परस्पर सम्बन्ध का भी भान होता है और वह क्रियापद के सन्निधान से स्वयं उपस्थित होजाता

है, उसकी उपस्थिति के लिये किसी अन्य की अपेक्षा नहीं, इसलिये वेद वाक्य अपने अर्थ का बोध कराने में किसी अन्य की अपेक्षा न रखने से धर्म में स्वतः प्रमाण है ।

सं०—पदों से पदार्थ का ज्ञान होसक्ता है वाक्यार्थ का नहीं क्योंकि वह पदार्थों का सम्बन्धरूप होने से अपूर्व है ? अब इस शंका का समाधान करते हैं:—

लोकेसन्नियमात्प्रयोगसन्निकर्षःस्यात् । २६ ।

पद०—लोके । सन्नियमात् । प्रयोगसन्निकर्षः । स्यात् ।

पदा०—(लोके) जैसे लोक में (सन्नियमात्) वृद्ध व्यवहारादि द्वारा पद पदार्थ का सम्बन्ध ज्ञात होने के पश्चात् पदों के समुदाय रूप वाक्य से आकांक्षादि के बल से वाक्यार्थ का ज्ञान नियम से होता है वैसे ही वेद में भी (प्रयोगसन्निकर्षः) गुरु परम्परा द्वारा पद पदार्थ के सम्बन्ध को जान कर पद समुदायरूप वाक्य के प्रयोग से अकांक्षादि के बल से वाक्यार्थ की उत्पत्ति (स्यात्) होती है।

भाष्य—जैसे पदज्ञान तथा पद पदार्थ का सम्बन्ध ज्ञान वाक्यार्थ ज्ञान का कारण है वैसे ही आकांक्षा, योग्यता, सन्निधि, तात्पर्य्य * यह चारों भी कारण हैं, जैसे इनके द्वारा पदसमुदायरूप वाक्य से लोक में गामानय = गौ को ला, इसप्रकार का बोध होजाता है वैसेही वेद में भी गुरु परम्परा द्वारा पदपदार्थ के सम्बन्ध ज्ञान होने के पश्चात् आकांक्षादि के बल से **स्वर्गकामः अग्निहोत्रेण**

* पदार्थों का परस्पर जिज्ञासा की विषयता के योग्य होना आकांक्षा है । तात्पर्य्य के विषयीभूत पदार्थों के अबाधित सम्बन्ध का नाम योग्यता है। व्यवधान रहित पदजन्य पदार्थों की उपस्थिति का नाम सन्निधि है और वक्ता के अभिप्राय का नाम तात्पर्य्य है ।

स्वर्गं भावयेत् = सुख की कामनावालापुरुष अग्निहोत्रादि कर्मों को करे, इस प्रकार निस्सन्देह वाक्यार्थ ज्ञान हो सक्ता है।

सं०—शब्द तथा शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य कथन करके वेद वाक्य को अपने अर्थ बोधन करने में अन्यकी अपेक्षा न रखने से धर्म में स्वतः प्रमाण सिद्ध किया, अब वेद को अपौरुषेय सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

वेदांश्चैके सन्निकर्षंपुरुषाख्याः । २७ ।

पद०—वेदान् । च । एके । सन्निकर्ष । पुरुषाख्याः ।

पदा०—(च) और (एके) कोई एकवादी (वेदान्) वेदों को अनित्य कथन करते हैं क्योंकि उनमें (पुरुषाख्याः) रचयिता पुरुषों के नामों का (सन्निकर्ष) सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य—वेदों में मधुछन्दस आदि ऋषियों के नाम आने से ज्ञात होता है कि उक्त महर्षि ही उनके रचयिता हैं जैसाकि महाभारत का व्यास, इसलिये पुरुष की रचना होने से वह पौरुषेय हैं अपौरुषेय नहीं ।

सं०—वेदों के पौरुषेय होने में और हेतु कहते हैं :—

अनित्यदर्शनाच्च । २८ ।

पद०—अनित्यदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (अनित्यदर्शनात्) जन्म मरणवाले अनित्य पुरुषों के नाम वेद में आने से वह पौरुषेय है ।

भाष्य—"तुग्रोहभुज्युमश्विनोद०" ऋ० १।८।८ इत्यादि वेद मंत्रों में तुग्र और भुज्यु आदि पुरुषों की कथा पाई जाती हैं जो इस भूमि में किसी काल में थे, इससे ज्ञात होता है कि वेद उनसे

पीछे रचेगए हैं, इसलिये वह पौरुषेय हैं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

उक्तन्तु शब्दपूर्वत्वम् । २९ ।

पद०-उक्तं । तु । शब्दपूर्वत्वम् ।

पदा०-तु शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (शब्दपूर्वत्वम्) हम वेदरूप शब्दमें पूर्वत्व अर्थात् नित्यत्व (उक्तं) प्रथम कथन कर आए हैं।

भाष्य-इसका भाव यह है कि जब हम वेद को २३वें सूत्र में नित्य सिद्ध कर आए तो फिर उसके पौरुषेय अर्थात् अनित्य होनेकी आशङ्का ही निरर्थक है,अतएव वेद अपौरुषेय अर्थात् नित्य है अनित्य नहीं।

सं०-अब मधुछन्दस्आदि नामों का समाधान करते है :—

आख्या प्रवचनात् । ३० ।

पद०-आख्या । प्रवचनात् ।

पदा०-(आख्या) वेद में मधुछन्दस् आदि नाम (प्रवचनात्) अध्ययन अध्यापन के कारण आए हैं।

भाष्य-जिस महर्षि ने जिन वेद मंत्रों का बहुत दिन अध्ययनाध्यापन कराया वह मंत्र उस महर्षि के नाम से प्रसिद्ध होगए, इसी से मधुछन्दस् आदि के नाम से कहे जाते हैं, रचना के कारण नहीं।

सं०-अब वेद में अनित्य पुरुषों के नाम आजाने का समाधान करते हैं :—

परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् । ३१ ।

पद०-परं । तु । श्रुतिसामान्यमात्रम् ।

पदा०-(तु) जो तुग्र, भुज्यु, इत्यादि नाम वेद में आए हैं वह

(परं) केवल (श्रुतिसामान्यमात्रम्) शब्द सामान्यमात्र हैं किसी के नाम नहीं ।

भाष्य–तुग्र और भुज्यु किसी पुरुष विशेष के नाम नहीं, "तुग्र" शब्द हिंसादि अर्थों में वर्त्तमान् तुजिधातु से रक्प्रत्यय करने से बनता है, जिसके अर्थ हिंसक, बलवान, ग्रहण करने वाला तथा स्थानवाला है और "भुज्यु" भुज्धातु से न्यत्प्रत्यय करने से बनता है, जिसका अर्थ पालन और भोगने योग्य है । इत्यादि शब्द जो वेद में आते हैं वह किसी व्यक्ति के अभिप्राय से नहीं आते किन्तु शब्दमात्र होने से यौगिक अर्थ को कहते हैं, इसलिये इन शब्दों के आजाने से वेद पौरुषेय सिद्ध नहीं होते ।

सं०–ननु, वेद में जन्म मरण वाले किसी पुरुष विशेष का नाम न हो तथापि वह प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि उनमें बहुतसी असम्भव बातें पाई जाती हैं जैसाकि "वसन्तो अस्यासीदाज्यं" इस-मंत्र में वसन्तादि ऋतुओं को घृतादि लिखा है ? उत्तर :–

कृते वा विनियोगःस्यात् कर्मणः सम्बन्धात् । ३२ ।

पद०–कृते । वा । विनियोगः । स्यात् । कर्मणः । सम्बन्धात् ।

पदा०–वा शब्द आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (कृते) वहां यज्ञादि कर्मों के करने के लिये (विनियोगः) प्रेरणा (स्यात्) है क्योंकि उस प्रकरण में (कर्मणः) यज्ञरूप कर्म का (सम्बन्धात्) सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य–यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्मइध्मःशरद्धविः ॥
अथर्व० १९ । १ । ६

अर्थ-(देवाः) विद्वान् लोगों ने (पुरुषेण, हविषा) परमात्मा की दी हुई सामग्री से (यज्ञं) जिस यज्ञ को (अतन्वत) विस्तार पूर्वक किया (अस्य) उस यज्ञ का (वसन्तः) वसन्तऋतु (अज्यं) घृत (आसीत्) था, और (ग्रीष्मः) ग्रीष्मऋतु (इध्मः) समिधा थी और (शरदः) शरदऋतु (हविः) चरु, पुरोडाशादि रूप हवि थी।

इस मंत्र में जो वसन्तादि ऋतुओं को आज्यादिरूप से वर्णन किया है इसका यह भाव नहीं कि सचमुच वसन्त ऋतु आज्य और ग्रीष्मऋतु समिधा है किन्तु रसोत्पादक वसन्तऋतु के समान रस प्रायः सुगन्धित द्रव्य होम करने के योग्य हैं और ग्रीष्म के समान शुष्क समिधा यज्ञ के उपयोगी हैं और शरदऋतु में होने वाले ब्रीहि, सांवा आदि का बनाया हुआ चरु पुरोडाशादि हवन करने के योग्य हवि है, विद्वान् लोग वेदाज्ञानुकूल ऐसे द्रव्यों से ही सर्वदा यज्ञ करें यह भाव है, यह यज्ञ का प्रकरण है किसी असंभव बात का निरूपण नहीं, अतएव वह सर्वकाल में सर्वथा स्वतः प्रमाण है ॥

इति मीमांसार्य्य भाषा भाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमः पादः

ओ३म्

अथमीमांसार्य्यभाष्येप्रथमाध्यायस्यद्वितीयपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथमपाद में अग्निहोत्रादि कर्मों को धर्म निरूपण किया और शब्द तथा शब्दार्थ के सम्बन्ध को नित्य सिद्ध करके वेदको स्वतः प्रमाण कथन किया, अब इसी की पुष्टि के लिये द्वितीयपाद का प्रारम्भ करते हुए प्रथम कर्म के अबोधक वेद वाक्यों की अप्रमाणता का पूर्वपक्ष करते हैं :—

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानां-तस्मादनित्यमुच्यते । १ ।

पद०—आम्नायस्य । क्रियार्थत्वात् । आनर्थक्यम् । अतदर्थानां । तस्मात् । अनित्यं । उच्यते ।

पदा०—(आम्नायस्य) वेद (क्रियार्थत्वात्) कर्म अर्थात् कर्तव्य का बोधक है अतएव (अतदर्थानां) जो वेदवाक्य कर्म का बोधन नहीं करते वह (आनर्थक्यं) निरर्थक हैं (तस्मात्) इसीसे वह (अनित्यं) धर्मज्ञान के अजनक अर्थात् अप्रमाण (उच्यते) कहे जाते हैं ।

भाष्य—वेद मनुष्यमात्र के कर्त्तव्यकर्मों का उपदेश करने के लिये परमात्मा की ओर से है अर्थात् मनुष्यमात्र को अपने जीवनमें क्या २ करना चाहिये इसका उपदेश करना वेदोंका मुख्य प्रयोजन है, इसलिये जो "विश्वतश्चक्षुः" ऋ० ८ । ३ । १६ । ३ अर्थ—सब ओर जिसके चक्षु हैं, सब ओर जिसका मुख है, सब ओर जिसके हाथ हैं, सब ओर जिसके पांव हैं और जो अपने भुजबल से सबकी

रक्षा कर रहा है तथा जिसका बनाया हुआ यहलोक और परलोक है वह परमात्मा एक है, इत्यादि वेद वाक्य कर्त्तव्य का वोधन नहीं करते किन्तु सिद्धार्थ काही वोधन करते हैं वह प्रमाण नहीं, जिनवाक्यों में कोई विधि नहो केवल वस्तु के स्वरूप का ही वोधन करें वह सिद्धार्थ के वोधक कहलाते हैं ।

सं०—वेद वाक्यों के अप्रमाण होने में और हेतु कहते हैं :—

शास्त्रदृष्टिविरोधाच्च । २ ।

पद०—शास्त्रदृष्टिविरोधात् । च ।

पदा०—(च) और (शास्त्रदृष्टिविरोधात्) अन्य वेद वाक्य तथा दृष्टि अर्थात् प्रत्यक्ष के साथ विरोध होने से सिद्धार्थ के वोधक वेद वाक्य अप्रमाण हैं ।

भाष्य— "**पुरुष एव इदꣳसर्वं**" ऋ० ८ । ४।१७।११ = यह सब दृश्यमान जगत् परमात्मा से उत्पन्न होने के कारण परमात्मा रूप है और वह परमात्मा मुक्तिका स्वामी है । इत्यादि सिद्धार्थ के वोधक वेद वाक्यों का "**एतावानस्यमहिमा**" ऋ० १२ = यह सब जगत् उसकी विभूति है और वह इससे पृथक् तथा बहुत बड़ा है, इत्यादि वेद मंत्रों के साथ विरोध है क्योंकि प्रथम मंत्र में पदार्थमात्र को पुरुषरूप वर्णन करके इसमंत्र में पुरुष को सब पदार्थों से पृथक् तथा बहुत बड़ा कथन किया है और "**चक्षोःसूर्य्योअजायत**"ऋ० १३ = उसके चक्षु से सूर्य्य उत्पन्न हुआ । इस वेद वाक्य में जो चक्षु से सूर्य्य का उत्पन्न होना कथन किया गया है यह प्रत्यक्ष विरुद्ध है क्योंकि चक्षु से सहस्रगुणा अधिक प्रकाशवाले सूर्य्य का उत्पन्न होना असंभव है यही प्रत्यक्ष विरुद्धता है,

परस्पर विरुद्ध तथा प्रत्यक्ष विरुद्ध होने के कारण सिद्धार्थ के बोधक वेद वाक्य अप्रमाण हैं ।

सं०-सिद्धार्थ के बोधक वेद वाक्यों के अप्रमाण होने में तीसरा हेतु यह है :—

तथाफलाभावात् । ३ ।

पद०-तथा। फलाभावात् ।

पदा०-(फलाभावात्) सिद्धार्थ के बोधक वेद वाक्यों से पुरुष की प्रवृत्ति निवृति रूप किसी फल की सिद्धि नहीं होती, इसलिये वह (तथा) अप्रमाण हैं ।

भाष्य-जो वाक्य पुरुष की प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के बोधक होते हैं वही प्रमाण हैं क्योंकि उनसे प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप अर्थ की सिद्धि होती है और सिद्धार्थ के बोधक वाक्य प्रवृत्ति तथा निवृत्ति-रूप अर्थका बोधन नहीं करते केवल वस्तु के स्वरूप काही बोधन करते हैं जिससे न प्रवृत्ति पाई जाती है न निवृत्ति, इसलिये वह प्रमाण नहीं ।

सं०-अब चौथा हेतु कहते हैं :—

आनर्थक्यात् । ४ ।

पद०-एकपद ।

पदा०-(आनर्थक्यात्) निरर्थकहोनेसे सिद्धार्थ के बोधक वाक्य प्रमाण नहीं ।

भाष्य-"तमेवविदित्वा०" यजु० ३१ । १८ = परमात्मा के साक्षात्कार करने से मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण करजाता है अर्थात् मुक्तिरूपफल को प्राप्त होता है, इत्यादि वेदवाक्य केवल ज्ञान

से मुक्तिरूप फल की प्राप्ति कथन करते हैं जिससे कर्मों के द्वारा मुक्ति के प्रतिपादक "कुर्वन्नेवेहकर्माणि" यजु० ४० । २ इत्यादि वेद वाक्य निरर्थक होजाते हैं, परन्तु यह विधिवाक्य अर्थात् कर्त्तव्य के बोधक होने से सर्वथा प्रमाण हैं और लोक में कर्म करने ही से फल की प्राप्ति देखीजाती है ज्ञानसे नहीं, इसलिये "तमेवविदित्वाति०" इत्यादि वेदवाक्य निरर्थक होने से अप्रमाण हैं।

सं०—पांचवां हेतु कहते हैं :-

अभागिप्रतिषेधात् । ५ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(अभागिप्रतिषेधात्) जो प्राप्त नहीं है उसका निषेध करने से सिद्धार्थ के बोधक वेदवाक्य अप्रमाण हैं ।

भाष्य—"नतस्यप्रतिमास्ति" यजु० ३२ । ३ = उस परमात्मा की कोई मूर्त्ति नहीं, इत्यादि सिद्धार्थ बोधक वेदवाक्य जो परमात्मा की मूर्त्तिका निषेध करते हैं वह मूर्त्ति किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं क्योंकि परमात्मा सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी होने से अमूर्त्त है, इसलिये सर्व प्रमाणों से अप्राप्त परमात्मा की मूर्त्ति का निषेध करने से "नतस्यप्रतिमा०" इत्यादि वाक्य उन्मत्त प्रलाप की भांति प्रमाण नहीं ।

सं०—छठा हेतु कहते हैं :-

अनित्यसंयोगात् । ६ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(अनित्यसंयोगात्) जन्म मरण वाले पदार्थों का कथन

पाएजाने से सिद्धार्थ के बोधक वेदवाक्य प्रमाण नहीं।

भाष्य-"तुग्रोहभुज्यु०"ऋ० १।८।८ इत्यादि वेद वाक्यों में जन्म मरणवाले मनुष्यों की कथा पाई जाती है और वेद के अपौरुषेय होने से उसमें ऐसी कथाओं का होना अनुचित है क्योंकि इससे उसके पौरुषेय होने का सन्देह होसक्ता है अतएव ऐसी कथा वाले सिद्धार्थ के बोधक उक्त वाक्य प्रमाण नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

विधिनात्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेनविधिनां स्युः।७।

पद०-विधिना। तु। एकवाक्यत्वात्। स्तुत्यर्थेन। विधिनां। स्युः।

पदा०-(विधिना) विधिवाक्यों को (स्तुत्यर्थेन) पुरुष की प्रवृत्ति के लिये अपने अर्थ की स्तुति अपेक्षित है इसलिये उसकी स्तुतिकरनेवाले सिद्धार्थ के बोधक वाक्य (विधिनां) विधिवाक्य के साथ मिलकर (एकवाक्यत्वात्) एकवाक्यताकोप्राप्त हुए स्तुति-पूर्वक विधेयार्थ का बोधन करने से (स्युः) विधिवाक्य के समान प्रमाण हैं (तु) अप्रमाण नहीं।

भाष्य-यद्यपि विधिवाक्य ही कर्त्तव्यता का बोधन करता है सिद्धवाक्य नहीं तथापि विधिवाक्य को पुरुष की प्रवृत्ति के लिये अपने विधेय अर्थ की स्तुति अपेक्षित है और सिद्धवाक्य को किसी फलकी अकांक्षा है, इसलिये वह फलवाले विधिवाक्य के साथ मिल-कर विधिवाक्य को अपेक्षित विधेयार्थ की स्तुति करता हुआ कर्त्तव्यार्थ काही विधान करता है सिद्धार्थ का नहीं, यह अर्थ वाक्यै-कवाक्यता * से प्राप्त होता है, जैसाकि "आत्मानमुपासीत"

*एकवाक्य का दूसरे वाक्य के साथ मिलकर अर्थ को बोधन करने का नाम वाक्यैकवाक्यता है।

मोक्ष की कामना वाले पुरुष को परमेश्वर की उपासना करनी चाहिये, यह विधिवाक्य है और "विश्वतश्चक्षुः" वह परमेश्वर सब ओर चक्षु वाला है, इत्यादि सिद्धार्थ के बोधक वाक्य हैं और विधिवाक्य को परमेश्वर की उपासना में पुरुषकी प्रवृत्ति के लिये परमेश्वर की स्तुति अपेक्षित है क्योंकि पुरुष जबतक परमेश्वर के गुणकर्मस्वभाव न जाने तबतक उसको उसकी उपासना से मोक्ष-फल के लाभका निश्चय नहीं होता और निश्चय न होने से वह दृढ़ता पूर्वक उसकी उपासना में प्रवृत्त नहीं होसक्ता और सिद्धार्थ के बोधक वाक्यों को फलकी आकांक्षा है क्योंकि **स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** = मनुष्य मात्र को वेद पढ़ना चाहिये, यह विधि फलवाले अर्थ में पर्य्यवसायी वाक्यों का अध्ययन कराती है निष्फलों का नहीं और विधिवाक्य की न्याई इनमें किसी फलका श्रवण नहीं होता, इसलिये यह दोनों वाक्य नष्टाश्वदग्धरथन्याय* से परस्पर मिलकर अपने अर्थका बोधन कराते हैं भिन्न २ नहीं, मिलकर अर्थ का बोधन कराने से दोनों वाक्यों की आकांक्षा निवृत्त होजाती है अर्थात् पुरुष परमेश्वर के स्वरूप को जानकर शीघ्र ही उसकी उपासना में प्रवृत्त होजाता है और सिद्धबोधक वाक्य भी विधिवाक्य के साथ मिलकर अर्थका बोधन कराने से निराकांक्ष होजाता है। इन दोनों वाक्यों का मिलकर यह अर्थ हुआ कि सब ओर जिसके चक्षु हैं, सब ओर जिसका मुख है, सब ओर जिसके हाथ

---

* दो रथी किसी गांव को जाते थे दैवयोग से मार्ग में एक का अश्व बिजली से नष्ट होगया और दूसरे का रथ अग्नि से जलगया, ऐसा होनेपर जो दोनों ने परस्पर मिलकर रथ पर बैठ ग्रामान्तर जाने का कार्य्य सिद्धकिया, इसका नाम "नष्टाश्वदग्धरथन्याय" है।

हैं और सब ओर जिसके पांव हैं अर्थात् सम्पूर्ण स्थानों में स्थित हुआ सब को देखरहा है, मोक्षकी कामनावाले पुरुष को उस परमात्मा की उपासना करनी चाहिये क्योंकि वह अपनी अनन्त महिमा से सबको सहज ही में मुक्ति देता है।

इस प्रकार विधिवाक्य के साथ सिद्धार्थबोधक वाक्य का एक वाक्यता द्वारा अर्थ के बोधन करने से अप्रमाणतारूप दोष नहीं आता क्योंकि विधिवाक्य ने जिस कर्तव्य अर्थ का विधान किया है उसी का सिद्धार्थबोधी वाक्य भी करता है अतएव वह विधिवाक्य की भांति प्रमाण है अप्रमाण नहीं।

सं०—सिद्धार्थबोधक वाक्यों के प्रमाण होने में और युक्ति कहते हैं:—

तुल्यं च साम्प्रदायिकम्। ८।

पद०—तुल्यं। च। साम्प्रदायिकम।

पदा०—(च) और (साम्प्रदायिकम) सृष्टि के आदिकाल से विधिवाक्य तथा सिद्धार्थबोधक वाक्यों की गुरु परम्परा द्वारा प्राप्ति होना (तुल्यं) समान है।

भाष्य—जैसे वैदिक विधिवाक्य गुरु परम्परा से पठन पाठन में आते हैं वैसे ही सिद्धार्थबोधक वाक्य भी आते हैं, दोनों में कोई भेद नहीं, इसलिये दोनों ही समान रीति से प्रमाण हैं।

सं०—अब दूसरे सूत्र के पूर्वपक्ष में कथन किये हुए शास्त्रविरोध का परिहार करते हैं:—

अप्राप्ता चानुपपत्तिः प्रयोगे हि विरोधः स्याच्छब्दार्थस्त्वप्रयोगभूत-स्तस्मादुपपद्येत। ९।

पद०—अप्राप्ता । च । अनुपपत्तिः । प्रयोगे । हि । विरोधः । स्यात् । शब्दार्थः । तु । अप्रयोगभूतः । तस्मात् । उपपद्येत ।

पदा०—(प्रयोगे, हि) जो अर्थ स्थूल दृष्टि से प्रतीत हो रहा है उसी में वाक्य का तात्पर्य्य होने से (विरोधः) विरोध (स्यात्) होसक्ता है परन्तु (शब्दार्थः, तु) यह अर्थ तो (अप्रयोगभूतः) वाक्य के तात्पर्य्य का विषय ही नहीं किन्तु उसके तात्पर्य्य का विषयभूत अर्थ और ही है (तस्मात्) इसलिये (अनुपपत्तिः) वेद वाक्यों का परस्पर विरोधरूप अनुपपत्ति दोष (अप्राप्ता) हमारे मत में प्राप्त नहीं क्योंकि हमारे मत में (उपपद्येत) उस वाक्यका अर्थ विरोध रहित उपपन्न है ।

भाष्य—पुरुष एवेदꣳसर्वं = यह सब पुरुष है, एतावानस्यमहिमा = यह सब उसकी विभूति है, इत्यादि वेदवाक्यों का जो परस्पर विरोध दिखलाया है वह स्थूल दृष्टि से है क्योंकि यहां प्रथम वाक्य का यह अर्थ नहीं कि बस इतनाही पुरुष है और नहीं, किन्तु यह तात्पर्य्य है कि यह सब पुरुष की विभूति होने से पुरुष है जैसाकि कोई राजैश्वर्य्य को देखकर कहे कि यह सब राजा है । इस प्रकार तात्पर्य्य के विषयीभूत अर्थ का भेद होने से वाक्यों का परस्पर कोई विरोध नहीं और विरोध न होने से कोई वाक्य अप्रमाण नहीं ।

सं०—ननु, आपने जो सिद्धार्थबोधक वाक्यों को विधेयार्थ बोधक वाक्यों की स्तुतिद्वारा विधि वाक्य के साथ मिलकर अर्थ का बोधन कराने से प्रमाण कथन किया है यह ठीक नहीं क्योंकि वह सब विधेयार्थ कीही स्तुति नहीं करते किन्तु उससे भिन्नार्थ का भी बोधन करते हैं ? अब इस शङ्का का समाधान करते हैं :—

गुणवादस्तु । १० ।

पद०–गुणवादः । तु ।

पदा०–तु शब्द उक्त शङ्का के निराकरण के लिये आया है (गुणवादः) यह जो स्तुतिवाद कथन कियागया है वह गुणवाद है।

भाष्य–सिद्धार्थ बोधक वाक्य सर्वत्र विधेयार्थ की स्तुति करते हैं यह कोई मुख्य वाद नहीं किन्तु गुणवाद है अर्थात् कहीं वह विधेयार्थ की स्तुति करते हैं और कहीं उससे भिन्नार्थ का भी निरूपण करते हैं, इसलिये उक्त दोष नहीं ।

सं–ननु, ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यःकृतः । उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्याᳫँशूद्रो अजायत ॥ यजु० ३१ । ११

अर्थ–ब्राह्मण परमात्मा का मुख, क्षत्रिय बाहू, वैश्य उरू और शूद्र पांव स्थानी हैं । इत्यादि वेद वाक्यों में ब्राह्मणादि वर्ण चतुष्टय को परमात्मा का मुख, भुजा, उरू, पाद, कथन किया है यह ठीक नहीं क्योंकि वह परमात्मा अशरीरी होने के कारण मुखादि अवयवों से रहित है ? उत्तर :-

रूपात्प्रायात् । ११ ।

पद०–रूपात् । प्रायात् ।

पदा०–(प्रायात्) वेद में बहुधा (रूपात्) रूपकालङ्कार से कहा-गया है ।

भाष्य–वेद वाक्यों में जहां २ मुखादि अवयवों का नाम लेकर परमात्मा का वर्णन किया है वह रूपकालङ्कार के अभिप्राय से है

वास्तव नहीं, इसलिये उसका शरीरी की भांति वर्णन होना कोई दूषण नहीं प्रत्युत भूषण है ।

सं०—अब द्वितीय सूत्र के पूर्वपक्ष में कथन किये प्रत्यक्ष विरोध का परिहार करते हैं :—

दूरभूयस्त्वात् । १२ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(दूरभूयस्त्वात्) स्थूलार्थ करने से चक्षु सूर्य्यादि पदार्थों की आपस में बहुत दूरता अर्थात् कार्य्य कारण भाव की असम्भवता प्रतीत होती है ।

भाष्य—"**चक्षोःसूर्य्योअजायत** = उस परमात्मा के चक्षु से सूर्य्य उत्पन्न हुआ, इस प्रकार का स्थूलार्थ करने से प्रत्यक्ष विरोध प्रतीत होता है क्योंकि चक्षुरादिकों से सूर्य्यादि दिव्य पदार्थों का उत्पन्न होना कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता किन्तु उसका यह अर्थ है कि परमात्मा की चक्षु के सदृश दिव्य सामर्थ्य से सूर्य्य उत्पन्न हुआ, इस अर्थ में कोई विरोध नहीं ।

सं०—ननु, परमात्मा की चक्षुः सदृश दिव्य सामर्थ्य से यदि सूर्य्य की उत्पत्ति होती तो "**चक्षोरजायत**" में वह चक्षु का कार्य्य कथन न किया जाता ? उत्तर :—

अपराधात्कर्तुश्चपुत्रदर्शनम् । १३ ।

पद०—अपराधात् । कर्तुः । च । पुत्रदर्शनम् ।

पदा०—(अपराधात्) स्थूलदर्शिताके अपराध से (कर्तुः) अजायत क्रिया के कर्त्ता सूर्य्यका (पुत्रदर्शनम्) पुत्र अर्थात् कार्य्यरूप से (च) और चक्षुका कारण रूप से दर्शन अर्थात् ज्ञान होता है ।

भाष्य-चक्षु और सूर्य्य आपस में पितापुत्र नहीं अर्थात् न चक्षु सूर्य्य का कारण है और न सूर्य्य चक्षुका कार्य्य है किन्तु परमात्मा ही सबका पिता है जैसाकि "सूर्य्याचन्द्रमसौधातायथापूर्वमकल्पयत" इस मंत्र में स्पष्ट है कि सूर्य्य और चन्द्रमा को धाता = परमात्मा ने पहले की भांति बनाया, यहां केवल स्थूलदर्शिता के कारण सूर्य्य चक्षु का कार्य्य प्रतीत होता है वास्तव में नहीं।

सं०-अब चौथे सूत्र में कथन किये पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं :-

अकालिकेप्सा । १४ ।

पद०-एकपद ।

पदा०-(अकालिकेप्सा) एक ही काल में दुःखात्यन्त निवृत्ति पूर्वक परमानन्द प्राप्ति की इच्छा प्राणीमात्र को है ।

भाष्य-प्राणिमात्र को मृत्यु से अतिक्रमण अर्थात् मुक्ति की इच्छा है इसीलिये "तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति" इत्यादि वेद वाक्यों में सब फलों के मुख्यफल मुक्ति का कथन किया है किसी कर्म जन्य फल की निरर्थकता के अभिप्राय से नहीं ।

सं०-और युक्ति कहते हैं :-

विद्याप्रशंसा । १५ ।

पद०-एकपद ।

पदा०-(विद्याप्रशंसा) प्रत्युत इससे ब्रह्म विद्या की प्रशंसा है ।

भाष्य-"तमेवविदित्वा०" इत्यादि वेद वाक्यों ने जो मृत्यु से अतिक्रमणरूप ब्रह्म विद्या का फल कथन किया है इससे उसका महत्व पाया जाता है न कि अन्य २ फलों के बोधक वेद वाक्यों की निरर्थकता ।

तात्पर्य्य यह है कि जिस २ कर्म से जो २ फल वेदवाक्य कथन करते हैं वह फल अवश्यमेव उन कर्मों के करने से होता है परन्तु मृत्यु से अतिक्रमण = मोक्ष ब्रह्मविद्या ही से होता है अतएव वह प्रशंसनीय है।

सं०—ननु, ब्रह्म विद्या का सब मनुष्यों को एक जैसा अधिकार है वा किसी वर्ण विशेष को ? उत्तर :—

सर्वत्वमाधिकारिकम् । १६ ।

पद०—सर्वत्वम् । अधिकारिकम् ।

पदा०—(अधिकारिकं) ब्रह्मविद्या का अधिकार (सर्वत्वम्) सबको समान है।

भाष्य—मृत्यु से अतिक्रमण की इच्छा सब को समान है अतएव उसके उपायभूत ब्रह्मविद्या में सबका अधिकार है और दूसरी बात यह है कि परमात्मा की दृष्टि में सब समान हैं इसलिये उसकी ओर से उपदेश भी सबके लिये समानभाव से है।

सं०—ननु, मृत्यु से अतिक्रमण करना वेद विहित कर्मोंका फल है ब्रह्मविद्या का नहीं ? उत्तर :—

फलस्यकर्मनिष्पत्तेस्तेषांलोकवत्परिमाणतः फलविशेषःस्यात् । १७ ।

पद०—फलस्य । कर्मनिष्पत्तेः । तेषां । लोकवत् । परिमाणतः । फलविशेषः । स्यात् ।

पदा०—(फलस्य) फलविशेषकी (कर्मनिष्पत्तेः) कर्मों से सिद्धि होती है, मृत्यु से अतिक्रमण की नहीं क्योंकि (तेषां) उनके कर्मों का (फल विशेषः) जो विशेष फल (स्यात्) है वह (लोकवत्)

लौकिक कर्मजन्य फलकी न्याई (परिमाणतः) परिमाण वाला अर्थात् परिच्छिन्न है ।

भाष्य–जिस प्रकार लौकिक कर्मोंका फल परिमाण वाला होता है इसी प्रकार वैदिक कर्मों का फल भी परिमाण वाला होता है केवल भेद इतना है कि लौकिक कर्मों का फल अल्पकालस्थायी और वैदिक कर्मोंका फल चिरकालस्थायी है । और मृत्यु से अतिक्रमण रूप फल का कर्मफल की भांति परिमाण नहीं अर्थात् जैसे कर्मजन्य फलकी लौकिक परिमाण से सीमा है वैसे उसकी नहीं, वह लौकिक परिमाण की समिा से बाहर होने के कारण असीम है, इस लिये वह कर्मोंका फल नहीं होसकता ।

सं०–ननु, पांचवें और छत्रे सूत्रों में कथन किये हुए पूर्वपक्षों का क्या समाधान है ? उत्तर :–

अन्त्ययोर्यथोक्तम् । १८ ।

पद०–अन्त्ययोः । यथोक्तम् ।

पदा०–(अन्त्ययोः) पांचवें और छत्रें सूत्रों में कथन किये गए अन्त के दोनों पूर्वपक्षों का समाधान (यथोक्तं) जैसा पूर्वपाद में कथन कर आए हैं वैसाही जानना चाहिये ।

भाष्य–छवें सूत्रमें कथन किये हुए पूर्वपक्ष का समाधान पूर्वपाद के ३१ वें सूत्र के भाष्य में स्पष्ट है और पांचवें सूत्रमें कथन किये पूर्वपक्ष का समाधान यह है कि यद्यपि परमात्मा की मूर्त्ति किसी प्रमाण से प्राप्त नहीं तथापि चेतनतारूप धर्म की समानता से जीवकी भांति ईश्वर की मूर्त्ति भी अज्ञ पुरुषों की दृष्टि में प्राप्त है इसलिये "नतस्यप्रतिमाऽस्ति" यह अप्राप्त का प्रतिषेध नहीं किन्तु प्राप्त का ही है ।

सं०—अब अत्यन्त स्पष्ट अर्थ वाले सिद्धार्थ बोधक वेद वाक्यों की प्रमाणता सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

विधिर्वास्यादपूर्वत्वाद्वादमात्रंह्यनर्थकम्।१९।

पद०—विधिः। वा। स्यात्। अपूर्वत्वात्। वादमात्रं। हि। अनर्थकम्।

पदा०—वा शब्द पूर्वपक्षका सूचक है (विधिः) "तदेवाग्निस्तदादित्यः" इत्यादि स्पष्टार्थवाले सिद्धार्थबोधक वाक्यों में अवश्यमेव विधिकी कल्पना (स्यात्) है क्योंकि (अपूर्वत्वात्) विधिवाक्य की न्याई इनका भी अपूर्व अर्थ प्रतीत होता है, यदि उनको (वादमात्रं, हि) केवल सिद्धार्थका बोधक ही मानाजाय तो वह (अनर्थकम्) निरर्थक अर्थात् अप्रमाण होजाते हैं।

भाष्य—तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदुचन्द्रमाः। तदेवशुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥ यजु० ३२। १

अर्थ—वह परमात्मा अग्नि, सूर्य्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः और प्रजापति है। इत्यादि वेद वाक्य इस अधिकरण के उदाहरण हैं इनमें उपासीत = उसकी उपासनाकरो, ध्यायीत = उसका ध्यानकरो, इत्यादि विधि की कल्पना अवश्य होनी चाहिये क्योंकि इनसे अपूर्व अर्थ का लाभ होता है जो विधि की कल्पना से बिना नहीं बन सक्ता, यदि उनमें अपूर्व अर्थ को न मानकर केवल वादमात्र ही मानाजाय तो वह निरर्थक होने से अप्रमाण होजाते हैं और वेदवाक्य होने से उनकी अप्रमाणता इष्ट नहीं इसलिये इनमें किसी विधिकी कल्पना होनी आवश्यक है।

सं०—इस पूर्वपक्ष में सिद्धान्ती की ओर से आशङ्का करते हैं :—

लोकवदितिचेत् । २० ।

पद०—लोकवत् । इति । चेत् ।

पदा०—(लोकवत्) यह वाद लौकिकवाद की भांति है, इसलिये विधिकल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं—इसका आगे के सूत्र से सम्बन्ध है ।

भाष्य—जैसे लोक में गौ को मूल्य लेते समय उसके स्वामी का यह स्तुतिवाद है कि यह गौ वहुत दूध देती है, इसके सर्वदा वच्छी ही उत्पन्न होती हैं और वह कभी नष्ट नहीं होतीं, वैसे ही "तदेवाग्नि०" इत्यादि स्तुतिवाद है, अतएव यहां विधि कल्पना करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

सं०—अब सिद्धान्ती की उक्त शङ्का का पूर्वपक्षी समाधान करता है :—

न पूर्वत्वात् । २१ ।

पद०—न । पूर्वत्वात् ।

पदा०—(न) पूर्वोक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि (पूर्वत्वात्) लौकिकवाद में प्रसिद्धार्थ का ही कथन है किसी अपूर्व अर्थ का नहीं ।

भाष्य—जैसे "तदेवाग्नि०" में अपूर्व अर्थ का कथन है वैसे लौकिकवाद में नहीं क्योंकि उसमें प्रसिद्धार्थ का ही कथन है अप्रसिद्ध का नहीं, इसलिये लौकिकवाद से विलक्षण होने के कारण उक्त वाक्यों में विधि की कल्पना आवश्यक है ।

सं०—अब इस पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

उक्तन्तु वाक्यशेषत्वम् । २२ ।

पद०—उक्तं । तु । वाक्यशेषत्वम् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्षकी निवृत्ति के लिये आया है (वाक्यशेषत्वं) इस प्रकार के सिद्धार्थवोधक वाक्यों को विधिवाक्यकी अङ्गता (उक्तं) कथन कीगई है।

भाष्य—जैसे सिद्धार्थ के बोधक वाक्य विधेय अर्थ की स्तुतिद्वारा विधिवाक्य का अङ्ग होकर अर्थ का बोध कराने से प्रमाण हैं वैसेही अत्यन्त स्पष्ट अर्थ वाले सिद्धार्थबोधक वाक्य भी विधि वाक्य का अङ्ग होकर अर्थ के बोधक होने से प्रमाण हैं, इनमें विधि कल्पना की आवश्यकता नहीं। यह समाधान हम ७वें सूत्र में कर आए हैं यहां भी वही जान लेना।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कहते हैं:—

विधिश्चानर्थकः क्वचित्तस्मात्स्तुतिः प्रतीयेत तत्सामान्यादितरेषु तथात्वम्।२३।

पद०—विधिः। च। अनर्थकः। क्वचित्। तस्मात्। स्तुतिः। प्रतीयेत। तत्। सामान्यात्। इतरेषु। तथात्वम्।

पदा०—(च) यदि (विधिः) उक्त वाक्यों में विधि की कल्पना कीजाय तो वह उन सब वाक्यों में (अनर्थकः) अर्थवाली नहीं होसक्ती क्योंकि (क्वचित् तस्मात्) सिद्धार्थ बोधक वाक्यों से कहीं २ स्पष्टरूप से स्तुति (प्रतीयेत) प्रतीत होती है (तत्) इसलिये (सामान्यात्) सब वाक्यों के समान होने से जिन वाक्यों में स्तुति स्पष्ट प्रतीत नहीं होती (इतरेषु) उन में भी (तथात्वम्) विधि की अपेक्षा स्तुतिपरता की कल्पना करना श्रेष्ठ है।

भाष्य—उक्त वाक्यों में कहीं २ स्पष्टरूप से स्तुति पाई जाती है विधि नहीं, इसलिये जिन वाक्यों में स्पष्टरूप से स्तुति नहीं पाई जाती उन में सिद्धार्थबोधक वाक्योंकी समानता से स्तुति की कल्पना

करने में लाघव है और उसकी अपेक्षा सम्पूर्ण वाक्यों में विधि की कल्पना करने में गौरव है, अतएव विधि की कल्पना छोड़कर स्तुति की कल्पना ही श्रेष्ठ है।

सं०—और युक्ति कहते हैं :—

प्रकरणे सम्भवन् अपकर्षो न कल्प्येत् विध्यानर्थक्यं हि तंप्रति । २४ ।

पद०—प्रकरणे । सम्भवन् । अपकर्षः । न । कल्प्येत् । विध्यानर्थक्यं । हि । तंप्रति ।

पदा०—(प्रकरणे) जिस प्रकरण में वह वाक्य है उस प्रकरण में (अपकर्षः) अपकृष्टता अर्थात् स्तुति (सम्भवन्) स्पष्ट रीति से प्रतीत हो तो (न, कल्प्येत्) विधि की कल्पना न करे (हि) क्योंकि (तंप्रति) उस स्तुति के प्रति (विध्यानर्थक्यं) विधि की कल्पना करना व्यर्थ है।

भाष्य—जिस अर्थ के कथन करने के लिये वाक्य प्रवृत्त हुआ है उससे भिन्न अर्थ को वह कदापि कथन नहीं करसक्ता, अमुक वाक्य अमुक अर्थ कथन करने के लिये प्रवृत्त हुआ है यह प्रकरण से प्रतीत होता है, जब प्रकरण से उपासनाविधि को अपेक्षित उपास्यदेव परमात्मा की स्तुति का सिद्धार्थ बोधक वाक्य स्पष्टता पूर्वक कथन कर रहे हैं तो ऐसी दशा में उनमें विधिकी कल्पना करना व्यर्थ है और उसकी अपेक्षा से उक्त वाक्यों में उपासना विधि की अङ्गता मानकर विधेय अर्थ की स्तुति की कल्पना श्रेष्ठ है।

सं०—अब विधि की कल्पना करने में दोष कहते हैं :—

विधौ च वाक्यभेदःस्यात् । २५ ।

पद०—विधौ । च । वाक्यभेदः । स्यात् ।

पदा०-(च) और (विधौ) उक्त वाक्यों में विधि की कल्पना करने पर (वाक्यभेदः) अर्थ के भेद से वाक्य का भेद (स्यात्) होजायगा ।

भाष्य-"तदेवाग्निस्तदादित्यः" इत्यादि वाक्य परमात्मा की अनन्त शक्तियों का कथन करते हुए उसकी स्तुति करते हैं, यदि उनमें विधि की कल्पना की जाय तो फिर वह स्तुति और उससे भिन्न विधेय अर्थ को भी कहेंगे, और ऐसा कथन करने से वाक्य भेदरूपदोष* आजाता है क्योंकि यह नियम है कि "शब्दबुद्धि कर्मणांविरम्यव्यापाराभावः = शब्द, ज्ञान और क्रिया यह तीनों एक कार्य्य करने के पश्चात् फिर दूसरे कार्य्य को नहीं करते अर्थात् जिस शब्द ने अर्थ को कथन किया है और जिस ज्ञान ने अर्थ को जनाया है और जिस क्रिया ने कार्य्य को सिद्ध किया है वही शब्द फिर अन्य अर्थ को कथन नहीं करता और नाही ज्ञान फिर दूसरे अर्थ का वोधन करता है और न वही क्रिया फिर दूसरे कार्य्य को बनाती है। यदि स्तुति करने वाले वाक्यों में विधि की कल्पना कीजाय तो यह नियम टूट जाता है, इसलिये उक्त वाक्यों में विधिकी कल्पना न करके उनको विधिवाक्य का अङ्ग मानना ही उत्तम है ।

सं०-अब हेतुपद वाले सिद्धार्थवोधक वाक्यों की प्रमाणता सिद्धि के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

हेतुर्वास्यादर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् । २६ ।

पद०-हेतुः । वा । स्यात् । अर्थवत्त्वोपपत्तिभ्याम् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के अभिप्राय से आया है (हेतुः)

* एक ही वाक्य का प्रथम एक अर्थ को कथन करके फिर दूसरे अर्थ को कथन करना वाक्यभेदरूपदोष कहलाता है ।

"यज्ञेनयज्ञमयजन्तदेवा" इत्यादि वेद वाक्यों में तृतीया विभक्ति-वाला जो यज्ञेन पद है वह हेतुरूप अर्थ का बोधक (स्यात्) है क्योंकि (अर्थवत्त्वोपपत्तिभ्यां) ऐसा होने से ही यह वाक्य अर्थवाला तथा उपपत्तिवाला हो सकता है अन्यथा नहीं।

भाष्य-यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्। ते ह नाकं महिमानःसचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्तिदेवाः। यजु० ३१। १६

अर्थ-पहले विद्वान् यज्ञ से यज्ञरूप परमात्मा का पूजन करते थे और वही धर्म समझा जाता था इसीसे वह महिमाको प्राप्त हुए और वह सब साधन सम्पन्न थे। इत्यादि वेदवाक्य इस अधिकरण के विषयवाक्य * हैं, इन विषय वाक्यों में यह संदेह है कि क्या यह यज्ञ को परमात्मा के पूजन का साधन कथन करते हैं अथवा "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" यजु० ४०।२ अर्थ-वेदविहित कर्मों को करता हुआ सौवर्ष जीने की इच्छा करे अर्थात् जबतक जीवे वेदविहित कर्मों को करे, इत्यादि कर्म विधि से विधान किये गए यज्ञादिरूप कर्म की स्तुति करते हैं ? इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी का और दूसरापक्ष सिद्धान्ती का है, इसमें पूर्वपक्षी का यह कथन है कि "यज्ञेन" में जो तृतीया है वह हेतु के अर्थ में है, इसलिये उक्त वाक्य में यज्ञरूप परमात्मा के पूजन का साधन यज्ञ है यह अर्थ होता है क्योंकि ऐसा अर्थ करने से एक तो सम्पूर्ण वाक्य अर्थवाला अर्थात् सार्थक होजाता है और दूसरे यज्ञ परमात्मा के पूजन का साधन भी बन सकता है, अन्य प्रकार से नहीं।

---

* जिस अधिकरण में जिन वाक्यों का विचार किया जाता है वह उसके विषयवाक्य कहलाते हैं।

सं०—इस पूर्वपक्ष का उत्तर देते हैं :—

स्तुतिस्तुशब्दपूर्वत्वादचोदना च तस्य।२७।

पद०—स्तुतिः। तु। शब्दपूर्वत्वात्। अचोदना। च। तस्य।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (स्तुतिः) उक्त वाक्य कर्म विधि से विधान किये हुए यज्ञादिरूप कर्मों की स्तुति करते हैं यज्ञ को परमात्मा के पूजन का साधन कथन नहीं करते क्योंकि (शब्दपूर्वत्वात्) साधन को विधिपूर्वक होने का नियम है (च) और उन वाक्यों में (तस्य) यज्ञ की (अचोदना) विधि नहीं पाई जाती।

भाष्य—यदि उक्त वाक्यों में यज्ञ की विधि पाई जाती तो यज्ञ शब्द के आगे तृतीया विभक्ति के श्रवण से उसके साधन होने की कल्पना भी की जाती, परन्तु उनमें कोई विधि नहीं पाई जाती प्रत्युत सिद्धार्थ का ही कथन पाते हैं कि पूर्व विद्वानों ने यज्ञरूप परमात्मा का यज्ञ से पूजन किया और वह महिमा को प्राप्त हुए।

भाव यह है कि यज्ञ परम्परा के शिष्टाचार से प्राप्त है इस लिये सबको कर्त्तव्य है। ऐसी अवस्था में साधन मानने की अपेक्षा से उक्त वाक्यों में स्तुति मानना ही श्रेष्ठ है क्योंकि "**कुर्वन्नेवेह-कर्माणि**" वाक्य से कर्म की विधि प्राप्त है, केवल उसमें पुरुषकी प्रवृति के लिये स्तुति की अपेक्षा है जो इन वाक्यों में स्तुति मानने से निवृत्त हो जाती है और स्तुति मानने में उक्त वाक्य भी अर्थ वाले तथा उपपन्न = सङ्गत अर्थात् युक्ति युक्त होजाते हैं इससे उनमें स्तुति मानना ही ठीक है साधन मानना ठीक नहीं।

सं०—इसमें फिर पूर्वपक्षी आशङ्का करता है :—

व्यर्थेस्तुतिरन्याय्येतिचेत् । २८ ।

पद०—व्यर्थे । स्तुतिः । अन्याय्या । इति । चेत् ।

पदा०—(व्यर्थे) फल के न होने पर (स्तुतिः) स्तुतिकी कल्पना करना (अन्याय्या) न्याय से प्राप्त नहीं (चेत्) यदि (इति) यह कहो तो ठीक नहीं । इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य—उक्त वाक्यों में स्तुति का कोई फल नहीं दीखता इस लिये उसकी कल्पना करना व्यर्थ है, यह पूर्वपक्षी की आशङ्का है ।

सं०—अब सिद्धान्ती उक्त शङ्का का समाधान करता है :—

अर्थस्तुविधिशेषत्वात्यथालोके । २९ ।

पद०—अर्थः । तु । विधिशेषत्वात् । यथा । लोके ।

पदा०—"तु" शब्द शंका के निषेधार्थ आया है (विधिशेषत्वात्) उक्त वाक्यों को विधिवाक्य का अङ्ग होना ही (अर्थः) स्तुति की कल्पना का फल है (यथा) जैसे (लोके) लौकिक वाक्यों * में विधिवाक्य का अङ्ग होना स्तुति का फल है ।

भाष्य—जैसे लोक में सिद्धार्थवोधकवाक्य विधेय अर्थ की स्तुति करने से विधिवाक्य का अङ्ग कहलाता है वैसे ही वेद में भी जानना चाहिये, इसलिये वेदके उक्त वाक्यों में स्तुति की कल्पना करना व्यर्थ नहीं प्रत्युत उक्त वाक्योंको विधि वाक्य का अङ्गहोना ही उसका अर्थ है ।

सं०—अब तुष्यतुदुर्जनन्याय † से और युक्ति कहते हैं :-

यदि च हेतुःअवतिष्ठेत निर्देशात्

---

* यह गौ बहुत दूध देती है इसके सर्वदा बच्छी ही होती हैं और वह मरती नहीं इत्यादि, गौः क्रेतव्या = गौ मूल्यलो । इत्यादि लौकिक वाक्य हैं ।

† पूर्वपक्षी का कथन मानकर दोष देने का नाम तुष्यतुदुर्जनन्याय है ।

सामांन्यादितिचेत् अव्यवस्था विधीनां स्यात् । ३० ।

पद०-यदि । च । हेतुः । अवतिष्ठेत । निर्देशात् । सामान्यात् । इति । चेत् । अव्यवस्था । विधिनां । स्यात् ।

पदा०-(च) और यदि (हेतुः) "यज्ञेन" इत्यादि वाक्यों में यज्ञ को साधन माना जाय तो साधक के अभाव से उसकी स्थिरता होनी असम्भव है (निर्देशात् सामान्यात्) तृतीयाविभक्तिरूप निर्देश सामान्य से (अवतिष्ठेत) वह स्थिर हो जावेगा (चेत्) यदि (इति) यह कहाजाय तो फिर (विधिनां) विधि और अविधियों की (अव्यवस्था) कोई व्यवस्था (स्यात्) नहीं रहती ।

भाष्य-प्रथम तो उक्त वाक्यों में यज्ञ का साधनरूप से विधान है इसका कोई साधक नहीं, यदि तृतीया विभक्ति मात्र को देखकर उसके साधन होने की कल्पना की जाय तो फिर विधि तथा अविधि वाक्यों की व्यवस्था होना कठिन है क्योंकि जो विधि वाक्य नहीं हैं उनमें भी प्रायः विधि जैसे शब्दों के रूप देख पड़ते हैं, सिद्धान्त में तो जो वाक्य अपूर्व अर्थ को कथन करता है वही विधि वाक्य समझा जाता है अन्य नहीं । उक्त वाक्यों का यज्ञ को साधन कथन करना कोई अपूर्व अर्थ नहीं है क्योंकि यज्ञादि सम्पूर्ण वैदिक कर्म "कुर्वन्नेवेहकर्माणि" वाक्य से ही प्राप्त हैं और प्राप्त अर्थ को कथन करने वाला वाक्य उसका विधायक कदापि नहीं हो सकता, हां उन कर्मों में पुरुष प्रवृत्ति के लिये उनका स्तुति करने वाला हो सकता है, तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य यज्ञ का साधनरूप से कथन नहीं करते किन्तु वेद विहित यज्ञादि कर्मों में पुरुषमात्र की प्रवृत्ति के लिये उन कर्मों की स्तुति करते हैं ।

सं०—वेदमंत्रों का पठन पाठन मात्र ही पुण्य है, इस मत के खण्डनार्थ प्रथम अर्थसहित पठन पाठन का विधान करते हैं :—

तदर्थशास्त्रात् । ३१ ।

पद०—तत् । अर्थशास्त्रात् ।

पदा०—(तत्) वेद मंत्रों का अर्थसहित पठन पाठन करना कराना चाहिये क्योंकि (अर्थशास्त्रात्) वेद मनुष्यमात्र के प्रति पुरुषार्थ चतुष्टय के साधनों का सम्यक् प्रकार से कथन करनेवाला शास्त्र है ।

भाष्य—इस संसार में मनुष्य धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को किन२ उपायों से सम्पादन कर सकता है इस उपदेश के लिये परमात्मा की ओर से वेद का प्रकाश हुआ है, यदि मनुष्य उसको अर्थ सहित न पढ़े तो पुरुषार्थ चतुष्टय के उपायों को नहीं जान सकता, अतएव मनुष्यमात्र को अर्थसहित वेद का पठन पाठन करना कराना अत्या-वश्यक है ।

सं०—वेदों के अर्थसहित पठन पाठन में और हेतु कहते हैं:—

वाक्यनियमात् । ३२ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(वाक्यनियमात्) वेद में प्रत्येक मंत्ररूपवाक्य के प्रारम्भ में ऋषियों के नाम का नियम पाए जाने से वेदों का अर्थ सहित पठन पाठन होना चाहिये ।

भाष्य—प्रत्येक मंत्र के आरम्भ में जो ऋषियों का नाम आता है उसका यह भाव है कि वह महात्मा वेदमंत्रों के अर्थों तथा उनके भावों को भले प्रकार जानकर मनुष्यमात्र के उपकारार्थ उनका प्रचार करते थे क्योंकि गत्यर्थक ऋषधातु से ऋषिपद सिद्ध होता है

जिसका अर्थ जानने वाला है, इससे स्पष्ट होजाता है कि परम्परा से अर्थ सहित वेद के पठन पाठन की शैली चली आती है, इसलिये अब भी प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्त्तव्य मानकर अर्थसहित वेद का पठन पाठन करना कराना आवश्यक है।

सं०-वेदों के अर्थ सहित पठन पाठन में और हेतु कहते हैं:-

वृद्धशास्त्रात्। ३३।

पद०-एकपद।

पदा०-(वृद्धशास्त्रात्) वेद ज्ञानकादाताशास्त्र होने से अर्थ सहित पठन पाठन करने कराने योग्य है।

भाष्य-सब मनुष्यों को ज्ञान का देने वाला एक मात्र वेद ही है, उसी से सम्पूर्ण संसार में ज्ञान का प्रकाश हुआ, परन्तु वह प्रकाश अर्थ सहित पठन पाठन के बिना नहीं होसक्ता, इसलिये वेद का अर्थ सहित पठन पाठन होना चाहिये।

सं०-अब इसमें पूर्वपक्ष करते हैं:-

अविद्यमानवचनात्। ३४।

पद०-एकपद।

पदा०-(अविद्यमानवचनात्) अर्थ सहित वेदों का पठन पाठन होना अवश्यक नहीं क्योंकि उन में अविद्यमान् पदार्थों का कथन पाया जाता है।

भाष्य-वेदों में ऐसे २ पदार्थों का निरूपण है जिनके जानने से मनुष्य को कुछ लाभ नहीं, जैसाकि "सहस्रशीर्षापुरुषः" ऋ० ८।४।१७ = उसके सहस्र शिर हैं सहस्र पाद हैं इत्यादि, इस लिये उसका अर्थसहित पठन पाठन ठीक नहीं।

सं०-इसी की पुष्टि में और हेतु कहते हैं:-

अचेतनेऽर्थबन्धनात् । ३५ ।

पद०—अचेतने । अर्थबन्धनात् ।

पदा०—(अचेतने) अचेतन पदार्थों में (अर्थबन्धनात्) अपने अर्थ का बन्धन करने से वेद अर्थ सहित पठन पाठन के योग्य नहीं ।

भाष्य—"त्वमुत्तमास्योषधे" ऋ० ८ । ४ । ११ । २३ = हे ओषधे तू उत्तम है । इत्यादि वेद मंत्रों में ओषधि आदि जड़ पदार्थों को सम्बोधन विभक्ति से प्रतिपादन किया है जो सर्वथा असङ्गत है क्योंकि लोक में चेतन पदार्थ ही सम्बोधन किये जाते हैं जड़ नहीं और वेद में इसके विपरीत जड़ पदार्थों का सम्बोधन किया है इस लिये उसका अर्थसहित पठन पाठन आवश्यक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में तीसरा हेतु कहते है :—

अर्थविप्रतिषेधात् । ३६ ।

पद०—एकपद ।

पद०—(अर्थविप्रतिषेधात्) परस्पर विरुद्धार्थ का प्रतिपादन करने से वेद का अर्थसहित पठन पाठन ठीक नहीं ।

भाष्य—"अदितिर्द्यौरदितिरन्तारिक्षम्" ऋ०।१।६।१६।१० = अदिति ही द्यू है और वही अन्तरिक्ष है, इत्यादि वेद मंत्रों में जो अर्थ प्रतिपादन किया है वह परस्पर अत्यन्त विरुद्ध है क्योंकि जो द्यू है वही अन्तरिक्ष है यह कदापि नहीं होसक्ता, द्यू ओर वस्तु और अन्तरिक्ष ओर है, इसलिये उसका अर्थ सहित पठन पाठन आवश्यक नहीं ।

सं०—इसी की पुष्टि में चौथा हेतु कहते हैं :—

स्वाध्यायवदबचनात् । ३७ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(स्वाध्यायवदवचनात्) वेद के पठन पाठन विधायक वाक्यों में अर्थ सहित पठन पाठन का विधान न पाए जाने से अर्थ सहित पठन पाठन ठीक नहीं ।

भाष्य—**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः** = मनुष्यमात्र को वेद पढ़ना चाहिये, इत्यादि पठन पाठन विधायक वाक्यों में केवल पठन पाठन का विधान किया है अर्थ सहित पठन पाठन का नहीं, यदि अर्थ सहित पठन पाठन आवश्यक होता तो अवश्यमेव अर्थ सहित पठन पाठन का विधान किया जाता परन्तु ऐसा न होने से अर्थ सहित पठन पाठन की कोई आवश्यक्ता नहीं ।

सं०—पांचवां हेतु कहते हैं :—

अविज्ञेयात् । ३८ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(अविज्ञेयात्) वेद वाक्यों का अर्थ अविज्ञेय = जानने योग्य न होने से उसका अर्थ सहित पठन पाठन ठीक नहीं ।

भाष्य—"**अम्यक्सातइन्द्रऋष्टिरस्मे**" ऋ० २।४।८।३ "**सृण्येव जर्भरी तुर्फरी तू**" ऋ० ८।३।६।६ इत्यादि बहुत से वेद वाक्य हैं जिनका कुछ अर्थ प्रतीत नहीं होता, इसलिये उसका अर्थ सहित पठन पाठन ठीक नहीं ।

सं०—छठा हेतु कहते हैं :—

अनित्य संयोगान्मंत्रानर्थक्यम् । ३९ ।

पद०—अनित्यसंयोगात् । मंत्रानर्थक्यम् ।

पदा०—(अनित्यसंयोगात्) जन्ममरणवाले पदार्थों का सम्बन्ध

पाए जाने से (मंत्रानर्थक्यम्) वेद मंत्रों का अर्थ सहित पठन पाठन निरर्थक है ।

भाष्य–"किन्तेकृण्वन्ति कीकटेषुगावः" ऋ० ३।३।२१।१४ इत्यादि वेद मंत्रों में कीकट देश और नैशाख नगर और उसका प्रमङ्गदराजा प्रतिपादन किया है । इससे अनुमान होता है कि उक्त मंत्र प्रमङ्गदराजा से पूर्व प्रकाशित नहीं हुए यदि पूर्व होते तो इनका नाम न आता, नाम आने से उनके ईश्वरोक्त होने में सन्देह होता है अतएव उनका अर्थ सहित पठन पाठन ठीक नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का सिद्धान्ती समाधान करता है :–

अविशिष्टस्तुवाक्यार्थः । ४० ।

पद०–अविशिष्टः । तु । वाक्यार्थः ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष के खण्डनार्थ आया है (अविशिष्टः) वेद और लोक में (वाक्यार्थः) वाक्यार्थ का ज्ञान समान है ।

भाष्य–जैसे लोक में सम्पूर्ण ग्रन्थ अर्थसहित पठन पाठन किये जाने पर मनुष्यों को लाभदायक होते हैं वैसे ही वेद भी अर्थ सहित पठन पाठन करने कराने से लाभदायक होते हैं अन्यथा नहीं क्योंकि लोक और वेद में वाक्यार्थ का ज्ञान समान रीतिसेही होता है अर्थात् जैसे लोक में यौगिक शब्दों के अर्थ धातु, प्रत्यय के ज्ञान से जाने जाते हैं वैसेही वेदमें भी प्रायः जानना चाहिये, इसलिये उसका अर्थसहित ही पठन पाठन होना आवश्यक है ।

सं०–वेद के अर्थ सहित पठन पाठन में और हेतु कहते हैं:–

गुणार्थेन पुनःश्रुतिः । ४१ ।

पद०–गुणार्थेन । पुनः । श्रुतिः ।

पदा०–(श्रुतिः) वेद (पुनः) जिस कारण (गुणार्थेन)

अनन्त गुणवाले अर्थों से पूरित हैं, इसलिये उनका अर्थसहित पठन पाठन करना कराना चाहिये ।

भाष्य—वेद सब सत्य विद्याओं का भाण्डार हैं उनका एक २ पद अनन्त लाभ दायक अर्थों से भरा है, जबतक मनुष्य उनको अर्थसहित न पढ़े पढ़ावे तबतक कोई लाभ नहीं होसक्ता, इसलिये उनका अर्थ सहित पठन पाठन करना कराना आवश्यक है ।

सं०—इसी की पुष्टि में और हेतु कहते हैं :-

परिसंख्या । ४२ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(परिसंख्या) वेद के अर्थ सहित पठन पाठन से त्याज्य कर्मों के निषेध का ज्ञान होजाता है ।

भाष्य—शुभ कर्म करने से सुख और अशुभ कर्म करने से दुःख होता है । कौन कर्म शुभ और कौन अशुभ हैं, इसको जीव अल्पज्ञता के कारण नहीं जान सक्ता और परमेश्वर सर्वज्ञ है उसको इसका पूर्णज्ञान है इसलिये सुख के साधन शुभ कर्मों के ग्रहणार्थ और दुःख के साधन अशुभ कर्मों के परित्यागार्थ उसकी पुस्तक वेद का अर्थसहित पठन पाठन करना कराना चाहिये ।

सं०—अब प्रसङ्ग सङ्गति से उक्त अर्थ में नास्तिक आशङ्का करता है :—

अर्थवादोवा । ४३ ।

पद०—अर्थवादः । वा ।

पदा०—"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है । शुभ कर्मों के करने से सुख और अशुभ कर्मों के करने से दुःख होता है यह (अर्थवादः) अर्थवाद है, सत्य नहीं ।

सं०-उक्त आशङ्का का उत्तर :—

अविरुद्धंपरम् । ४४ ।

पद०-अविरुद्धं । परम् ।

पदा०-(अविरुद्धं) शुभ कर्मों के करने से सुख और अशुभ कर्मों के करने से दुःख होता है, यह बात लोक और वेद में अविरुद्ध अर्थात् उभय सम्मत है इसलिये यही (परम्) सर्वोत्तम होने से धारण करने योग्य है ।

भाष्य-शुभ कर्मों के करने से सुख और अशुभ कर्मों के करने से दुख होता है यह अर्थवाद नहीं प्रत्युत सिद्धान्त है क्योंकि वेद में इसका उपदेश और शिष्ट लोगों में इसका अनुष्ठान पायाजाता है इसलिये इसको अर्थवाद मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब ३४वें सूत्र में किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

संप्रैषेकर्मगर्हानुपालम्भःसंस्कारत्वात् । ४५ ।

पद०-संप्रैषे । कर्मगर्हानुपालम्भः । संस्कारत्वात् ।

पदा०-(संप्रैषे)"सहस्रशीर्षा"इत्यादि वेद वाक्यों में (कर्मगर्हानुपालम्भः) कर्म बोधन के लिये लोक विलक्षण अर्थात् अविद्यमान अर्थों का प्रतिपादन करनारूप दोष दोष नहीं क्योंकि (संस्कारत्वात्) उसका प्रतिपादन मनुष्यों की बुद्धि के संस्कार के लियेहै ।

भाष्य-वेद में जितने अर्थ कहे गए हैं उनमें से प्रायः कोई मुख्य और कोई गौणवाद से कहे गए हैं इसीसे वह अविद्यमान से प्रतीत होते हैं वस्तुतः अविद्यमान नहीं, उनको अविद्यमान मानकर वेद के अर्थ सहित पठन पाठन करने कराने का निषेध करना ठीक नहीं ।

उक्त "सहस्रशीर्षा" मंत्र का अर्थ यह है-कि वह पुरुष परमा-

त्मा जीव मात्र का अंतरात्मा होने से अनन्त शिर, अनन्त पांव,वाला है और सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त करके भीतर बाहर स्थित है ।

सं०-अब "अचेतनेऽर्थबन्धनात्" इस सूत्र में किये पूर्व-पक्ष का समाधान करते है :—

अभिधानेऽर्थवादः । ४६ ।

पद०-अभिधाने । अर्थवादः ।

पदा०-(अभिधाने) "त्वमुत्तमास्योषधे" इस मंत्र में जो अचेतन ओषधि का सम्बोधन विभक्ति से कथन किया है, इसमें (अर्थवादः) अर्थवाद जानना चाहिये ।

भाष्य-उक्त मंत्र में जो सोम नामक ओषधि को बुलाकर कहा है कि हे ओषधे ! तू सब ओषधियों से अपने गुणों के कारण उत्तम है, इसका तात्पर्य्य सब ओषधियों से सोम ओषधि को उत्तम कथन करने का है अचेतन ओषधि के सम्बोधन में नहीं, इसलिये कोई दोष नहीं ।

सं०-अब "अर्थविप्रतिषेधात्" इस सूत्र में किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

गुणादविप्रतिषेधःस्यात् । ४७ ।

पद०-गुणात् । अविप्रतिषेधः । स्यात् ।

पदा०-(गुणात्) "अदितिर्द्यौ०" इस मंत्र में गुणवृत्तिसे अदिति को द्यू और अन्तरिक्ष आदि प्रतिपादन किया है इसलिये (अविप्रतिषेधः, स्यात्) अर्थों का परस्पर कोई विरोध नहीं ।

भाष्य-एकही शब्द गुणवृत्ति से नाना अर्थों का कथन कर

सक्ता है जैसाकि लोक में हरिशब्द नानार्थ को कहता है और उन अर्थों का परस्पर कोई विरोध नहीं वैसेही वेद में भी जानना चाहिये ।

सं०-अब "स्वाध्यायवदवचनात्" इस सूत्र में किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

विद्याऽवचनमसंयोगात् । ४८ ।

पद०-विद्याऽवचनम् । असंयोगात् ।

पदा०-(विद्याऽवचनम्) "स्वाध्यायोऽध्येतव्यः" इस विधि में जो अर्थसहित पठन पाठन का अवचन = अकथन है वह (असंयोगात्) उसके वचन से विना ही प्राप्त होने के कारण है ।

भाष्य-उक्त विधि में जो अर्थसहित वेद का पठन पाठन विधान नहीं किया उसका यह भाव नहीं कि अर्थसहित वेद नहीं पढ़ना किन्तु अध्ययन नाम ही अर्थ सहित पठन पाठन का है । इसलिये "अर्थ सहित" इस वचन के न होने पर भी वह स्वभावतः प्राप्त है, अतएव उसके कथन की आवश्यकता नहीं ।

सं०-अब "अविज्ञानात्" इस सूत्र में किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सतःपरमविज्ञानम् । ४९ ।

पद०-सतः । परम् । अविज्ञानम् ।

पदा०-(अविज्ञानम्) "अम्यक् सात इन्द्र" और "सृण्येव जर्भरी" इत्यादि वेद मंत्रों में जो अर्थ का अविज्ञान कथन किया है वह (सतः,परं) विद्यमान अर्थ का ही जानना चाहिये ।

भाष्य-"अम्यक् सात इन्द्र ऋष्टिरस्मे" "सृण्येव जर्भरी

तुर्फरी तू" इत्यादि वेद मंत्रों के अर्थ का अविज्ञान अपनी अविद्या के कारण है मंत्रों का दोष नहीं क्योंकि इनके अर्थ भले प्रकार होसक्ते हैं।

उक्त दोनों मंत्रों के अर्थ यह हैं—हे परमात्मन् आपका सामर्थ्य हमारे कल्याण के लिये वायु को प्रेर कर जो मेघों से जल की वृष्टि कराता है उससे खेतियें भले प्रकार उत्पन्न होतीं और उनसे फिर हवनाग्नियें देदीप्यमानहुई घरकी शोभा को बढ़ाती हैं इसलिये तु कृपाकरके हमलोगों की वृष्टि द्वारा अन्नादि से सर्वदा रक्षा कर जैसाकि द्वीप की जल रक्षा करते हैं। ऋ० २।४।८।३, जैसे हाथीवान के द्वारा मत्तगज अंकुश से पीड़ित तथा मर्य्यादा में स्थित किये जाते हैं वैसे ही पापी जनों को पीड़ा देनेवाले तथा मर्य्यादा में स्थित करने वाले मेघसमान सत्पात्र में दानशील पुरुष को सर्वदा विजय प्रदान करने वाले हे अतिशय शक्तिसम्पन्न परमपिता परमात्मन् तु मुझको जरा और मृत्यु से छुड़ाकर सर्वदा के लिये अजर अमर कर। ऋ० ८।३।६।६

सं०—अब "अनित्यसंयोगात्" इस सूत्र में किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

उक्तश्चानित्यसंयोगः।५०।

पद०—उक्तः। च। अनित्यसंयोगः।

पदा०—(अनित्यसंयोगः) जन्म मरण वाले अर्थ के निरूपण का समाधान (उक्तः, च) पीछे कईबार कियागया है।

भाष्य—वेदमंत्रों में जो मनुष्य वा ग्रामों के नाम आते हैं वह सामान्यनाम हैं किसी व्यक्ति विशेष वा ग्राम विशेष के नहीं, यही सर्वत्र जानना चाहिये।

सं०-उक्त सब पूर्वपक्षों का समाधान करके, अब अपने पक्षकी दृढ़ता के लिये युक्ति कहते हैं :-

लिङ्गोपदेशश्चतदर्थवत् ।५१।

पद०-लिङ्गोपदेशः । च । तदर्थवत् ।

पदा०-(लिङ्गोपदेशः) जो वेदमंत्रों में परमात्मा के चिन्हों का उपदेश है वह (च) भी (तदर्थवत्) वेद के अर्थसहित पठन पाठन का साधक है ।

भाष्य-"अनेजदेकं"यजु० ४०।४ = वह कभी कांपता नहीं और वह एक है । इत्यादि वेदमंत्रों में जो परमात्मा के विशेषण हैं वह अर्थ सहित पढ़े विना नहीं आसक्ते और उनके न आने से विशेष्य का ज्ञान भी नहीं होसक्ता, इसलिये उनका अर्थसहित पठन पाठन होना उचित है ।

सं०-उक्त अर्थ में और युक्ति कहते हैं :-

ऊहः ।५२।

पद०-एकपद ।

पदा०-(ऊहः) "योनो दाता सनः पिता" ऋ० ६ । ४ । २० । ५, इत्यादि मंत्रों में यह कथन किया है कि जो प्राण दाता है वह पिता है, यहां पर यह तर्क होती है कि जो प्राणदाता नहीं वह पिता भी नहीं, यह अर्थ केवल तर्क से प्राप्त होता है, जो अर्थ-सहित वेदों के विनापढ़े कदापि नहीं होसक्ती, इससे उनका अर्थ सहित पठन पाठन होना आवश्यक है ।

सं०-अब उक्त अर्थ की दृढ़ता के लिये और युक्ति कहते हैं :-

विधिशब्दाश्च । ५३ ।

पद०—विधिशब्दाः । च ।

पदा०—(विधिशब्दाः) "कुर्वन्नेवेहकर्माणि" यजु० ४० । २ इत्यादि विधिवाक्य (च) भी अर्थसहित वेद के पठन पाठन का उपदेश करते हैं ।

भाष्य—जबतक पुरुष को अर्थ का ज्ञान न हो तबतक अपने कर्त्तव्य कर्मों को जो विधि ने विधान किये हैं नहीं जान सक्ता और उनके न जानने से अनुष्ठान भी नहीं करसक्ता, इसलिये वेदों का अर्थ सहित ही पठन पाठन होना चाहिये, अन्यथा नहीं ।

इति मीमांसार्य्य भाषा
भाष्ये,प्रथमाध्याये
द्वितीयः पादः

ओ३म्

अथ मीमांसार्य्यभाष्ये प्रथमाध्यायस्य तृतीयपादः प्रारभ्यते

सं०-प्रथम और द्वितीयपाद में वेद को स्वतःप्रमाण सिद्ध करके मनुष्यमात्र को उसके अर्थसहित पठन पाठन का विधान विस्तारपूर्वक कथन किया। अब ऐत्तरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

धर्मस्य शब्दमूलत्वात् अशब्दमनपेक्षं स्यात् ।१।

पद०-धर्मस्य । शब्दमूलत्वात् । अशब्दम् । अनपेक्षं । स्यात्।

पदा०-(धर्मस्य) धर्म में (शब्दमूलत्वात्) केवल वेद प्रमाण होने से (अशब्दम्) उस से भिन्न ऐत्तरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थ (अनपेक्षं, स्यात्) प्रमाण नहीं।

भाष्य-पूर्वपक्षी का यह भाव है कि जब धर्म में केवल वेदही प्रमाण हैं तो उनसे भिन्न ऐत्तरेयादि ब्राह्मण प्रमाण नहीं होसक्ते, अतएव वह अप्रमाण हैं।

सं०-उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

अपि वा कर्तृसामान्यात्प्रमाणमनुमानं स्यात् ।२।

पद०-अपि । वा । कर्तृसामान्यात् । प्रमाणम् । अनुमानं । स्यात्।

पदा०-(अपि,वा) शब्द सिद्धान्त की सूचना के लिये

आया है (कर्तृसामान्यात्) वेदप्रचार कर्त्ता इत्तरा आदि के पुत्र महीदास प्रभृति ऋषियों के बनाए हुए होने से (अनुमानं) ऐत्तरेयादि ब्राह्मण (प्रमाणं) वेदानुकूल होने के कारण प्रमाण (स्यात्) हैं।

भाष्य-"धर्म में केवल वेद ही प्रमाण है" इसका यह भाव नहीं कि वेद से भिन्न ऐत्तरेयादि ब्राह्मण धर्म में प्रमाण नहीं किन्तु यहभाव है कि धर्म में केवल स्वतः प्रमाण वेद और अन्य सब आर्षग्रन्थ वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण अर्थात् परतः प्रमाण हैं क्योंकि उनके कर्त्ता वेदप्रचारक महीदास प्रभृति ऋषि हैं ईश्वर नहीं।

सं०-अब ऐत्तरेयादि ब्राह्मणों को वेद विरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने से अप्रमाण और अविरुद्ध अर्थ का प्रतिपादन करने से प्रमाण कथन करते हैं:-

विरोधेत्वनपेक्ष्यंस्यात्, असति ह्यनुमानम्। ३।

पद०-विरोधे। तु। अनपेक्ष्यं। स्यात्। असति। हि। अनुमानं।

पदा०-(विरोधे) वेद तथा ब्राह्मणोंका परस्पर विरोध होने पर (अनुमानं) ऐत्तरेयादि ब्राह्मण (अनपेक्ष्यं) प्रमाण नहीं (तु) किन्तु (असति,हि) विरोध के न होने पर ही (स्यात्) प्रमाण हैं।

भाष्य-जिस अर्थ का वेद प्रतिपादन करते हैं यदि उससे विपरीत ब्राह्मण ग्रन्थ प्रतिपादन करें तो वह प्रमाण नहीं और यदि वेदानुकूल अर्थ का प्रतिपादन करें तो वहभी प्रमाण हैं।

सं०-ननु, ऐत्तरेयादि ब्राह्मण वेदाविरुद्ध होने से प्रमाण और विरुद्ध होने से अप्रमाण अर्थात् परतः प्रमाण क्यों मानेजायं? उत्तरः-

हेतुदर्शनाच्च ।४।

पद०—हेतुदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) ऋषिप्रणीत होने के अतिरिक्त (हेतुदर्शनात्) वेद व्याख्यान रूप हेतु के देखे जाने से वह परतः प्रमाण हैं ।

भाष्य—जो जिसका व्याख्यान होता है वह उसके अनुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण होता है यह नियम है । ऐत्तरेयादि ब्राह्मण भी ऋगादि वेदों के व्याख्यान हैं क्योंकि उनमें वेद मंत्रों की प्रतीकें रखकर व्याख्यान कियागया है, इसलिये वह भी वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण अर्थात् परतः प्रमाण हैं ।

सं०—अब ऐत्तरेयादि ब्राह्मणों के सर्वथा वेदाविरुद्ध होने का पूर्वपक्ष करते हैं :-

शिष्टाकोपेऽविरुद्धमिति ।५।

पद०—शिष्टाकोपे । अविरुद्धं । इति ।

पदा०—(शिष्टाकोपे) शिष्ट पुरुषों को अविरोध पूर्वक स्वीकार होने से (अविरुद्धं) वह सर्वथा वेदाविरुद्ध हैं (इति) ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं । इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है —

भाष्य—वेद विहित कर्मों के करने वाले सत्पुरुषों का नाम "शिष्ट" है और वह ऐत्तरेयादि ब्राह्मणों को मानपूर्वक ग्रहण करते हैं, यदि वह सर्वथा वेद विरुद्ध होते तो शिष्टपुरुष उनको इस प्रकार मान पूर्वक ग्रहण न करते, इससे ज्ञात होता है कि वह वेदाविरुद्ध हैं और इसी लिये वह वेद के तुल्य प्रमाण हैं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न शास्त्रपरिमाणत्वात् । ६ ।

पद०—न । शास्त्रपरिमाणत्वात् ।

पदा०—(न) यह ठीक नहीं क्योंकि (शास्त्रपरिमाणत्वात्) ईश्वरोक्त होने से वेदरूप शास्त्र ही परितः = सर्वतः अर्थात् स्वतः माणत्वात् = प्रमाण हैं ।

भाष्य—"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः" ऋ० ८ । ४ । १८ = उस परम पूज्य परमात्मा से ऋगादि चारों वेद उत्पन्न हुए । इत्यादि वेद मंत्रों में चारों वेदों का परमात्मा की ओर से प्रकाश होना पाया जाता है ऐत्तरेयादि ब्राह्मणों का नहीं, इसलिये वेद ही स्वतःप्रमाण हैं ब्राह्मण नहीं । और जो ब्राह्मण ग्रन्थों को शिष्टपुरुष मानपूर्वक ग्रहण करते हैं उसका कारण यह है कि वह महानुभाव महीदास आदि ऋषियों के बनाए हुए वेदों के व्याख्यान हैं ।

सं०—ननु, जब महीदासआदि ऋषि माननीय हैं तोफिर उनके बनाए हुए ऐत्तरेयादि ब्राह्मण वेद के समान प्रमाण क्यों नहीं ? उत्तरः—

अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन् । ७ ।

पद०—अपि । वा । कारणाग्रहणे । प्रयुक्तानि । प्रतीयेरन् ।

पदा०—(अपि, वा) शब्द उक्त शङ्का के समाधान के लिये आया है (कारणाग्रहणे) अप्रमाणता के कारण अर्थात् वेद विरोध का ग्रहण न होने से (प्रयुक्तानि) महीदास आदि ऋषियों के बनाए ऐत्तरेयादि ब्राह्मणों को (प्रतीयेरन्) प्रमाण मानना चाहिये ।

भाष्य—यद्यपि महीदास आदि ऋषि महानुभाव होने के कारण माननीय हैं तथापि मनुष्य होने से उनमें भूल का होना सम्भव है

इसलिये उनके बनाए ऐत्तरेयादि ब्राह्मण वेदानुकूल होने से ही प्रमाण हैं अन्यथा नहीं।

सं०-अब इसी अर्थ को अगले सूत्र से स्पष्ट करते हैं :—

तेष्वदर्शनाद्विरोधस्यसमा विप्रतिपत्तिःस्यात्।८।

पद०-तेषु। अदर्शनात्। विरोधस्य। समा। विप्रतिपत्तिः। स्यात्।

पदा०-(तेषु) ऐत्तरेयादि ब्राह्मणग्रन्थों में (विरोधस्य) वेद विरोध (अदर्शनात्) न होने से (समा) वेद के समान ही (विप्रतिपत्तिः) पदार्थों का विज्ञान (स्यात्) है।

भाष्य-ब्राह्मणग्रन्थों के जिन वाक्यों का वेद के साथ विरोध नहीं वह वेद के समान प्रमाण हैं और जो वेद विरुद्ध हैं वह प्रमाण नहीं।

सं०-ननु, जैसा ब्राह्मण ग्रन्थों में सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्मों का विस्तार पूर्वक निरूपण है वैसा वेद में नहीं, इसलिये विस्तार में भी उनको प्रमाण न मानना चाहिये? उत्तर :—

शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्।९।

पद०-शास्त्रस्था। वा। तन्निमित्तत्वात्।

पदा०-(वा) शब्द सिद्धान्त के अभिप्राय से आया है (शास्त्रस्था) ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद प्रतिपाद्य ही का विस्तार है स्वतन्त्र नहीं क्योंकि (तन्निमित्तत्वात्) वह वेद मूलक हैं।

भाष्य-ब्राह्मण ग्रन्थों में जो सन्ध्या अग्निहोत्रादि कर्मों का विस्तार पूर्वक निरूपण है वह कपोल कल्पित नहीं प्रत्युत वेद मूलक है क्योंकि वेद में कर्मों के करने की आज्ञा पाई जाती है और ब्राह्मण

ग्रन्थ उन्हीं कर्मों का विस्तार से वर्णन करते हैं अर्थात् यह उनका व्याख्यान है। व्याख्यान उसी को कहते हैं जो अपने व्याख्येय ग्रन्थ के अर्थों का विस्तार पूर्वक वर्णन करे, अतएव ब्राह्मण ग्रन्थों का वह अर्थ वेदविरुद्ध नहीं किन्तु वेदानुकूल होने से प्रमाण है।

सं०—ननु, ब्राह्मणग्रन्थों में विधि, अर्थवाद आदि कई प्रकार के विषयों का निरूपण है उनमें से किसको प्रमाण मानना चाहिये? उत्तर :—

चोदितन्तुप्रतीयेताविरोधात् प्रमाणेन। १०।

पद०—चोदितं। तु। प्रतीयेत। अविरोधात्। प्रमाणेन।

पदा०—(चोदितं) विधिविहित (तु) ही (प्रमाणेन) वेद के साथ (अविरोधात्) विरोध न होने से (प्रतीयेत) प्रमाण जानना चाहिये।

भाष्य—ऐत्तरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों में जो विधि, अर्थवाद आदि भेद से कई प्रकार के अर्थों का निरूपण है उनमें विधि शब्दों से जिन २ अर्थों का निरूपण किया गया है वही वेदाविरुद्ध होने से प्रमाण अनुष्ठानार्ह हैं अन्य नहीं क्योंकि वह सब प्रसङ्ग से कथन किये गए हैं वेद के आधार से नहीं।

सं०—अब वेदाङ्ग * कल्प सूत्रों को परतःप्रमाण सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

प्रयोगशास्त्रमितिचेत्। ११।

---

* वेद के छ अङ्गों में कल्पसूत्र एक अङ्ग हैं और वह श्रौत तथा गृह्य भेद से दो प्रकार के हैं।

पद०—प्रयोगशास्त्रम् । इति । चेत् ।

पदा०—(प्रयोगशास्त्रं) वेदोक्त धर्मों का यथाविधि अनुष्ठान बोधन करने वाले कल्पसूत्र वेद के समान स्वतः प्रमाण हैं क्योंकि वह भी वेदवत् धर्मबुद्धि के जनक हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं । इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न असन्नियमात् । १२ ।

पद०—न । असन्नियमात् ।

पदा०—(न) कल्प सूत्र वेद के समान प्रमाण नहीं क्योंकि (असन्नियमात्) उनमें अवैदिक सिद्धान्त का भी निरूपण पाया जाता है ।

भाष्य—जैसा वेदों में सत्यार्थ का निरूपण है वैसा कल्प सूत्रों में नहीं क्योंकि उनमें बहुत से ऐसे अर्थों का निरूपण कियागया है जो वेदों में नहीं मिलते केवल अपनी बुद्धि से कल्पना किये गए हैं, और मनुष्य की बुद्धि सर्वदा सर्वप्रकार से भ्रान्तिरहित नहीं होती क्योंकि मनुष्य में भूल का होना स्वाभाविक धर्म है इसलिये उनको वेद के समान स्वतःप्रमाण मानना ठीक नहीं प्रत्युत ब्राह्मणग्रन्थों के समान वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण अर्थात् परतःप्रमाण मानना ही उचित है ।

सं०— अब उक्त अर्थ में युक्ति कहते हैं :—

अवाक्यशेषाच्च । १३ ।

पद०—अवाक्यशेषात् । च ।

पदा०—(च) कल्प सूत्र वेद के समान स्वतःप्रमाण नहीं

क्योंकि (अवाक्यशेषात्) उनमें कोई विधि वाक्य और उसका स्तुति वाक्य नहीं है ।

भाष्य—जैसे वेद में कर्मों के करने की विधि अर्थात् आज्ञा पाईजाती है और कर्मों के फल की प्रशंसा करनेवाले वाक्य पाए जाते हैं वैसे उक्त सूत्रों में नहीं क्योंकि उनमें प्रायः कर्मों के अनुष्ठान का प्रकार निरूपण कियागया है इसलिये वह वेद के समान प्रमाण नहीं होसक्ते ।

सं०—अब उनके परतःप्रमाण होने में और युक्ति कहते हैं :-

सर्वत्र च प्रयोगात्सन्निधानशास्त्राच्च । १४ ।

पद०—सर्वत्र । च । प्रयोगात् । सन्निधानशास्त्रात् । च ।

पदा०—(सर्वत्र) सब कल्पसूत्रों में (सन्निधानशास्त्रात्) अर्थद्वारा परम सन्निहित वेदरूप शास्त्र से (प्रयोगात्) विरुद्ध अर्थ का प्रयोग पाएजाने से (च) वह वेद के समान प्रमाण नहीं ।

भाष्य—यह कल्पसूत्र बौधायन, आपस्तम्ब, आश्वलायन, कात्यायन, आदि अनेक ऋषियों के बनाए हुए हैं उनमें प्रायः अपनी२ मति अनुसार अर्थ निरूपण किये गए हैं इसलिये वह वेदानुकूल होने से ही प्रमाण होसक्ते हैं स्वतः नहीं—

सं०—अब मनुस्मृति तथा शिष्ट पुरुषों के आचरण का आश्रयण मनुष्यमात्र को कर्त्तव्य है यह सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करतेहैं :—

अनुमानव्यवस्थानात्तत्संयुक्तं प्रमाणंस्यात् । १५ ।

पद०—अनुमानव्यवस्थानात् । तत्संयुक्तं । प्रमाणं । स्यात् ।

पदा०—(अनुमानव्यवस्थानात्) स्मृति तथा शिष्टाचरण की

देश विशेष के साथ व्यवस्था होने से (तत्संयुक्तं) वह उसी देश विशेष के साथ सम्बद्ध हुआ (प्रमाणं) प्रमाण (स्यात्) है।

भाष्य–जिस देश विशेष में मनुस्मृति बनाई गई और जिसमें शिष्ट पुरुष रहते हैं उसीदेशके निवासियों को उसका आश्रयण करना चाहिये अन्य को नहीं क्योंकि स्मृतिकार तथा शिष्टपुरुष उसी देश विशेष के निवासी थे।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अपि वा सर्वधर्मःस्यात्तन्न्यायत्वा द्विधानस्य। १६।

पद०–अपि। वा। सर्वधर्मः। स्यात्। तत्। न्यायत्वात्। विधानस्य।

पदा०–(अपि, वा) वा शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये आया है (तत्) मनुस्मृति तथा शिष्टाचार (सर्वधर्मः) मनुष्यमात्र का समानरूप से आश्रयणीयधर्म (स्यात्) है, क्योंकि (विधानस्य) स्मार्त्त अर्थ तथा शिष्टों का आचरण (न्यायत्वात्) सर्वथायुक्त है।

भाष्य–मनुस्मृति में जो अर्थ विधान किया गया है और जो सनातनी वैदिक पुरुषों के आचरण हैं वह सब वेदानुकूल होने से सर्वथा माननीय हैं क्योंकि वह वैदिक सिद्धान्त होने के कारण सर्वथा बुद्धि पूर्वक हैं, इसलिये वह मनुष्यमात्र के लिये समान है, किसी जाति तथा देश विशेष के लिये नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि वैदिक धर्मावलम्बी आर्य्य पुरुष जिस२ देश में रहें उन सब देशों में उनका खानपान, पहरान, ध्यान, स्नान, और बोलचाल तथा कर्मकाण्डादि सब व्यवहार समान प्रकार का होना चाहिये जिससे ज्ञात होजाय कि यह वैदिक हैं और इनका आचरण मनुष्यमात्र को अनुकरणीय है।

सं०—ननु, जिस देश विशेष में मनुष्यों का आचार स्मृति तथा शिष्टाचरण के अनुसार न रहे वहां क्या कर्त्तव्य है ? उत्तर :—

दर्शनाद्विनियोगःस्यात् । १७ ।

पद०—दर्शनात् । विनियोगः । स्यात् ।

पदा०—(दर्शनात्) वैदिक ज्ञान से (विनियोगः) पुनः स्मार्त्त तथा शिष्टाचार का स्थापन (स्यात्) होना चाहिये ।

भाष्य—जो देश वैदिक धर्म तथा शिष्टों के आचरण से शून्य होगया है उस देश में वैदिक उपदेशकों द्वारा वैदिक धर्म तथा शिष्टों के आचरण का पुनः प्रचार कराकर सब मनुष्यों को वैदिक पथ पर चलाने का प्रयत्न करना आवश्यक है जिससे वह सनातनधर्म पर आरूढ़ हों ।

सं०—ननु, जिस देश विशेष में वैदिक धर्म वा वैदिक ऋषियों के आचरण का आश्रयण नष्ट भ्रष्ट होकर दूसरा धर्म तथा आचार प्रवृत्त होगया हो वहां पुनः प्रचार कैसे हो सकता है ? उत्तर :—

लिङ्गाभावाच्चनित्यस्य । १८ ।

पद०—लिङ्गाभावात् । च । नित्यस्य ।

पदा०—(नित्यस्य) सनातनवैदिकधर्म का कभी नाश ही नहीं हो सकता क्योंकि (लिङ्गाभावात्) सनातन वस्तु के नाश होने में कोई प्रमाण नहीं इसलिये (च) पुनः प्रचार की चेष्टा अवश्य कर्त्तव्य है ।

भाष्य—जो नित्य है उसका कभी नाश नहीं होता यह नियम है, परमात्मा और उसका ज्ञान वेद जो मनुष्य मात्र के कल्याणार्थ सृष्टि के आदि में ऋषियों के द्वारा प्रकाशित हुआ है वह नित्य है उसका

सर्वथा नाश होना असम्भव है,इसलिये वैदिक उपदेशकों द्वारा उसका पुनः प्रचार हो सकता है ।

सं०—ननु, भारतवासी पुरुषों के उद्देश्य से वनाई स्मृति तथा इसी देशवासी ऋषियों के आचरणों का प्रचार अन्य देशों में कैसे होसक्ता है ? उत्तर :—

आख्या हि देशसंयोगात् । १९ ।

पद०—आख्या । हि । देशसंयोगात् ।

पदा०—(आख्या) भारतवासी नाम (हि) भी (देशसंयोगात्) केवल देशविशेष के सम्बन्ध से है ।

भाष्य—परमात्मा की आज्ञा से वैदिकधर्म्म के प्रचारक ऋषि प्रथम भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुए और उन्हीं के द्वारा सर्वत्र वैदिक धर्म का प्रचार हुआ, इसलिये उनकी वनाई स्मृति तथा उनका आचार मनुष्यमात्र का हितकारी होने से सबको सर्व प्रकार आदर पूर्वक माननीय है, इससे किसी जाति विशेष वा देश विशेष का नियम नहीं क्योंकि "भारतवासी" उनका यह नाम केवल देश सम्बन्ध से है स्वाभाविक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

न स्याद्देशान्तरेष्विति चेत् । २० ।

पद०—न । स्यात् । देशान्तरेषु । इति । चेत् ।

पदा०—(देशान्तरेषु) यदि "भारतवासी" यह नाम केवल देश सम्बन्ध से है तो वह वैदिक धर्म प्रचारार्थ अन्य देशों में जाने से (न) नहीं (स्यात्) रहना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं । इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है —

भाष्य–जिसका जो नाम किसी अन्य के सम्बन्ध से होता है वह उस सम्बन्ध के न रहने पर निवृत्त होजाता है यह नियम है, भारतीय यह नाम भी यदि किसी देश विशेष के सम्बन्ध से होता तो ऋषियों के देशान्तरों में जाने से अवश्य निवृत्त होजाता क्योंकि वहां जाने से पूर्व देश का सम्बन्ध नहीं रहा परन्तु निवृत्त नहीं होता, इससे ज्ञात होता है कि उनका यह नाम केवल देश विशेष के सम्बन्ध से नहीं।

सं०–अब उक्त आशङ्का का समाधान करते है :–

स्याद्योगाख्या हि माथुरवत्। २१।

पद०–स्यात्। योगाख्या। हि। माथुरवत्।

पदा०–(योगाख्या, हि) भारतीय नाम देश विशेष के योगमात्र से ही (स्यात्) है (माथुरवत्) जैसे मथुरा के योगमात्र से माथुर नाम है।

भाष्य–भारतवर्ष में उत्पन्न होने के कारण ऋषियों का नाम भारतीय है,सो वह जबतक शरीर है तबतक देशान्तरों में जानेपर भी निवृत्त नहीं होसक्ता जैसाकि मथुरा में उत्पन्न हुए पुरुष का माथुर नाम निवृत्त नहीं होता, इसलिये उक्त नियम ठीक नहीं।

सं०–उक्त अर्थ में और आशङ्का करते हैं :–

कर्मधर्मो वा प्रवणवत्। २२।

पद०–कर्मधर्मः। वा। प्रवणवत्।

पदा०–"वा" शब्द आशङ्का की सूचना के लिये आया है (कर्मधर्मः) ऋषियों के नाम के साथ जो देश का सम्बन्ध है वह वेदविहित कर्म का अङ्ग है (प्रवणवत्) जैसे प्राचीन प्रवणदेश वैश्वदेव कर्म का अङ्ग है।

भाष्य—" प्राचीनप्रवणे वैश्वदेवेनयजेत = पूर्वदिशा में होने वाले निम्न देश में वैश्वदेव नामक यज्ञ करे। जिसप्रकार यहां वैश्वदेवकर्म का प्राचीन प्रवण देश अङ्ग कथन कियागया है इसी प्रकार ऋषियों के नाम के साथ जो देश सम्बन्ध है वहभी वेदविहित कर्मों का अङ्ग है, जिसका भाव यह है कि वेदविहितकर्मों के अनुष्ठानार्ह भारतवर्ष ही है अन्यनहीं, अतएव स्मृति तथा शिष्टाचार भी भारतीयपुरुषों का ही आश्रयणीयधर्म है अन्य का नहीं।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:—

तुल्यं तु कर्तृधर्मेण। २३।

पद०—तुल्यं। तु। कर्तृधर्मेण।

पदा०—"तु" शब्द आशङ्का के निराकरणार्थ आया है (कर्तृधर्मेण) देशविशेष को कर्म का अङ्ग मानना गौरश्यामादि कर्त्ता के अङ्ग मानने के (तुल्यं) समान है।

भाष्य—जैसे कर्म कर्त्ता पुरुष के गौरश्यामादिरूप विशेष अङ्ग मानने व्यर्थ हैं अर्थात् कर्मानुष्ठान में अनुपयोगी हैं क्योंकि वैदिक होने पर प्रत्येक रङ्गवाला पुरुष कर्म कर सक्ता है रङ्ग का कोई बन्धन नहीं, वैसेही देशविशेष को कर्म का अङ्ग मानना भी व्यर्थ है क्योंकि कर्म के अनुष्ठान में उसकाभी कोई उपयोग नहीं, केवल स्थान स्वच्छ तथा कर्मार्ह होना आवश्यक है इसी तात्पर्य्य से प्राचीन प्रवणप्रदेश में वैश्वदेवकर्म का अनुष्ठान कथन किया है।

तात्पर्य्य यह है कि वैदिकधर्म मनुष्यमात्र के लिये है इसलिये उसके प्रचारक ऋषियों के आचार तथा स्मृति को मानपूर्वक आश्रयण करना मनुष्यमात्र का धर्म है।

सं०—अब साधुपद की प्रयोग सिद्धि के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वाच्छब्देषु न व्यवस्थास्यात् । २४ ।

पद०–प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात् । शब्देषु । न । व्यवस्था । स्यात् ।

पदा०–(प्रयोगोत्पत्त्यशास्त्रत्वात्) साधुपद की सिद्धि में व्याकरण की अप्रमाणता के कारण (शब्देषु) साधु असाधु शब्दों में (व्यवस्था) साधु शब्द के प्रयोग की व्यवस्था (न, स्यात्) नहीं होसक्ती ।

भाष्य–गो शब्द साधु है और गावी,गोणी, आदि शब्द असाधु हैं यह व्यवस्था व्याकरण से होसक्ती है, परन्तु साधुपद की निष्पत्ति में व्याकरण वेदमूलक न होने से स्वयं अप्रमाण है, इसलिये उसके अनुसार साधुपद का प्रयोग करना और असाधु का न करना यह नियम ठीक नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम् । २५ ।

पद०–शब्दे । प्रयत्ननिष्पत्तेः । अपराधस्य । भागित्वम् ।

पदा०–(शब्दे) सर्वदा व्याकरणानुसार साधुपद का ही प्रयोग करना चाहिये क्योंकि असाधु शब्द के प्रयोग करने में (प्रयत्न निष्पत्तेः, अपराधस्य)प्रयोक्ता को स्वप्रयत्नसाध्य पाप का (भागित्वं) भागी होना सुना जाता है ।

भाष्य–"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति, तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छित-

वै, नापभाषितवै, म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः" महा०
भाष्य अ० ६ पा० १ सू० ८४ ।

अर्थ—व्याकरणानुसार शुद्ध उच्चारण किया हुआ एकशब्द भी मनुष्य को इस जन्म तथा पर जन्म में सब कामनाओं के पूर्ण करने वाला होता है, इसलिये ब्राह्मणादि को अशुद्ध तथा अपभ्रंश शब्द का प्रयोग कदापि नहीं करना चाहिये क्योंकि वह शब्द म्लेच्छ है और उसका प्रयोग करने से मनुष्य म्लेच्छ होजाता है।

इस प्रकार असाधु शब्द के प्रयोग करने से मनुष्य का पापात्मा होना सुना गया है इससे यह नियम दृढ़ होजाता है कि आर्य्यमात्र को व्याकरणानुसार सर्वदा साधुपद का ही प्रयोग करना चाहिये असाधु का नहीं।

साधु तथा असाधु शब्द का ज्ञान व्याकरण द्वारा होता है और वह वेद मूलक होने से शब्द सिद्धि में सर्वदा प्रमाण है जिसका मूलभूत मंत्र यह है :-

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥
ऋ० ३।८।१०।३।

अर्थ—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात यह चार जिसके शृङ्ग हैं और भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान यह तीनों काल जिसके पाद हैं और ध्वनि तथा वर्ण यह दो जिसके शिर और सात विभक्ति जिसके हाथ हैं, छाती, कंठ तथा शिर इन तीनों स्थानों में बंधा हुआ जो शब्द कर रहा है, हे मनुष्यो यह व्याकरणरूपी बैल आपके लिये प्राप्त है इससे यथोचित कार्य्य लें।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कहते हैं :-

अन्यायश्चानेकशब्दत्वम् । २६ ।

पद०—अन्यायः । च । अनेकशब्दत्वम् ।

पदा०—(अनेकशब्दत्वम्) एक अर्थ के लिये समानरूपवाले अनेक शब्दों का मानना (अन्यायः) ठीक नहीं ।

भाष्य—अर्थ का बोध शब्द के अधीन है यदि वह एकही शब्द से होजाय तो उसके लिये समानरूपवाले अनेक साधु तथा असाधु शब्दों का मानना ठीक नहीं, जैसाकि सास्नादि * वाले गोरूप अर्थ के लिये गो शब्द से अन्य गावी, गौणी, आदि अपभ्रंश शब्दों का मानना ठीक नहीं ।

सं०—ननु, यह कैसे जाना जाय कि अमुक शब्द साधु और अमुक असाधु है ? उत्तर :—

तत्र तत्त्वमभियोगविशेषात्स्यात् । २७ ।

पद०—तत्र । तत्त्वम् । अभियोगविशेषात् । स्यात् ।

पदा०—(तत्र) साधु असाधु अनेक शब्दों में (तत्त्वं) साधु शब्द का ज्ञान (अभियोगविशेषात्) व्याकरण के अभ्यास से (स्यात्) होता है ।

भाष्य—गो शब्द साधु है और गावी, गौणी आदि शब्द अपभ्रंश हैं यह ज्ञान व्याकरण से होता है, इसलिये साधु तथा असाधु शब्दों के ज्ञानार्थ व्याकरण का पठन पाठन करना वैदिकों का कर्त्तव्य है ।

सं०—ननु,गो शब्द के गावी, गौणी आदि अपभ्रंश शब्द कैसे बनगए और उनसे गोरूप अर्थ का बोध कैसे होने लगा ? उत्तर :—

---

* गाय के गल में लटकते कम्बल का नाम सास्ना है ।

तदशक्तिश्चानुरूपत्वात् । २८ ।

पद०-तत् । अशक्तिः । च । अनुरूपत्वात् ।

पदा०-(तत्) गोशब्द के गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्दों के बनने में (अशक्तिः) व्याकरण की अव्युत्पत्ति अर्थात् साधु शब्द जानने की शक्ति का न होना कारण है (च) और (अनुरूपत्वात्) गोशब्द के समान होने के कारण उनसे गोरूप अर्थ का बोध होता है ।

भाष्य-आदि में किसी ने गो शब्द को उच्चारण करना चाहा परन्तु व्याकरण का पूर्ण बोध न होने से गो शब्द का यथावत् उच्चारण न करके उसके स्थान में उसीके सदृश गावी, गोणी आदि उच्चारण किया, उससे अन्य ने शिक्षा पाकर वैसे ही उच्चारण किये। इसप्रकार यह सब गो शब्द के अपभ्रंश बनगए और उनसे गोरूप अर्थ का बोध होने लगा ।

सं०-अब उक्त अपभ्रंश शब्दों से गोरूप अर्थ के बोध का दृष्टान्त सहित पुनः प्रतिपादन करते हैं :-

एकदेशत्वाच्चविभक्तिव्यत्ययेस्यात् । २९ ।

पद०-एकदेशत्वात् । च । विभक्तिव्यत्यये । स्यात् ।

पदा०-(च) और (विभक्तिव्यत्यये) जैसे विभक्ति के व्यत्यय अर्थात् अन्य विभक्ति के उच्चारण होने पर भी प्रातिपदिकरूप एकदेश की समानता से अर्थ का बोध होजाता है वैसे ही (एक देशत्वात्) गोरूप साधु शब्द का एकदेश होने के कारण गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्दों से गोरूप अर्थका बोध (स्यात्) होता है ।

भाष्य-"अश्मकेभ्य आगच्छति = अश्मक नामक देशों से आता है। इत्यादि स्थलों में जैसे पञ्चमी आदि विभक्ति के स्थान में "अश्मकैरागच्छति" तृतीयादि विभक्ति का उच्चारण होने

पर भी प्रातिपदिकरूप अंश के तुल्य होने के कारण श्रोता को उनसे पूर्वोक्त अर्थ का बोध होजाता है वैसे ही गावी, गोणी आदि अपभ्रंश शब्दों से गोरूप साधु शब्दों की समानरूपता के कारण उनसे अर्थ का बोध होजाता है परन्तु वह इष्ट का जनक नहीं, इसलिये वैदिकों को सर्वदा लौकिक वैदिक व्यवहारों में साधु शब्द का ही प्रयोग करना चाहिये असाधु का नहीं ।

सं०—गो आदि शब्दों की शक्ति गोत्व आदि अर्थ में है व्यक्ति में नहीं, अब इसकी सिद्धि के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

प्रयोगचोदनाभावादर्थैकत्वमविभागात् । ३० ।

पद०—प्रयोगचोदनाभावात् । अर्थैकत्वम् । अविभागात् ।

पदा०—(अविभागात्) लोक तथा वेद में गो आदि शब्दों का भेद न होने से (अर्थैकत्वम्) व्यक्तिरूप अर्थ समान है क्योंकि (प्रयोगचोदनाभावात्) वाक्य की प्रेरणा का सद्भाव व्यक्ति में है ।

भाष्य—गामानय = गौ को ला, अश्वंनय = अश्व को लेजा, व्रीहीनवहन्ति = धानों को कूटो, इत्यादि प्रेरक वाक्यों से गोव्यक्ति का लाना और अश्वव्यक्ति को लेजाना तथा धानों का कूटना पायाजाता है जाति का नहीं, क्योंकि जाति का लाना, लेजाना तथा कूटना नहीं होसकता । इसलिये गो आदि व्यक्ति ही गो आदि शब्दों का अर्थ है ।

सं०—अब जाति के शब्दार्थ न होने में और हेतु कहते हैं :—

अद्रव्यशब्दत्वात् । ३१ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(अद्रव्यशब्दत्वात्) यदि शब्द का अर्थ जाति माना-

जाय तो वह द्रव्य के आश्रित रहने वालों का वाचक नहीं होगा।

भाष्य—षड्देयाः = छ दो, द्वादशदेयाः = बारह दो, चतुर्विंशतिदेयाः = चौबीस दो, इत्यादि वाक्यों से जो छ आदि का देना कहा है वह जातिपक्ष में नहीं बनसकता क्योंकि जाति एक होने से छ आदि संख्या का आश्रय नहीं होसक्ती। इसलिये शब्द का अर्थ जाति नहीं किन्तु व्यक्ति ही है।

सं०—अब उक्त अर्थ में और युक्ति कहते हैं:—

अन्यदर्शनाच्च । ३२ ।

पद०—अन्यदर्शनात् । च ।

पदा०—(अन्यदर्शनात्) "वैद्योधनकर्मणिपूर्वोऽश्वोम्रियेत तदाशीघ्रमन्यंगृह्णीयात्" = यदि युद्ध में प्रथम अश्व मरजाय तो शीघ्र अन्य का ग्रहण करे। इत्यादि स्थलों में ग्रहणक्रिया के साथ अन्य का अन्वय देखेजाने से (च) शब्द का अर्थ जाति नहीं।

भाष्य—प्रथम अश्व का मरना और अन्य का ग्रहण जातिपक्ष में नहीं बनसकता क्योंकि जाति में मरण और ग्रहण दोनों असंभव हैं। इसलिये व्यक्ति ही शब्द का अर्थ है जाति नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

आकृतिस्तुक्रियार्थत्वात् । ३३ ।

पद०—आकृतिः । तु । क्रियार्थत्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (आकृतिः) शब्द का अर्थ जाति है व्यक्ति नहीं, क्योंकि (क्रियार्थत्वात्) वृद्ध व्यवहारादि क्रिया के द्वारा जातिरूप अर्थ में ही शब्द की शक्ति का ग्रहण होता है।

भाष्य—अपने वृद्धों के व्यवहारों को देखकर प्रथम जो बालकों को शब्द की शक्ति का ग्रहण होता है वह जाति में ही होता है, क्योंकि जिस बालक ने एकबार गोशब्द की शक्ति का गोरूप अर्थ में ग्रहण करलिया है उसको दूसरी व्यक्ति के देखने से यह सन्देह नहीं होता कि यह व्यक्ति गोशब्द का अर्थ है वा नहीं ? प्रत्युत वह व्यक्ति को देखते ही जान जाता है कि यह गौ है, इससे ज्ञात होता है कि प्रथम उसको जाति में शक्तिग्रह होता है । यदि व्यक्ति में शक्तिग्रह मानाजाय तो जिस व्यक्ति में उसको शक्तिग्रह हुआ है उससे अन्य में शक्तिग्रह न होने से अवश्यमेव सन्देह होता क्योंकि व्यक्तियें अनन्त हैं और एकव्यक्ति से दूसरी भिन्न है, इसलिये जाति ही शब्दार्थ है व्यक्ति नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पुनः शंका करते हैं:—

न क्रियास्यादितिचेदर्थान्तरेविधानं-न द्रव्यमितिचेत् । ३४ ।

पद०—न । क्रिया । स्यात् । इति । चेत् । अर्थान्तरे । विधानं । न । द्रव्यम् । इति । चेत् ।

पदा०—(क्रिया) जातिपक्ष में "व्रीहीनवहन्ति = धान कूटना रूप क्रिया (न,स्यात्) नहीं होगी तथा (अर्थान्तरे) अन्य के स्थान में (विधानं) अन्य के ग्रहण का विधान और (द्रव्यं) षड्देया, द्वादश-देया, इत्यादि द्रव्याश्रयकार्य्य (न) न होगा (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं । इसका आगे सूत्र से सम्बन्ध है:—

भाष्य—उक्त तीनों आशङ्काओं का वर्णन इसी के पूर्वपक्ष में आचुका है इसलिये विशेष विस्तार की अवश्यकता नहीं ।

सं०—अब उक्त तीनों आशङ्काओं का समाधान करते हैं:—

तदर्थत्वात्प्रयोगस्याविभागः । ३५ ।

पद०—तदर्थत्वात् । प्रयोगस्य । अविभागः ।

पदा०—(तदर्थत्वात्) व्रीहि आदि पदों का लक्षणाद्वारा व्यक्ति रूप अर्थ होने से(प्रयोगस्य)"व्रीहीनवहन्ति" इत्यादि प्रयोग के अर्थ का (अविभागः) बाध नहीं ।

भाष्य—अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः = जिसका अन्य किसी प्रकार से लाभ नहो वही शब्द का अर्थ है, यह नियम है । व्यक्ति ऐसा पदार्थ नहीं कि उसका अन्य किसी प्रकार से लाभ नहो, जाति का ग्रहण होने से वह स्वयं गृहीत होजाती है क्योंकि वह जाति का आश्रय है, और विना आश्रय जाति का ग्रहण नहीं होसकता, अतएव जाति स्वयं गृहीत हुई व्यक्ति का भी ग्रहण करादेती है, इसलिये उसमें शक्ति का मानना व्यर्थ है और व्यक्ति में शब्द की शक्ति मानकर जाति का अर्थापत्ति प्रमाण से लाभ करने में अनन्तदोष हैं जिनका निवारण किसी प्रकार से नहीं होसक्ता, इसलिये शब्द का मुख्यार्थ जाति और व्यक्ति आक्षेपलभ्य है, यह सिद्धान्त है ।

इति मीमांसार्य्यभाषा
भाष्ये प्रथमाध्याये
तृतीयःपादः

अथ मीमांसार्य्यभाष्ये प्रथमाध्यायस्य चतुर्थपादः प्रारभ्यते
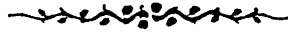
संगति-पूर्व के तीनपादों में वेद को स्वतः प्रमाण और ब्राह्मण, कल्प तथा स्मृति और शिष्टाचार को वेदानुकूल होने से प्रमाण और प्रतिकूल होने से अप्रमाण अर्थात् परतःप्रमाण निरूपण किया। अब इस चतुर्थपाद में ऐत्तरेयादिब्राह्मणोक्त कर्म की संज्ञा का निरूपण करते हुए पूर्वपक्ष करते हैं :-

उक्तं समाम्नायैदमर्थ्यं तस्मात्सर्वं तदर्थं स्यात्। १।

पद०-उक्तं। समाम्नायैदमर्थ्यं। तस्मात्। सर्वं। तदर्थं। स्यात्।

पदा०-(समाम्नायैदमर्थ्यं) वेद को विधेय अर्थ में प्रामाण्य (उक्तं) कथन किया है, (तस्मात्) इसलिये (सर्वं) सब ब्राह्मणोक्त उद्भिदादिपद (तदर्थं) विधेय अर्थ के लिये (स्यात्) हैं।

भाष्य-ज्योतिष्टोमादि याग के प्रकरण में पठित "उद्भिदा यजेत" "वलभिदा यजेत" "अभिजिता यजेत" "विश्वजिता यजेत" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। इनमें "उद्भित्" आदि किसी याग विशेष के नाम हैं कि उद्भिदायागेनेष्टं भावयेत्=उद्भिदादि नाम वाले याग से इष्ट का सम्पादन करे, अथवा प्रकृत याग में उद्भिदादिरूप किसी गुण भूत द्रव्य विशेष का विधान है कि उद्भिदादिमता यागेनेष्टं

भावयेत्=उद्भिदादिरूप द्रव्यविशेष वाले उक्त याग से इष्ट का सम्पादन करे ? इस में प्रथम पक्ष सिद्धान्ती का और द्वितीय पक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि प्रथम वेद को विधेय अर्थ में प्रामाण्य कथन किया है इसलिये "उद्भिदा यजेत" इत्यादि विधिवाक्य पूर्वविहित ज्योतिष्टोमादि यागविशेष में उद्भिदादिरूप गुण विशेष का विधान करते हैं किसी अपूर्वयाग का नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से वाक्य भेद होजाता है कि एक ही वाक्य प्रथम याग का और फिर उसके नाम का विधान करे, यह ठीक नहीं, अतएव यहां प्रकृत याग में गुण विशेष का ही विधान मानना उचित है नामका नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपि वा नामधेयं स्याद्यदुत्पत्तावपूर्वमविधायकत्वात् । २ ।

पद०-अपि । वा । नामधेयं । स्यात् । यत् । उत्पत्तौ । अपूर्वम् । अविधायकत्वात् ।

पदा०-(अपि, वा) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (उत्पत्तौ) श्रवण करने पर (यत्) जो पद (अपूर्व) अपूर्व अर्थात् प्रथम किसी अन्य अर्थ में प्रसिद्ध न हो वह (नामधेयं) याग का नाम (स्यात्) है (अविधायकत्वात्) किसी गुण विशेष का विधायक नहीं ।

भाष्य-उद्भिदादिपद किसी अन्य अर्थ के वाचक प्रथम प्रसिद्ध नहीं हैं, इसलिये उक्त वाक्य किसी गुणभूत द्रव्य विशेष का विधान नहीं करते, किन्तु वेदोक्त कर्मों की संज्ञा का विधान करते हैं, यदि

ऐसा न माना जाय तो एकतो कर्मों की संज्ञा का लाभ नहीं होसक्ता और दूसरे गुणका विधान अन्यत्र पाए जाने से उसका मानना व्यर्थ है, तीसरे गुण का विधान मानने से उक्त पदों की उद्भिदादि नाम वालों में मत्त्वर्थलक्षणा करनी पड़ती है, क्योंकि यज् धातु का अर्थ यागक्रिया है और आपके मत में उद्भिदादि द्रव्य विशेष हैं,इसलिये क्रिया और द्रव्य का समानाधिकरण मत्त्वर्थलक्षणा से बिना नहीं बन सक्ता और नाम का विधान मानने में उक्त लक्षणा करनी नहीं पड़ती, क्योंकि याग और उसके नामका समानाधिकरण उक्त लक्षणा के बिना ही होसक्ता है, अतएव यहां पर नाम का विधान मानना ही ठीक है गुणविशेष का नहीं। और जो नाम का विधान मानने में वाक्यभेदरूप दोष कथन किया है वह ठीक नहीं क्योंकि उद्भिदादि पद यौगिक होने से स्वयमेव कर्म के वाचक हैं इसलिये उसके विधान की आवश्यकता नहीं, केवल कर्म के नाम का विधान ही आवश्यक है अतएव वाक्य भेद दोष नहीं।

पशुप्रदर्शिनी क्रिया का नाम "उद्भित्" निरीक्षण पूर्वक सेना के यथाक्रम विभाग क्रिया का नाम "बलभित्" शत्रु को सन्मुख युद्ध में जीतकर उत्सव क्रिया का नाम "अभिजित्" और सम्पूर्ण मण्डलाधिपतियों को जीतकर उत्सव क्रिया का नाम "विश्वजित्" है।

सं०—अब चित्रादिशब्दों को याग का नाम होना कथन करते हैं:—

यस्मिन्गुणोपदेशःप्रधानतोऽभिसम्बन्धः । ३ ।

पद०—यस्मिन् । गुणोपदेशः । प्रधानतः । अभिसम्बन्धः ।

पदा०—(यस्मिन्) जिसपद में (गुणोपदेशः) रूढ़ होने पर भी

गुणों का उपदेश पायाजाय उसका (प्रधानतः) प्रधान अर्थात् धातु-रूप प्रकृति के साथ (अभिसम्बन्धः) याग का नाम होकर सम्बन्ध होना चाहिये।

भाष्य-"चित्रया यजेत पशुकामः" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें नामविधि है कि पशु की कामनावाला पुरुष चित्रा नामक याग करे, अथवा गुण विधि है कि चित्ररूपवाले किसी द्रव्य विशेष से याग करे? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इसप्रकार की गई है कि यद्यपि चित्राशब्द उद्भिदादि शब्द की न्याईं यौगिक नहीं किन्तु नानारूपवाले किसी एक पदार्थ विशेष में रूढ़ है तथापि वह उद्भिदादि की न्याईं याग-विशेष का नाम है क्योंकि दधि, मधु, घृत, जल, तण्डुलादि अनेक पदार्थमय होने से याग भी चित्र होता है, और यदि गुणविशेष का विधान मानाजाय तो "अग्निषोमीयंपशुमालभते" = प्रकाश तथा सौम्यगुण विशिष्ट परमात्मा के उद्देश्य से पशु का त्याग करे, इस पूर्वविहित याग का "यजेत" पद से अनुवाद करके तदुपयोगी पशुविशेष में चित्रता तथा स्त्रीत्वरूप दो गुणों का विधान मानना पड़ेगा, यह ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने से वाक्यभेदरूप दोष आता है, इसलिये गुणविधि की अपेक्षा नामविधि मानना ही श्रेष्ठ है।

जिस प्रकार "चित्रया यजेत" में 'चित्रा' याग का नाम है इसी प्रकार "त्रिवृद्वहिष्पवमानम्" में 'वहिष्पवमान' याग का नाम है और "पञ्चदशान्याज्यानि" में 'आज्य' तथा "सप्तदश पृष्ठानि" में 'पृष्ठ' भी याग विशेष का नाम जानना चाहिये।

धर्मयुद्ध के सङ्कल्प से जब राजा प्रातःकाल राजभवन के बाहर किसीनियत स्थानमें स्थित होताहै, उससमय "उपास्मै गायता नरः" "दविद्युतत्या रुचा" "पवमानस्य ते कवे" इत्यादि तीन २ ऋचा वाले तीन सूक्तों का गायत्र साम के द्वारा गानरूप जो कर्म विशेष होता है, उसका नाम "वहिष्पवमान" है, क्योंकि वह राज भवन के बाहर पवमानार्थवाले वेद मन्त्रों से कियागया है, नौ का नाम 'त्रिवृत्' है, इसलिये इसकर्म को त्रिवृद्वहिष्पवमान कहते हैं।

युद्ध में जानेके समय "अग्न आयाहि वीतये" "आनो-मित्रावरुण" "आयाहि सुषुमा हि ते" "इन्द्राग्नीआगतं सुतम्" इत्यादि सूक्तों का गायत्र सामद्वारा गानरूप जो प्रातः समय कर्म विशेष होता है, उसका नाम "आज्य" है क्योंकि वह आजि = युद्ध में जाते समय किया जाता है।

और राजा के युद्ध में चले जाने पर पीछे मध्यंदिन में "अभित्वा शूरनोनुमः" "कयानश्चित्र आभुवत्" "तंवो दस्ममृतीषहम्" "तरोभिर्वोविदद्वसुम्" इत्यादि सूक्तों का यथाक्रम रथन्तर, वामदेव्य, नौधस, कालेय साम के द्वारा जो गानरूप कर्म विशेष कियाजाता है, उसका नाम "पृष्ठ" है।

सं०—अब अग्निहोत्रादि शब्दों को कर्म का नाम होना कथन करते हैं :—

तत्प्रख्यश्चान्यशास्त्रम् । ४ ।

पद०—तत्प्रख्यं । च । अन्यशास्त्रम् ।

पदा०—(च) और (तत्प्रख्यं) जिसवाक्य में श्रूयमाण गुणका

ज्ञापक (अन्यशास्त्रम्) अन्यवाक्य विद्यमान है उसमें नामविधि जाननी चाहिये।

भाष्य-"अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि ब्राह्मणवाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, अग्निहोत्र नाम है अथवा होत्र = होम के आधारभूत अग्निगुण का विधान है ? इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इसप्रकार कीगई है कि "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निःस्वाहा इति सायं जुहोति" "सूर्य्योज्योतिर्ज्योतिः सूर्य्यः स्वाहा इति प्रातः" इत्यादि मन्त्ररूप वाक्यों से अग्निरूपगुण प्राप्त है, और प्राप्त की विधि नहीं होसकती, इसलिये यहां नामविधि ही मानना ठीक है. और "अग्नौहोत्रं = होमो भवति यस्मिन् कर्मणितदग्निहोत्रम् = अग्नि में होम होता है जिसकर्म में उसको अग्निहोत्र कहते हैं, इस समास में भी मुख्यतया नाम का ही लाभ होता है गुण का नहीं, अतएव "अग्निहोत्रं जुहोति" में अग्निहोत्र नाम है गुण का विधान नहीं। जैसे इसवाक्य में अग्निहोत्र कर्म का नाम है वैसे ही "आघारमाघारयति" में आघार* भी कर्म का नाम जानना चाहिये।

सं०-अब श्येन आदि शब्दों को याग का नाम होना कथन करते हैं:-

तद्व्यपदेशं च । ५ ।

पद०-तद्व्यपदेशं । च ।

पदा०-(च) और (तद्व्यपदेशं) जिन वाक्यों में प्रसिद्ध पदार्थ

---

* जिस कर्म में नैऋती दिशा से लेकर ऐशानी दिशा पर्य्यन्त निरन्तर कुण्ड में घृत डालाजाता है उस कर्म का नाम आघार है॥

से कर्म का व्यपदेश अर्थात् उपमान उपमेयभाव का कथन पाया-जाय वह भी नामविधि होती है ।

भाष्य-" श्येनेन अभिचरन् यजेत " "सन्दंशेन अभिचरन् यजेत " "गवा अभिचर्य्यमाणो यजेत "इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें, श्येन, सन्दंश तथा गो याग के नाम हैं अथवा गुणका विधान है? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि जातिवाचक श्येन आदि शब्दों से याग का व्यपदेश किया गया है तथापि वह याग में श्येनआदिरूप गुण विधान के अभिप्राय से नहीं किया गया किन्तु उपमा के अभिप्राय से किया गया है अर्थात् जैसे श्येन= बाज पक्षी अपने शत्रु को पकड़ वशीभूत करलेता है और सन्दंश= संडासी जैसे कटलोई आदि पदार्थों को पकड़ लेती है और गौएं दुग्धादि द्वारा जैसे यजमान की रक्षा करती हैं वैसे ही यह यागभी शत्रुओं को वशीभूतकराने, पकड़वाने और यजमान की रक्षा करने में श्येन आदि के सदृश है, अतएव उक्त वाक्यों में नामविधि है गुणविधि नहीं ।

सं०-अब वाजपेय आदि शब्दों को यागका नाम होना कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

नामधेये गुणश्रुतेः स्याद्विधानमिति चेत् ।६।

पद०-नामधेये । गुणश्रुतेः । स्यात् । विधानम् । इति । चेत् ।

पदा०-(नामधेये) नाम मेंही (गुणश्रुतेः) गुण का श्रवण पाए जाने से (विधानं) बाजपेय शब्द से गुण का विधान (स्यात्) है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है :-

भाष्य-"वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, वाजपेय याग का नाम है अथवा गुण का विधान है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष सिद्धान्ती का और द्वितीय पक्ष पूर्वपक्षी का है । पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "वाजस्य अन्नस्य पेयो रसो वाजपेयः = पान करने योग्य अन्नरस का नाम वाजपेय है, इस व्युत्पत्ति से वाजपेय नाम में ही द्रव्यरूप गुण का श्रवण पायाजाता है, इसलिये उक्त वाक्य में गुण का विधान है नाम का नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

तुल्यत्वात्क्रिययोर्न । ७ ।

पद०-तुल्यत्वात् । क्रिययोः । न ।

पदा०-(न) "वाजपेयेन" यह गुणविधि नहीं क्योंकि गुणविधि मानने से (क्रिययोः) वाजपेय और दर्शपूर्णमास यह दोनों क्रियायें (तुल्यत्वात्) परस्पर तुल्य होजाती हैं ।

भाष्य-यदि "वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत" में गुणविधि मानी जाय तो वाजपेय याग का दर्शपूर्णमास याग से कोई भेद नहीं रहता क्योंकि जैसे अन्नमय द्रव्य वाजपेय याग में गुण है इसी प्रकार दर्शपूर्णमास में भी गुण है,और गुण सादृश्य से दर्शपूर्णमास प्रकृति और वाजपेय उसका विकृति याग सिद्ध होता है, और ऐसा होने से "प्रकृतिवद्विकृतिःकर्तव्या"= प्रकृति याग की न्याई विकृति याग होता है, दर्शपूर्णमास के धर्मों का वाजपेय याग में अतिदेश मानना होगा, परन्तु ऐसा मानने से

"सप्तदशदीक्षो वाजपेयः" "सप्तदशोपसत्कोवाजपेयः" सप्तदशदीक्षा तथा सप्तदश उपसत् वाला वाजपेययाग होता है, वाजपेय याग में दीक्षा और उपसत् का श्रवण अनुपपन्न होजाता है, क्योंकि दर्शपूर्णमास याग में वह दोनों नहीं है, इसलिये "वाजपेयेन" यह गुणविधि नहीं किन्तु ज्योतिष्टोम याग का विकृतिरूप याग विशेष है ।

जिस याग में इतिकर्तव्यतापर्य्यन्त सम्पूर्ण अङ्ग प्रत्यङ्गों का निरूपण किया गया है उसका नाम "प्रकृति" तथा इतर का नाम "विकृति" और दीक्षादिन के अनन्तर सोमाभिषव दिन से पूर्व२ जो होम किये जाते हैं उनका नाम "उपसत्" है ।

सं०-अब उक्तार्थ में और हेतु कहते हैं :-

ऐक्यशब्दे परार्थवत् । ८ ।

पद०-ऐक्यशब्दे । परार्थवत् ।

पदा०-(ऐक्यशब्दे) "वाजपेयेन" इस एक ही वाक्य में (परार्थवत्) गुणरूप अन्य अर्थ का अभिधान मानने से वाक्यभेदरूप दोष आता है ।

भाष्य-"वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत" इस एकही वाक्य से याग तथा गुण का विधान मानने में "वाजपेयेन यजेत" "स्वाराज्यकामो यजेत" इस प्रकार वाक्य भेद मानकर एक ही यज् धातु के अर्थ याग का वाजपेय के साथ कर्मत्व और स्वाराज्य के साथ करणत्वरूप सम्बन्ध मानना पड़ेगा, परन्तु यह ठीक नहीं क्योंकि इस प्रकार एकही पद का भिन्नार्थ से दोनों के साथ सम्बन्ध

मानने में वाक्यभेदरूप दोष आता है, इसलिये "वाजपेयेन" यह नामविधि ही मानना श्रेष्ठ है गुणविधि नहीं।

एक वाक्य का एकही काल में परस्पर विरुद्ध अर्थ को कथन करना वाक्यभेदरूप दोष कहलाता है। इसका निरूपण **मीमांसासूत्र वैदिकवृत्ति** में विस्तार पूर्वक किया गया है विशेष जानने वाले वहां देखलें।

सं०-अब आग्नेय आदि शब्दों को गुणविशिष्ट याग का विधायक होना कथन करते हैं:-

तद्गुणास्तु विधीयेरन्नविभागाद्विधानार्थे न चेदन्येनाशिष्टाः। ९।

पद०-तद्गुणाः। तु। विधीयेरन्। अविभागात्। विधानार्थे। न। चेत्। अन्येन। शिष्टाः।

पदा०-सूत्र में "तु" शब्द नामविधि की व्यावृत्ति के लिये आया है (तद्गुणाः) आग्नेय आदि शब्द कर्म सहित गुणों का (विधीयेरन्) विधान करते हैं, केवल कर्म का नहीं, क्योंकि (विधानार्थे) कर्म का विधान करने वाले आग्नेय आदि शब्दों में (अविभागात्) कर्म तथा अग्नि आदि गुणों का अभेद पाया जाता है और यह गुण (अन्येन) किसी अन्य वाक्य से (शिष्टाः) प्राप्त (न, चेत्) नहीं है।

भाष्य-दर्शपूर्णमास प्रकरण में पठित **"यदाऽऽग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यां पौर्णमास्यायाञ्चाच्युतोभवति"** इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। आग्नेय शब्द अग्निहोत्र शब्द की न्याई कर्म का नाम है वा गुण सहित कर्म का विधान है? इस शङ्का का समाधान इस सूत्र में इस प्रकार किया है कि यद्यपि

केवल नामविधि मानने में लाघव है तथापि उसका मानना ठीक नहीं, क्योंकि जहां कोई अन्य वाक्य गुणका विधायक होता है वहां ही वह मानी जाती है, जैसाकि अग्निहोत्र स्थल में "अग्निर्ज्योतिर्ज्योतिरग्निः" इत्यादि, सर्वत्र नहीं, और "आग्नेयोऽष्टा कपालः" में अग्नि आदि गुण का प्रापक कोई अन्य वाक्य नहीं मिलता, इसलिये यहां गुणसहित कर्म के विधायक ही आग्नेय आदि शब्द हैं, यही मानना श्रेष्ठ है ।

सं०-अब वर्हिः आदि शब्दों को जातिवाचक होना निरूपण करते हैं :-

वर्हिराज्ययोरसंस्कारे शब्दलाभादतच्छब्दः । १० ।

पद०-वर्हिराज्ययोः । असंस्कारे । शब्दलाभात् । अतच्छब्दः ।

पदा०-(वर्हिराज्ययोः) वर्हि और आज्य का (असंस्कारे) संस्कार रहित केवल वर्हि और आज्य में (शब्दलाभात्) शब्द का प्रयोग पाए जाने से (अतच्छब्दः) वह संस्कृत (वर्हि) दूब=कुश तथा संस्कृतघृत के वाचक नहीं किन्तु वर्हिमात्र और आज्यमात्र के वाचक हैं ।

भाष्य-दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पठित वर्हिर्लुनाति=वर्हि को काटे, आज्यं विलापयति = घृत को पिघलाए, पुरोडाशं-पर्य्यग्नि करोति = पुरोडाश के चारों ओर अग्नि घुमावे । इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं । वर्हि आदि शब्द यूप आहवनीय आदि शब्द की न्याई संस्कार वाची हैं अथवा जाति वाचक

हैं अर्थात् वर्हिः शब्द मन्त्रों से संस्कृत तृण विशेष और आज्यशब्द मन्त्रों से संस्कृत घृत विशेष तथा पुरोडाश शब्द मन्त्र संस्कृत पिष्ट विशेष का वाचक है, वा तृण विशेष आदि का वाचक है ? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि यूप आहवनीय आदि शब्द संस्कार वाचक हैं अर्थात् यूप शब्द स्तम्भमात्र तथा आहवनीय शब्द अग्निमात्र का वाचक नहीं किन्तु मन्त्रों से संस्कृत स्तम्भ विशेष और अग्नि विशेषका वाचक है तथापि वर्हिः आदि शब्द संस्कृत तृण विशेष आदि के वाचक नहीं क्योंकि इनको अन्वय व्यतिरेक से जातिवाचकता सिद्ध है और उसका कहीं भी व्यभिचार नहीं और संस्कारवाची मानने में व्यभिचार है क्योंकि लोक में प्रायः **वर्हिरादायगावोगताः** = वर्हि=दूब लेकर गौएं चली गईं, **आज्यं क्रय्यं** = यह घृत बेचने के लिये है, "**पुरोडाशेन मे माता प्रहेलकं ददाति** = माता मुझ को पुरोडाश प्रहेल्क=तीसरे पहिर की जल खाई देती है,इत्यादि प्रयोग असंस्कृत वर्हि आदि में देख पड़ते हैं, इसलिये वर्हि आदि शब्द जाति वाचक हैं संस्कारवाची नहीं ।

सं०—अब प्रोक्षिणी आदि शब्दों को यौगिक होना निरूपण करते हैं:—

प्रोक्षणीष्वर्थसंयोगात् । ११ ।

पद०—प्रोक्षणीषु । अर्थसंयोगात् ।

पदा०—(प्रोक्षणीषु) प्रोक्षण के साधन जलों में प्रोक्षणी शब्द का प्रयोग जानना चाहिये क्योंकि (अर्थसंयोगात्) अवयवार्थ के योग से प्रोक्षिणी शब्द का अर्थ जल है ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास के प्रकरणमें पठित "**प्रोक्षिणीरासादय**"

इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। प्रोक्षिणी शब्द संस्कार वाची अर्थात् संस्कृत जल विशेष का वाचक है **अथवा** जातिवाची अर्थात् जलमात्र का बाचक है **वा** यौगिक अर्थात् प्रोक्षण के साधन मात्र का वाचक है? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि प्रोक्षिणी शब्द का प्रयोग वैदिक प्रयोगों में संस्कृतजलों में और लौकिक प्रयोगों में जलमात्र में पाया जाता है तथापि "**प्रोक्षिणीरासादय**" में प्रोक्षिणीशब्द यौगिक अर्थात् प्रोक्षण के साधनमात्र का वाचक है संस्कार तथा जातिवाचक नहीं क्योंकि संस्कारवाचक मानने में अन्योऽन्याश्रयदोष आता है अर्थात् अभिमन्त्रणादिरूप संस्कारों के होनेपर संस्कृत जलों में प्रोक्षिणी शब्द की प्रवृत्ति होती है और प्रवृत्ति के होनेपर प्रोक्षिणी शब्द से जलों का अनुवाद करके अभिमन्त्रण की सिद्धि होती है और जातिवाचक मानने में अप्रसिद्धिरूप दोष आता है क्योंकि वृद्ध लोग जलों में प्रोक्षिणी शब्द का प्रयोग कहीं करते देखे नहीं जाते। और यौगिक मानने में उक्त दोनों दोष नहीं आते, प्रत्युत लाभ यह है कि सेचन क्रिया के साधन द्रवीभूत द्रव्यमात्र अर्थात् घृत जल दोनों का ग्रहण होजाता है जो उक्त दोनों पक्षों में नहीं होसक्ता, इसलिये प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है संस्कार तथा जातिवाचक नहीं।

सं०—अब निर्मन्थ्य शब्द का यौगिक होना निरूपण करते हैं :—

तथानिर्मन्थ्ये। १२।

पद०—तथा। निर्मन्थ्ये।

पदा०—(तथा) जैसे "**प्रोक्षिणीरासादय**" में प्रोक्षिणी शब्द यौगिक है वैसे ही (निर्मन्थ्ये) "**निर्मन्थ्येनेष्टकाःपचन्ति**"

में निर्मन्थ्य शब्द भी यौगिक है।

भाष्य—अग्निचयन प्रकरण में पठित उक्त वाक्य इस अधिकरण का विषय है, पूर्वसूत्र की न्याईं इसमें भी यह सन्देह है कि "**निर्मन्थ्य**" शब्द संस्कारवाची है वा जातिवाची अथवा यौगिक है? इस सन्देहकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि अग्निचयन कर्म के प्रकरण में पठित होने से उक्त शब्द संस्कृत अग्नि अथवा यथोपपन्न अग्निमात्र का वाची होसक्ता है तथापि यहां पर यौगिक ही मानना ठीक है क्योंकि संस्कारवाची मानने में **चिरनिर्मथित*** तथा **अचिरनिर्मथित†** का निर्धारण नहीं होसक्ता और जाति वाचक मानने में यथोपपन्न अग्नि का ग्रहण अग्निचयन में उपयुक्त नहीं, इसलिये उक्त विषयवाक्य में लौकिक मथन से **सद्योमथित** अग्नि का ही ग्रहण करना चाहिये, यही "**निर्मन्थ्य**" शब्द का अर्थ है।

सं०—अब वैश्वदेव आदि शब्दों को याग का नाम होना कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

वैश्वदेवे विकल्प इतिचेत्। १३।

पद०—वैश्वदेवे। विकल्पः। इति। चेत्।

पदा०—(वैश्वदेवे) "**वैश्वदेवेनयजेत**" इस वाक्य में श्रूय-

---

* दो अरणियों की आपस में रगड़ से जो अग्नि उत्पन्न होती है उसको **मथितअग्नि** कहते हैं।

† आधानकाल में मथन करके गार्हपत्य के स्थान में स्थापित अग्नि को **चिरनिर्मथित** कहते हैं और चयन काल में मथन करके उखा = मिट्टी के ठीकरे विशेष में स्थापित अग्नि को **अचिरनिर्मथित** कहते हैं तथा सद्यएव लौकिक मथन से मथित अग्नि को भी **अचिरनिर्मथित** कहते हैं।

माण देवता तथा द्रव्य रूप गुणका (विकल्पः) "आग्नेयमष्टाकपालंनिर्वपति" इत्यादि वाक्यविहित देवता तथा द्रव्यरूप-गुण के साथ विकल्प है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है :-

भाष्य-चातुर्मास्य याग के वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध, शुनासीरीय, यह चार पर्व हैं, प्रथम पर्व में "आग्नेयमष्टाकपालंनिर्वपति" "सौम्यंचरुम्" "सावित्रं द्वादशकपालं" "सारस्वतंचरुम्" "पौष्णंचरुम्" "मारुतंसप्तकपालं" "वैश्वदेवीमामिक्षाम्" "द्यावापृथिव्यमेककपालं" यह अष्ट याग विधान करके "वैश्वदेवेन यजेत" यह वाक्य पढ़ा है। इस वाक्य में "वैश्वदेवेन" गुण विधि है अथवा नाम विधि है? यह सन्देह है, इस में पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यह वाक्य उक्त आठ यागों का "यजेत" पद से अनुवाद करके उनमें देवता तथा द्रव्यरूप गुण का विधान करता है क्योंकि वह उनके प्रकरण में पढ़ा है और उसके विधान किये हुए देवता तथा द्रव्यरूप गुणों का "आग्नेयं" इत्यादि वाक्य विहित अग्नि आदि देवता तथा पुरोडाशादि द्रव्यरूप गुणों के साथ समुच्चय नहीं किन्तु विकल्प है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नवाप्रकरणात्प्रत्यक्षविधानाच्चनहिप्रकरणंद्रव्यस्य। १४।

पद०-न। वा। प्रकरणात्। प्रत्यक्षविधानात्। च। न। हि। प्रकरणं। द्रव्यस्य।

पदा०-(न,वा) गुणविधि मानकर अग्नि आदि देवतारूप गुणों का विश्वेदेवरूप गुण के साथ विकल्प मानना ठीक नहीं, क्योंकि (प्रकरणात्) एकतो अग्निआदिक प्रकरण से प्राप्त हैं और दूसरे उनका (प्रत्यक्षविधानात्) साक्षात् तद्धितश्रुति से विधान पाया जाता है और (द्रव्यस्य) उत्पत्ति वाक्य प्राप्त पुरोडाश आदि द्रव्य-रूप गुणों का भी (प्रकरणं) प्रकरण प्राप्त द्रव्यरूप गुण के साथ (न,हि) विकल्प नहीं बनसक्ता।

भाष्य-अन्तरङ्ग की अपेक्षा वहिरङ्ग निर्बल होता है यह नियम है, अग्नि आदि देवता तथा पुरोडाश आदि द्रव्यरूपगुण प्रथम उपस्थित होने से अन्तरङ्ग हैं, और वैश्वदेववाक्यविहितदेवता तथा द्रव्यरूपगुण पश्चात् उपस्थित होने से वहिरङ्ग हैं, और वहि-रङ्ग से अन्तरङ्ग का पाक्षिकवाध मानकर विकल्प मानना ठीक नहीं क्योंकि निर्वल से प्रवल का कदापि वाध नहीं होसक्ता, इसलिये "**वैश्वदेवेन यजेत**"यह गुणविधि नहीं किन्तु नामविधि है अर्थात् पूर्वविहित आठ यागों का "यजेत" पद से अनुवाद करके वैश्वदेव से उनके नाम का विधान है।

सं०-अब गुणविधि मानने में और दोष कहते हैं:-

मिथश्चानर्थसम्बन्धः । १५ ।

पद०-मिथः । च । अनर्थसम्बन्धः ।

पदा०-(च) और (मिथः) विश्वेदेवरूपगुण तथा यागों का परस्पर (अनर्थसम्बन्धः) सम्बन्ध भी नहीं होसक्ता।

भाष्य-उत्पत्ति वाक्य से प्राप्त होने के कारण अग्नि आदि गुण प्रथम उपस्थित हैं इसलिये उनका याग के साथ सम्बन्ध होजाने से प्रकरण प्राप्त विश्वेदेवरूपगुण का सम्बन्ध नहीं होसक्ता क्योंकि

अग्नि आदि गुणों का सम्बन्ध होने से याग निराकांक्ष होगया है अर्थात् उसको गुण की आकांक्षा नहीं है और बिना आकांक्षा के सम्बन्ध नहीं होसकता और सम्बन्ध के न होने से गुणविधि मानना व्यर्थ है इसलिये "वैश्वदेवेन यजेत" यह गुणविधि नहीं, किन्तु पूर्वोक्त आग्नेयादि आठ यागों के समुदाय की नामविधि है।

सं०—ननु, याग की आवृत्ति होकर सम्बन्ध बन जायगा फिर असम्बन्ध कैसे ? उत्तर:—

परार्थत्वाद्गुणानाम् । १६ ।

पद०—परार्थत्वात् । गुणानां ।

पदा०—(गुणानां) गुणों को (परार्थत्वात्) अप्रधान होने से कर्म की आवृत्ति नहीं होसकती ।

भाष्य—प्रधान के अनुसार गुणों की आवृति होती है गुणों के अनुसार प्रधान की नहीं, यह नियम है, याग प्रधान है और अग्नि आदि विश्वेदेव याग का अङ्ग होने से अप्रधान हैं इसीसे इनका नाम गुण है क्योंकि वह गौण है प्रधान नहीं, अतएव उनके अनुसार याग की आवृत्ति भी नहीं होसकती, इसलिये नामविधि ही समीचीन है गुणविधि नहीं ।

सं०—अब वैश्वानर इष्टि के प्रकरण में पठित अष्टाकपाल आदि शब्दों को अर्थवाद कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

पूर्ववन्तोऽविधानार्थास्तत्सामर्थ्यं समाम्नाये । १७ ।

पद०—पूर्ववन्तः । अविधानार्थाः । तत्सामर्थ्यं । समाम्नाये ।

पदा०—(पूर्ववन्तः)अग्नि आदि गुण प्रथम प्राप्त हैं इसलिये (अविधानार्थाः) "वैश्वदेवेन यजेत" में उनके विधान की सामर्थ्य नहीं, परन्तु (समाम्नाये) अष्टाकपाल नवकपाल आदि प्रकृत वाक्यों में (तत्सामर्थ्यं) अष्टत्वादि गुणों के विधान की सामर्थ्य है क्योंकि वह प्रथम अप्राप्त हैं ।

भाष्य—काम्येष्टि काण्ड में पठित "वैश्वानरं द्वादशकपालं निर्वपेत पुत्रेजाते" "यदष्टाकपालो भवति गायत्र्यैवैनं पुनाति" "यन्नवकपालस्त्रिवृतैवास्मिँस्तेजोदधाति" "यद्दशकपालो विराजैवास्मिन्नन्नाद्यं दधाति" "यदेकादशकपालोजगत्यैवास्मिन्पशून्दधाति" "यस्मिन्जातेएतामिष्टिं निर्वपति पूतएवस तेजस्व्यन्नाद इन्द्रियावी पशुमान् भवति" अर्थ—पुत्र के उत्पन्न होने पर वैश्वानर परमात्मा के उद्देश्य से द्वादशकपाल का निर्वाप = प्रदान करे । जो अष्टाकपाल का प्रदान करता है वह 'गायत्री' से पुत्र को पवित्र करता है, जो नवकपाल का करता है वह पवमान स्तोत्र के द्वारा उसमें तेज का आधान करता है । जो दश कपाल का करता है वह विराट् से उसको अन्नाद्य बनाता है, जो एकादश कपाल का करता है वह जगती से उसको पशुमान् करता है, जिसके उत्पन्न होने पर यह याग होता है, वह पवित्र, तेजस्वी, अन्नाद, सर्वइन्द्रिय संयुक्त तथा पशुमान् होता है ।

इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं "अष्टाकपाल" इत्यादि गुणविधि है अथवा वैश्वानरेष्टि विधायक वाक्य में श्रूयमाण द्वादशकपाल की स्तुति करने वाले अर्थवाद हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी का और अन्तिमपक्ष सिद्धान्ती का है। पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "द्वादशसुकपालेषुसंस्कृतः" जो द्वादश कपालों में पकायाजाय उस पुरोडाश* रूपद्रव्यविशेष का नाम द्वादश कपाल है। इस व्युत्पत्ति से जैसे द्वादशकपाल पुरोडाशरूपद्रव्य-विशेष का वाचक है वैसे ही अष्टाकपाल, नवकपाल आदि भी पुरो-डाशरूपद्रव्यविशेष के वाचक हैं, और द्वादश कपाल की न्याई उनके पवित्रतादि फल भी सुनेजाते हैं, इसलिये यह गुणविधि है अर्थवाद नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

गुणस्य तु विधानार्थेऽतद्गुणाःप्रयोगे स्युरनर्थकाःनहि तं प्रत्यर्थवत्ताऽस्ति। १८।

पद०—गुणस्य। तु। विधानार्थे। अतद्गुणाः। प्रयोगे। स्युः अनर्थकाः। नहि। तं। प्रति। अर्थवत्ता। अस्ति।

पदा०—(तु) शब्द पूर्वपक्षकी निवृत्ति के लिये आया है (गुणस्य) द्वादशकपालरूपगुण के (विधानार्थे) विधायक "वैश्वानरं" इत्यादि वाक्य के विद्यमान होने पर (अतद्गुणाः) अष्टाकपालआदि-रूप गुणों का विधान नहीं होसक्ता और (प्रयोगे) यागान्तर के विधान

---

* चावल अथवा यव के पिसान की जो सुगन्धितद्रव्यों के संयोग से चतु-ष्कोण मोटी रोटी मिट्टी के ठीकरे पर पकाई जाती है उसको पुरोडाश कहते हैं, यह बड़ा स्वादिष्ट और विद्वानों को प्रिय होता है।

में असमर्थ होने से (अनर्थकाः) वह निष्फल होजाते हैं और (तं, प्रति) अर्थवादमानेविना उनका प्राकृत याग के साथ सम्बन्ध तथा (अर्थवत्ता) सफलता (नहि) नहीं होसक्ती ।

भाष्य-यद्यपि द्वादशकपाल की न्याईं अष्टाकपाल आदि भी पुरोडाशरूपद्रव्यविशेष के वाचक हैं परन्तु द्वादशकपालरूपगुण के सम्बन्ध होने से अष्टाकपालआदिरूपगुण का प्रकृत याग के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता क्योंकि वह प्रथम ही द्वादशकपालरूप गुण से अवरुद्ध होगया है, और अनेक गुणों का विधान मानने से वाक्यभेदरूप दोष आता है, सो ठीक नहीं, और अर्थवाद माने विना प्रकृत याग के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता, और सम्बन्ध का होना आवश्यक है क्योंकि सम्बन्ध के न होने से वह व्यर्थ होजाता है,इस-लिये "अष्टाकपाल" इत्यादि द्वादश कपाल के स्तावक होने से अर्थवाद हैं, गुणविधि नहीं ।

सं०-अब उक्तार्थ में पुनः पूर्वपक्षी आशंका करता है:-

तच्छेषोनोपपद्यते । १९ ।

पद०-तच्छेषः । न । उपपद्यते ।

पदा०-(तच्छेषः) "अष्टाकपाल" आदि द्वादशकपाल के शेष अर्थात् स्तावक हैं, यह (न) नहीं (उपपद्यते) बनसक्ता ।

भाष्य-अष्ट आदि संख्या द्वादश संख्या की अपेक्षा न्यून है इसलिये "अष्टाकपाल" आदि को द्वादशकपाल का स्तावक मानना संगत नहीं ।

सं०-उक्त आशंका का समाधान करते हैं:-

अविभागाद्विधानार्थे स्तुत्यर्थेनोपपद्येरन् । २० ।

पद०—अविभागात् । विधानार्थे । स्तुत्यर्थेन । उपपद्येरन् ।

पदा०—(विधानार्थे) विधीयमान द्वादश संख्या में (अविभागात्) अष्टआदि संख्या का अन्तर्भाव होने से (स्तुत्यर्थेन) स्तुतिरूप अर्थद्वारा (उपपद्येरन्) "अष्टाकपाल" आदि संगत हैं ।

भाष्य—अष्ट आदि संख्या द्वादश संख्या के अन्तर्गत होने से उसका अवयव है और अवयव के द्वारा अवयवी की स्तुति होना संभव है, इसलिये अष्टाकपाल आदि वाक्य अर्थवाद ही हैं गुणविधि नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पुनः पूर्वपक्षी आशंका करता है :—

कारणं स्यादितिचेत् । २१ ।

पद०—कारणं । स्यात् । इति । चेत् ।

पदा०—(कारणं) अष्टाकपाल आदि श्रूयमाण—पवित्रता आदि फल के कारण (स्यात्) हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है :—

भाष्य—अष्टाकपाल आदि द्वादशकपाल के स्तावक अर्थवाद नहीं किन्तु श्रूयमाण पवित्रता आदि रूप फल के कारण हैं, और कारणता क्रिया का शेष अर्थात् गुण हुए विना बन नहीं सक्ती, इसलिये वह गुणविधि है अर्थवाद नहीं ।

सं०—अब उक्त आशंका का समाधान करते हैं :—

आनर्थक्यादकारणं कर्तुर्हि कारणानि गुणार्थो हि विधीयते । २२ ।

पद०—आनर्थक्यात् । अकारणं । कर्तुः । हि । कारणानि । गुणार्थः । हि । विधीयते ।

पदा०—(अकारणं) अष्टाकपाल आदि उक्त पवित्रता आदि फल के कारण नहीं क्योंकि (आनर्थ्यक्यात्) उनका उक्त फल में तात्पर्य्य नहीं (कर्तुः, हि) इष्टिकर्त्ता यजमान कोही (कारणानि) पवित्रता आदि फल प्राप्त होने चाहियें, परन्तु वह कर्त्ता को प्राप्त नहीं होते किन्तु जातपुत्र को होते हैं, इसलिये (गुणार्थः, हि) स्तुत्यर्थक ही (विधीयते) अष्टाकपाल आदि विधान कियेगए हैं गुणार्थ नहीं ।

भाष्य—यदि अष्टाकपाल आदि का स्वतन्त्र फल मानकर उनमें गुणविधि मानीजाय तो अनेक इष्टि माननी पड़ती हैं, और ऐसा मानने में उपक्रम उपसंहार की एकवाक्यता का भङ्ग होजाता है और इससे एक ही इष्टि पाई जाती है क्योंकि "वैश्वानरं द्वादश कपालं निर्वपेत् पुत्रेजाते" इसप्रकार उपक्रम करके अन्त में "यस्मिन्जाते एतामिष्टिं निर्वपति पूत एव स भवति" उस एक ही इष्टि का उपसंहार किया है, यदि मध्यपठित अष्टाकपाल आदि भी गुणविधि होती तो उक्त प्रकार का उपसंहार न होता, इसलिये यह गुणविधि नहीं किन्तु अर्थवाद है ।

सं०—अब यजमान शब्द को प्रस्तर आदि की स्तुत्यर्थकता का निरूपण करते हैं :—

तत्सिद्धिः । २३ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—(तत्सिद्धिः) प्रस्तर आदि से यजमान के कार्य्य की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"**यजमानःप्रस्तरः**"* "**यजमान एककपालः**"† इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें गुणविधि है वा अर्थवाद है ? यह सन्देह है, इस सन्देह की निवृत्ति इससूत्र में इस प्रकार की गई है कि जैसे द्वादशकपाल का अष्टाकपाल अवयव है वैसे प्रस्तर आदिका यजमान अवयव नहीं किन्तु उसका स्तावक है क्योंकि यह कोई नियम नहीं कि अवयव ही स्तावक हो अन्य नहीं, गुणों की सदृशता से अन्य भी अन्य का स्तावक होजाता है जैसाकि "**सिंहो देवदत्तः**" में सिंह के गुणों से युक्त देवदत्त का सिंह शब्द स्तावक है वैसेही "**यजमानः प्रस्तरः**" आदि में भी यजमान के याग साधनतादि गुणों से प्रस्तर आदिका यजमान शब्द स्तावक है इसलिये यह गुणविधि नहीं किन्तु अर्थवाद है ।

सं०—अब अग्नि आदि शब्दों को ब्राह्मण आदि का स्तावक कथन करते हैं :—

जातिः । २४ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—ब्राह्मणादि वर्णों को जो अग्नि आदि नामों से कथन किया गया है उसका कारण (जातिः) जायमान गुण विशेष है ।

---

* प्रथम काटी हुई कुश मुष्टि का नाम 'प्रस्तर' है, याग में प्रस्तर नामक इस कुशा की मुष्टि के ऊपर स्रुवा रखा जाता है ।

† एक कपाल में पकाये हुए पुरोडाश का नाम 'एककपाल' है ।

भाष्य-"अग्निर्वै ब्राह्मणः" "इन्द्रो राजन्यः" "वैश्यो विश्वेदेवाः" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, अग्नि आदि शब्द गुणविधि अर्थात् अग्नि आदि गुण के विधायक हैं अथवा अर्थवाद अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के स्तावक हैं ? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि अर्थवाद मानने से वाक्य अनर्थक होजाता है तथापि गुणविधि मानना ठीक नहीं क्योंकि अग्नि आदिक स्वतन्त्र पदार्थ होने के कारण ब्राह्मणआदि के गुण नहीं होसक्ते इसलिये जैसे "सिंहोऽयंदेवदत्तः" में जायमान क्रौर्य्य आदि गुणविशेषों की समानता से देवदत्त सिंह कहा जाता है वैसे ही यहां पर जायमान प्रकाशादि गुण विशेषों की समानता से ब्राह्मण आदि को अग्नि आदि कथन किया गया है कि ब्राह्मण अग्नि, क्षत्रिय इन्द्र और वैश्य विश्वेदेव है, अर्थात् जैसे पदार्थों को प्रकाशित करना अग्नि का स्वाभाविक गुण है, वैसे ही मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ वैदिककार्य्यों का प्रकाश करना ब्राह्मण का स्वाभाविक गुण है, ऐसे ही बल वीर्य्य और प्रजा संरक्षणआदि क्षत्रिय का, कृषि, गोरक्षण आतिथ्य, दान, ईश्वरभक्ति आदिक वैश्य के स्वाभाविक गुण हैं। इसी समानता से ब्राह्मण को अग्नि, क्षत्रिय को इन्द्र, वैश्य को विश्वेदेव, कथन किया है अर्थात् ब्राह्मण आदि की अग्नि आदि नाम से स्तुति की है, अतएव अग्नि आदि अर्थवाद है गुणविधि नहीं।

सं०-अब यजमान आदि शब्दों को यूप का स्तावक कथन करते हैं :-

सारूप्यात् । २९ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—यूप को जो यजमान आदित्य आदि कथन किया है वह लम्बाई और तेज की (सारूप्यात्) सदृशता से है ।

भाष्य—"यजमानो यूपः" "आदित्यो यूपः" इत्यादि वाक्य इस अधिकारण का विषय हैं, शङ्का, पूर्वपक्ष, उत्तरपक्ष, पूर्व-सूत्रवत् ही हैं । यजमान और यूप में लम्बाई तथा घृत से अक्त अर्थात् रोग़न किये हुए यूप और आदित्य में तेज समान है, इसी समानता से यूप को यजमान तथा आदित्य कथन किया है । इस-लिये यजमान आदि यूप के स्तावक अर्थवाद हैं यह सिद्धान्त है ।

सं०—अब यह कथन करते हैं कि अपशु आदि शब्द गौ आदि की प्रशंसा के लिये आए हैं :—

प्रशंसा । २६ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—गौ और अश्व के अतिरिक्त अन्य अजा आदि सब अपशु हैं इत्यादि कथन गौ तथा अश्व की (प्रशंसा) स्तुति है ।

भाष्य—"अपशवो वा अन्ये गोऽश्वेभ्यः पशवो गो अश्वाः" "अयज्ञो वा एष योऽसामा" "असत्रं वा एतत् यदच्छन्दोमम्" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, यह विधि वाक्य हैं अथवा अर्थवाद है ? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि विधि मानने से सब वाक्य सार्थक होजाते हैं तथापि उसका मानना ठीक नहीं क्योंकि विधि मानने में गौ अश्व ही पशु ठहरते हैं अजा आदि नहीं तथा सामवाला और छन्दोम वाला यज्ञ ही सत्र होसक्ता है अन्य नहीं,

परन्तु यह सर्वथा विरुद्ध है क्योंकि अजा आदि भी पशु हैं तथा सामरहित वा छन्दोम रहित भी यज्ञ और सत्र होते हैं, इसलिये यह अर्थवाद अर्थात् गौ, अश्व प्रशस्त पशु हैं अजा आदि नहीं, तथा सामवाला यज्ञ और छन्दोम वाला सत्र प्रशस्त है, अन्य यज्ञ तथा सत्र प्रशस्त नहीं,इस प्रकार उक्त वाक्य गौ,अश्व आदि के स्तावक हैं विधिवाक्य नहीं ।

सं०-अब सृष्टि शब्द वाले तथा असृष्टि = जिनमें सृष्टि शब्द नहीं है उन सब मंत्रों का सृष्टि शब्द से ग्रहण होना कथन करते हैं:-

भूमा । २७ ।

पद०-एकपद ।

पदा०-"सृष्टीरुपदधाति"* इस वाक्य में सृष्टि शब्द का प्रयोग सृष्टि, असृष्टि उभय लिङ्गक मन्त्रों के लिये आया है उसका कारण (भूमा) सृष्टि लिङ्ग वाले मन्त्रों का भूयस्त्व अर्थात् अधिकता है ।

भाष्य-अग्निचयन कर्म के प्रकरण में पठित "सृष्टीरुपदधाति" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें सृष्टिशब्दवाले मन्त्रों का इष्टका के उपधान में गुणरूप से विधान है,अथवा उनका अनुवाद करके सृष्टि असृष्टि उभय शब्दवाले मन्त्रों से इष्टका के उपधान का विधान है? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि सृष्टि शब्द का उपदधाति के साथ सम्बन्ध होने

---

* सृजधातु के प्रयोग का नाम सृष्टि है, उसके प्रयोग वाले मन्त्रों से जिन इष्टका द्वारा कुण्ड की रचना की जाती है उनको भी सृष्टि कहते हैं,उपधान, रचना, टेका देना = सहारा, यह सब पर्य्याय शब्द हैं ।

से सृष्टि शब्द वाले मन्त्रों का उपधान में गुणरूप से विधान होना चाहिये परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि अग्निचयन कर्म के प्रकरण में पठित होने से वह मन्त्र स्वयं प्राप्त हैं और प्राप्त का विधान नहीं होसक्ता, इसलिये मन्त्रों का अनुवाद करके इष्टका के उपधान का विधान मानना समीचीन है ।

ननु—अग्निचयन प्रकरण में जो मन्त्र पढ़ेगए हैं वह सब सृष्टि शब्दवाले नहीं, इसलिये सृष्टिशब्द से उन सब का अनुवाद नहीं होसक्ता? उत्तर—जैसे शूद्रों के रहते हुए भी ब्राह्मणों की अधिकता से ब्राह्मणों का ग्राम कहा जाता है वैसे ही अग्निचयन प्रकरण में पठित सम्पूर्ण मन्त्रों के मध्य सृष्टि शब्दवाले मन्त्रों की अधिकता के कारण उन सब का सृष्टि शब्द से अनुवाद किया है, इसलिये "सृष्टीरुपदधाति" यह अनुवाद है गुणविधि नहीं ।

सं०—अब प्राणभृत् शब्द को लक्षणावृत्ति से प्राणभृत् अर्थात् प्राण शब्दवाले तथा अप्राणभृत् = जिन में प्राण शब्द नहीं, उन सब मन्त्रों का अनुवादक कथन करते हैं :-

लिङ्गसमवायात् । २८ ।

पद०—एकपद ।

पदा०—"प्राणभृत उपदधाति"* में प्राणभृत् शब्द, प्राणभृत् अप्राणभृत् मन्त्रों का अनुवादक है, क्योंकि (लिङ्गसमवायात्) उपक्रमस्थ होने से प्राणभृत्मन्त्र का सब मन्त्रों के साथ सम्बन्ध है ।

भाष्य—"प्राणभृत उपदधाति" इत्यादि वाक्य इस अधि-

---

* प्राण शब्दोपेत मन्त्रों वाला उपधान है जिन इष्टका का उनको प्राणभृत कहते हैं ।

करण का विषय हैं, प्राणभृत् = प्राणशब्दवाले मन्त्रों का उपधान में गुणरूप से विधान है अथवा लक्षणावृत्ति से प्राणभृत् अप्राणभृत् उभयविध मन्त्रों का अनुवाद करके इष्टका के उपधान का विधान है ? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि प्राणभृत् शब्द का उपदधाति क्रिया के साथ सम्बन्ध होने से प्राणशब्द वाले मन्त्रों का उपधान में गुणरूप से विधान मानना चाहिये, अनुवाद नहीं, क्योंकि अनुवाद मानने में लक्षणामाननी पड़ती है तथापि गुणरूप से विधान मानना ठीक नहीं, क्योंकि गुणविधि मानने में प्रकरण पठित सब अप्राणभृत् मन्त्र अनर्थक होजाते हैं, इसलिये जैसाकि "छत्रिणोगच्छन्ति = छातों वाले जाते हैं, इस वाक्य में छत्री शब्द लक्षणावृत्ति से छत्री, अछत्री दोनों प्रकार के मनुष्यों का बोधक है वैसे ही "प्राणभृत उपदधाति" में प्राणभृत् शब्द भी प्राणभृत्, अप्राणभृत् दोनों प्रकार के मन्त्रों का अनुवाद करके इष्टका के उपधान का विधायक है ।

सं०—अब संदिग्ध अर्थ का वाक्यशेष से निर्णय कथन करते हैं:—

सन्दिग्धेषु वाक्यशेषात् । २९ ।

पद०—सन्दिग्धेषु । वाक्यशेषात् ।

पदा०—(सन्दिग्धेषु) विधेय अर्थों में सन्देह होने पर (वाक्यशेषात्) वाक्यशेष से निर्णय होता है ।

भाष्य—"अक्ताः शर्कराः उपदधाति"* इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, अग्नि कुण्ड में उपधान के लिये

*मिट्टी से मिले हुए छोटे कंकड़ों का नाम 'शर्करा' है । घृतादि स्निग्ध वस्तुओं से चोपड़ी हुई शर्करा को 'अक्ता' कहते हैं ।

शर्करा को घृत से अञ्जन करना अर्थात् चोपड़ना, किंवा तैल से,यह सन्देह है? इस सन्देह की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उक्त वाक्य में शर्करा का अञ्जनमात्र कथन किया है,और वह तैल से भी होसक्ता है, तथापि तैल से चोपड़ी हुई शर्करा का उक्त वाक्य में ग्रहण नहीं, क्योंकि उसका निर्णायक कोई वाक्यशेष नहीं मिलता और घृत का निर्णायक उसकी तेजस्वीरूप से स्तुति करनेवाला "तेजो वै घृतम्" इस प्रकार वाक्यशेष मिलता है, जिससे तैल के द्वारा शर्करा का अञ्जन मानना सर्वथा व्यर्थ होजाता है इसलिये उक्त वाक्य में घृत से अक्त शर्करा का ही ग्रहण है तैल से अक्त का नहीं।

सं०—अब पदार्थों की योग्यतानुसार अर्थ के निर्णय का निरूपण करते हैं:—

अर्थाद्वा कल्पनैकदेशत्वात्। ३०।

पद०—अर्थात्। वा। कल्पना। एकदेशत्वात्।

पदा०—(अर्थात्) अन्य निर्णायक लिङ्गों के न होनेपर पदार्थ की योग्यता से (वा) ही अर्थ के निर्णय की (कल्पना) कल्पना होती है क्योंकि (एकदेशत्वात्) कल्पना भी अर्थ निर्णय का एक अङ्ग है।

भाष्य—"स्रुवेणावद्यति" "स्वधितिनाऽवद्यति"* "हस्तेनावद्यति" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। याग के उपयोगी घृतादि पदार्थों को उनकी योग्यतानुसार स्रुवा आदि से अवदान=भाग विशेष का जुदा करना, इस अभिप्राय

* कृपाण अर्थात् छोटी छुरीरूप शस्त्र विशेष का नाम स्वधिति है।

से इन वाक्यों में स्रुवा आदि का ग्रहण है किंवा कभी स्रुवा से कभी स्वधिति से कभी हस्त से अवदान करना इस अभिप्राय से ग्रहण है ? इस शङ्का की निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि याग में घृत आदि नाना प्रकार के पदार्थों का उपयोग है जिनका शीत काल में अत्यन्त कठिन होजाने के कारण स्रुवा तथा हाथ से अवदान होना कठिन है, इसलिये विकल्प के अभिप्राय से उनके ग्रहण की कल्पना करना ठीक नहीं किन्तु स्रुवा से अवदान के योग्य पदार्थों का स्रुवा से, स्वधिति के योग्य का स्वधिति से, हाथ के योग्य का हाथ से अवदान करना चाहिये,इस प्रकार पदार्थों की योग्यतानुसार उनके ग्रहण की कल्पना करना उचित है, क्योंकि ऐसी कल्पना करने से सब व्यवस्था ठीक होजाती है, इसलिये उक्त वाक्यों में पदार्थों की योग्यता के अभिप्राय से ही स्रुवा आदि का ग्रहण है विकल्प के अभिप्राय से नहीं ।

जैसे पदार्थों की योग्यतानुसार उनके अवदान का निर्णय किया गया है, वैसेही सर्वत्र योग्यतानुसार अर्थका निर्णय जानना चाहिये ।

इतिश्रीमदार्य्यमुनिनोपनिबद्धे
मीमांसार्य्यभाष्ये प्रथमा-
ध्यायस्य चतुर्थपादः
समाप्तः

समाप्तोऽयं प्रथमाध्यायः

ओ३म्

अथ मीमांसार्य्यभाष्ये द्वितीयाध्यायस्य
प्रथमःपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथमाध्याय में वेदविहित कर्मों को धर्म निरूपण किया। अब उसके भेदों का निरूपण करने के लिये द्वितीयाध्याय का प्रारम्भ करते हुए प्रथम धर्म के क्रियापदप्रतिपाद्यत्व का कथन करते हैं:—

भावार्थाः कर्मशब्दाः तेभ्यः क्रियाप्रतीयेत एषह्यर्थो विधीयते । १ ।

पद०—भावार्थाः। कर्मशब्दाः। तेभ्यः । क्रिया। प्रतीयेत । एष । हि । अर्थः । विधीयते ।

पदा०—(भावार्थाः) धात्वंश से याग, होम, दान तथा प्रत्ययांश से भावना के वाचक जो (कर्मशब्दाः) यजेत, जुहोति, ददाति आदि क्रियापद हैं (तेभ्यः) उनसे (क्रिया) याग, होम, दानरूप कर्तव्य कर्म का (प्रतीयेत) बोध होता है और (एष, हि) यही (अर्थः) उक्त क्रियारूप अर्थ (विधीयते) धर्म विधान कियागया है।

भाष्य—"सोमेन यजेत स्वर्ग कामः" "दर्श पूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत" "अग्निहोत्रंजुहोति" "हिरण्यमात्रेयायदाति = इसलोक और परलोक के सुख की कामनावाला पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे। जब तक जीवे दर्शपूर्णमास और अग्निहोत्र करे। ब्रह्म सम्पत्ति युक्त ब्राह्मण को सुवर्णादि का दान दे। इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें नाम तथा आख्या-

तान्त सम्पूर्ण पद धर्म के प्रतिपादक हैं अथवा यजेत, जुहोति आदि आख्यातान्त पद ही धर्म के प्रतिपादक हैं? इस शङ्का की निवृत्ति सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि धर्म द्रव्यगुणरूप किसी वस्तु विशेष का नाम नहीं किन्तु सोम घृतादि नाना वस्तुओं तथा पुरुष प्रयत्न-साध्य वेदविहित याग, होम, दानादिरूप क्रियाविशेष का नाम धर्म है और उसका ज्ञान यजेत, जुहोति आदि आख्यातान्त पदों से होता है, इसलिये सर्वत्र विधिवाक्यों में स्थित नाम तथा आख्या-तान्त पदों के मध्य केवल आख्यातान्त पद ही धर्म के प्रतिपादक हैं।

भाव यह है कि "सु" आदि नामिकी विभक्ति जिनके अन्तमें होती है उनको **"नाम"** कहते हैं, जैसाकि **"सोमेन" "दर्शपूर्णमासाभ्याम्" "स्वर्गकामः" "अग्निहोत्रम्"** इत्यादि, और "ति" आदि प्रत्यय जिनके अन्त में होते हैं उन पदों को **आख्यातान्त** = क्रियापद कहते हैं, जैसाकि **"यजेत" "जुहोति" "ददाति"** इत्यादि। इन दोनों प्रकार के पदसमुदाय का नाम विधिवाक्य है, इसमें याग, होम, दान, कर्तव्य है, यह ज्ञान केवल क्रियापद से होता है नामपद से नहीं, इसलिये सम्पूर्ण विधिवाक्यों में केवल क्रियापद ही एकमात्र धर्म का प्रतिपादक है और अन्य नाम पद उसके नाम, साधन, तथा फल के प्रतिपादक हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं:—

सर्वेषांभावोऽर्थइतिचेत्॥ २॥

पद०—सर्वेषां। भावः। अर्थः। इति। चेत्।

पदा०—(सर्वेषां) सोम, घृतादि सब पदार्थों का (अर्थः) साध-नीय अर्थ (भावः) यागादि क्रिया है, इसलिये नाम पद भी धर्म

के प्रतिपादक हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहाजाय तो ठीक नहीं, इसका अग्रिम सूत्रों से सम्बन्ध है:-

भाष्य-जिसप्रकार काष्ठ स्थाली आदि साधनों के बिना पाक क्रिया नहीं होसक्ती और न उसका ओदनसिद्धिरूप फल प्राप्त होसक्ता है इसीप्रकार सोम घृतादि पदार्थों के बिना याग आदि क्रियाभी नहीं होसक्ती और न उससे भावीफल की प्राप्ति होसक्ती है अर्थात् जैसे भावीफल का साधन क्रिया है वैसेही सोम घृतादि पदार्थ भी भावीफल के साधन हैं क्योंकि उनके बिना फल नहीं होसक्ता, इसलिये विधिवाक्यस्थ क्रियापद की भांति नाम पद भी फल के साधन धर्म के प्रतिपादक हैं, केवल आख्यातान्त पद ही नहीं।

सं०-अब अग्रिम दो सूत्रों में नाम तथा आख्यात पदों के लक्षण करते हुए उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:-

येषामुत्पत्तौ स्वे प्रयोगे रूपोपलब्धिस्तानि नामानि तस्मात्तेभ्यः पराकांक्षाभूतत्वात्स्वेप्रयोगे। ३।

पद०-येषाम्। उत्पत्तौ। स्वे। प्रयोगे। रूपोपलब्धिः। तानि। नामानि। तस्मात्। तेभ्यः। पराकांक्षा। भूतत्वात्। स्वे। प्रयोगे।

पदा०-(स्वे) स्वार्थ में (प्रयोगे) प्रयुज्यमान होने पर (येषाम्) जिन पदों के (उत्पत्तौ) उच्चारणकाल में (रूपोपलब्धिः) अपने अर्थ की उपलब्धि होती है (तानि) उनको (नामानि) नाम कहते हैं, और (तस्मात्) उच्चारणकाल में ही अर्थ की उपलब्धि होने से (तेभ्यः) वह (पराकांक्षा) अपने अर्थ की सिद्धि के लिये अन्य की आकांक्षा से रहित हैं क्योंकि (स्वे, प्रयोगे) उनके उच्चारणकाल में (भूतत्वात्) अर्थ विद्यमान है।

भाष्य–सिद्ध तथा साध्य भेद से अर्थ दो प्रकार के होते हैं, जो अर्थ अपने वाचक पदों के उच्चारण काल में विद्यमान हैं और अपनी सिद्धि के लिये किसी अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखते उनको "सिद्ध" और उनके वाचक पदों को "नाम" कहते हैं, सम्पूर्ण सोम आदि द्रव्य, गुण वाचक शब्द इसका उदाहरण हैं और जो अर्थ अपने वाचक पदों के उच्चारणकाल में विद्यमान नहीं है किन्तु उच्चारणकाल के अनन्तर द्रव्य आदि नाना साधनों तथा पुरुष प्रयत्न से निष्पन्न होते हैं उनको "साध्य" और उनके वाचक पदों को आख्यात = आख्यातान्त कहते हैं जैसाकि यजेत, जुहोति, ददाति, इत्यादि क्योंकि इनके उच्चारणकाल में अर्थ = याग, होम, दानादि विद्यमान नहीं हैं किन्तु पुरुष प्रयत्नादि के अनन्तर होते हैं।

येषांतूत्पत्तावर्थे स्वे प्रयोगो न विद्यते तान्याख्यातानितस्मात्तेभ्यः प्रतीये-ताश्रितत्वात्प्रयोगस्य ।४।

पद०–येषां । तु । उत्पत्तौ । अर्थे । स्वे । प्रयोगः । न । विद्यते । तानि । आख्यातानि । तस्मात । तेभ्यः । प्रतीयेत । आश्रितत्वात् । प्रयोगस्य ।

पदा०–(तु) पुनः (येषां) जिन पदों के (उत्पत्तौ) उच्चारण काल में (अर्थे, स्वे) अपने अर्थ में (प्रयोगः) उच्चारण (न, विद्यते) नहीं है (तानि) उनको (आख्यातानि) आख्यात कहते हैं, और (तस्मात्) इसीकारण (तेभ्यः) उनसे (प्रतीयेत) धर्म का ज्ञान होता है क्योंकि (प्रयोगस्य) उनके अर्थ की सिद्धिं (आश्रितत्वात्) पुरुष प्रयत्न के अधीन है ।

भाष्य–जिन पदों के अर्थ उच्चारण काल में विद्यमान नही हैं किन्तु द्रव्यादि नाना साधनों तथा पुरुष प्रयत्न से पश्चात् सिद्ध होते हैं उनको आख्यात = आख्यातान्त कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि **भूतंभव्यायोपदिश्यते** = साध्य वस्तु की सिद्धि के लिये सिद्ध वस्तु का उपदेश किया है अर्थात् सिद्ध पदार्थों से साध्य पदार्थ की सिद्धि होती है और उसके सिद्ध होने पर पुनः ईश्वरीय नियम से यथाश्रुत फल का आरम्भ होता है। इस प्रकार सिद्ध पदार्थों का साध्य पदार्थों की सिद्धि में उपयोग है फल सिद्धि में नहीं, फल की सिद्धि केवल साध्य पदार्थ से ही होती है। याग, होम, दानादि पुरुष प्रयत्न साध्य होने से धर्म और सोम घृतादि सिद्ध पदार्थ होने से धर्म का साधन हैं फल का नहीं, इसलिये विधिवाक्यों में स्थित पद धर्म के प्रतिपादक नहीं होसक्ते किन्तु यजेत, जुहोति आदि आख्यात पद ही धर्म के प्रतिपादक हैं।

सं०–ननु, याग, होमादि कर्मों से भावीफल का आरम्भ क्यों होता है ? उत्तर :–

चोदनापुनरारम्भः ।५।

पद०–चोदना । पुनः । आरम्भः ।

पदा०–(पुनः) जिसकारण (चोदना) वेदमें उक्तकर्मों की विधि पाईजाती है अतएव उनसे (आरम्भः) भावीफल का आरम्भ होता है।

भाष्य जिसप्रकार लोक में लौकिक पुरुषों की आज्ञा से किये हुए कर्मों का फल प्राप्त होता है इसीप्रकार याग, होम, दानादि कर्म जो परमात्मा की आज्ञा से किये जाते हैं उनसे भावीफल का आरम्भ होता है।

भाव यह है कि परमपिता परमात्मा ने मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ वेदों का उपदेश किया है वञ्चनादि के अभिप्राय से नहीं, इसलिये वेदोक्त यागादि कर्मों से भावीफल का आरम्भ होता है ।

सं०-विधिवाक्यों में स्थित आख्यात = क्रिया पदों को धर्म का प्रतिपादक कथन करके अब उनके विभाग का कथन करते हैं :-

तानि द्वैधं गुणप्रधानभूतानि । ६ ।

पद०-तानि । द्वैधं । गुणप्रधानभूतानि ।

पदा०-(तानि) वह आख्यातपद (द्वैधं) दो प्रकार के हैं (गुणप्रधानभूतानि) एक गौण कर्म के प्रतिपादक और दूसरे प्रधान कर्म के प्रतिपादक ।

भाष्य-आख्यात पद दो प्रकार के हैं एक गुणभूत और दूसरे प्रधानभूत, जो गौणकर्म के प्रतिपादक हैं उनका नाम "गुणभूत" और जो प्रधानकर्म के प्रतिपादक हैं उनका नाम "प्रधानभूत" है ।

सं०-अब प्रधान कर्म का लक्षण करते हैं :-

यैर्द्रव्यं न चिकीर्ष्यते तानिप्रधानभूतानि द्रव्यस्यगुणभूतत्वात् । ७ ।

पद०-यैः । द्रव्यं । न । चिकीर्ष्यते । तानि । प्रधानभूतानि । द्रव्यस्य । गुणभूतत्वात् ।

पदा०-(यैः) जो कर्म (चिकीर्ष्यते) संस्कार आदि के लिये (द्रव्यं) द्रव्यकी अपेक्षा (न) नहीं करते (तानि) वह (प्रधान-भूतानि) प्रधानकर्म हैं क्योंकि (द्रव्यस्य) द्रव्य (गुणभूतत्वात्) उनके प्रति गौण है ।

भाष्य-जो कर्म द्रव्य के संस्कारक तथा उत्पादक नहीं किन्तु

स्वयं द्रव्यसाध्य हैं उनको "प्रधानकर्म" कहते हैं, जैसाकि याग, होम, दानादि ।

तात्पर्य्य यह है कि जिन कर्मों का फल द्रव्य का संस्कार तथा उसकी उत्पत्ति नहीं है किन्तु इसलोक और परलोक का सुख है उनको प्रधानकर्म कहते हैं ।

सं०-अब गौणकर्म का लक्षण करते हैं :-

यैस्तु द्रव्यं चिकीर्ष्यते गुणस्तत्र प्रतीयेत तस्यद्रव्यप्रधानत्वात् । ८ ।

पद०-यैः । तु । द्रव्यं । चिकीर्ष्यते । गुणः । तत्र । प्रतीयेत । तस्य । द्रव्यप्रधानत्वात् ।

पदा०-(तु) और (यैः) जोकर्म (चिकीर्ष्यते) संस्कारादि के लिये (द्रव्यं) द्रव्य की आकांक्षा करते हैं (तत्र) उन कर्मों में (गुणः) गौणता (प्रतीयेत) जाननी चाहिये, क्योंकि (तस्य) उन कर्मों के प्रति (द्रव्यप्रधानत्वात्) द्रव्य प्रधान है ।

भाष्य-जो कर्म स्वयं द्रव्यसाध्यनहीं किन्तु द्रव्य के संस्कारक तथा उत्पादक हैं उनका नाम "गौणकर्म" है ।

भाव यह है कि जो कर्म द्रव्य का संस्कार करते हैं जैसाकि **व्रीहीनवहन्ति** = धानों को कूटे, **तण्डुलान्पिनष्टि** = चावलों को पीसे, इत्यादि और जो द्रव्य को उत्पन्न करते हैं जैसाकि **यूपं-तक्षति** = स्तम्भ को बनावे, **आहवनीयमादधाति** = आहवनीय अग्नि का आधान करे, इत्यादि कर्मों को "गौणकर्म" कहते हैं क्योंकि यह कर्म संस्कार तथा उत्पत्ति के लिये द्रव्य की

आकांक्षा करते हैं अर्थात् "हम किसका संस्कार तथा किसकी उत्पत्ति करें" इस प्रकार द्रव्य की आकांक्षा करते हैं और इनसे संस्कृत तथा उत्पन्नहुआ द्रव्य प्रधान कर्म में उपयोगी होताहै इसलिये वह द्रव्य प्रधान कर्म के प्रति गौण हुआ भी गौणकर्म के प्रति प्रधान है क्योंकि उक्तकर्म द्रव्य का गुण है। धानों के कूटने से जो तुषविमोक होता है वही उनका संस्कार है, जिस अग्नि में हवन किया-जाता है उसको "**आहवनीय**" और उत्पन्न करने को '**आधान**' कहते हैं। कूटना, पीसना आदि से द्रव्य संस्कृत होता है और तक्षण तथा आधान से उत्पन्न होता है इसलिये इसका नाम "**गौणकर्म**" है अर्थात् जिन कर्मों का फल अदृष्ट है उनका नाम "**प्रधानकर्म**" और जिनका दृष्ट है उनको "**गौणकर्म**" कहते हैं।

सं०—अब सम्मार्जन आदि को गौणकर्म सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

धर्ममात्रे तु कर्मस्यादनिवृत्तेःप्रयाजवत्।९।

पद०—धर्ममात्रे। तु। कर्म। स्यात्। अनिवृत्तेः। प्रयाजवत्।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (प्रयाजवत्) जैसे प्रयाज प्रधान कर्म है इसीप्रकार (धर्ममात्रे) स्रुवा आदि के धर्ममात्र सम्मार्जनादि भी (कर्म) प्रधानकर्म (स्यात्) हैं क्योंकि उनसे (अनिवृत्तेः) किसी दृष्ट फ़ल की निष्पत्ति नहीं होती।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित "**स्रुचःसम्मार्ष्टि**" "**अग्निंसम्मार्ष्टि**" "**परिधिंसम्मार्ष्टि**" "**पुरोडाशंपर्य्यग्निकरोति**" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। स्रुवा, अग्नि तथा परिधि का सम्मार्जन और पुरोडाश का पर्य्य-

ग्निकरण प्रधानकर्म है अथवा गौणकर्म है ? इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी का और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है । पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे अवहनन = कूटने आदि गौणकर्मका तुषविमोकादि दृष्टफल है इसप्रकार सम्मार्जनादि कर्म का कोई दृष्टफल नहीं, इसलिये प्रयाज-कर्म की भांति सम्मार्जनादि भी प्रधान कर्म है । साफ करने का नाम "सम्मार्जन" वेदी के चारो ओर रखी हुई सत्वक् लकड़ी का नाम "परिधि" मिट्टी के ठीकरे पर यथाविधि पकाई हुई रोटी विशेष का नाम "पुरोडाश" दर्भमुष्टि के अग्रभाग में अग्नि लगाकर पुरोडाश के चारो ओर घुमाने का नाम "पर्य्यग्निकरण" और समिधादि नामक पांच आहुतिरूप कर्म विशेष को "प्रयाज" कहते हैं । यह प्रधान कर्म होने के कारण "प्रयाजवत्" कहा है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

तुल्यश्रुतित्वाद्वेतरैःसधर्मःस्यात् । १० ।

पद०—तुल्यश्रुतित्वात् । वा । इतरैः । सधर्मः । स्यात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है, सम्मार्जनादि कर्म (इतरैः) अवहननादिकर्म के (सधर्मः) समान (स्यात्) हैं क्योंकि (तुल्यश्रुतित्वात्) दोनों का समानरीति से श्रवण पाया जाता है ।

भाष्य—यद्यपि अवहननादि की भांति सम्मार्जनादि का दृष्ट-फल नहीं तथापि उनकी भांति गौणकर्म ही जानना चाहिये क्योंकि द्रव्यप्रधानता की सूचक द्वितीया विभक्ति का श्रवण उभयत्र समान पायाजाता है अर्थात् "कर्मणिद्वितीया" अष्टा०२।३।२ इस सूत्र में

कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है और "कर्तुरीप्सिततमंकर्म" अष्टा० १।४।४९ इस सूत्र से कर्त्ताको ईप्सिततम की कर्म संज्ञा है और जो ईप्सिततम होता है वही प्रधान होता है, सो जिसप्रकार यागोपयोगी होने से तुषरहित धान कर्त्ता को ईप्सिततम हैं इसीप्रकार सम्मार्जित स्रुवा आदि भी कर्त्ता को ईप्सिततम हैं, अतएव "व्रीहीन्" के समान "स्रुचःसम्मार्ष्टि" आदि में स्रुवा आदि का द्वितीया विभक्ति से निर्देश किया गया है, इसलिये जैसे व्रीहि आदि द्रव्य प्रधान होने से अवहननादि गौणकर्म हैं वैसेही स्रुवा आदि द्रव्य प्रधान होने से सम्मार्जनादि भी गौणकर्म हैं, प्रयाज कर्म की भांति प्रधान कर्म नहीं ।

सं०-अब उक्त समाधान में पुनः पूर्वपक्ष करते हैं :-

द्रव्योपदेशइतिचेत् । ११ ।

पद०-द्रव्योपदेशः । इति । चेत् ।

पदा०-(द्रव्योपदेशः) "स्रुचःसम्मार्ष्टि" आदि में जो द्वितीयान्त "स्रुचः" आदि पद से स्रुवा आदि द्रव्य का उपदेश है वह गौणरूप से है प्रधानरूप से नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है :-

भाष्य-जैसे "सक्तून्जुहोति = सत्तुओं से होमकरे, एककपालं जुहोति = एक कपाल में पकाये हुए पुरोडाश से होम करे इत्यादि वाक्यों में सक्तु आदि गौण द्रव्य का द्वितीया विभक्ति से निर्देश कियागया है वैसेही "स्रुचःसम्मार्ष्टि" आदि में भी

स्रुवा आदि का द्वितीया विभक्ति से निर्देश किया है, स्रुवा आदि की प्रधानता के अभिप्राय से नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार **सक्तून् जुहोति**" आदि में करणार्थ में द्वितीया विभक्ति है इसी प्रकार "**स्रुचःसम्मार्ष्टि**" आदि में भी करणार्थ में द्वितीया विभक्ति है कर्मार्थ में नहीं, इसलिये सक्तु आदि की भांति स्रुवा आदि द्रव्य का उपदेश गौणरूप से है प्रधानरूप से नहीं, क्योंकि कर्म ही ईप्सिततम होने से प्रधान होता है करण नहीं और जिस कर्म में द्रव्य गौण होता है वह "**प्रधानकर्म**" कहा जाता है, अतएव सम्मार्जनादि प्रधानकर्म हैं गौण नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

न तदर्थत्वाल्लोकवत्तस्य च शेष-भूतत्वात्। १२।

पद०—न। तदर्थत्वात्। लोकवत्। तस्य। च। शेषभूतत्वात्।

पदा०—(न) "**स्रुचःसम्मार्ष्टि**" आदि में गुणरूप से स्रुवा आदि द्रव्यों का उपदेश नहीं, क्योंकि (लोकवत्) "**ग्रामं गच्छति**" इत्यादि लौकिक प्रयोग की न्याईं (तदर्थत्वात्) उसमें श्रूयमाण द्वितीया विभक्ति को कर्मार्थत्व है (च) और (तस्य) वह स्रुवा आदि सब द्रव्य (शेषभूतत्वात्) घृतादिकों के धारणार्थ होने से उनके शेष हैं।

भाष्य—सक्तु आदि द्रव्य केवल होम के साधन हैं, उसके अति-

रिक्त किसी अन्यार्थ में उनका विनियोग नहीं होसक्ता, क्योंकि वह हवन होने से भस्मीभूत होजाते हैं, इसलिये "सक्तून्जुहोति" आदि में लक्षणावृत्ति से करणार्थक द्वितीया विभक्ति की कल्पना करके सक्तु आदि का गुणरूप मे उपदेश मानना ही युक्त है, परन्तु "स्रुचःसम्मार्ष्टि" आदि में श्रूयमाण द्वितीया विभक्ति को करणार्थकता नहीं मानसक्ते क्योंकि सम्मार्जन के अतिरिक्त यागोपयोगी घृतादि के धारण में सम्मार्जित स्रुवा आदि का विनियोग है जो कर्म में द्वितीया मानने से विना नहीं होसक्ता और कर्म ईप्सिततम होने से प्रधान होता है, इसलिये उक्त उदाहरण ठीक नहीं। अतएव "स्रुचःसम्मार्ष्टि" आदि में स्रुवा आदि का प्रधानरूप से उपदेश होने के कारण सम्मार्जनादि गौणकर्म हैं प्रधान नहीं।

सं०—अब स्तोत्र तथा शस्त्र को प्रधानकर्म सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

स्तुतशस्त्रयोस्तुसंस्कारो याज्यावद्देवताभिधानत्वात्। १३।

पद०—स्तुतशस्त्रयोः। तु। संस्कारः। याज्यावत्। देवताभिधानत्वात्।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (स्तुतशस्त्रयोः) स्तोत्र तथा शस्त्र (संस्कारः) संस्कार कर्म है क्योंकि वह (याज्यावत्) याज्याऋचा की भाँति (देवताभिधानत्वात्) गुण कथनद्वारा परमात्मा के स्वरूप का प्रकाश करते हैं।

भाष्य—याग के आरम्भ में अध्वर्यु खड़ा होकर जिस ऋचा से परमात्मा की स्तुति करता है उसका नाम "याज्या" जिनमंत्रों को गाकर परमात्मा की स्तुति कीजाती है उनका नाम "स्तोत्र" और जिनसे बिना गाये स्तुति की जाती है उनका नाम "शस्त्र" है, स्तोत्र, स्तुत, स्तवन, स्तुति, शस्त्र, शंसन तथा प्रशंसा यह सब पर्य्याय शब्द हैं। ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित "आज्यैःस्तुवते = आज्य नाम के स्तोत्र से स्तुति करे, " पृष्ठैःस्तुवते = पृष्ठ नामक स्तोत्र से स्तुति करे, "प्रउगंशंसति" = प्रउग नामक शस्त्र से परमात्मा की स्तुति करे " निष्केवल्यंशंसाति = निष्केवल्य नामक शस्त्र से स्तुति करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। स्तोत्र, शस्त्र गुणकर्म है किंवा प्रधान कर्म है ? इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी का और अन्तिमपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे याज्याऋचा गुणनिरूपण द्वारा ईश्वर के स्वरूप का प्रकाश करती है वैसेही स्तोत्र, शस्त्र भी गुण-कीर्तन द्वारा परमात्मा के स्वरूप का प्रकाश करते हैं अर्थात् जिस प्रकार याज्याऋचा के पढ़ने से परमात्मा के स्वरूप का अनुस्मरण होता है इसी प्रकार स्तोत्र, शस्त्र के पढ़ने से भी गुणों द्वारा पर-मात्मा के स्वरूप का अनुस्मरण होता है, यह अनुस्मरण तुषनिवृत्ति की भांति परमात्मा का संस्कार विशेष है क्योंकि अवहनन आदि कर्म से तुष निवृत्तिरूप संस्कार द्वारा संस्कृत हुए धान की न्याईं अनुस्मृत परमात्मा का भी याग में उपयोग है, और जहां संस्कार्य्यसंस्कारक भाव होता है वहां संस्कार्य्य प्रधान और संस्कारक गौण होता है यह नियम है, यहां धानकी भांति संस्कार्य्य परमात्मा और अवहननादि

कर्म की भांति संस्कारक स्तोत्र तथा शस्त्र है इसलिये द्रव्यप्रधान होने के कारण वह गौणकर्म है प्रधान नहीं ।

"अग्न आयाहि वीतये" साम० पू० १।१।१ "आनो मित्रा वरुण" साम० पू० ३।३।७ "आयाहि सुषुमाहिते" सा० २।१०।७ "इन्द्राग्नी आगतं सुतं" साम० उ० १।१।७, यह चारो सूक्त प्रातःकाल में गायत्र साम से गान किये हुए "आज्यस्तोत्र" और "अभित्वा शूर नोनुम" सा० पू० ३।५।१ "कयानश्चित्रआभुवत्" सा० पू० २।८।५। "तंवोदस्ममृतीषहम्" सा० उ० १।१।१३ "तरोभिर्वो विदद्वसुम्" सा० पू० ३।५।५, यह चारो सूक्त मध्याह्न काल में यथाक्रम रथन्तर, वामदेव्य, नौधस, कालेय, साम से गान किये हुए "पृष्टस्तोत्र" कहलाते हैं, यहां सूक्त से तात्पर्य्य तीन ऋचा का है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि वैदिक सिद्धान्त में कोई व्यक्ति वाला जीव विशेष देवता नहीं किन्तु सर्वत्र परिपूर्ण सच्चिदानन्दमय एक परमात्मा ही परम देवता है और प्रकाश ऐश्वर्य्य आदि अनेक गुण विशिष्ट होने के कारण प्रत्येक गुण की प्रधानता से उसका अग्नि, इन्द्र आदि नाम से कथन किया जाता है अर्थात् प्रकाश गुण की प्रधानता से परमात्मा को "अग्नि" और ऐश्वर्य्यगुण की प्रधानतासे "इन्द्र" तथा महान् ऐश्वर्य्यगुण की प्रधानता से "महेन्द्र" कहते हैं, इसी प्रकार अन्य नामों की प्रवृत्ति का कारण भी तत्तद्गुण की प्रधानता ही जाननी चाहिये ।

परमात्मा के एक होने पर भी उसके गुण अनन्त होने से अग्नि, इन्द्र, महेन्द्र आदित्य, वायु, अश्वनी, प्रजापति, वरुण, इत्यादि नाम भी अनन्त हैं, इसलिये जिस ऋचा में जिस नाम से परमात्मा की स्तुति की गई है, वही उसका देवता कहाजाता है, अतएव आग्नेयी, ऐन्द्री इत्यादि ऋचा की समाख्या भी भले प्रकार उत्पन्न होजाती है, अर्थात् जिस ऋचा में अग्निदेवता की स्तुति की गई है उसको आग्नेयी और जिसमें इन्द्र की स्तुति कीगई है उसको ऐन्द्री ऋचा कहते हैं, अग्नि तथा इन्द्र एक ही परमात्मा का नाम होने पर भी तत्तद्गुण की प्रधानता से नाम तथा स्तुति का भेद है, वस्तुतः भेद नहीं, तात्पर्य्य यह है कि परमात्मा के प्रकाशादि गुण ही देवता नाम से कहे जाते हैं और उन २ गुणों की मुख्यता से परमात्मा की उस २ नाम से स्तुति की जाती है, वस्तुतः अग्नि इन्द्र महेन्द्र आदि कोई भिन्न देवता नहीं, यहां इतना प्रसंग संगति से कथन किया गया।

सं०—अब पृष्ठ १२३ पर किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

अर्थेनत्वपकृष्येतदेवतानामचोदनार्थस्य गुणभूतत्वात्। १४।

पद०—अर्थेन। तु। अपकृष्येत। देवतानामचोदना। अर्थस्य। गुणभूतत्वात्।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (देवतानामचोदना) यदि स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म मानें तो इन्द्रादि देवता के नाम से स्तुति करनेवाले मन्त्र का (अर्थेन) अर्थ के अनुसार (अपकृष्येत) प्रकरण से अपकर्ष होना चाहिये क्योंकि (अर्थस्य) देवतारूप अर्थ के प्रति (गुणभूतत्वात्) मन्त्र गुणभूत है।

भाष्य–स्तोतव्य वस्तु का स्तावक गुणों के साथ सम्बन्ध करना स्तौति तथा शंसति धातु का मुख्यार्थ है, अर्थात् स्तोतव्य पदार्थनिष्ठ गुणों के सम्बन्ध कथन का नाम स्तुति तथा प्रशंसा है। गुणों के कथन द्वारा वस्तु के स्वरूप को प्रकाश करने का नाम स्तुति नहीं। जैसाकि "देवदत्तश्चतुर्वेदाभिज्ञः = चारों वेद के जानने वाला देवदत्त है, इस वाक्य से स्तोतव्य देवदत्त में चतुर्वेद वेत्तृत्वरूप गुण का सम्बन्ध कथन करने से स्तुति तथा प्रशंसा पाई जाती है, यदि इसी वाक्य को "जो चतुर्वेदी है उसको लाओ" इस प्रकार गुण कथन द्वारा देवदत्त के स्वरूप प्रकाशन पर लगाया जाय तो कोई स्तुति तथा प्रशंसा नहीं पाई जाती, इसी प्रकार स्तोत्र तथा शस्त्र को भी गुणकथन द्वारा देवता के स्वरूप का प्रकाशक मानना ठीक नहीं, किन्तु स्तोतव्य देवता में स्तावक गुणों के सम्बन्ध का अभिधायक मानना ठीक है क्योंकि ऐसा मानने से एकतो स्तुति तथा प्रशंसा का भान होता है और दूसरे "आज्यैःस्तवते" इत्यादि वाक्य भी मुख्यार्थ का लाभ करने से चरितार्थ होजाते हैं, यदि "आज्यैर्देवं प्रकाशयेत् = आज्य नामक स्तोत्र से देवता के स्वरूप का प्रकाश करें, इस प्रकार स्वरूप प्रकाश करने में उक्त वाक्य का लापन कियाजाय तो वह गौणार्थ होजाते हैं, क्योंकि उनका मुख्यार्थ स्तुति तथा प्रशंसा है स्वरूप का प्रकाश नहीं। इसलिये देवतारूप द्रव्य का संस्कारकर्म स्तोत्र शस्त्र नहीं किन्तु प्रधान कर्म है और स्तोत्र शस्त्र से परमात्मा की प्रसन्नता और प्रसन्नता से इसलोक परलोक की उन्नति इस प्रकार इसका अदृष्ट फल है और यदि देवताऽनुस्मरणरूप दृष्ट फल के अनुसार स्तोत्र शस्त्र को प्रधानकर्म न मानकर गौणकर्म मानाजाय तो "प्रधानानुसारी

गौण होता है” इस नियमानुसार जहां प्रधान देवता होगा वहां गुणभूत मन्त्रों का भी अपकर्ष होना चाहिये, जैसाकि स्वामी के अनुसार भृत्य का अपकर्ष देखाजाता है, जिस प्रकरण में मन्त्रों का पाठ है वहां से उठाकर जहां देवता है वहां उनके लेजाने को **“अपकर्ष”** कहते हैं, इन्द्र देवता का स्तावक **“अभित्वा शूर-नोनुम”** इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ संज्ञक मंत्र महेन्द्र देवता के ग्रहयाग की सन्निधि में पढ़े हैं और उस याग में इन्द्र देवता नहीं है और आपके पूर्वपक्षानुसार इन्द्र देवता का प्रकाशक होने से मन्त्र गुणभूत हैं इसलिये जिस याग में इन्द्र देवता है वहां ही इन मन्त्रों को लेजाना होगा अन्यथा स्तोतृस्तोतव्यभाव नहीं होसक्ता और अपकर्ष मानने में स्थान तथा सन्निधि का बाध होजाता है अर्थात् जिस स्थान में तथा जिसकी सन्निधि में मन्त्र पढ़े हैं उन दोनों का परित्याग होजाता है, और श्रुतस्थान तथा श्रुतसन्निधि का परित्याग करके काल्पनिक स्थान तथा सन्निधि का उपादान करना जघन्य है क्योंकि कल्पित की अपेक्षा श्रुत बली होता है, इसलिये स्तोत्र शस्त्र को गौणकर्म मानकर श्रुत स्थान तथा श्रुत सन्निधि का बाध करके ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों का अपकर्ष मानना उचित नहीं, किन्तु अदृष्ट फल मानकर प्रधान कर्म मानना ही ठीक है। सार यह है कि यदि स्तोत्र शस्त्र को देवतानुस्मरणलक्षण दृष्टफल मानाजाय तो वह स्तोतव्य देवता के प्रति गुणभूत होजायेंगे और गुणभूत होने से जिस याग में देवता होगा वहां उनका अपकर्ष होगा इसमें श्रुत स्थान तथा श्रुति सन्निधि का बाध तथा लक्षणारूप दोष है, और प्रधान कर्म मानने में कोई दोष नहीं आता क्योंकि गुण के अनुसार प्रधान का अपकर्ष नहीं होता यह नियम है, देवता गुणभूत और मन्त्र प्रधान है,

वह जिस स्थान तथा जिसकी सन्निधि में पढ़ा है उसी स्थान तथा उसीकी सन्निधि में रह कर स्तावक होसक्ता है, और दूसरे स्तुतिरूप मुख्यार्थ का लाभ होजाने से स्तौति तथा शंसति धातु की स्वरूपानुस्मरण अर्थ में लक्षणा भी नहीं करनी पड़ती, इसलिये यही मानना उचित है कि स्तोत्र शस्त्र प्रधान कर्म हैं, गौणकर्म नहीं।

सं०-अब उक्तार्थ में आशङ्का करते हैं :-

वशावद्वा गुणार्थं स्यात्।१५।

पद०-वशावत्। वा। गुणार्थं। स्यात्।

पदा०-'वा' शब्द आशङ्का के लिये आया है (वशावत्) जैसे वशात्व गुणविशिष्ट अजा के स्मरणार्थ केवल विशेष्यवाची छाग पद घटित "एष छागः" यह मन्त्र पढ़ा गया है, वैसे ही (गुणार्थं) महत्वगुणविशिष्ट इन्द्र के स्मरणार्थ "अभित्वाशूर नोनुमः" यह मन्त्र (स्यात) माहेन्द्रग्रह याग की सन्निधि में पढ़ा गया है।

भाष्य-स्तोत्र शस्त्र को गुणकर्म मानने में जो "अभित्वा शूर नोनुमः" इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों का अपकर्षरूप दोष कथन किया है, सो ठीक नहीं, क्योंकि वह मन्त्र महत्वगुण विशिष्ट इन्द्र के स्मरणार्थ ही माहेन्द्रग्रह याग की सन्निधि में पढ़े गये हैं, और राजा, महाराजा, ब्राह्मण, महाब्राह्मण की भांति इन्द्र को महेन्द्र और महेन्द्र को इन्द्र भी कह सक्ते हैं और यह अन्यत्र भी देखा जाता है कि सगुण का अभिधान निर्गुण शब्द से होता है जैसाकि "सावा एषा सर्वदेवत्या यदजा वशा, वायव्यामालभेत"= वशा = दुग्ध तथा लोमादि से सब को वश करने वाली अथवा

अपने सौम्य स्वभाव से सब के वश में रहने वाली जो यह अजा है वह सर्वगुण विशिष्ट परमात्मा के उद्देश से दीहुई महान् पुण्य का जनक होती है, इसलिये प्रजारक्षक सर्वपालक वायुः=परमात्मा के उद्देश से इसका परित्याग करे, इस प्रकार वशात्वगुणविशिष्ट अजा याग का विधान करके उसकी सन्निधि में उक्त अजा का स्मारक केवल अजा वाची छाग पदघटित "एष छागः" यजु० २५।२६ यह मन्त्र पढ़ा है, इस मन्त्र में जो छाग शब्द आया है वह केवल अजा का वाचक है, वशात्वगुणविशिष्ट अजा का वाचक नहीं परन्तु इससे उक्त गुण विशिष्ट अजा का स्मरण होता है, इसी प्रकार "अभित्वा शूर नोनुमः" इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों में जो इन्द्र पद है, वह भी महत्त्व विशिष्ट इन्द्र का स्मारक है केवल इन्द्र का नहीं। इसलिये स्तोत्र शस्त्र को गुण कर्म मानने पर भी उक्त मन्त्रों का अपकर्षरूप दोष नहीं आता क्योंकि अभिधेय महेन्द्र और उसके अभिधायक मन्त्रों का एक ही स्थान है।

सं०-अब उक्त शङ्का का निराकरण करते हैं:-

न श्रुतिसमवायित्वात्।१६।

पद०-न। श्रुतिसमवायित्वात्।

पदा०-(न) उक्त मन्त्र महेन्द्र के अभिधायक नहीं होसक्ते, क्योंकि उनमें (श्रुतिसमवायित्वात्) इन्द्र पद का सम्बन्ध है।

भाष्य-जिस माहेन्द्रग्रह याग की सन्निधि में उक्त मन्त्र पढ़े हैं वह माहेन्द्र शब्द **महेन्द्रो देवता अस्य ग्रहस्य**=महेन्द्र है देवता जिस ग्रह=पात्र का उसको माहेन्द्र कहते हैं, इसप्रकार देवतार्थ में तद्धित प्रत्यय करने से बना है, और प्रत्यय का यह स्वभाव है कि जिस प्रकृति के आगे वह होता है उस प्रकृति के साथ मिलकर ही अपने

अर्थ का बोधन करता है, प्रकृति के एक देश का नहीं, माहेन्द्र शब्द से जो अण् प्रत्यय हुआ है उसकी प्रकृति महेन्द्र और प्रकृत्येक देश इन्द्र है, और उक्त मन्त्रों में भी इन्द्र पद का सम्बन्ध पाया जाता है महेन्द्र का नहीं, अतएव वह प्रकृत्येक देश इन्द्र के अभिधायक होने पर भी महेन्द्र के अभिधायक नहीं होसक्ते क्योंकि प्रकृत्येक देश होने के कारण महेन्द्र से इन्द्र भिन्न है, जब महेन्द्र से इन्द्र भिन्न है तो जिस याग में इन्द्र देवता है वहां ऐन्द्रप्रगाथ का अपकर्ष अवश्य होगा और इसमें स्थान तथा सन्निधि का बाध रूप दोष कथन कर चुके हैं इसलिये स्तोत्र शस्त्र को गुणकर्म मानना ठीक नहीं किन्तु प्रधान कर्म मानना ठीक है ।

सं०—अब इन्द्र तथा महेन्द्र के भिन्न होने में और हेतु कहते हैं :—

व्यपदेशभेदाच्च । १७ ।

पद०—व्यपदेशभेदात् । च ।

पदा०—(च) और (व्यपदेशभेदात्) नाम का भेद होने से इन्द्र तथा महेन्द्र परस्पर भिन्न हैं ।

भाष्य—इन्द्र शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त ऐश्वर्य्य और महेन्द्र शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त महान् ऐश्वर्य्य है, निमित्त के भेद होने से नैमित्तिक का भेद होना संभव है, जैसाकि घट मठ के भेद से अकाश का भेद सर्वानुभव सिद्ध है, इसी प्रकार परमात्मा के एक होने पर भी ऐश्वर्य्य तथा महान् ऐश्वर्य्य रूप निमित्त के भेद से उसका इन्द्र तथा महेन्द्र रूप से भेद मानना उचित है, अतएव दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "**बहुदुग्धीन्द्राय" बहुदुग्धि महेन्द्राय हविः**" इसप्रकार इन्द्र तथा महेन्द्रका भेद पूर्वक व्यपदेश किया गया है, यदि दोनोंका भेद न होता तो इन्द्र तथा महेन्द्र नाम से

भिन्न २ व्यपदेश न किया जाता, परन्तु व्यपदेश करने से प्रतीत होता है कि इन्द्र तथा महेन्द्र का भेद है ।

सं०-अब दोनों की भिन्नता में और युक्ति कहते हैं :-

गुणश्चानर्थकःस्यात् । १८ ।

पद०-गुणः । च । अनर्थकः । स्यात् ।

पदा०-(च) और इन्द्र महेन्द्र को एक मानने से (गुणः) 'महान्' विशेषण (अनर्थकः) व्यर्थ (स्यात्) होजाता है ।

भाष्य-विशेषण का फल विशेष्य को अन्य से व्यावृत्त करना है, जो विशेषण अपने विशेष्य को अन्य से व्यावृत्त नहीं करता वह विशेपण व्यर्थ कहाजाता है क्योंकि उसने अपना कार्य्य नहीं किया, प्रकृत में "महान्" विशेपण और "इन्द्र" विशेष्य है, यदि वह अपने विशेष्य को अन्य से व्यावृत्त न करे तो व्यर्थ होजाता है, इसलिये इन्द्र तथा महेन्द्र का एक मानना ठीक नहीं ।

सं०-दोनों के भिन्न होने में और युक्ति कहते हैं :-

तथा याज्यापुरोरुचोः । १९ ।

पद०-तथा । याज्यापुरोरुचोः ।

पदा०-(याज्यापुरोरुचोः) यदि दोनों को एक मानाजाय तो याज्या तथा पुरोऽनुवाक्या ऋचाओं में दोनों का भेदपूर्वक कथन (तथा) अनर्थक होजाता है ।

भाष्य-"इन्द्रस्य नु वीर्य्याणि प्रवोचं यानि" ऋ० १।२। ३६।१, इत्यादि दो मन्त्रों का नाम ऐन्द्रयाज्या, तथा पुरोऽनुवाक्या है क्योंकि याग के आरंभ में अध्वर्यु खड़ा होकर इन मन्त्रों को पढ़ता है इसलिये इनका नाम याज्या तथा पुरोऽनुवाक्या है, और इनमें इन्द्र

नाम से परमात्मा की स्तुति की गई है, अतएव इनको ऐन्द्रयाज्या. पुरोऽनुवाक्या कहते हैं । **"महा इन्द्रो य ओजसा"** ऋ० ५। ८।९। १, इत्यादि दो मन्त्रों का नाम माहेन्द्रयाज्या, पुरोऽनुवाक्या है, क्योंकि इनमें महेन्द्र नाम से परमात्मा की स्तुति की गई है, इन्द्र देवताक याग में प्रथमोक्त दोनों मन्त्रों का और महेन्द्र देवताक याग में उक्त मन्त्रों का पाठ किया जाता है, यदि इन्द्र तथा महेन्द्र को एकही माना जाय तो दोनों याज्यापुरोऽनुवाक्या का विकल्प मानना पड़ेगा अर्थात् देवता के एक होने से दोनों यागों में दोनों याज्यापुरोऽनुवाक्या का पाठ होसक्ता है, परन्तु दोनों का पाठ व्यर्थ है, इसलिये एक का बाध करके अन्य का पाठ करना होगा, इसी को विकल्प कहते हैं, यह अभेद मानने में दोष है। और जब देवता का अभेद है तो एक प्रकार की याज्यापुरोऽनुवाक्या से ही निर्वाह होसक्ता है पुनः दो प्रकार की याज्यापुरोऽनुवाक्या का पाठ भी निरर्थक है यह दूसरा दोष है, इसलिये अभेद मानना ठीक नहीं ।

सं०-अब "वशावत्" इस पूर्वोक्त दृष्टान्त का समाधान करते हैं :-

वशायामर्थसमवायात् । २० ।

पद०-वशायाम् । अर्थसमवायात् ।

पदा०-(वशायां) वशा अजा में (अर्थसमवायात्) छागरूप अर्थ का सम्बन्ध पाएजाने से उक्त दृष्टान्त ठीक नहीं ।

भाष्य-जैसे वशात्वविशिष्ट अजा का विधान करके **"एषछागः"** इस मन्त्र में केवल अजावाची **'छाग'** शब्द से अभिधान किया है वैसेही महत्व विशिष्ट इन्द्र का विधान करके **"अभित्वा**

शूरनोनुमः" इस मन्त्र में केवल इन्द्र शब्द से अभिधान किया है, यह पूर्वोक्त दृष्टान्त समीचीन नहीं, क्योंकि छाग शब्द वशात्व-विशिष्ट अजा ही का अभिधायक है अजामात्र का नहीं और इन्द्र शब्द महत्वविशिष्ट इन्द्र का अभिधायक नहीं किन्तु इन्द्र मात्र काहै, इसलिये वशात्वविशिष्ट अजा का विधान करके छाग शब्द से अभि-धान होसक्ता है परन्तु महत्वविशिष्ट इन्द्र का विधान करके इन्द्र शब्द मे अभिधान नहीं होसक्ता अर्थात् वशात्व एक ऐसा धर्म है जो अजा व्यक्ति का कदापि परित्याग नहीं करता और महत्व उससे विपरीत है, इसलिये छाग शब्द वशात्वविशिष्ट अजा का अभिधायक होसक्ता है इन्द्र शब्द महत्वविशिष्ट इन्द्र का नहीं, इस प्रकार दृष्टान्त दार्ष्टान्तिक का वैषम्य होने से इन्द्र शब्द महेन्द्र का अभिधायक नहीं होसक्ता और अभिधायक न होने से मन्त्रों का अपकर्ष अवश्य होगा, यह स्तोत्र शस्त्र के गुणकर्म मानने में दोष है अतएव वह प्रधान कर्म हैं।

सं०—अब अपकर्ष में इष्टापत्ति की आशङ्का करते हैं:—

यत्रेतिवाऽर्थवत्त्वात्स्यात् ।२१।

पद०—यत्र । इति । वा । अर्थवत्त्वात् । स्यात् ।

पदा०—'वा' शब्द आशङ्कान्तर की सूचना के लिये आया है (यत्र) जिस याग में इन्द्र देवता है उस याग में (इति) पूर्वोक्त "अभित्वा शूर नोनुमः" इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ मंत्रों का अपकर्ष (स्यात्) हो, क्योंकि (अर्थवत्त्वात्) अपकर्ष होने से वह अर्थवान् होजाते हैं।

भाष्य—यदि महेन्द्रग्रह याग की सन्निधि में पठित "अभित्वा शूरनोनुमः" इत्यादि मन्त्र महेन्द्र का "अभिधान" नहीं कर

सक्ते और इन्द्र का अभिधान करने से सार्थक होजाते हैं तो जिस याग में इन्द्र देवता है, वहां उनका अपकर्ष होने में क्या हानिः ?

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

नत्वाम्नातेषु। २२।

पद०-नतु। आम्नातेषु।

पदा०-(आम्नातेषु) ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों के अतिरिक्त याम्यादि मन्त्रों में (नतु) अर्थवत्ता नहीं होसक्ती।

भाष्य-यदि स्तोत्र शस्त्र को गुणकर्म मानें तो "**अभि त्वा शूर नोनुमः**" इत्यादि ऐन्द्रप्रगाथ मन्त्रों को अपकर्ष होने पर अर्थवत्ता होसकती है परन्तु "**याम्याःशंसति**"=यम नाम से परमात्मा के स्तावक मंत्रों से स्तुति करे, **शिपिविष्टवतीः शंसति**= शिपिविष्ट शब्द वाली ऋचाओं से परमात्मा की स्तुति करे, **आग्निमारुते शंसति**=प्रकाश तथा प्रजा पालन गुण विशिष्ट परमात्मा की अग्नि मारुत युक्त मन्त्रों से स्तुति करे, इत्यादि मंत्रों को अपकर्ष होने से अर्थवत्ता नहीं होसक्ती, और अपकर्ष अवश्य करना होगा, क्योंकि जिस स्थान में तथा जिसकी सन्निधि में उनका पाठ है, वहां रहकर वह अन्य के अभिधायक नहीं होसक्ते, इसलिये अपकर्ष मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्तार्थ में पुनः शङ्का करते हैं :-

दृश्यते। २३।

पद०-एकपद।

पदा०-(दृश्यते) याम्यादि मंत्रों को भी अन्यत्र अर्थवत्ता देखी जाती है।

भाष्य-जिस प्रकार इन्द्रदेवता के याग में ऐन्द्रप्रगाथ मंत्रों का अपकर्ष सार्थक है इसी प्रकार तत्तद्देवता के यागों में याम्यादि मंत्रों का अपकर्ष भी सार्थक है निरर्थक नहीं, इसलिये स्तोत्र शस्त्र को गुणकर्म मानना ही ठीक है।

सं०-अब उक्त आशङ्का का निराकरण करते हैं:-

अपि वा श्रुतिसंयोगात्प्रकरणे स्तौतिशंसती क्रियोत्पत्तिं विदध्याताम्। २४।

पद०-अपि। वा। श्रुतिसंयोगात्। प्रकरणे। स्तौतिशंसती। क्रियोत्पत्तिं। विदध्याताम्।

पदा०-"अपि,वा" शब्द आशङ्का के निराकरणार्थ आया है (स्तौतिशंसती) स्तोत्र और शस्त्र (प्रकरणे) प्रकरण में ही (क्रियोत्पत्तिं) स्तुतिरूप क्रिया का (विदध्याताम्) विधान करते हैं, क्योंकि ऐसा करने से उनको (श्रुतिसंयोगात्) मुख्यार्थ का सम्बन्ध होता है।

भाष्य-स्तोत्र शस्त्र का मुख्यार्थ "स्तुति" और देवता के स्वरूप का अभिधान गौणार्थ है, गौणार्थ की अपेक्षा मुख्यार्थ श्रेष्ठ होता है, यदि मुख्यार्थ का लाभ होसके तो गौणार्थ का ग्रहण करना समीचीन नहीं, क्योंकि गौणार्थ के स्वीकार करने में एकतो प्रकरण का विच्छेद होता है और दूसरे मंत्रों का अपकर्ष मानना पड़ता है, इस कारण इसमें गौरव दोष है और स्तुतिरूप मुख्यार्थ के मानने में उक्त दोनों दोष नहीं आते, इसलिये स्तोत्र शस्त्र को स्तावक मानकर प्रधानकर्म मानना ही ठीक है अभिधायक मानकर गौणकर्म मानना ठीक नहीं।

सं०—अब स्तोत्र, शस्त्र के प्रधानकर्म होने में और हेतु कहते हैं :-

शब्दपृथक्त्वाच्च । २५ ।

पद०—शब्दपृथक्त्वात् । च ।

पदा०—(च) और (शब्दपृथक्त्वात) स्तोत्र तथा शस्त्र शब्द का भेद पाए जाने से भी वह प्रधानकर्म है ।

भाष्य—स्तोत्र तथा शस्त्र को प्रधान कर्म माना जाय तो उनका भेद पूर्वक विधान सफल होसक्ता है गुण कर्म मानने से नहीं अर्थात् स्तोत्र शस्त्र को प्रधान कर्म मानने से स्तोत्र जन्य तथा शस्त्रजन्य दो फल की प्राप्ति होती है और उससे उनका भेदपूर्वक विधान सफल होजाता है और यदि गुणकर्म मानें तो देवतास्वरूप का अनुस्मरण रूप एकही दृष्टफल होता है इससे दोनों का भेदपूर्वक विधान उत्पन्न नहीं होता क्योंकि देवतानुस्मरण लक्षणफल एक से भी होसक्ता है, दोनों के विधान की आवश्यकता नहीं, परन्तु दोनों का भेदपूर्वक विधान किया है इस से अनुमान होता है कि यह किसी विजातीय फल के लिये है केवल देवता अनुस्मरण लक्षण दृष्ट फल के लिये नहीं, इसलिये स्तोत्र शस्त्र प्रधानकर्म हैं गौण कर्म नहीं।

सं०—ननु, स्तोत्र शस्त्र का देवता अनुस्मरण लक्षण एक ही दृष्ट फल हो तो क्या हानि ? उत्तर :-

अनर्थकं च तद्वचनम् । २६ ।

पद०—अनर्थकं । च । तद्वचनम् ।

पदा०—(च) और स्तोत्र शस्त्र दोनों का एक फल मानने से (तद्वचनं) दोनों का विधान (अनर्थकं) व्यर्थ होजाता है ।

भाष्य—यदि एकही के विधान से दोनों के फल की प्राप्ति हो-

जाय तो फिर दोनों का विधान व्यर्थ है।

सं०—ननु, क्या प्रधानकर्म मानने में उक्त दोष नहीं ? उत्तर :-

अन्यश्चार्थः प्रतीयते। २७।

पद०—अन्यः। च। अर्थः। प्रतीयते।

पदा०—(च) और प्रधान कर्म मानने से (अन्यः) स्तोत्र जन्य फल से भिन्न (अर्थः) शस्त्र जन्य फल (प्रतीयते) प्राप्त होता है।

भाष्य—प्रधान कर्म मानने से स्तोत्रजन्य तथा शस्त्रजन्य भिन्न२ अदृष्ट फलों की प्राप्ति होती है जिससे दोनों का विधान सफल हो-जाता है और गुण कर्म मानने में इससे विपरीत होता है, इसलिये गुण कर्म की भांति प्रधानकर्म मानने में उक्त दोष नहीं।

सं०—स्तोत्र तथा शस्त्र के प्रधानकर्म होने में और युक्ति कथन करते हैं :-

अभिधानं च कर्मवत्। २८।

पद०—अभिधानं। च। कर्मवत्।

पदा०—(च) और (कर्मवत्) प्रधानकर्म की भांति (अभिधानं) स्तोत्र शस्त्र का विधान है।

भाष्य—जैसे "दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्यों से दर्शपूर्णमास, अग्निहोत्रादि प्रधान-कर्मों का विधान पाया जाता है वैसे ही "आज्यैः स्तुवते" "पृष्ठैः स्तुवते" "प्रउगं शंसति" "निष्केवल्यं शंसति" इत्यादि विधि वाक्यों से स्तोत्र शस्त्र कर्म काभी विधान पाया जाता है, इससे अनुमान होता है कि दर्शपूर्णमास भी अग्निहोत्रादि कर्म की भांति प्रधान कर्म है।

सं०-स्तोत्र शस्त्र के प्रधान कर्म होने में और हेतु कहते हैं :-

फलनिर्वृत्तिश्च । २९ ।

पद०-फलनिर्वृत्तिः । च ।

पदा०-(च) और स्तोत्र शस्त्र दोनों के (फलनिर्वृत्तिः) फल की सिद्धि सुनी जाती है ।

भाष्य-"एष वै स्तोत्रशस्त्रयोर्दोहः" = यह स्तोत्र शस्त्र कर्म का दोहः = फल है । इस प्रकार स्तोत्र तथा शस्त्र का भिन्न २ फल सुने जाने से अनुमान होता है कि वह दोनों प्रधान कर्म हैं, यदि गौण होते तो उनका फल न सुना जाता, क्योंकि "प्रधान फले नैवाङ्गानां फलवत्त्वं न तु स्वातन्त्र्येण = प्रधानकर्म के फल से ही गौणकर्म फलवाले होते हैं उनका स्वतन्त्र फल नहीं होता, इस न्याय से प्रधान कर्म का ही फल होसक्ता है गौणकर्म का नहीं, यदि स्तोत्र शस्त्र गुण कर्म होते तो जिस देवता के प्रति वह गुणभूत हैं उसका फल सुना जाना चाहिये था कि स्तुत्य तथा शंसित देवता का यह फल है परन्तु स्तोत्र शस्त्र का फल सुना जाता है इसलिये वह प्रधान कर्म है गौण कर्म नहीं ।

सं०-अब विधायक तथा अभिधायक भेद से वेद दो प्रकार का कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

विधिमन्त्रयोरैकार्थ्यमैकशब्द्यात् । ३० ।

पद०-विधिमन्त्रयोः । ऐकार्थ्यम् । ऐकशब्द्यात् ।

पदा०-(विधिमन्त्रयोः) विधायक तथा अभिधायक वेद मन्त्रों का (ऐकार्थ्यम्) विधिरूप एकही अर्थ है, क्योंकि (ऐकशब्द्यात्)

वह दोनों एकही वेद शब्द का वाच्य हैं।

भाष्य–ब्राह्मणपरिब्राजक न्याय से वेद दो प्रकार का है, एक का नाम "विधि" और दूसरे का नाम "मन्त्र" है। जो वेद-वाक्य कर्मविशेष के विधायक अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान करते हैं उनको विधि पद घटित होने से "विधि" और जो किसी कर्मविशेष के विधायक नहीं किन्तु ईश्वरादि पदार्थों के गुण, कर्म, स्वभाव तथा अभ्युदय, निःश्रेयस के साधन ईश्वर स्तुति, प्रार्थना ज्ञान, सृष्टि आदि अनेक पदार्थों के अभिधायक अर्थात् सिद्ध पदार्थों का अभिधान करते हैं उनको "मन्त्र" कहते हैं। यही मन्त्र इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त मंत्र विधि के समान विधायक हैं किंवा अभिधायक हैं? इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी का और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि सम्पूर्ण वेदों का मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ सृष्टि की आदि में प्रकाश हुआ है और वह कल्याण कर्तव्य कर्मों के अनुष्ठान से मनुष्यमात्र को प्राप्त होसक्ता है सिद्ध पदार्थों के ज्ञान से नहीं और मनुष्यमात्र को कल्याण की प्राप्ति ही सम्पूर्ण वेद का मुख्य प्रयोजन है, इसलिये सम्पूर्ण वेदों को कर्तव्यकर्मों का बोधक होने से विधिवाक्यों की भांति मन्त्रवाक्य भी विधायक हैं।

यहां इतना स्मरण रहे कि प्रथमाध्याय के द्वितीयपाद में सिद्धार्थ बोधक वेदवाक्यों के अप्रामाण्य की आशङ्का करके प्रामाण्य सिद्ध किया गया है और यहां वेदविभागार्थ पुनः पूर्वपक्ष का उत्थान हुआ है, इसलिये पुनरुक्त दोष नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

अपि वा प्रयोगसामर्थ्यान्मन्त्रोऽभिधानवाची स्यात् । ३१ ।

पद०—अपि । वा । प्रयोगसामर्थ्यात् । मन्त्रः । अभिधानवाची । स्यात् ।

पदा०—(अपि, वा) शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (मन्त्रः) मंत्र (अभिधानवाची) अभिधायक (स्यात्) हैं, क्योंकि (प्रयोगसामर्थ्यात्) शब्द शक्ति द्वारा उनसे उक्त अर्थ का लाभ होता है ।

भाष्य—यद्यपि विधि और मंत्र एकही वेद शब्द के वाच्य हैं तथापि दोनों का एक अर्थ नहीं होसक्ता, क्योंकि शब्दसामर्थ्य से विधि का अर्थ "विधान" और मंत्र का अर्थ "अभिधान" पाया जाता है और जो अर्थ शब्दसामर्थ्य से पायाजाता है उसके विपरीत कल्पना करना उचित नहीं और दूसरे यह कि मनुष्य को अपने अभ्युदय के लिये ईश्वर से लेकर भूत भौतिक स्थूल पदार्थ पर्य्यन्त प्रत्येक पदार्थ के गुण, कर्म, स्वभाव तथा निःश्रेयस के लिये ईश्वर स्तुति, प्रार्थना, ज्ञान, जगत्रचना, प्रकृति आदि अनेक पदार्थों का ज्ञान अपेक्षित है, क्योंकि उनके यथावत् ज्ञान होजाने से ही वह अपनी ऐहिक तथा पारलौकिक उन्नति के उपाय सम्पादन कर सक्ता है । यदि वेद उन सब का अभिधान न करे तो वह मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ नहीं होसक्ता परन्तु वेदों का प्रकाश मनुष्यमात्र के कल्याणार्थ हुआ है इसलिये यह मानना उचित है कि जिसप्रकार वेदवाक्य कर्मों का विधान करते हैं इसी प्रकार सिद्ध पदार्थों के गुणकर्म स्वभावादि का भी अभिधान करते हैं । जो विधान करते हैं उनको "विधि" और जो अभिधान करते हैं उनको "मन्त्र"

कहते हैं, इस प्रकार अर्थ भेद होने के कारण विधि, मंत्र इस भेद से वेद दो प्रकार का है।

सं०-विधि तथा मंत्र भेद से वेद दो प्रकार का कथन करके अब विधि शब्द से मंत्रातिरिक्त किसी अन्य ब्राह्मण वाक्य का ग्रहण न हो, इसलिये उक्त विधि वाक्यों को भी मंत्रत्व कथन करते हैं :-

तच्चोदकेषु मंत्राख्या । २३ ।

पद०-तच्चोदकेषु । मंत्राख्या ।

पदा०-(तच्चोदकेषु) अग्निहोत्रादि कर्म के विधायक तथा सिद्धार्थ के अभिधायक वेद वाक्यों की (मंत्राख्या) मंत्रसंज्ञा जाननी चाहिये ।

भाष्य-जो वेदवाक्य कर्मों का विधान तथा सिद्धार्थ का अभिधान करते हैं उन दोनों का नाम "मंत्र" है अर्थात् पूर्व सूत्रों में ब्राह्मणपरिव्राजक न्याय से विधि और मंत्र यह दोनों मंत्र के ही प्रकार कथन किये गए हैं, मंत्र से अतिरिक्त किसी अन्य विधायक वाक्य का नाम विधि कथन नहीं किया ।

और जो आधुनिक टीकाकारों ने पूर्वपक्ष सूत्र का "विधिशब्द से ब्राह्मण और मंत्र शब्द से संहिता का ग्रहण है और यह दोनों समानभाव से कर्म के विधायक हैं क्योंकि दोनों की संज्ञा वेद है" यह अर्थ करके सिद्धान्त सूत्र का यह अर्थ किया है कि मंत्र केवल अभिधायक हैं विधायक नहीं । सो ठीक नहीं, क्योंकि यह अर्थ सूत्रकार के आशय से सर्वथा विपरीत प्रतीत होता है, यदि सूत्रकार को उक्त अर्थ अभीष्ट होता तो "तच्चोदकेषु मंत्राख्या" इस प्रकार कर्म के चोदक = विधायक वाक्यों की मंत्र संज्ञा का निरू-

पण न करते प्रत्युत "तदभिधायकेषु मंत्राख्या" इस प्रकार सिद्धार्थ के अभिधायक वाक्यों की मंत्र संज्ञा का कथन करते, परन्तु सूत्रकार ने "तदभिधायकेषु" के स्थान में "तच्चोदकेषु" कहा है, इससे स्पष्ट है कि सूत्रकार को उक्त पूर्वपक्ष सूत्र में विधि-शब्द से ब्राह्मण का ग्रहण अभीष्ट नहीं किन्तु ब्राह्मणपरिव्राजक न्याय से संहिता के विधि तथा मंत्र यह दो भेद विवक्षित होनेसे संहिता काही ग्रहण अभीष्ट है अतएव उन्होंने "तच्चोदकेषु मंत्राख्या" इस सूत्र में कर्म के चोदक = विधायक वाक्यों की मंत्र संज्ञा निरूपण की है।

और जो आधुनिक टीकाकार अपने पक्ष की पुष्टि के लिये "तच्चोदकेषु" पदका विवरण "तदभिधायकेषु" करके "सिद्धार्थ के अभिधायक वाक्यों की मंत्र संज्ञा है" इस प्रकार उक्त सूत्र का अर्थ वर्णन करते हैं, यह उनकी अत्यन्त भूल है क्योंकि शब्द शक्ति से उक्त अर्थ का लाभ नहीं होता और मुख्यार्थ का सम्भव होनेपर लक्षणावृत्ति से गौणार्थ का आश्रयण युक्त नहीं, और दूसरे जब सहस्रों वाक्य कर्म के विधायक संहिता में उपलब्ध होते हैं तो फिर विधि शब्द से संहिता का ग्रहण न करके ब्राह्मण का और "तच्चोदकेषु" पद का मुख्यार्थ छोड़कर लाक्षणिकार्थ का ग्रहण क्यों कियाजाय ! परन्तु ब्राह्मणों को वेद बनाने के लिये आधुनिक टीकाकारों ने यह चेष्टा की है सो यह सर्वथा अयुक्त होने से त्याज्य है।

सं०—अग्निहोत्रादि कर्मों के विधायक तथा सिद्धार्थ के अभिधायक वेदवाक्यों की मंत्रसंज्ञा कथन करके अब उनके व्याख्यान-

भूत ऐतरेयादि ग्रन्थों की ब्राह्मणसंज्ञा कथन करते हैं :-

शेषे ब्राह्मणशब्दः । ३३ ।

पद०-शेषे । ब्राह्मणशब्दः ।

पदा०-(शेषे) उक्त मंत्रों के व्याख्यानभूत ऐतरेयादि ग्रन्थों की (ब्राह्मणशब्दः) ब्राह्मणसंज्ञा है ।

भाष्य-परार्थ का नाम "शेष" है अर्थात् जो दूसरे के उपकारार्थ होता है जैसाकि स्वामी के लिये भृत्य, तात्पर्य्य यह है कि उपकारक का नाम "शेष" और उपकार्य्य का नाम "शेषी" है, शेष, अङ्ग, गौण यह तीनों और शेषी, अङ्गी तथा प्रधान यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, व्याख्यान भी व्याख्येय का शेष होता है क्योंकि अर्थों के विशद करने से वह उसका उपकारक है, अतएव ऐतरेयादि व्याख्यान होने से वेदों का शेष है, इसलिये सूत्रार्थ यह हुआ कि जो मंत्रों का शेष ऐतरेयादि ग्रन्थ हैं उनकी "ब्राह्मण" संज्ञा है ।

और जो आधुनिक टीकाकारों ने "शेष" पद का अर्थ "अवशेष" करके ब्राह्मण ग्रन्थों को वेद सिद्ध करने की चेष्टा की है वह मनोरथमात्र है क्योंकि व्याख्यान भी व्याख्येय का अवशिष्ट अंश ही होता है, इसलिये ऐतरेयादि ब्राह्मणों को वेद कथन करना ठीक नहीं और दूसरे नाना अर्थों की सन्निधि होनेपर उपयुक्त अर्थ का ग्रहण प्रकरण के अनुरोध से हुआ करता है जैसाकि भोजन के प्रकरण में सैंधव पद से लवण का और वहिर्गमन प्रकरण में अश्व का ग्रहण होता है वैसेहि अवशेष, परार्थ आदि अनेक अर्थों के सन्निधान होने परभी "अवशेष" अर्थ के ग्रहण करने में प्रकरण का अनुरोध प्रतीत

नहीं होता क्योंकि यहां वेद और उसके उपकारकों की संज्ञा कथन करने का प्रकरण है जिसमें सम्पूर्ण वेद की मंत्र संज्ञा कथन कर चुके हैं, अब केवल उसके उपकारकों की संज्ञा कथन करना है, यदि सूत्रस्थ शेष पद का अर्थ "अवशेष" कियाजाय तो प्रकरण सर्वथा असम्बद्ध होजाता है और "परार्थ" अर्थ करने में उक्त दोष नहीं आता, इसलिये यहां "शेष" पद का अर्थ परार्थ ही करना श्रेष्ठ है अवशेष नहीं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि ऋग्वेद का "ऐतरेय" सामवेद का "तांड्य" यजुर्वेद का "शतपथ" तथा अथर्ववेद का "गोपथ" ब्राह्मण है। या यों कहोकि "अथर्ववेद" का "यजुर्वेद" में अन्तर्भाव होने से "शतपथ" तथा "गोपथ" यह दोनों "यजुर्वेद" के ही ब्राह्मण हैं, "अथर्ववेद" का "यजुर्वेद" में अन्तर्भाव आचार्य्य आगे स्वयं कथन करेंगे, और जो "यजुर्वेद" का "तैत्तिरेय" नामक ब्राह्मण प्रसिद्ध किया जाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि वह वैदिक सम्प्रदाय से वहिष्कृत है, और इसमें महर्षिव्यास से लेकर सभी विद्वान् एकस्वर से सहमत हैं। जैसे उक्त ब्राह्मण वैदिक सम्प्रदाय से वहिष्कृत होने के कारण आदरणीय नहीं वैसेही "कृष्णयजुर्वेद" नामक पुस्तक भी आदरणीय नहीं है। यद्यपि ऐतरेय आदि ब्राह्मणों में भी कई अध्याय तथा वाक्य और पद स्वार्थ सिद्धि के लिये पीछे से मिलादिये गये हैं तथापि इनको छोड़कर शेष सब अध्याय प्राचीन और माननीय हैं।

सं०—वेदकी मंत्र संज्ञा तथा उसके व्याख्यान की ब्राह्मणसंज्ञा कथन करके अब ब्राह्मणों को पुनः अवेदत्व कथन करते हुए वेद के विभाग की प्रतिज्ञा करते हैं :—

अनाम्नातेष्वमंत्रत्वमाम्नातेषु हि विभागः । ३४ ।

पद०-अनाम्नातेषु । अमंत्रत्वम् । आम्नातेषु । हि । विभागः ।

पदा०-(अनाम्नातेषु) अनीश्वरोक्त ऐतरेयादि ब्राह्मणों को (अमंत्रत्वं) वेदत्वनहीं (हि) इसलिये उनको छोड़कर (आम्नातेषु) ईश्वरोक्त मंत्रों का (विभागः) विभाग कियाजाता है ।

भाष्य-ऐतरेयादि चारों ब्राह्मण ऋषिकृत हैं इसलिये वह वेद नहीं होसक्ते, इसका विशेषवर्णन "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका" तथा "आर्य्यमन्तव्यप्रकाशद्वितीयभाग" में भले प्रकार कियागया है विशेष जानने वाले वहां देखलें, अन्य सूत्रार्थ स्पष्ट है ।

भाष्यकार " शबरस्वामी " ने इस सूत्र को इस प्रकार लापन किया है कि (अनाम्नातेषु) ऊह, प्रवर तथा नामधेय यह तीनों (अमंत्रत्वं) मंत्र नहीं (हि) इसलिये उनको छोड़कर (आम्नातेषु) जो मंत्र हैं उनका (विभागः) विभाग किया जाता है ।

भाष्य-"आग्नेय" याग में अग्नि=परमात्मा के उद्देश से जो द्रव्य का त्याग किया जाता है उसका मंत्र "अग्नये जुष्टं निर्वपामि" है इसी मंत्र द्वारा जब सूर्य्य=परमात्मा के उद्देश से " सौर्य्य " याग में द्रव्य का त्याग किया जाता है तब "अग्नये" के स्थान में जो "सूर्य्याय" पद का प्रक्षेप किया जाता है उसका नाम "ऊहः" और सङ्कल्प मंत्र के साथ जो अपने गोत्र का तथा अपना नाम उच्चारण किया जाता है उसका नाम "प्रवर" तथा "नामधेय" है । उक्त तीनों मंत्र हैं किंवा अमंत्र हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और दूसरा सिद्धान्ती का है । पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त तीनों का मंत्र के साथ सम्बन्ध है इसलिये वह मंत्र

हैं सो ठीक नहीं,क्योंकि मंत्र के साथ सम्बन्ध होने पर भी ईश्वरोक्त न होने से उक्त तीनों मंत्र नहीं होसक्ते, इसलिये उनको छोड़कर ईश्वरोक्त मंत्रों का विभाग किया जाता है ।

सं०-अब विभाग कथन करते हैं :-

तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था । ३५ ।

पद०-तेषाम् । ऋग् । यत्र । अर्थवशेन । पादव्यवस्था ।

पदा०-(यत्र) जिनमंत्रों में (अर्थवशेन) छन्दःशास्त्र के अनुसार (पादव्यवस्था) पादों की व्यवस्था है (तेषां) उन मंत्रों की (ऋग्) ऋग्वेद संज्ञा है ।

भाष्य-पिङ्गलऋषिकृत सूत्रों का नाम "छन्दःशास्त्र" है, उसमें वैदिक तथा लौकिक भेद से दो प्रकार के छन्दों का निरूपण किया है, गायत्री आदि वैदिक और आर्य्या आदि लौकिक छन्द कहलाते हैं । एक २ छन्द तीन तथा चार पाद का होता है, जिन मंत्रों की पादव्यवस्था छन्दःशास्त्र के अनुसार है अर्थात् जो मंत्र छन्दोबद्ध हैं उनका नाम "ऋग्वेद" है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "छन्दःशास्त्र के अनुसार" इस कथन से यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि छन्दःशास्त्र के पश्चात् वेदों का निर्माण हुआ किन्तु वर्त्तमानकाल में मंत्रों के ऋग् आदि विभाग का उपाय छन्दःशास्त्र है, उसके अनुसार छन्दोबद्ध मंत्रों का नाम ऋग्वेद जानना चाहिये ।

गीतिषु समाख्या । ३६ ।

पद०-गीतिषु । समाख्या ।

पदा०-(गीतिषु) जो मंत्र गान किये जाते हैं उनका नाम (समाख्या) साम है ।

भाष्य-गीति, गान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, गीतिविशिष्ट मंत्रों को "साम" कहते हैं ।

शेषे यजुःशब्दः । ३७ ।

पद०-शेषे । यजुःशब्दः ।

पदा०-(शेषे) जो मन्त्र छन्दःशास्त्र के अनुसार पादबद्ध नहीं और न गान किये जाते हैं उन सब मंत्रों का नाम(यजुःशब्दः) यजुर्वेद है ।

भाष्य-पादबद्ध मंत्रों को "ऋग्" गीतियुक्त मन्त्रों को "साम" और जो इनसे अवशिष्ट मंत्र हैं उन सबको "यजुर्वेद" कहते हैं ।

यहां इतना स्मरण रहे कि "शेषे ब्राह्मण शब्दः" इस सूत्र की भांति यहां "शेष" पद का अर्थ "परार्थ" नहीं हो-सकता, क्योंकि मंत्रों के विभाग की प्रतिज्ञा करके छन्दोबद्ध तथा गीतियुक्त मंत्रों की ऋग्वेद तथा सामवेद संज्ञा विधान कर देने से अविशिष्ट मंत्रों की संज्ञा का विधान अर्थ प्राप्त है और उसका परि-त्याग करके अन्य अर्थ का उपादान उचित नहीं, इसलिये इस सूत्र में "शेष" पद का अर्थ "परार्थ" न करके "अवशिष्ट" किया गया है ।

मं०-अब चतुर्थ "अथर्ववेद" का यजुर्वेद में अन्तर्भाव कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

निगदो वा चतुर्थं स्याद्धर्मविशेषात् । ३८ ।

पद०-निगदः । वा । चतुर्थं । स्यात् । धर्मविशेषात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (निगदः) ननु, छन्दोबद्ध तथा गीतियुक्त मन्त्रों के अतिरिक्त जो मंत्र स्पष्ट अर्थवाले हैं उनकी यजुर्वेद संज्ञा नहीं किन्तु (चतुर्थ) अथर्ववेद संज्ञा (स्यात्) है, क्योंकि (धर्मविशेषात्) यजुः के धर्म से उनका धर्म भिन्न है ।

भाष्य-जिन मंत्रों का अर्थ स्पष्ट है उनको "निगद" कहते हैं, इनकी "यजुः" संज्ञा से अतिरिक्त कोई संज्ञा है किंवा "यजुः" ही संज्ञा है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी का और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यद्यपि छन्दोबद्ध तथा गीतियुक्त मंत्रों से "निगद" अतिरिक्त हैं तथापि वह "यजुः" नहीं होसकते, क्योंकि "उच्चैः ऋचाक्रियते, उच्चैः साम्ना, उपांशुयजुषा, उच्चैर्निगदेन" = याग में ऋग् तथा साम का उच्चै, यजुः का उपांशु और निगद का उच्चै पाठ किया जाता है । इस प्रकार यजुः के धर्म से निगद का धर्म भिन्न कथन किया है, जो पाठ ओष्ठों में ही किया जाता है उसको "उपांशु" कहते हैं,यदि निगद का यजुः में अन्तर्भाव होता तो दोनों का एक धर्म होना चाहिये था परन्तु यजुः का "उपांशुत्व" और निगद का "उच्चैस्त्व" धर्म एक दूसरे से विलक्षण है, इस से अनुमान होता है कि यजुः में निगद का अन्तर्भाव नहीं किन्तु वह उससे अतिरिक्त है और उसकी संज्ञा "अथर्व" है ।

सं०-अब निगद मंत्रों के यजुः न होने में और हेतु कहते हैं :-

व्यपदेशाच्च । ३९ ।

पद०-व्यपदेशात् । च ।

पदा०-(च) और (व्यपदेशात्) यह यजु है, यह निगद है, इस प्रकार व्यवहार का भेद होने से निगद यजु नहीं ।

भाष्य-शब्दात्मक व्यवहार का नाम "व्यपदेश" है, व्यपदेश भेद से व्यपदेश्य के भिन्न होने का अनुमान होता है ऋग् तथा साम मंत्रों के अतिरिक्त मंत्रों में भी यह यजु हैं, यह निगद हैं, इस प्रकार व्यवहार भेद पाया जाता है, जो बिना भेद की कल्पना किये उत्पन्न नहीं होसकता, इसलिये निगद यजु से भिन्न हैं यही मानना ठीक है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

यजूंषि वा तद्रूपत्वात् । ४० ।

पद०-यजूंषि । वा । तद्रूपत्वात् ।

पदा०-(वा) शब्द पूर्वपक्ष के निरामार्थ आया है (यजूंषि) निगद यजुः हैं, क्योंकि (तद्रूपत्वात्) उनमें यजुः का लक्षण विद्यमान है ।

भाष्य-छन्दःशास्त्र के अनुसार जिन मंत्रों की पाद व्यवस्था नहीं और न वह गान किये जाते हैं उनको "यजुः" कहते हैं । यह यजुः का लक्षण ऋग् तथा साम मंत्रों के अतिरिक्त निगद अनिगद यावत् मंत्रों में समान है और जिनका लक्षण समान होता है वह कदापि भिन्न नहीं होसकते, इसलिये निगद भी यजुः से भिन्न नहीं किन्तु यजुः के अन्तर्गत होने से वह भी यजुः हैं ।

सं०–अब पूर्वोक्त धर्म भेद का समाधान करते हैं :–

वचनाद्धर्मविशेषः । ४१ ।

पद०–वचनात् । धर्मविशेषः ।

पदा०–(धर्मविशेषः) उपांशुत्व, उच्चैस्त्वरूप जो धर्म भेद कथन किया है वह (वचनात्) पूर्वोक्त वाक्य के बल से है ।

भाष्य–एक होने पर भी अवान्तर भेद से धर्म भेद होसक्ता है इसलिये पूर्वोक्त वचन से जो उपांशुत्व तथा उच्चैस्त्वरूप धर्म भेद प्राप्त है वह निगद मंत्रों को यजुः से पृथक् नहीं कर सकृता ।

तात्पर्य्य यह है कि निगद अनिगद भेद से "यजुः" दो प्रकार का है, उसमें अनिगद का उपांशुत्व और निगद का उच्चैस्त्व धर्म है परन्तु निगद यजु से भिन्न नहीं ।

सं०–अब निगद के उच्चैस्त्व धर्म का फल कथन करते हैं :–

अर्थाच्च । ४२ ।

पद०–अर्थात् । च ।

पदा०–(च) और निगद के यजुः होने पर भी जो धर्मविशेष कथन किया है वह (अर्थात्) प्रयोजन वश से है ।

भाष्य–अन्य के बोधनार्थ निगद का उच्चै पाठ किया जाता है अर्थात् अन्य को मंत्रार्थ का ज्ञान होना निगद के उच्चै उच्चारण करने का प्रयोजन है, यदि उनका उपांशुपाठ किया जाय तो दूसरे को अर्थ का ज्ञान नहीं होसक्ता कि अध्वर्यु ने क्या कहा है इसलिये निगद का उच्चैस्त्व धर्म सप्रयोजन है, अतएव वह उसको यजुः से भिन्न नहीं कर सक्ता ।

सं०–अब पूर्वोक्त "यह यजु है, यह निगद है" इस व्यवहार भेद का समाधान करते हैं :–

गुणार्थो व्यपदेशः । ४३ ।

पद०-गुणार्थः । व्यपदेशः ।

पदा०-(व्यपदेशः) यजु, निगद इस प्रकार का जो व्यवहार होता है वह (गुणार्थः) गौण है ।

भाष्य-अवान्तर भेद को लेकर उक्त व्यवहार होता है इसलिये वह निगद, यजु के परस्पर भेद का साधक नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में पुनः आशङ्का करते हैं :-

सर्वेषामितिचेत् । ४४ ।

पद०-सर्वेषाम् । इति । चेत् ।

पदा०-(सर्वेषाम्) ऋग् मंत्रों का अवान्तर भेद निगद है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहा जाय तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है :-

भाष्य-निगद मंत्रों का यजुः में अन्तर्भाव नहीं किन्तु ऋग् में अन्तर्भाव है, क्योंकि दोनों का उच्चैस्त्व धर्म समान है ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न ऋग्व्यपदेशात् । ४५ ।

पद०-न । ऋग् । व्यपदेशात् ।

पदा०-(न, ऋग्) उच्चैस्त्व धर्म के साम्य होनेपर भी ऋग् में निगद का अन्तर्भाव नहीं होसक्ता, क्योंकि उनमें (व्यपदेशात्) ऋगन्यत्व का व्यपदेश पाया जाता है ।

भाष्य-"**अयाज्या वै निगदः, ऋचैव यजन्ति**=निगद याग के योग्य नहीं, ऋचा से यागकरे । इस प्रकार ऋग् से निगद का भिन्न होना स्पष्ट है, इसलिये उच्चैस्त्व धर्म की समानता होने पर

भी निगद का ऋग्वेद में अन्तर्भाव नहीं होसकता किन्तु लक्षण की समानता से यजुर्वेद में ही उनका अन्तर्भाव जानना चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि मंत्रसंहिता का नाम वेद है और वह ऋग्, यजु, साम, भेद से तीन प्रकार का है, इससे अतिरिक्त और कोई चौथा उसका प्रकार नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि यद्यपि सूत्रकार ने मंत्रों के तीन भेद कथन किये हैं तथापि सामान्यतः मंत्रों के दोही भेद जानने चाहिये, एक पद्य और दूसरा गद्य, पद्य का नाम **"ऋग्वेद"** और गद्य का नाम **"यजुर्वेद"** है । जो ऋग् मंत्र गान किये जाते हैं उनको साम और जो यजुः मंत्र स्पष्टार्थक हैं उनको **"अथर्व"** कहते हैं । तात्पर्य्य यह है कि साम-ऋग् का और अथर्व-यजुः का अवान्तर भेद है, वस्तुतः ऋग्, यजु भेद से वेद दोही प्रकार का है । वर्त्तमान काल में जो मंत्रसंहिता उपलब्ध है उसमें परस्पर मंत्रों का सांकर्य्य है, अतएव ऋग् मंत्र यजु में और यजुमंत्र ऋग् में पाए जाते हैं, परन्तु वैदिकों को प्रथम ऋग् यजुः भेद से दो प्रकार का और पुनः प्रत्येक दो २ प्रकार का मानकर वेद चार प्रकार का निश्चय करनाचाहिये ।

सं०—पद्य मंत्रों का नाम **"ऋग्"** और गद्य मंत्रों का नाम **"यजुः"** कथन करके, अब यजुः में "कहां तक एक वाक्य समझना चाहिये" इस निर्णय के लिये एकवाक्य का लक्षण करते हैं :—

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं सकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात् । ४६ ।

पद०—अर्थैकत्वात् । एकं । वाक्यं । साकांक्षं । चेत् । विभागे । स्यात् ।

पदा०—(अर्थैकत्वात्) जिन क्रिया तथा कारक पदों के मिलने से एक अर्थ का लाभ होता है (चेत्) यदि (विभागे) उनमें से किसी एक पद को निकाल दिया जाय तो वह (साकांक्षं) साकांक्ष होजाते हैं, (एकं, वाक्यं) उन पदों के समुदाय का नाम एकवाक्य है ।

भाष्य—एक पद को दूसरे पद के बिना वाक्यार्थबोध की अजनकता का नाम "**आकांक्षा**" है जैसाकि "**देवदत्तःपद्भ्यां ग्रामं गच्छति**" में देवदत्त को गच्छति आदि के बिना और गच्छति को देवदत्तादि के बिना "देवदत्तपांव से ग्राम को जाता है" इस वाक्यार्थ बोध की जनकता नहीं । उक्त वाक्यार्थ बोध उत्पन्न करने के लिये जो देवदत्त को गच्छति आदि की और गच्छति को देवदत्त आदि की कामना है उसी को "**आकांक्षा**" कहते हैं, यह आकांक्षा जिसको होती है उसका नाम "**साकांक्ष**" है, जो क्रिया, कर्त्ता, कर्म तथा करणादि कारक पदों का समुदाय क्रिया, कर्त्ता अथवा कर्मादि किसी एक पद के विभक्त होजाने पर वाक्यार्थ बोध का जनक नहीं किन्तु बोध के जननार्थ विभक्त पद का आकांक्षी होने से साकांक्ष है और उसके मिलजाने पर निराकांक्ष हुआ वाक्यार्थबोध को उत्पन्न करता है, उसी क्रियाकारक पद समुदाय का नाम "**एकवाक्य**" है । तात्पर्य्य यह है कि जिस पदसमूह का अर्थ एक है और यदि उसमें से कोई पद विभक्त होजाय तो वह साकांक्ष हुआ अर्थ का जनक नहीं होता उसी "**पदसमूह**" को वाक्य कहते हैं, "**इषे त्वो-**

र्जे त्वा" इत्यादि सम्पूर्ण यजुः इसका उदाहरण हैं, उनमें जितने पद समुदाय का अर्थ एक है और किसी एक पद के विभाग होजाने पर वह साकांक्ष होजाता है उतने पद समुदाय का नाम एक-वाक्य निश्चय करना चाहिये।

सं०-अथ अनेक वाक्य का लक्षण करते हैं:-

समेषु वाक्यभेदः स्यात्। ४७।

पद०-समेषु। वाक्यभेदः। स्यात्।

पदा०-(समेषु) जो पदसमूह परस्पर निराकांक्ष हैं उनमें (वाक्यभेदः) प्रतिसमूह वाक्य का भेद (स्यात्) है।

भाष्य-चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्यरश्मिभिः। यजु० ४। ४ इत्यादि, मंत्र इस अधिकरण का विषय हैं। यह सम्पूर्ण पद समुदाय एकवाक्य है किंवा नानावाक्य हैं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति के लिये अनेक वाक्यों का लक्षण करते हैं कि जो पदसमुदाय दूसरे पदसमुदाय की आकांक्षा नहीं करता वह दोनों वाक्य भिन्न जानने चाहियें एक नहीं अर्थात् अपना अर्थ बोधन करने के लिये "चित्पतिर्मा पुनातु" को "वाक्पतिर्मा पुनातु" की और "वाक्पतिर्मापुनातु" को "चित्पति-र्मापुनातु" की कोई आकांक्षा नहीं है किन्तु परस्पर निराकांक्ष होने के कारण समान हैं, इसलिये प्रथम समुदाय एकवाक्य और द्वितीय समुदाय दूसरावाक्य और तृतीय समुदाय तीसरावाक्य

है, इसी प्रकार सर्वत्र यजुः मंत्रों में एक वाक्य तथा नानावाक्य की कल्पना करलेना उचित है ।

सं०–अब एक मंत्र में उक्त नाना वाक्यों के मध्य जिस वाक्य में पदान्तर का सम्बन्ध अपेक्षित है उसमें दूसरे वाक्य से उसका सम्बन्ध करना अथवा अध्याहार करना, यह निर्णय करते हैं :–

अनुषङ्गो वाक्यसमाप्तिःसर्वेषु तुल्य-योगित्वात् । ४८ ।

पद०–अनुषङ्गः । वाक्यसमाप्तिः । सर्वेषु । तुल्ययोगित्वात् ।

पदा०–(वाक्यसमाप्तिः) वाक्य की समाप्ति का प्रयोजक (अनुषङ्गः) पदान्तर का सम्बन्ध (सर्वेषु) जिन वाक्यों में अपेक्षित है उन सब में करलेना चाहिये, क्योंकि (तुल्ययोगित्वात्) उसका सम्बन्ध सब के साथ समान है ।

भाष्य–चित्पतिर्मापुनातु,वाक्पतिर्मापुनातु,देवोमा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्यरश्मिभिः ॥ यजु० ४ । ४ इत्यादि मंत्र इस अधिकरण का विषयं हैं । "अच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्य्यस्य रश्मिभिः" यह अन्तिमवाक्य का शेष है, इसका "चित्पतिर्मापुनातु, वाक्पतिर्मापुनातु" में अनुषङ्ग होता है वा नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि "देवो मा सविता पुनातु" वाक्य में जैसे "पुनातु" क्रिया को करण की आकांक्षा है वैसे ही पूर्व के दोनों वाक्यों में स्थित "पुनातु" क्रिया को भी करण

की आकांक्षा है, इसलिये अन्तिम वाक्य की भांति पूर्व के दोनों वाक्यों में भी उक्त वाक्यशेष का अनुषङ्ग करलेना चाहिये अध्याहार की आवश्यकता नहीं । एक वाक्य में श्रुतपद के वाक्यान्तर में सम्बन्ध का नाम "अनुषङ्ग" है ।

सं०-अब उक्त अनुषङ्ग का अपवाद कथन करते हैं :-

व्यवायान्नानुषज्येत । ४९ ।

पद०-व्यवायात् । न । अनुषज्येत ।

पदा०-(व्यवायात्) मध्य में व्यवधान होने से (न, अनुषज्येत) अनुषङ्ग नहीं होता ।

भाष्य-"सन्ते वायुर्वातेन गच्छतां समङ्गानि यजत्रैः सं यज्ञपति राशिषा" इत्यादि मंत्र इस अधिकरण का विषय हैं "गच्छतां" इस क्रिया का अनुषङ्ग "सं यज्ञपति राशिषा" में होता है कि नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि अनुषङ्ग अव्यवहित वाक्यों में ही होता है व्यवहित में नहीं "सन्ते" तथा "संयज्ञ" के मध्य "समङ्गानि" वाक्य का व्यवधान है, इसलिये उक्त क्रिया का अन्तिम वाक्य में अनुषङ्ग नहीं होसक्ता ।

ननु-"समङ्गानि" में भी "गच्छतां" का अनुषङ्ग क्यों नहीं होता ? उत्तर-उसमें अनुषङ्ग के लिये "गच्छन्तां" इस प्रकार वचन का परिणाम करना पड़ता है और श्रुतपद के सम्बन्ध का नाम अनुषङ्ग है परिणित के सम्बन्ध का नहीं । इसलिये "समङ्गानि"

वाक्य में सम्बन्ध न होने के कारण अन्तिमवाक्य में भी अनुषङ्ग नहीं होसकता, इसलिये एकवचन तथा बहुवचन लौकिक क्रिया का अध्याहार करके वाक्यार्थ करना चाहिये अनुषङ्ग से नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाषा भाष्येद्वितीयाध्याये प्रथमपादः

ओ३म्

अथ द्वितियाध्याये द्वितीयपादः प्रारभ्यते

सं०—प्रथमपाद में आख्यात पद का वाच्य गौण तथा प्रधान भेद से दो प्रकार का धर्म निरूपण किया, अब याग होम दान आदि रूप से उक्त कर्मरूपधर्म के अनेक भेद निरूपण करने के लिये द्वितीय पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम आख्यात भेद से भेद निरूपण करते हैं :—

शब्दान्तरे कर्मभेदः कृतानुबन्धत्वात्। १।

पद०—शब्दान्तरे। कर्मभेदः। कृतानुबन्धत्वात्।

पदा०—(शब्दान्तरे) आख्यात के भेद से (कर्मभेदः) कर्म का भेद है, क्योंकि (कृतानुबन्धत्वात्) आख्यात भेद के साथ कर्म भेद का नियत सम्बन्ध है।

भाष्य—"सोमेन यजेत, अग्निहोत्रं जुहोति, हिरण्यमात्रेयाय ददाति" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। यजेत, जुहोति, ददाति इत्यादि आख्यात पद एक ही कर्म के वाचक हैं, किंवा भिन्न २ कर्म के वाचक हैं, यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार की गई है, कि 'यजेत' से जुहोति, ददाति आदि तथा 'जुहोति' से यजेत, ददाति आदि और 'ददाति' से यजेत, जुहोति आदि शब्दान्तर है, और शब्दान्तर का कर्म भेद के साथ नियत सम्बन्ध है, जैसाकि "कटं करोति" "पुरोडाशं पचति" "ग्रामं गच्छति" में करोति का उत्पत्ति, पचति का पाक तथा गच्छति का गमन के साथ सम्बन्ध है, यदि उक्त आख्यात पदों

का एक ही कर्म अर्थ कियाजाय तो शब्दान्तर प्रयोग सर्वथा व्यर्थ होजाता है, इसलिये वह एक ही कर्म के वाचक नहीं, किन्तु यथा संख्य याग, होम, दान* आदि लक्षण भिन्न २ कर्म के वाचक हैं । १ ।

सं–अब अभ्यास कृत कर्म का भेद निरूपण करते हैं :–

एकस्यैवं पुनःश्रुतिरविशेषादनर्थकं हि स्यात् । २ ।

पद०–एकस्य । एवं । पुनःश्रुतिः । अविशेषात् । अनर्थकं । हि । स्यात् ।

पदा०–(एकस्य) एक अख्यात पद का (पुनःश्रुतिः) पुनः२ श्रवण भी (एवं) अख्यात भेद की भांति कर्म का भेदक है (हि) क्योंकि (अविशेषात्) कर्म भेद न मानने से (अनर्थकं) वह निरर्थक (स्यात्) होजाता है ।

भाष्य–"**समिधो यजति, तनूनपातं यजति, इडो यजति, वर्हिर्यजति, स्वाहाकारं यजति**" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें पांचवार श्रवण किया '**यजति**' शब्द एक ही कर्म का विधायक है किंवा प्रति श्रवण भिन्न २ कर्म का विधायक है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति इस सूत्र में इस प्रकार की गई है, कि यद्यपि इनमें पूर्वाधिकरण की भांति आख्यात का भेद नहीं किन्तु एक ही '**यजति**' रूप अख्यात शब्द का पुनः श्रुति लक्षण अभ्या-

---

* परमात्मा के उद्देश से द्रव्य के त्याग का नाम "**याग**" त्यागपूर्वक द्रव्य के अग्नि में प्रक्षेप का नाम "**होम**" और स्व स्वत्व के त्याग पूर्वक पर स्वत्व के आपादन का नाम "**दान**" है ।

स कियागया है, तथापि यहां एक कर्म का विधान नहीं मान सक्ते, क्योंकि ऐसा मानने से "यजति" पद का पुनः२ श्रवण व्यर्थ होजाता है, पुनः २ श्रवण तथा अभ्यास यह दोनों पर्याय शब्द हैं, यदि अभ्यास की सार्थकता के लिये "समिधो यजति" इस प्रथम वाक्य से 'समित्' नामक याग का विधान मानकर उसमें "तनूनपातं यजति" आदि चारोवाक्योंद्वारा यागानुवाद पूर्वक 'तनू नपात्' आदि द्रव्य अथवा देवता रूप गुण का विधान मानें अर्थात् "समिधो यजति" यह प्रथम वाक्य 'समित्' नामक याग का विधान करता है और "तनूनपातं यजति" इत्यादि चारो वाक्य 'यजति' पद से प्रथम वाक्यविहित याग का अनुवाद करके उसमें तनूनपात् आदि संज्ञक किसी द्रव्य अथवा देवता विशेष का विधान करते हैं, यदि अभ्यास की सार्थकता के लिये ऐसा मानें तो ठीक नहीं, क्योंकि तृतीयान्त से द्रव्य का चतुर्थ्यन्त तथा तद्धित श्रुति से देवता का विधान होता है, जैसाकि "दध्ना जुहोति, घृतेन जुहोति" आदि में तृतीयान्त दधि तथा घृत पद से द्रव्य का और "अग्नये स्वाहा" आदि में चतुर्थ्यन्त अग्नि पद तथा "आग्नेयमष्टाकपालम्, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पयः" आदि में अग्नि तथा इन्द्र पदोत्तर श्रूयमान तद्धित प्रत्यय से अग्नि तथा इन्द्ररूप परमात्मा देवता का विधान है, "तनूनपातं यजति, इडो जयति" आदि में 'तनूनपात्" आदि पद द्वितीयान्त हैं, तृतीयान्त तथा चतुर्थ्यन्त किंवा तद्धितान्त नहीं, अतएव वह द्रव्य

अथवा देवता के विधायक नहीं होसक्ते प्रत्युत "अग्निहोत्रं जुहोति, आघारमाघारयति" आदि में अग्निहोत्रादि पद की भांति द्वितीयान्त होने से याग का नाम है अर्थात् जैसे "समिधो यजति" यह प्रथमवाक्य "समित्" नामक याग विशेष का विधायक है वैसे ही "तनूनपातं यजति" आदि चारोंवाक्य भी 'तनूनपात्' आदि संज्ञक चार याग विशेष के विधायक हैं, भाव यह है कि आख्यात = क्रिया का भेद न होनेपर भी अभ्यासान्यथानुपपत्ति से "समिधो यजति" आदि वाक्य भिन्न २ कर्म के विधायक हैं एक कर्म के नहीं ॥

सं०—अब विद्वद्वाक्य को "आग्नेय" आदि याग का अनुवादक कथन करते हैं :—

प्रकरणं तु पौर्णमास्यां रूपावचनात् । ३ ।

पद०—प्रकरणं । तु । पौर्णमास्यां । रूपावचनात् ।

पदा०—'तु' शब्द कर्मान्तर विधान शङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (पौर्णमास्यां) "य एवं विद्वान्" इत्यादि पौर्णमासी शब्दयुक्त विद्वद्वाक्य (प्रकरणं) प्रकरण प्राप्त "आग्नेय" आदि याग का अनुवादक है विधायक नहीं, क्योंकि (रूपावचनात्) उससे याग के स्वरूप की प्रतीति नहीं होती ।

भाष्य—१ "यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां पौर्णमास्याञ्चाच्युतो भवति २ तावब्रूतामग्नीषोमावाज्यस्यैव नावुपांशु पौर्णमास्यां यजन् ३ ताभ्यामेतमग्नीषोमीयमेकादशकपालं पूर्णमासेप्रायच्छत् ४ ऐन्द्रं दध्यमावास्या-

याम् ५ ऐन्द्रंपयोऽमावास्यायाम् =प्रकाशमय परमात्म रूप देवता के उद्देश से अमावास्या तथा पौर्णमासी में प्रदान किया हुआ अष्टाकपाल=पुरोडाश अच्युत होता है (१) प्रकाश तथा सौम्य स्व भाव परमात्मा के अर्थ पौर्णमासी में घृत से उपांशु याग करे(२)उक्त परमात्मा के उद्देश से पूर्णमासी में एकादशकपाल परोडाश का प्रदान करे,(३)सर्वैश्वर्य्य युक्त परमात्मा के अर्थ अमावास्या में दधि तथा घृत से हवन करे ४-५ । इस प्रकार आग्नेय, ऐन्द्र यह तीन 'दर्शसंज्ञक' और आग्नेय १ उपांशुयाज २ अग्निषोमीय ३ यह तीन 'पूर्णमास' संज्ञक अर्थात् दर्श तथा पूर्णमास संज्ञक 'आग्नेय' आदि षट् याग विधान करके पश्चात् "य एवं विद्वान् पौर्णमासीं यजते" य एवं विद्वान् अमावास्यां यजते =जो पुरुष इस प्रकार जानकर पौर्णमासी तथा अमावास्या याग करता है वह ऐहिक तथा पारलौकिक सुख को प्राप्त होता है । इत्यादि विद्वद्वाक्य पढ़ा है, यही विद्वद्वाक्य इस अधिकरण का विषय है, उक्त वाक्य पूर्वोक्त दर्शपूर्णमास संज्ञक आग्नेय आदि षट् याग का अनुवादक है किंवा पौर्णमास तथा अमावास्या संज्ञक कर्मान्तर का विधायक है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इसप्रकार की गई है कि द्रव्य तथा देवता यह दोनों याग का स्वरूप हैं अर्थात् जिसमें परमात्मरूप देवता के उद्देश से किसी द्रव्य विशेष का त्याग किया जाता है उसको याग कहते हैं, और द्रव्य तथा देवता की प्रतीति तृतीयान्त तथा चतुर्थ्यन्त पद किंवा तद्धित प्रत्यय से होती है, विद्वद्वाक्य में 'पौर्णमासी' तथा 'अमावास्या' पद द्वितीयान्त है, उससे द्रव्य तथा देवता की प्रतीति

नहीं होसक्ती और उसकी प्रतीति के बिना उसको किसी अपूर्व कर्म का विधायक नहीं मान सक्ते, इसलिये उक्त विद्वद्वाक्य 'पौर्णमासी' तथा 'अमावास्या' संज्ञक कर्मान्तर का विधायक नहीं किन्तु 'अमावास्या' पद से दर्शसंज्ञक "आग्नेय" आदि प्रथम त्रिक और 'पौर्णमासी' पद से 'पूर्णमास' संज्ञक "आग्नेय" आदि द्वितीय त्रिक का अनुवादक है, तात्पर्य्य यह है कि द्रव्य देवता रूप याग के स्वरूप की प्रतीति न होने से उक्त विद्वद्वाक्य 'पौर्णमासी' तथा 'अमावास्या' संज्ञक कर्मान्तर का विधायक नहीं किन्तु दर्श पूर्णमास संज्ञक "आग्नेय" आदि प्रकृत षट् याग का अनुवादक है।

सं०–ननु, यदि विद्वद्वाक्य को अनुबादक माना जाय तो वह प्रयाजादि का भी अनुवादक होना चाहिये, क्योंकि आग्नेय आदि के समान वह भी प्रकृत है? उत्तर:–

विशेषदर्शनाच्चसर्वेषां समेषुह्यप्रवृत्तिः स्यात्। ४।

पद०–विशेषदर्शनात्। च। सर्वेषां। समेषु। हि। अप्रवृत्तिः। स्यात्।

पदा०–(समेषु) समानभाव से प्रकृत होने पर भी (सर्वेषां) आग्नेयादि तथा प्रयाजादि सबके अनुवाद के लिये (अप्रवृत्तिः, स्यात्) विद्वद्वाक्य की प्रवृत्ति नही होसक्ती (हि) क्योंकि (विशेषदर्शनात्) आग्नेयादि में काल सम्बन्ध रूप विशेष देखा जाता है (च) और प्रयाजादि में नहीं।

भाष्य—विद्वद्वाक्य में जो पौर्णमासी तथा अमावास्या पद है वह पौर्णमासी काल तथा अमावास्या काल में होने वाले कर्मविशेष का वाचक है काल मात्र तथा कर्म मात्र का नहीं और "**आग्नेय**" आदि तथा "**प्रयाज**" आदि के मध्य आग्नेय आदि षट्याग ही पौर्णमासी तथा अमावास्या काल संयुक्त विधान किये गये। इसलिये समानभाव से प्रकृत होने परभी उक्त विद्वद्वाक्य "**आग्नेय**" आदि षट् याग का ही अनुवादक होसक्ता है प्रयाजादि का नहीं हैं

"**समिधो यजति, तनूनपातं यजति**" इत्यादि वाक्य विहित घृताहुतिरूप पांच याग की संज्ञा "**प्रयाज**" है, उक्त पांचों प्रयाज तथा घृताहुतिरूप तीन अनुयाज, चार अथवा आठ पत्नी संयाज यह सब "**आग्नेय**" आदि षट् प्रधान याग का अङ्ग याग हैं, इन का विधान कालसंयोग से नहीं किया गया, अतएव दर्शपूर्णमास याग के विकृति यागों में सर्वत्र इनका अतिदेश तथा अनुष्ठान होता है, इन में प्रयाज पूर्वाङ्ग और अनुयाजादिक उत्तराङ्ग हैं।

सं०—अब उक्तार्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

गुणस्तु श्रुतिसंयोगात् । ५ ।

पद०—गुणः । तु । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (गुणः) उक्त विद्वद्वाक्य विहित कर्म में द्रव्य देवतारूप गुण (श्रुतिसंयोगात्) "**यदाग्नेयोऽष्टाकपालः**" आदि वाक्य से प्राप्त है।

भाष्य—ननु, विद्वद्वाक्य दर्शपौर्णमास संज्ञक "**आग्नेय**" आदि षट् प्रकृत याग का अनुवादक नहीं किन्तु उक्त संज्ञक अपूर्व

कर्म का विधायक है और उस कर्म को अपेक्षित द्रव्य तथा देवता रूप गुण का "यदाग्नेयः" इत्यादि वाक्य समर्पण करते हैं अर्थात् "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" इत्यादि वाक्य दर्शपौर्णमास संज्ञक "आग्नेय" आदि याग का विधान नहीं करते प्रत्युत विद्वद्वाक्यविहित कर्म में द्रव्य देवतारूप गुण का विधान करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि "यदाग्नेयः" इत्यादि वाक्य गुणविधि है कर्मविधि नहीं, इसलिये "रूपावचन" हेतुमात्र से विद्वद्वाक्य को अपूर्व कर्म का विधायक न मानकर अनुवादक मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

चोदना वा गुणानां युगपच्छासनाच्चोदिते हि तदर्थत्वात्तस्य तस्योपदिश्येत। ९।

पद०-चोदना। वा। गुणानां। युगपत्। शासनात्। चोदिते। हि। तदर्थत्वात्। तस्य। तस्य। उपदिश्येत।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (चोदना) "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" इत्यादि वाक्य कर्मविधि हैं गुण विधि नहीं, क्योंकि (गुणानां) द्रव्य, देवतारूपगुणों का (युगपत्, शासनात्) उनसे एक ही काल में शासन पाया जाता है और यदि उनको (चोदिते) वाक्यान्तर विहित कर्म में गुण का विधायक माना जाय तो (तस्य २, उपदिश्येत) पूर्वोक्त द्रव्य देवतारूप गुण का पृथक् २ उपदेश होना चाहिये (हि) क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह विहितकर्म के लिये हैं।

भाष्य–यदि विद्वद्वाक्य को अपूर्व कर्म का विधायक मानकर तदपेक्षित द्रव्य देवतारूप गुणों के लिये "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" आदि को गुण का विधायक मानें तो जैसे "आघारमाघारयति" वाक्यविहित "आघार" संज्ञक कर्म को अपेक्षित "ऋजुत्व" तथा "सन्तत" रूप गुणों का "ऋजुमाघारयति" "सन्ततमाघारयति" के द्वारा पृथक् २ विधान है, वैसेहि "यदाग्नेयः" आदि के द्वारा भी उक्त गुणों का पृथक् विधान होना चाहिये, परन्तु उक्त वाक्यों से द्रव्य देवतारूप गुणों का युगपत् विधान पाया जाता है, इससे अनुमान होता है कि उक्त वाक्य द्रव्य देवतारूप गुण विशिष्ट अपूर्व कर्म के विधायक हैं, गुण विधायक नहीं।

सं०–अब उक्त वाक्यों के गुणविधि न होने में और हेतु कहते हैं:–

व्यपदेशश्चतद्वत्। ७।

पद०–व्यपदेशः। च। तद्वत्।

पदा०–(च) और (तद्वत्) जैसे द्रव्य देवतारूप गुणों का युगपत् शासन गुणविधि का बाधक है, वैसे ही (व्यपदेशः) "उग्राणि ह वा" इत्यादि समुच्चय व्यपदेश भी बाधक है।

भाष्य–"उग्राणि ह वा एतानि हवींषि अमावास्यायां सम्भ्रियन्ते = आग्नेयं प्रथमम् ऐन्द्रे उत्तरे"=अमावास्या में यह तीन प्रधान हवि हैं, जिनमें से पहली अग्नि परमात्मा और शेष दोनों इन्द्र परमात्मा के उद्देश से दी जाती हैं, इस वाक्य

से जो अमावास्या में तीन हवि के समुच्चय का व्यपदेश किया है वह "यदाग्नेयः" आदि वाक्यों के गुणविधि पक्ष में उत्पन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि उनसे "अमावास्या" याग में अग्नि तथा इन्द्र नामक अनेक देवताओं का विधान पाया जाता है और विद्वद् वाक्य विहित "अमावास्या" संज्ञक याग एक है और एक याग में अनेक देवता का समावेश युगपत् होना असंभव है अर्थात् विकल्प से बिना नहीं होसक्ता और विकल्प मानने से समुच्चयाभिधायी उक्त वाक्य सर्वथा निरर्थक होजाता है, इसलिये विद्वद्-वाक्य को अपूर्व कर्म का विधायक मानकर "यदाग्नेयः" आदि को गुण का विधायक मानना ठीक नहीं किन्तु द्रव्य देवता रूप गुणविशिष्ट कर्म का विधायक मानकर विद्वद्वाक्य को ही अनुवादक मानना ठीक है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कहते हैं :-

लिङ्गदर्शनाच्च । ८ ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) "चतुर्दश पौर्णमास्याम्" इत्यादि लिङ्ग के देखने से सिद्ध होता है कि "यदाग्नेयः" आदि वाक्य गुणविधि नहीं किन्तु कर्मविधि है ।

भाष्य-"चतुर्दश पौर्णमास्यामाहुतयो हूयन्ते त्रयोदशामावास्यायाम्" = पौर्णमास कर्म में चौदह और अमावास्या में तेरह आहुति दी जाती हैं, इस वाक्य में जो चतुर्दश तथा त्रयोदश आहुति कथन की हैं वह "यदाग्नेयः" आदि वाक्यों के कर्मविधि होने में लिङ्ग है, क्योंकि "विद्वद्वाक्य को विधायक

मानने में उक्त संख्या की पूर्ति नहीं होसक्ती अर्थात् पांच "प्रयाज" तीन "अनुयाज" दो "चक्षुः" = आज्यभाग तथा एक स्विष्टकृत संज्ञक हविः, यह दश वा एकादश अङ्ग हवि हैं, इनमें तीन प्रधान हवियों के मिलने से उक्त संख्या की पूर्त्ति होती है, और उन तीन प्रधान हवियों का विधान "यदाग्नेयः" आदि वाक्यों से ही पाया जाता है एकाकी विद्वद्वाक्य से नहीं, इससे सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य गुण के विधायक नहीं किन्तु कर्म के विधायक हैं और तद्विहित "पौर्णमास" तथा "अमावास्या" संज्ञक तीन २ प्रधान आहुतिरूप कर्म का विद्वद्वाक्य अनुवादक है।

सं०-अब "उपांशुयाजमन्तरा यजति" वाक्य को अपूर्व कर्म का विधायक सिद्ध करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

पौर्णमासीवदुपांशुयाजःस्यात् । ६ ।

पद०-पौर्णमासीवत् । उपांशुयाजः । स्यात् ।

पदा०-(पौर्णमासीवत्) जैसे विद्वद्वाक्यस्थ "पौर्णमास" पद अनुवादक है वैसे ही (उपांशुयाजः) "उपांशुयाजमन्तरा यजति" वाक्यस्थ "उपांशुयाज" पद भी अनुवादक है।

भाष्य-"जामि वा एतद्यज्ञस्य क्रियते, यदन्वञ्चौ पुरोडाशौ उपांशुयाजमन्तरा यजति, विष्णुरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, प्रजापतिरुपांशु यष्टव्योऽजामित्वाय, अग्नीषोमावुपांशु यष्टव्यावजामित्वाय = यह पौर्णमास याग का आलसी बनाना है जो उसमें 'आग्नेय' तथा 'अग्नीषोमीय' दो पुरोडाश याग निरन्तर किये जाते हैं, इसलिये दोनों के मध्य "उपांशुयाज" नामक याग करे १. उक्त दोष की

निवृत्ति के लिये व्यापकता, प्रजापालकता, प्रकाश तथा सौम्य गुण विशिष्ट परमात्मा के उद्देश से उपांशु=ओष्ठों में वेद मन्त्रों का उच्चारण करता हुआ तीन याग करे २, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इनमें विष्णवादि तीनों वाक्य यागत्रय के विधायक और "उपांशुयाजमन्तरा यजति" उनका अनुवादक किंवा "उपांशुयाज" नामक अपूर्व कर्म का विधायक और विष्णवादि वाक्याश्रय अर्थ उसके स्तावक अर्थवाद हैं? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी का और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "उपांशुयाजमन्तरा यजति" में द्रव्य देवता रूप याग के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती और विधि प्रत्ययान्त न होने के कारण "यजति" पद से याग का विधान भी नहीं पायाजाता और विष्णवादि वाक्यों में याज के स्वरूप की उपलब्धि होती तथा विधि प्रत्ययान्त होने के कारण "यष्टव्यः" पद से याग का विधान भी पायाजाता है इसलिये उक्त वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक नहीं किन्तु विद्वद्वाक्यकी भांति "विष्णवादि" वाक्य-विहित यागत्रय का अनुवादक है। तात्पर्य्य यह है कि उक्त विष्ण-वादि वाक्यत्रय अपूर्व कर्म के विधायक हैं और "उपांशुयाज-मन्तरा यजति" उनका अनुवादक है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

चोदना वाऽप्रकृतत्वात्। १०।

पद०—चोदना। वा। अप्रकृतत्वात्।

पदा०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (चोदना) "उपांशुयाजमन्तरा यजति" यह कर्मविधि है अनुवाद नहीं, क्योंकि

(अप्रकृतत्वात्) प्रकृत याग का अभाव है ।

भाष्य-जैसे विद्वद्वाक्य से पूर्व "आग्नेय" आदि षट् याग प्रकृत हैं, वैसे ही "उपांशुयाजमन्तरा यजति" से पूर्व कोई याग प्रकृत नहीं है, और जो "विष्णुरुपांशु यष्टव्यः" इत्यादि तीन वाक्य हैं वह पश्चात् भावी होने के कारण इसका वाक्य शेष हैं और जो वाक्यशेष होता है वह अपने शेषी का स्तावक ही होता है किसी अपूर्व कर्म का विधायक नहीं होता, यह नियम है। इसलिये वह विद्वद्वाक्य की भांति अनुवादक नहीं होसक्ता किन्तु जामित्वदोष निवृत्ति के लिये पौर्णमास याग को अपेक्षित "आग्नेय" तथा "अग्नीषोमीय" पुरोडाश याग के मध्य में होने वाले कर्म विशेष का विधायक हैं अर्थात् पूर्णमासी के दिन यह दोनों याग उच्चस्वर से मन्त्रों का उच्चारण करके किये जाते हैं, यदि यह दोनों निरन्तर किये जायं तो प्रथम याग में ही उच्चस्वर से मन्त्रों का उच्चारण कर परिश्रान्त हुए ऋत्विक् द्वितीय याग में मन्त्रों का उच्चारण उच्चस्वर से नहीं कर सक्ते, और यथाविधि उच्चस्वर से मन्त्रों का उच्चारण न होने से विगुण हुआ याग विहितफल का जनक नहीं होसक्ता, अतएव दोनों यागों के अन्तराल में ऐसे एक याग की आवश्यकता है कि जिसके करने से उक्त दोनों यागों के अनुष्ठान में व्यवधान नहो और प्रथम याग के अनुष्ठानजन्य परिश्रम से मुक्त हुए ऋत्विक् स्वस्थता पूर्वक अग्रिम याग के अनुष्ठान में समर्थ होजायं, इस प्रकार उक्त दोनों यागों के मध्य में जो कर्म अपेक्षित है उसका "उपांशुयाजमन्तरा यजति" वाक्य विधान करता है, क्योंकि उसमें 'मध्य' अर्थ का वाची "अन्तरा"

शब्द साक्षात् पढ़ा है और जो यह कथन किया है कि "यजति" पद विधि प्रत्ययान्त न होने से याग का विधान नहीं करसक्ता, सो ठीक नहीं, क्योंकि वह लेट् का प्रयोग है लट् का नहीं, और लेट् विधि प्रत्यय है, अतएव 'यजाति' पद के याग विधायक होने में कोई दोष नहीं और जो यह कथन किया है कि "**उपांशु याजमन्तरा यजति**" वाक्य से याग के स्वरूप की उपलब्धि न होने के कारण वह अपूर्व कर्म का विधायक नहीं होसक्ता, सोभी ठीक नहीं, क्योंकि आज्य द्रव्य 'ध्रुवा' पात्र से प्राप्त है जैसाकि "**सर्वस्मै वा एतद्यज्ञस्ययद्ध्रुवायामाज्यम्** = याग क्रिया के लिये जिस पात्र में इकट्ठा घृत रखाजाता है उसको "**ध्रुवा**" कहते हैं, उस ध्रुवा पात्र में जो घृत है वह सब के लिये है 'उपांशुयाज' भी सब के अर्न्तगत है, अतएव उसको द्रव्य की अपेक्षा नहीं, और 'विष्णु' आदि देवता भी मन्त्र वर्ण से प्राप्त हैं अर्थात् जिन मन्त्रों से उक्त आहुति दी जाती है तत्प्रतिपाद्य व्यापकतादि गुणविशिष्ट परमात्मा ही "उपांशुयाज" का देवता है उसके विधान की कोई आवश्यकता नहीं अतएव उक्त वाक्य के विधायक मानने में भी कोई दोष नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "**उपांशुयाजमन्तरा यजति**" यह "उपांशुयाज" संज्ञक अपूर्व कर्म का विधायक है और "**विष्णुरुपांशु यष्टव्यः**" इत्यादि वाक्य उसके स्तावक अर्थवाद हैं।

सं०—अब उक्त कर्म की "उपांशुयाज" संज्ञा का हेतु कथन करते हैं :-

गुणोपबन्धात् । ११ ।

पद०-एकपद ।

पदा०-(गुणोपबन्धात्) उपांशुत्व गुण के सम्बन्ध से उक्त कर्म की संज्ञा "उपांशुयाज" है ।

भाष्य-इस कर्म में मन्त्रों का उच्चारण उपांशु किया जाता है इसलिये इसको "उपांशुयाज" कहते हैं, ओष्ठों में उच्चारण का नाम "उपांशु" है ।

सं०-अब उक्त कर्म के प्रधान होने में हेतु कहते हैं :-

प्रायेवचनाच्च । १२ ।

पद०-प्राये । वचनात् । च ।

पदा०-(च) और वह (प्राये) प्रधान कर्मों के मध्य (वचनात्) पाठ होने से प्रधान है ।

भाष्य-"तस्य वा एतस्याग्नेय एवशिरः हृदयमुपांशुयाजः पादावग्नीषोमीयः = पौर्णमास कर्म का "आग्नेय याग" शिर "उपांशु याज" हृदय तथा "अग्नीषोमीय" पाद है, इस प्रकार प्रधानभूत "आग्नेय" तथा "अग्नीषोमीय" याग के मध्य "उपांशुयाज" का पाठ है, यदि वह प्रधान याग न होता तो प्रधान यागों के मध्य उसका पाठ न होता पाठ से अनुमान होता है कि वह भी प्रधान याग है, क्योंकि प्रधान के मध्य प्रधान का ही पाठ होसक्ता है अन्य का नहीं । इससे सिद्ध हुआ कि "उपांशुयाजमन्तरा यजति" यह वाक्य "उपांशुयाज" संज्ञक प्रधानभूत याग का विधायक है अनुवादक नहीं ।

सं०—अब आघार वाक्य तथा अग्निहोत्र वाक्य को अपूर्व कर्म का विधायक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

आघाराग्निहोत्रमरूपत्वात् । १३ ।

पद०—आघाराग्निहोत्रम् । अरूपत्वात् ।

पदा०—(आघाराग्निहोत्रम्) आघार तथा अग्निहोत्र वाक्य अनुवादक हैं, क्योंकि (अरूपत्वात्) उनसे याग के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती ।

भाष्य—"अग्निहोत्रं जुहोति" "दध्ना जुहोति" "पयसा जुहोति = यावज्जीवन प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, दधि और दुग्ध से तथा "आघारमाघारयति" "ऊर्ध्वमाघारयति" "ऋजुमाघारयति" = आघार नामक कर्म करे, उच्चैधारा से तथा सीधी धारा से, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। अग्निहोत्र वाक्य दध्यादि वाक्यविहित कर्म का तथा आघार वाक्य ऊर्ध्वादि वाक्यविहित का अनुवादक है किंवा अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य अपूर्व कर्म का और दध्यादि तथा ऊर्ध्वादि वाक्य तदपेक्षित गुणों का विधायक है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी का और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है। पूर्वपक्षी का कथन यह है कि अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य से याग के स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती इसलिये उक्त दोनों वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक नहीं किन्तु अनुवादक हैं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कहते हैं :—

संज्ञोपबन्धनात् । १४ ।

पद०—एकपद ।

पदा०-(संज्ञोपबन्धनात्) उक्त वाक्यों से संज्ञा का सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिये वह विधायक नहीं होसक्ते ।

भाष्य-"अग्निहोत्रं जुहोति" "आघारमाघारयति" में जो "अग्निहोत्र" तथा "आघार" का द्वितीयान्त शब्द से निर्देश किया गया है उससे वह कर्म का नाम प्रतीत होते हैं परन्तु नाम निर्देश पूर्व सिद्ध का ही होसक्ता है असिद्ध का नहीं, यह नियम है । इससे अनुमान होता है कि "अग्निहोत्र" तथा "आघार" संज्ञक कर्म वाक्यान्तर सिद्ध हैं और अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य उसके अनुवादक हैं विधायक नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कहते हैं :-

अप्रकृतत्वाच्च । १५ ।

पद०-अप्रकृतत्वात् । च ।

पदा०-(च) और (अप्रकृतत्वात्) प्रकरणगत वाक्यान्तर से भी द्रव्य देवता प्राप्त नहीं है ।

भाष्य-जैसे अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य से द्रव्य देवता का प्रकाश नहीं होता वैसे ही वाक्यान्तर से भी नहीं होता और द्रव्य देवता ही अपूर्व कर्म का स्वरूप है उनकी किसी प्रकार से भी प्राप्ति न होने से उक्त वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक नहीं होसक्ते, इससे सिद्ध हुआ कि वह अनुवादक हैं विधायक नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

चोदना वा शब्दार्थस्य प्रयोगभूतत्वात् तत्सन्निधेर्गुणार्थेन पुनःश्रुतिः । १६ ।

पद०-चोदना । वा । शब्दार्थस्य । प्रयोगभूतत्वात् । तत्स-

न्निधेः । गुणार्थेन । पुनः । श्रुतिः ।

पदा०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (चोदना) अग्निहोत्र वाक्य तथा आघार वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक हैं अनुवादक नहीं, क्योंकि (शब्दार्थस्य) उनका "अग्निहोत्र" तथा "आघार" रूप अर्थ (प्रयोगभूतत्वात्) अनुष्ठेय प्रतीत होता है (पुनः) और जो (तत्सान्निधेः) उनके समीप (श्रुतिः) दध्यादि वाक्य हैं वह (गुणार्थेन) गुणविधि हैं ।

भाष्य—यद्यपि "अग्निहोत्रं जुहोति" अघारमाघारयति" वाक्यों से द्रव्य तथा देवता रूप गुण का प्रकाश नहीं होता तथापि उनसे "अग्निहोत्र" तथा 'आघार' कर्म की कर्तव्यता प्रतीत होती है कि अग्निहोत्र तथा आघार कर्म पुरुष को कर्तव्य हैं, यदि उक्त वाक्य विधायक न हों तो उनसे कर्तव्यता की प्रतीति कदापि न होनी चाहिये, क्योंकि कर्तव्यता की प्रतीति विधिवाक्यों के विना अन्य वाक्य से नहीं होसक्ती और उक्त वाक्यों की सन्निधि में जो दध्यादि वाक्य पढ़े हैं वह उक्त वाक्य विहित कर्म को अपेक्षित द्रव्यरूपगुणमात्र के विधायक हैं, गुण विशिष्ट अपूर्व कर्म के विधायक नहीं, क्योंकि दधि आदि पद केवल गुण के वाची हैं, उनका लक्षणावृत्ति के विना गुणविशिष्ट अर्थ नहीं हो सक्ता और विशिष्ट अर्थ न होने से "जुहोति" पद के साथ सम्बन्ध होना असंभव है अर्थात् दधि पद का अर्थ दधि द्रव्य और जुहोति पद का अर्थ होम क्रिया है, द्रव्य और क्रिया का समानाधिकरणरूपसम्बन्ध नहीं होसक्ता इसलिये उक्त सम्बन्ध सिद्धि के लिये द्रव्य पद की द्रव्यवाले में लक्षणा करनी पड़ती है, इसी लक्षणा का दूसरा नाम "मत्त्वर्थलक्षणा" है जिससे दधि आदि

द्रव्यवाला होम कर्तव्य है यह अर्थ है, परन्तु लक्षणावृत्ति का आश्रयण उस अवस्था में करना उचित होता है जिस अवस्था में अन्य कोई गति नहीं होसक्ती, जब प्रकृत "अग्निहोत्र" आदि वाक्यों को अपूर्व कर्म का और दध्यादि वाक्यों को दधि आदि रूप गुण का विधायक मानने से दोनों वाक्य चरितार्थ तथा दोनों का पूर्ण रीति से निर्बाह होजाता है तो फिर दधि आदि वाक्यों में विशिष्ट कर्म के विधानार्थ मत्त्वर्थलक्षणावृत्ति के मानने की कोई आवश्यकता नहीं, और दध्यादि वाक्यों को विशिष्ट अर्थ का विधायक न होने से अग्निहोत्र आदि वाक्य अनुवादक भी नहीं होसक्ते और जैसे 'अग्निहोत्र' कर्म में दध्यादि वाक्यों से द्रव्य तथा मन्त्र वर्ण से अग्नि प्रजापति तथा सूर्य्य परमात्मा देवता प्राप्त है वैसे ही आघार कर्म में भी "इन्द्र उर्ध्वोऽध्वरो दिविस्पृशतु महतो यज्ञो यज्ञपते इन्द्रवान् स्वाहेत्याघारमाघारयति = हे यज्ञपते यजमान वह परम ऐश्वर्य्य शाली परमात्मा सब से बड़ा है उसके उद्देश से किया हुआ कर्म भी महान् फल का जनक होता है, इसलिये उस परमात्मा के उद्देश से कर्म कर, इसको पढ़कर आघार कर्म करे। इत्यादि वाक्यन्तर से आज्य द्रव्य तथा इन्द्र देवता प्राप्त है और द्रव्य तथा देवता की प्राप्ति होने से उक्त वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक होसक्ते हैं इसलिये उक्त वाक्य अनुवादक नहीं किन्तु अग्निहोत्र तथा "आघार" नामक अपूर्व कर्म के विधायक हैं यही मानना उचित है अन्य नहीं।

सं०-अब "सोमेन यजेत" आदि वाक्यों को अपूर्व कर्म का विधायक कथन करते हैं:-

द्रव्यसंयोगाच्चोदना पशुसोमयोः प्रकरणे-ह्यनर्थको द्रव्यसंयोगो नहि तस्य गुणार्थेन । १७ ।

पद०-द्रव्ययोगात् । चोदना । पशुसोमयोः । प्रकरणे । हि । अनर्थकः । द्रव्यसंयोगः । नहि । तस्य । गुणार्थेन ।

पदा०-(पशुसोमयोः) "अग्नीषोमीयं" तथा "सोमेन यजेत" यह दोनों वाक्म (चोदना) अपूर्व कर्म के विधायक हैं, क्योंकि उनसे (द्रव्यसंयोगात्) द्रव्य का सम्बन्ध पाया जाता है (हि) यदि (प्रकरणे) प्रकरण पठित "हृदयादि" तथा "ऐन्द्र-वायवादि" वाक्यों को विधायक मानें तो (द्रव्यसंयोगः) श्रूय-मान द्रव्य का सम्बन्ध (अनर्थकः) निरर्थक होजाता है, क्योंकि उसका सम्बन्ध उक्त वाक्यों से ही प्राप्त है, अतएव (तस्य) उसका श्रवण (गुणार्थेन) गुणरूप से भी (नहि) नहीं होसक्ता ।

भाष्य-"अग्नीषोमयं पशुमालभेत"= प्रकाश तथा सोम्य स्वभाव परमात्मा के उद्देश से पशु का त्याग करे "हृदय-स्याग्रेऽवद्यत्यथ जिह्वाया अथवक्षसः"= पशु के हृदय, जिह्वा तथा वक्षःस्थल सम्बन्धि अग्रणीय देशों में किसी रङ्ग विशेष से चित्र बनावे और "सोमेन यजेत" सोम याग करे "ऐन्द्र-वायवं गृह्णाति आश्विनं गृह्णाति"= ऐन्द्र वायव तथा आश्विन संज्ञक पात्र का ग्रहण करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं । इनमें अवद्यति तथा गृह्णाति वाक्य अपूर्व कर्म के विधा-

यक और आलभति, यजति वाक्य उसके अनुवादक अथवा अपूर्व कर्म के विधायक और अवद्यति, गृह्णाति वाक्य तदपेक्षित पशु तथा सोमरूप द्रव्य के संस्कार का विधान करते हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि परमात्मा के उद्देश से द्रव्य विशेष के त्याग का नाम याग है और अवद्यति तथा गृह्णाति वाक्यों से परमात्मा के उद्देश से द्रव्य विशेष का त्याग नहीं पाया जाता, क्योंकि 'अवद्यति' का अर्थ चित्रीकरण और 'गृह्णाति' का अर्थ ग्रहण है त्याग नहीं, और यदि हृदयादि द्रव्यमात्र के श्रवण से उक्त वाक्यों को द्रव्य विशिष्ट अपूर्व कर्म का विधायक मानकर आलभति तथा यजति वाक्य को उसका अनुवादक मानें तो पशु तथा सोमरूप द्रव्य का श्रवण सर्वथा व्यर्थ होजाता है और केवल कर्म का विधायक मानकर आलभति तथा यजति वाक्य को उसमें पशु तथा सोमरूप गुण का विधायक मानें तो हृदयादि द्रव्य का श्रवण निरर्थक होजाता है इसलिये साक्षात् द्रव्य का सम्बन्ध पाए जाने से आलभति तथा यजति वाक्य ही अपूर्व कर्म के विधायक हैं, अवद्यति आदि नहीं।

सं०—अब अवद्यति आदि वाक्यों को अपूर्व कर्म का अविधायक कथन करते हुए संस्कार कर्म का विधायक कथन करते हैं :—

अचोदकाश्चसंस्काराः ॥ १८ ॥

पद०—अचोदकाः । च । संस्काराः ।

पदा०—(च) और 'अवद्यति' आदि वाक्य (अचोदकाः) अपूर्व कर्म के विधायक नहीं किन्तु (संस्काराः) पशु तथा सोम रूप द्रव्य का संस्कार विधान करते हैं ।

भाष्य–विद्यमान वस्तु में अतिशयाधान का नाम "**संस्कार**" है अर्थात् जिसके होने पर वस्तु अर्थ सिद्धि योग्य होजाती है उस को '**संस्कार**' कहते हैं। मस्तक पृष्ठादि अङ्गों का चित्रीकरण पशु का, यजमान ने अपने हाथ से ग्रहण करना सोम का 'संस्कार' है, क्योंकि जब प्रकाश तथा सोम्यस्वभाव परमात्मा के उद्देश से दानार्थ स्नान कराकर मस्तक, पृष्ठ, उदरादि अङ्ग किसी रंग विशेष द्वारा रंग दिये जाते हैं और परमैश्वर्य्ययुक्तप्रजापालक परमात्मा के उद्देश से आहुति देने के लिये "**ऐन्द्रवायव**" आदि संज्ञक सोम पूरित पात्रों का अध्वर्यु अपने हाथ में ग्रहण करता है तब पशु तथा सोम अतिशय को प्राप्त हुए अर्थ सिद्धि के योग्य हो-जाते हैं, उक्त संस्कार का लाभ "**अवद्यति**" तथा "**गृह्णाति**" वाक्यों से ही होता है इसलिये वह संस्कार के विधायक हैं अपूर्व कर्म के विधायक नहीं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जो आधुनिक टीका-कारों ने पशु के जिह्वा आदि अङ्गों का काटना "अवद्यति" वाक्य का अर्थ किया है वह सूत्रकार के आशय से सर्वथा विपरीत है, सूत्रकार अवदान को पशु का संस्कार कथन करते हैं और विद्य-मान वस्तु में अतिशयाधान का नाम संस्कार है, काटना अतिशया-धान के सर्वथा विरुद्ध है, क्योंकि काटने से वस्तु का स्वरूप विगड़ जाता है, अतिशय को प्राप्त नहीं होता और आगे से कुछ अच्छा होजाने का नाम "**अतिशय**" है, यदि सूत्रकार को "**अवद्यति**" पद का अर्थ अङ्गविच्छेदरूप काटना ही अभीष्ट होता तो वह अवदान को संस्कार निरूपण न करते, संस्कार निरूपण करने से

ज्ञात होता है कि यहां "अवद्यति" पद का अर्थ अङ्गविच्छेद रूप काटना नहीं किन्तु किसी रङ्ग विशेष के द्वारा एक अङ्ग को दूसरे अङ्ग से व्यावृत्त करना है इसलिये उक्त टीकाकारों का अर्थ सर्वथा वैदिकपथ से गिरा हुआ होने के कारण वैदिकों को दूरतः त्याज्य है और जो आधुनिक टीकाकारों ने अपने अर्थ की पुष्टि के लिये "आलभेत" पद का अर्थ हिंसा किया है वह उनकी परम भूल है क्योंकि लभ धातु का अर्थ लाभ और आङ् का अर्थ विशेष है, जिस क्रिया से कर्त्ता को विशेष लाभ प्राप्त होता है उस क्रिया का वाचक "आलभेत" पद है, सुखसम्पत्ति को विशेष लाभ कहते हैं उसकी प्राप्ति पशु के दान से होसक्ती है हिंसा से नहीं, क्योंकि हिंसा वेद निषिद्ध होने के कारण केवल अनर्थ ही का जनक है जैसाकि मीमांसा दर्शन के भाष्यकर्त्ता शबर स्वामी ने भी "चोदना" सूत्र के भाष्य में कहा है कि "हिंसा हि सा हिंसा च प्रतिषिद्धा" = जिस क्रिया से प्राणी के प्राण का वियोग होजाता है उसको "हिंसा" कहते हैं, और वह वेद निषिद्ध होने के कारण अनर्थ का हेतु है, अनर्थ और विशेषलाभ यह दोनों परस्पर अत्यन्त विपरीत हैं, जिस क्रिया से अनर्थ की प्राप्ति होती है उससे विशेषलाभरूप अर्थ की प्राप्ति नहीं होसक्ती इसलिये "आलभेत" पद का " हिंसा " अर्थ करना ठीक नहीं । दूसरे इस पद का हिंसा अर्थ करना शबर स्वामी के आशय से भी विरुद्ध है, उक्त स्वामीजी ने जो " तमालभ्य = तमुपयुज्य " मी० १। २। १० इस प्रकार आलभ्य पद का विवर्ण उपयुज्य किया है, इससे " आलभेत " का विवर्ण " उपयुञ्जीत " ज्ञात होता है,

जिसका उपयुञ्जीत = इष्टसिद्धिसाधनंव्यापारंकुर्वीत = जिस क्रिया से सुख की प्राप्ति होती है उस क्रिया को करे, यह अर्थ होता है। सुख की प्राप्ति हिंसा क्रिया से नहीं होसक्ती किन्तु विधिपूर्वक दान क्रिया से होसक्ती है इसलिये "आलभेत" पद का विधि पूर्वक "त्याग" अर्थ करना समीचीन है हिंसा नहीं।

सं०-ननु, "सोमेन यजेत" वाक्य से एक ही सोम याग का विधान पाया जाता है और "ऐन्द्र वायवं गृह्णाति" आदि वाक्य दश सोम पात्रों का ग्रहण विधान करते हैं, सो एक याग में दश पात्रों का ग्रहण कैसे होसक्ता है? उत्तर:-

तद्भेदात्कर्मणोऽभ्यासो द्रव्यपृथक्त्वादनर्थकं हि स्याद्भेदो द्रव्यगुणीभावात्। १९।

पद०-तद्भेदात्। कर्मणः। अभ्यासः। द्रव्यपृथक्त्वात्। अनर्थकं। हि। स्यात्। भेदः। द्रव्यगुणीभावात्।

पदा०-(तद्भेदात्) पात्रों का भेद होने से (कर्मणः) सोम याग की (अभ्यासः) आवृत्ति होती है, क्योंकि (द्रव्यपृथक्त्वात्) पात्र भेद के कारण तत्स्थ सोम द्रव्य का भी भेद है और (हि) यदि कर्म की आवृत्ति न कीजाय तो (भेदः) उसका भेद (अनर्थकं) निरर्थक (स्यात्) होजाता है और (द्रव्यगुणीभावात्) सोमरूप द्रव्य का अंग होने से ग्रहण की आवृत्ति भी आवश्यक है।

भाष्य-एक ही कर्म के पुनः २ अनुष्ठान का नाम "अभ्यास" है, अभ्यास और आवृत्ति यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जैसे "अग्निहोत्रं जुहोति" वाक्य से विहित अग्निहोत्र कर्म की सायं प्रातः

आवृत्ति होती है वैसे ही सोम याग की भी आवृत्ति होनी चाहिये और आवृत्ति के होने से दश पात्रों का ग्रहण सार्थक होजाता है अर्थात् परस्पर विलक्षण ऐश्वर्य्य प्रजापालनादि गुण विशिष्ट परमात्मा के उद्देश से आहुति देने के लिये "ऐन्द्र वायव" आदि संज्ञक दश पात्रों में सोमरस भर कर रखा गया है उनके मध्य जिस २ गुण विशिष्ट परमात्मा के उद्देश से आहुति देने के लिये जिस पात्र का ग्रहण किया गया है उस पात्र के अतिरिक्त अन्य पात्र से उस २ गुण विशिष्ट परमात्मा के उद्देश से आहुति नहीं देसक्ते, क्योंकि गुणों के भेद से परमात्मरूप देवता का और पात्र के भेद से सोमरूप द्रव्य का भेद है, इसलिये द्रव्य देवता के भेद होने के कारण जैसे एक ही अग्निहोत्र कर्म की सायं तथा प्रातः आवृत्ति की जाती है वैसे ही द्रव्य तथा देवता का भेद होने के कारण याग की आवृत्ति होनी उचित है, जैसे द्रव्य तथा देवता के भेद से याग की आवृत्ति उचित है वैसे ही ग्रहण की आवृत्ति भी आवश्यक है, क्योंकि ग्रहण संस्कारकर्म होने के कारण गौण और सोम रूप द्रव्य संस्कार्य्य होने से प्रधान है और यथा प्रधान गुण की आवृत्ति सर्व सम्मत है, इसलिये दशो पात्रों का युगपत् एक ग्रहण करके पश्चात् विभाग पूर्वक याग करना ठीक नहीं, किन्तु प्रतिपात्र याग भेद की भांति ग्रहण भेद भी उचित है । भाव यह है कि यद्यपि "सोमेन यजेत" वाक्य विहित सोम याग एक है तथापि द्रव्य देवता का भेद होने के कारण उसकी तथा संस्कार कर्म होने के कारण प्रति द्रव्य ग्रहण की आवृत्ति होने में कोई दोष नहीं ।

सं०-ननु, जैसे "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" आदि वाक्य विहित द्रव्य के भेद से याग का अभ्यास होता है वैसेही "खादिरे-

पशुं बध्नाति" = खैर के स्तंभ के साथ पशु को बांधे "पालाशे पशुं बध्नाति" = पलाश के स्तंभ के साथ पशु को बांधे, इत्यादि वाक्य विहित पशु बन्धन की भी आवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि पूर्ववत् यहां भी स्तंभ रूप द्रव्य का भेद है ? उत्तर :-

संस्कारस्तु न भिद्येत परार्थत्वाद्द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् । २० ।

पद०-संस्कारः । तु । न । भिद्येत । परार्थत्वात् । द्रव्यस्य । गुणभूतत्वात् ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (संस्कारः) पशु बन्धन रूप संस्कार की (न, भिद्येत) यूप का भेद होने पर भी आवृत्ति नहीं होसक्ती, क्योंकि (परार्थत्वात्) यूप पशु बन्धन के लिये होने से (गुणभूतत्वात्) गौण है ।

भाष्य-प्रधान के अनुरोध से गुण की आवृत्ति होती है, गुण के अनुरोध से प्रधान की नहीं, यह नियम है । जो दूसरे के लिये होता है उसको "गुण" कहते हैं गुण, गौण, शेष, अङ्ग, यह सब पर्य्याय शब्द हैं । परमात्मा के उद्देश से जो पशु यज्ञ में दान किया जाता है उस के बान्धने के लिये यज्ञ भूमि में एक स्तम्भ गाढ़ा जाता है वह खैर अथवा पलाश की लकड़ी का होता है, जो खैरकी लकड़ी का होता है उसको "खादिर" और जो पलाश की लकड़ी का होता है उसको "पालाश" कहते हैं, उक्त स्तम्भ के साथ पशु का बान्धना एक प्रकार का "पशु संस्कार" है, इस पशु बन्धन रूप संस्कार क्रिया के प्रति पशु "प्रधान" और स्तंभ

"गौण" है, क्योंकि वह केवल पशु बन्धन के लिये ही गाढ़ा गया है इसलिये स्तंभरूपद्रव्य के अनुरोध से पशुबन्धनरूप संस्कार की आवृत्ति नहीं होसक्ती। तात्पर्य्य यह है कि "खादिरे पशुं बध्नाति" "पालाशे बध्नाति" वाक्य समुच्चय के अभिप्राय से खादिर तथा पालाश स्तंभ के साथ पशु के बान्धने का विधान नहीं करते, किन्तु विकल्प के अभिप्राय से करते हैं अर्थात् पशु बन्धन के लिये जो स्तंभ होना चाहिये वह खादिर का हो अथवा पलाश का हो दोनों की आवश्यकता नहीं, और "ऐन्द्रं वायवं गृह्णाति" आदि वाक्य जो सोमपात्र के ग्रहण का विधान करते हैं वह समुच्चय के अभिप्राय से करते हैं विकल्प के अभिप्राय से नहीं। इसलिये सोम द्रव्य के अनुरोध से याग क्रिया की आवृत्ति होसक्ती है स्तंभ रूप द्रव्य के अनुरोध से बन्धनरूप संस्कार क्रिया की नहीं।

सं०-अब संख्याकृत कर्मभेद का निरूपण करते हैं:-

पृथक्त्वनिवेशात्संख्यया कर्मभेदः स्यात्। २१।

पद०-पृथक्त्वनिवेशात्। संख्यया। कर्मभेदः। स्यात्।

पदा०-(संख्यया) संख्या भेद से (कर्मभेदः) कर्म का भेद (स्यात्) होता है, क्योंकि उसका (पृथक्त्वनिवेशात्) संख्येय भेद के साथ नियत सम्बन्ध है।

भाष्य-वाजपेय याग के प्रकरण में पठित "सप्तदश प्राजापत्यान् पशूनालभते"=प्रजापतिः=प्रजापालक परम

पिता परमात्मा के उद्देश से सप्तदश पशु का विधिपूर्वक त्याग करे। इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इसमें सप्तदश पशु-करणक एक ही याग का विधान है किंवा प्रदेय पशु द्रव्य का भेद होने से सप्तदश याग का विधान है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि याग का प्रधान साधन द्रव्य है साधन, करण, यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं उसके भेद से याग का भेद होना संभव है और संख्या के भेद से उसका भेद स्पष्ट है, इसलिये उक्त द्रव्य साधनक सप्तदश याग हैं एक नहीं।

सं०—अब संज्ञाकृत कर्म का भेद निरूपण करते हैं:—

संज्ञाचोत्पत्तिसंयोगात्। २२।

पद०—संज्ञा। च। उत्पत्तिसंयोगात्।

पदा०—(च) और (संज्ञा) संज्ञा भी कर्म का भेदक है, क्योंकि उसका (उत्पत्तिसंयोगात्) कर्म विधायक वाक्य के साथ सम्बन्ध है।

भाष्य—"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में पठित "**अथैष ज्योतिः १ अथैष विश्वज्योतिः २ अथैष सर्वज्योतिः ३ एतेन सहस्रदक्षिणेन यजेत**" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, ज्योतिः, विश्वज्योतिः, सर्वज्योतिः, इन तीन नामों से पूर्व प्रकृत "ज्योतिष्टोम" याग का अनुवाद करके उक्त वाक्य से उसमें एक सहस्रदक्षिणारूप गुण का विधान है अथवा एक सहस्र द-क्षिणा वाले उक्त नामके तीन यागों का विधान है? यह सन्देह है, इस की निवृत्ति उक्तसूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि ज्योतिष्टोम का प्रकरण है तथापि "अथ" शब्द से प्रकरण का विच्छेद होजाने के कारण उक्त तीनों नाम उसके नहीं होसक्ते और दूसरे "ज्योतिष्टोम" की

द्वादशशत दक्षिणा होने से एकसहस्रदक्षिणा भी नहीं होसक्ती, इसलिये उक्त वाक्य "ज्योतिः" आदि नामों से "ज्योतिष्टोम" का अनुवाद करके एकसहस्रदक्षिणारूप गुण का विधान नहीं करता किन्तु एकसहस्रदक्षिणा वाले उक्त नाम के तीन यागों का विधायक है। भाव यह है कि "ज्योतिः" "विश्वज्योतिः" "सर्वज्योतिः" संज्ञक तीनों याग "ज्योतिष्टोम" याग से भिन्न हैं इनकी एकसहस्र और "ज्योतिष्टोम" की द्वादशशत दक्षिणा है।

सं०—अब गुण के भेद से कर्म का भेद निरूपण करते हैं:—

गुणश्चापूर्वसंयोगे वाक्ययोः समत्वात्। २३।

पद०—गुणः। च। अपूर्वसंयोगे। वाक्ययोः। समत्वात्।

पदा०—(च) और (अपूर्वसंयोगे) प्रकृत देवता के साथ सम्बन्ध न होने से (गुणः) गुण, कर्म का भेदक है, क्योंकि ऐसा मानने से (वाक्ययोः) पूर्वोत्तर दोनों वाक्य (समत्वात्) सम होजाते हैं।

भाष्य—चातुर्मास्य याग के वैश्वदेव पर्व में "सा वैश्वदेव्यामिक्षा" वाक्य के अनन्तर पठित "वाजिभ्यो वाजिनम्" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, गरम दुग्ध में दधि के डालने से जो उसका फुटकी २ भाग है उसको "आमिक्षा" तथा शेष पानी मात्र को "वाजिन" और विश्वेदेव के लिये होने से आमिक्षा को "वैश्वदेवी" कहते हैं, यहां अग्नि आदि का नाम विश्वेदेव है, उक्त वाक्य "वैश्वदेव" याग के "विश्वदेव" देवता का "वाजिभ्यः" पद से अनुवाद करके उसमें "वाजिन" गुण का विधान करता है किंवा कर्मान्तर का विधायक है? यह सन्देह

है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि "वैश्वदेव" याग प्रथम ही आमिक्षारूप द्रव्य से अवरुद्ध होने के कारण निरा-कांक्ष है उसको द्रव्य की कोई आकांक्षा नहीं और आंकाक्षा के विना द्रव्य का सम्बन्ध होना असंभव है, और दूसरे "वाजिभ्यः" पद से विश्वेदेव का अनुवाद भी नहीं होसक्ता, क्योंकि वह उनका वाचक नहीं है और "वाजं = आमिक्षारूपं अन्नं अस्ति येषां ते वाजिनः = विश्वेदेवाः, तेभ्यः" = आमिक्षारूप अन्न जिन विश्वेदेवों के लिये हो उनको "वाजी" कहते हैं,इस व्युत्पत्ति से "वाजिभ्यः" पद का विश्वेदेव अर्थ करना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा अर्थ करने में प्रसिद्धि का वाध होजाता है, वाजीपद की प्रसिद्धि तो वेगशाली पदार्थ में है, विश्वदेव में नहीं,इसलिये "वाजिभ्यो वाजिनं" वाक्य वैश्वदेव याग में गुण का विधायक नहीं किन्तु कर्मान्तर का विधा-यक है। तात्पर्य्य यह है कि देवता के साथ द्रव्य के सम्बन्ध का नियामक तद्धित प्रत्यय किंवा चतुर्थी विभक्ति होती है, प्रकृत याग के देवता विश्वेदेव के वाचक विश्वेदेव पद से आगे जो तद्धित प्रत्यय है उससे उसके साथ आमिक्षा का सम्बन्ध होसक्ता है "वाजिन" का नहीं, और वाजिन का सम्बन्ध "वाजि" के साथ चतुर्थी वि-भक्ति से अत्यन्त स्पष्ट है, इसलिये "वाजिभ्यो वाजिनम्" वाक्य में श्रूयमाण वाजिन रूप गुण का प्रकृत देवता के साथ सम्बन्ध न होने से सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य गुण का विधायक नहीं किन्तु वाजी देवता तथा वाजिन द्रव्य वाले कर्मान्तर का विधा-यक है, ऐसा मानने में लाभ यह है कि उक्त दोनों वाक्य स्वतन्त्र भिन्न २ कर्म का विधायक होने से सार्थक होजाते हैं। अतएव उस को स्वतन्त्र कर्म का विधायक मानना ही ठीक है।

यहां इतना स्मरण रहे कि यद्यपि परमात्मा एक है तथापि शक्तियों के अनन्त होने से एक२ शक्ति की प्रधानता के कारण उसका इन्द्र, महेन्द्र, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्र, सोम, अश्वनी, वरुण, प्रजापति, इत्यादि नानारूप से वर्णन तथा स्तवनकिया जाता है, शक्ति, गुण यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं परमात्मा के इन्हीं नानारूपों को मीमांसक देवता कहते हैं, और जिसके उद्देश से वस्तु का त्याग किया जाय उसका नाम "देवता" है, यह देवता का लक्षण करते हैं, जिन २ शक्तियों की प्रधानता से परमात्मा के नानारूप वर्णन किये जाते हैं उनके मध्य जिस शक्ति का मनुष्य, पशु, पक्षी आदि चेतनाचेतन पदार्थों में विशेषरूप से प्रादुर्भाव है वहभी देवता नाम से कथन किये जाते हैं, अतएव परमात्मा के उद्देश से त्याग की गई वस्तु का उनको देना भी परमात्मा को देना ही समझा जाता है, "वाजिभ्यो वाजिनम्" वाक्य में जो "वाजिभ्यः" पद है वह भी देवता का वाचक है, वह देवता प्रकृत में अत्यन्त वेगशाली अश्व लेने चाहियें, क्योंकि इसमें लोक प्रसिद्धि का बाध नहीं होता और अर्थ भी सङ्गत होजाता है और परमात्मा की शक्तिभूत अत्यन्त वेग का प्रादुर्भाव होने से अश्व को देवता कह सक्ते हैं और उनमें वाजिन द्रव्य का विनियोग भी भले प्रकार होजाता है सांसारिक पदार्थों के मध्य किस पदार्थ में परमात्मा की शक्ति का विशेषरूप से प्रादुर्भाव है उसका वर्णन गीता के दशमाध्याय में स्पष्ट है, जिसका वर्णन "गीतायोगप्रदीपार्य्यभाष्य" में विस्तार पूर्वक किया गया है विशेष जाननेवाले वहां देखलें।

सं०—ननु, जैसे "वैश्वदेव्यामिक्षा" वाक्यविहित 'वैश्व-

देव' कर्म में "वाजिभ्यो वाजिनम्" वाक्य वाजिन रूप गुण का विधायक नहीं, वैसेही "अग्निहोत्रं जुहोति" वाक्य-विहित 'अग्निहोत्र' कर्म में "दध्ना जुहोति" वाक्य भी दधि-रूप गुण का विधायक न होना चाहिये ? उत्तर :-

अगुणे तु कर्मशब्दे गुणास्तत्रप्रतीयेत ।२४।

पद०-अगुणे । तु । कर्मशब्दे । गुणः । तत्र । प्रतीयेत ।

पदा०-'तु' शब्द उक्त शंका के निराकरणार्थ आया है (कर्म-शब्दे) अपूर्वकर्म का विधायक जो वाक्य (अगुणे) गुण रहित केवल कर्म का विधान करता है (तत्र) उस वाक्य से विहित कर्म में (गुणः) वाक्यान्तर द्वारा गुण का (प्रतीयेत) विधान होसक्ता है।

भाष्य-'वैश्वदेव्यामिक्षा" वाक्य गुणविशिष्ट कर्म का विधायक है इसलिये तद्विहित कर्म में वाक्यान्तर से गुण का विधान नहीं होसक्ता परन्तु "अग्निहोत्रं जुहोति" वाक्य कर्ममात्र का विधान करता है गुणविशिष्ट का नहीं, अतएव उक्त वाक्य-विहित 'अग्निहोत्र' कर्म में वाक्यान्तर गुण का विधायक होसक्ता है, कोई दोष नहीं।

सं०-अब दधि आदि गुणका फल निरूपण करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

फलश्रुतेस्तुकर्मस्यात्फलस्य कर्मयोगि-त्वात् ।२५।

पद०-फलश्रुतेः । तु । कर्म । स्यात् । फलस्य । कर्मयोगित्वात् ।

पदा०-'तु' शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (कर्म) दधि वाक्य अपूर्वकर्म का (स्यात्) विधायक है, क्योंकि (फलश्रुतेः)

उस से फल का श्रवण होता है और (फलस्य) फल का (कर्मयोगित्वात्) कर्म के साथ नियत सम्बन्ध है ।

भाष्य—अग्निहोत्र के प्रकरण में पठित "दध्ना इन्द्रियकामस्य जुहुयात्" = चक्षुरादि इन्द्रियों की कामना वाला पुरुष दधि से होम करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्तवाक्य प्रकृत "अग्निहोत्र" कर्म से अतिरिक्त कर्म का विधायक है किंवा फल विशेष के लिये दधि आदि रूप गुणमात्र का विधान करता है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितिय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य से जो इन्द्रिरूप फल का श्रवण होता है वह कर्म के विना केवल दधिरूप द्रव्य से प्राप्त नहीं होसक्ता, क्योंकि फलको कर्मजन्यत्व का नियम है अर्थात् जो २ ब्रीहि आदि फल हैं वह सब लोक में कृष्यादि कर्म जन्य देखेजाते हैं केवल द्रव्य जन्य नहीं, इन्द्रियें भी फल हैं, वह भी कर्म जन्य अवश्य होनी चाहियें इसलिये उक्त वाक्य इन्द्रियरूप फल के लिये दधि आदि रूप गुणमात्र का विधान नहीं करता किन्तु प्रकृत "अग्निहोत्र" वाक्य की भांति उक्त गुण साध्य अपूर्व कर्म का विधायक है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अतुल्यत्वात्तु वाक्ययोर्गुणे तस्य प्रतीयेत । २६ ।

पद०—अतुल्यत्वात् । तु । वाक्ययोः । गुणे । तस्य । प्रतीयेत ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (वाक्ययोः) "अग्निहोत्र" तथा "दध्नेन्द्रिय" यह दोनों वाक्य (अतुल्यत्वात्)

समान नहीं, इसलिये (तस्य) " अग्निहोत्र " कर्म में (गुणे) फल विशेष के लिये गुण का (प्रतीयेत) विधान है ।

भाष्य-जैसे "अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः" = ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की कामना वाला पुरुष प्रतिदिन सायं प्रातः अग्निहोत्र करे । इस प्रकृत अग्निहोत्र वाक्य से होम तथा फल का परस्पर जन्यजनकभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है वैसे "दध्नेन्द्रिय" वाक्य से नहीं होता, प्रत्युत उक्त वाक्य से दधिरूप गुण तथा इन्द्रिय रूप फल का जन्यजनकभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है परन्तु केवल दधि रूप गुण से उक्त फल की सिद्धि नहीं होसक्ती, क्योंकि फल मात्र को कर्म जन्यत्व का नियम है और गुणविशिष्टकर्म का विधान मानने में गौरव दोष है, इसलिये " अग्निहोत्र " वाक्य के समान होने से उसकी भांति उक्त वाक्य इन्द्रिय रूप फल की सिद्धि के लिये किसी अपूर्व कर्म का विधान नहीं करता किन्तु प्रकृत " अग्निहोत्र " कर्म का " जुहुयात् " पद से अनुवाद करके उसमें दधि रूप गुण का विधान करता है अर्थात् केवल अग्निहोत्र कर्म से स्वर्ग=ऐहिक पारलौकिक सुख की प्राप्ति होती है यदि वही कर्म दधि से किया जाय तो उससे इन्द्रिय रूप फल भी प्राप्त होसक्ता है, एतावन्मात्र में उक्त वाक्य का तात्पर्य्य है । ननु-प्रकृत "अग्निहोत्र" कर्म में " दध्नाजुहोति " आदि वाक्य से दध्यादि गुण प्राप्त हैं इसलिये उक्त वाक्य से उसकी प्राप्ति नहीं होसकती ? उत्तर-सत्यं, दध्यादि गुण वाक्यान्तर से प्राप्त हैं परन्तु फल सम्बन्ध पूर्वक प्राप्त नहीं, और उक्त वाक्य फल सम्बन्ध पूर्वक दध्यादि गुण का विधान करता है इसलिये कोई दोष नहीं ।

सं०-अब "वारवन्तीय" आदि के कर्मान्तर होने का निरूपण करते हैं :-

समेषु कर्मयुक्तं स्यात् । २७ ।

पद०-समेषु । कर्मयुक्तं । स्यात् ।

पदा०-(समेषु) समान वाक्यों में (कर्मयुक्तं) अपूर्व कर्म के साथ फल का सम्बन्ध (स्यात्) है ।

भाष्य-"अग्निष्टुत्" याग के प्रकरण में पठित "एतस्यैव रेवतीषु वारवन्तीयमग्निष्टोम साम कृत्वापशुकामो ह्येतेन यजेत"=पशु की कामना वाला पुरुष "रेवतीर्नः सधमादः" ऋग्० १।२।३०।१३ इत्यादि "रेवती" संज्ञक ऋचाओं का "वारवन्तीय"नामक साम से गान करके याग करे । इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य पशुरूप फल की सिद्धि के लिये प्रकृत "अग्निष्टुत्" याग में "रेवती" ऋगधिकरणक "वारवन्तीय" नामक सामरूप गुण विधान करता है किंवा उक्त गुण विशिष्ट अपूर्व कर्म का विधायक है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है सिद्धान्ती का कथन यह है कि जैसे प्रकृत याग के विधायक वाक्य से याग तथा फल का जन्यजनकभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है वैसे ही उक्त वाक्य से भी गुणविशिष्ट याग के साथ पशुरूप फल का जन्यजनकभाव सम्बन्ध प्रतीत होता है "दध्नेन्द्रिय" वाक्य की भांति गुण के साथ प्रतीत नहीं होता, और यदि उक्त वाक्य को पशुरूप फल सिद्धि के लिये प्रकृत याग में गुण का

विधायक मानें तो गुणनिष्ठ यागसाधनता की भांति यागनिष्ठ फल साधनता का विधायक भी मानना पड़ेगा अर्थात् उक्तगुण याग का और गुणविशिष्ट याग फल का साधन है, इस प्रकार दोनों का विधायक उक्त वाक्य को मानना होगा, क्योंकि प्रकृत याग को उक्त फल की साधनता किसी वाक्यान्तर से प्राप्त नहीं है परन्तु ऐसा मानने में वाक्यभेदरूप दोष आजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये उक्त वाक्य पशु रूप फल की सिद्धि के लिये प्रकृत याग में गुण का विधायक नहीं किन्तु प्रकृत याग से भिन्न पशु फल वाले उक्त गुणविशिष्ट अपूर्व कर्म का विधायक है ।

सं०-अब सौभर तथा निधन का एक फल कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

सौभरे पुरुषश्रुतेर्निधनं काम-संयोगः । २८ ।

पद०-सौभरे । पुरुषश्रुतेः । निधनं । कामसंयोगः ।

पदा०-(सौभरे) सौभर सम्बन्धि निधन में (पुरुषश्रुतेः) पुरुष प्रयत्न का श्रवण होता है इसलिये (निधनं) उक्त निधन (कामसंयोगः) फल वाला है ।

भाष्य-"यो वृष्टिकामः योऽन्नाद्यकामः यः स्वर्गकामः स सौभरेणस्तुवीत, सर्वे वै कामः सौभरे"=गान को "साम" कहते हैं "सौभर" साम विशेष का नाम है, जिस पुरुष को वृष्टि, अन्न तथा सुख विशेष की कामना हो वह सौभर नामक साम विशेष द्वारा परमात्मा की स्तुति करे, क्योंकि सौभर से सम्पूर्ण फल की प्राप्ति होती है । इस प्रकार सौभर का विधान

करके "हीषिति वृष्टिकामाय निधनं कुर्यात्, ऊर्गित्यन्नाद्यकामाय, ऊ इति स्वर्गकामाय" = साम के पांच अथवा सात भाग होते हैं, अन्तिम भाग का नाम निधन है, वृष्टि की कामना वाले पुरुष के लिये "हीष्" अन्न की कामना वाले पुरुष के लिये "ऊर्ग्" सुख विशेष की कामना वाले पुरुष के लिये "ऊ" का निधन करे अर्थात् हीषादि में साम की समाप्ति करे यह वाक्य पढ़ा है, उक्त वाक्य "सौभर" साम के वृष्टि आदि फल से भिन्न वृष्टि आदि फल के लिये "हीषादि" निधन विशेष का विधायक है किंवा उक्त साम के फल का अनुवाद करके हीषादि रूप से निधन का व्यवस्थापक है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि निधन वाक्य में "कुर्यात्" पद से पुरुष प्रयत्न का श्रवण होता है और प्रयत्न का फल के साथ नियत सम्बन्ध है, क्योंकि प्रयत्न से क्रिया और क्रिया से फल होता है। यदि उक्त वाक्य को स्वतन्त्र फल के लिये निधन विशेष का विधायक न मानें तो पुरुष प्रयत्न का श्रवण अनुपपन्न होजाता है और दूसरे निधनवाक्य में जो "वृष्टिकामाय" इत्यादि चतुर्थी का श्रवण होता है उससे हीषादिक वृष्ट्यादिकाम पुरुष का शेष प्रतीत होते हैं क्योंकि वह तादर्थ्य चतुर्थी है परन्तु हीषादिक पुरुष का शेष तभी होसक्ते हैं जब उन को पुरुषाभिलषित वृष्ट्यादि फल का साधन माना जाय अन्यथा नहीं, इसलिये उक्त वाक्य सौभर के फल वृष्ट्यादि से भिन्न-पुरुष को अभिलषित वृष्ट्यादि फल के लिये हीषादि निधन विशेष का विधायक है, व्यवस्थापक नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

सर्वस्य वोक्तकामत्वात्तस्मिन्कामश्रुतिः स्यात् निधनार्था पुनःश्रुतिः । २९ ।

पद०–सर्वस्य । वा । उक्तकामत्वात् । तस्मिन् । कामश्रुतिः । स्यात् । निधनार्था । पुनः । श्रुतिः ।

पदा०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वस्य) सम्पूर्ण साम को (उक्तकामत्वात्) उक्त वृष्ट्यादि फल की हेतुता है भाग को नहीं इसलिये (तस्मिन्) सौभर में (कामश्रुतिः) फल का श्रवण (स्यात्) मुख्य है (पुनः) और (श्रुतिः) निधन वाक्य में जो फल का श्रवण है वह (निधनार्था) व्यवस्था के लिये है ।

भाष्य–सम्पूर्ण साम फल को सिद्ध कर सक्ता है भागहीन किंवा उसका कोई एक भाग फल को सिद्ध नहीं कर सक्ता, क्योंकि लोक में ऐसा ही देखा जाता है कि दण्ड चक्र आदि सम्पूर्ण सामग्री घटको उत्पन्न कर सक्ती है भागहीन किंवा उसका कोई एक भाग दण्ड अथवा चक्र नहीं, निधन सौभर साम का एक भाग है उसका वृष्ट्यादिक फल नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त वाक्य सौभर साम के वृष्ट्यादि फल का "**वृष्टिकामाय**" इत्यादि पदों से अनुवाद करके निधन की व्यवस्था करता है कि यदि वृष्टि की कामना वाला पुरुष हो तो उसके सौभर साम का "हीष्" अन्नकी कामना वाले पुरुष के साम का "ऊर्ग्" और स्वर्ग की कामना वाले पुरुष के साम का "ऊ" निधन होना चाहिये, कोई सौभर साम के फल से भिन्न फल के लिये निधन विशेष का विधायक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि निधन का फल सौभर के फल से भिन्न नहीं किन्तु दोनों का फल एक है इसलिये तादर्थ्य चतुर्थी तथा पुरुष प्रयत्न का श्रवण भी उपपन्न है कोई दोष नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाषा
भाष्ये द्वितीयाध्याये
द्वितीयपादः

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये तृतीयःपादः प्रारभ्यते

सं०–अब ग्रहाग्रता को ज्योतिष्टोम का अङ्ग = गुण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

गुणस्तु क्रतुसंयोगात्कर्मान्तरं प्रयोजयेत्संयोगस्याशेषभूतत्वात् । १ ।

पद०–गुणः । तु । क्रतुसंयोगात् । कर्मान्तरं । प्रयोजयेत् । संयोगस्य । अशेषभूतत्वात् ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (गुणः) श्रूयमाण "रथन्तर" आदि सामरूप गुण (कर्मान्तरं) अन्यकर्म का (प्रयोजयेत्) प्रयोजक हैं, क्योंकि (क्रतुसंयोगात्) उसका अन्य कर्म के साथ सम्बन्ध पाया जाता है और (संयोगस्य) वह सम्बन्ध (अशेषभूतत्वात्) उसको प्रकृत कर्म से भिन्न करता है ।

भाष्य–ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित "**यदि रथन्तर सामा सोमः स्यात्, ऐन्द्रवायवाग्रान् ग्रहान् गृह्णीयात्, यदि बृहत्सामा, शुक्राग्रान्, यदि जगत्सामा, आग्रयणाग्रान्**" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, सोमलता के रस से जो याग किया जाता है उसको "**सोमयाग**" कहते हैं । सोम, ज्योतिष्टोम, यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इस याग के तीन सवन होते हैं प्रातः, मध्यान्ह और सायं अर्थात् इन तीन कालों में सोमलता कूटी जाती है । सोम के कूटने का नाम "**सवन**" है

प्रातः सवन में ऐन्द्रवायव, मैत्रावरुण, आश्विन, शुक्र, आग्रयण, उवथ्य, ध्रुव, आदि दश पात्र विशेष का ग्रहण किया जाता है, यह पात्र पलाश की लकड़ी के होते हैं इनमें सोम रस भरा रहता है और ग्रहण करने के कारण इनको "ग्रह" करते हैं, मध्याह्न सवन में "पृष्ट" नाम के स्तोत्र का गान होता है, उसमें रथन्तर, बृहत् तथा जगत्* यह तीन साम विकल्प से विधान किये हैं, यदि साम याग रथन्तर साम वाला हो तो "ऐन्द्रवायव" ग्रह का बृहत्साम वाला हो तो "शुक्र" ग्रह का तथा जगत्साम वाला हो तो "आग्रयण" ग्रह का प्रथम ग्रहण करे, यह विषय वाक्य का अर्थ है। उक्त वाक्य "ऐन्द्रवायव" आदि ग्रहाग्रतारूप गुण विशेष विशिष्ट "रथन्तरसाम" तथा "बृहत्साम" नामक कर्मान्तर का विधायक है अर्थात् जिस कर्म में "ऐन्द्रवायव" आदि ग्रहविशेषों का प्रथम ग्रहण किया जाता है ऐसे "रथन्तरसाम" तथा "बृहत्साम" आदि सोम याग विशेष का विधान करता है किंवा सोम पद से प्रकृत "ज्योतिष्टोम" का अनुवाद करके उसमें रथन्तर सामा आदि विशेषणों के अनुरोध से "ऐन्द्रवायव" आदि ग्रहाग्रतारूप गुण विशेष का विधायक है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम

---

* "अभित्वा शूरनोनुमः" ऋ० ५। ३। २१। २२ ऋचा में जो साम गान किया जाता है उसको "रथन्तर" "त्वामिद्धि हवामहे" ऋ० ४। ७। २७। १ ऋचा में जो साम गान किया जाता है उसको "बृहत्" और जगती च्छन्द वाली ऋचा में जो साम गान किया जाता है उसको "जगत्" साम कहते हैं।

पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है । पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "रथन्तर" आदि साम गुण है और उसका रथन्तरं साम यस्य = रथन्तर साम है जिस कर्म में, इत्यादि समास से कर्म विशेष के साथ सम्बन्ध प्रतीत होता है और वह सम्बन्ध उक्त कर्म को प्रकृत ज्योतिष्टोम कर्म से पृथक् करता है. क्योंकि प्रकृत याग में "जगत्" नाम का कोई साम नहीं और विषय वाक्य में "यदि जगत्सामा सोमः स्यात्" इस प्रकार "जगत्" साम वाला कर्मविशेष कथन किया है इसलिये उक्त वाक्य रथन्तर साम आदि पदों से प्रकृत ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद करके उसमें ग्रहाग्रतारूप गुणविशेष का विधान नहीं करता किन्तु उक्त गुण विशिष्ट "रथन्तरसाम" आदि नामक कर्मान्तर का विधायक है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

एकस्य तु लिङ्गभेदात्प्रयोजनार्थमुच्येतैकत्वं गुणवाक्यत्वात् । २ ।

पद०-एकस्य । तु । लिङ्गभेदात् । प्रयोजनार्थम् । उच्येत । एकत्वं । गुणवाक्यत्वात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (एकस्य) एकही प्रकृत ज्योतिष्टोम याग का (लिङ्गभेदात्) विशेषण भेद से (प्रयोजनार्थम्) ग्रहाग्रता रूप प्रयोजन के लिये (उच्येत) उक्त वाक्य कथन करता है इसलिये (गुणवाक्यत्वात्) उसको ग्रहाग्रता रूप गुण विशेष का विधायक होने से (एकत्वं) कर्म का ऐक्य है भेद नहीं ।

भाष्य–यद्यपि रथन्तरादि साम का गुण होने के कारण कर्म के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है तथापि प्रकृत ज्योतिष्टोम याग को छोड़कर और कर्म के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि उसके होने से एक तो प्रकरण का सर्वथा बाध हो जाता है और दूसरे "**रथन्तर सामा सोमः**" इस प्रकार जो '**रथन्तरसामा**' "**बृहत्सामा**" आदि पद तथा सोम पद का विशेषणविशेष्य-भाव से उपादान किया है वह उपपन्न नहीं होता अर्थात् 'रथन्तर-सामा' 'बृहत्सामा' आदि विशेषण पद हैं, और 'साम' विशेष्य पद है, विशेषण पदों का विशेष्य पद के साथ ही सम्बन्ध होता है अन्य के साथ नहीं, यह नियम है, यदि "रथन्तरंसामयस्य" इत्यादि समास में "यस्य" पद से स्वसंनिहित सोम पद के वाचक ज्योतिष्टोम का ग्रहण न किया जाय तो उक्त विशेष्यविशेषणभाव की उपपत्ति नहीं होसक्ती और 'यस्य' पद से कर्मान्तर के ग्रहण में जो यह युक्ति दी है कि 'जगत्साम' प्रकृत याग में नहीं है, इसलिये 'यस्य' पद से उसका ग्रहण नहीं होसक्ता सो ठीक नहीं, क्योंकि वह प्रकृत याग में न होने पर भी उसके विकृति याग में विद्यमान है, इसका विस्तार पूर्वक वर्णन दशम अध्याय पञ्चम पाद के पञ्चदश अधिकरण में किया जायगा, इसलिये उदाहृतवाक्य उक्त गुणविशिष्ट कर्मान्तर का विधायक नहीं किन्तु प्रकृत ज्योतिष्टोम का अनुवाद करके उसमें रथन्तर साम आदि विशेषणों के अनुरोध से ग्रहाग्रतारूपगुणविशेष का विधायक है । तात्पर्य्य यह है कि ज्योतिष्टोम में जो स्तोत्र गान किया जाता है उसमें साम का विकल्प विधान किया है उसी विकल्प के अनुसार ग्रहा-ग्रतारूपगुण की व्यवस्था के लिये उक्त वाक्य प्रवृत्त हुआ है इस-

लिये ग्रहाग्रता ज्योतिष्टोम का अङ्ग है कर्मान्तर का नहीं ।

सं०—अब ब्राह्मणादि कर्तृक अवेष्टि को कर्मान्तर कथन करते हैं :—

अवेष्टौ यज्ञसंयोगात्क्रतुप्रधानमुच्यते । ३ ।

पद०—अवेष्टौ । यज्ञसंयोगात् । क्रतुप्रधानम् । उच्यते ।

पदा०—(अवेष्टौ) राजसूय याग के अन्तर्गत अवेष्टि नामक याग की सन्निधि में पठित " यदि ब्राह्मणः " इत्यादि वाक्य (क्रतुप्रधानम्) अपूर्व कर्म के विधायक (उच्यते) हैं, क्योंकि (यज्ञसंयोगात्) प्रकृत राजसूय याग के साथ क्षत्रिय ही का सम्बन्ध है ब्राह्मणादि का नहीं ।

भाष्य—राजसूय याग के अन्तर्गत "अवेष्टि" संज्ञक याग इस प्रकार पढ़े हैं "आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपतिहिरण्यं दक्षिणा १ ऐन्द्रमेकादश कपालमृषभो दक्षिणा २ वैश्वदेवं चरुंपिशङ्गी प्रष्ठौहीदक्षिणा ३ मैत्रावरुणी मामिक्षां वशा दक्षिणा ४ बार्हस्पत्यं चरुंशितिपृष्ठो दक्षिणा "५ = प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से आठ कपालों में पकाए हुए पुरोडाश का प्रदान करे और दक्षिणा में यथा शक्ति स्वर्ण दे १ परम ऐश्वर्य्यवान् परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाए हुए पुरोडाश का प्रदान करे और दक्षिणा में एक बैल दे २ सर्वदिव्य गुण विशिष्ट परमात्मा के उद्देश से " चरु " का प्रदान करे मृत्तिका के कसोरे में पकाए हुए चार मुष्टि परिमितचावलों का नाम चरु है,कमल की धूलि के समान रङ्ग वालीप्रथम गर्भिणीगौ इसकी दक्षिणा है ३ सुख तथा प्राण के दाता परमात्मा के उद्देश से"आमिक्षा"

का प्रदान करे, इसकी दक्षिणा बकरी है ४ निखिल विद्यापति परमात्मा के उद्देश से "चरु" का प्रदान करे, इसकी दक्षिणा नील कण्ठ पक्षी है ५, इनकी सन्निधि में पठित "यदि ब्राह्मणो यजेत बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाहुतिमाहुतिं हुत्वाऽभिघारयेत्, यदि राजन्यऐन्द्रं, परिवैश्यो वैश्वदेवम्" = यदि ब्राह्मण याग करे तो बार्हस्पत्य चरु, क्षत्रिय करे तो ऐन्द्र पुरोडाश, वैश्य करे तो वैश्वदेव चरु का (मध्ये) तृतीय स्थान में स्थापन करके प्रति आहुति घृत से अभिधारण*करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं। उक्त वाक्य राजसूययाग में कर्तारूप से प्रथम प्राप्त ब्राह्मणादि का अनुवाद करके मध्य निधान विशिष्ट अभिधारण लक्षण संस्कार का विधायक है किंवा ब्राह्मणादि कर्तृक अपूर्वकर्म का विधान करता है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "राजसूय" याग के विधायक "राजाराजसूयेनयजेत" = राजा राजसूय नामक याग करे, इस वाक्य में उक्त याग का कर्त्ता राजा कथन किया है, राज्य कर्ता को राजा कहते हैं, क्षत्रिय की भांति ब्राह्मण तथा वैश्य भी राज्य कर्त्ता होसक्ते हैं, इसलिये उक्त वाक्य उक्त याग में प्राप्त ब्राह्मणादि का अनुवाद करके संस्काररूप गुण का विधायक है। इसपर सिद्धान्ती का कथन यह है कि राज्य सम्पत्ति का क्षात्रधर्म ही के साथ नियत सम्बन्ध है ब्राह्मण तथा वैश्य धर्म के साथ नहीं और जो कथञ्चित् राज्य प्राप्त कर लेने से ब्राह्मण तथा वैश्य धर्म वाले पुरुषों में राजा शब्द का प्रयोग किया जाता है वह मनुष्य में सिंह शब्द के प्रयोग की

---

* ऊपर से घृतके डालने को "अभिधारण" कहते हैं।

भांति गौण है मुख्य नहीं, मुख्य एक क्षत्रिय ही राजा शब्द का वाच्य है इसलिये उक्त याग में प्रथम ब्राह्मणादि की प्राप्ति न होने से उक्त वाक्य ब्राह्मणादि का अनुवाद करके गुण का विधान नहीं करता किन्तु राजसूय याग से बहिर्भूत ब्राह्मणादि कर्तृक अवेष्टि संज्ञक अपूर्व कर्म का विधायक है ।

सं०-अब अग्न्याधान तथा उपनयन को कर्मान्तर कथन करते हैं :-

आधाने सर्वशेषत्वात् । ४ ।

पद०-आधाने । असर्वशेषत्वात् ।

पदा०-(आधाने) आधान तथा उपनयन में विधि जाननी चाहिये, क्योंकि वह (असर्वशेषत्वात्) सब मनुष्यों के प्रति प्रथम प्राप्त नहीं है ।

भाष्य-"**वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीना दधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः**" "**वसन्ते ब्राह्मणमुपनयीत, ग्रीष्मे राजन्यं, शरदि वैश्यम्**"=वसन्त ऋतु में ब्राह्मण का, ग्रीष्म ऋतु में क्षत्रिय का और शरद् ऋतु में वैश्य का अग्न्याधान तथा उपनयन होता है । इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य प्रथम प्राप्त ब्राह्मणादि का अनुवाद करके वसन्तादि काल विशेष का विधायक हैं किंवा वसन्तादि कालविशिष्ट ब्राह्मणादि कर्तृक आधान तथा उपनयन रूप कर्मान्तर का विधायक हैं? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का आशय यह है कि वैदिक कर्म का अनुष्ठान अग्न्याधान तथा विद्या प्राप्ति के बिना नहीं होसक्ता और विद्या

की प्राप्ति उपनयन से विना नहीं होसक्ती, इस प्रकार कर्मानुष्ठानान्यथानुपपत्ति से ब्राह्मणादि कर्तृक आधान तथा उपनयन यह दोनों कर्म प्रथम प्राप्त हैं केवल वसन्तादि काल विशेष प्रथम प्राप्त नहीं है इसलिये उक्त वाक्य प्रथम प्राप्त ब्राह्मणादि का अनुवाद करके अप्राप्त वसन्तादि काल विशेष का विधान करता है, इस पर सिद्धान्ती का कथन यह है कि वैदिक कर्म के अनुष्ठान की अन्यथानुपपत्ति से ब्राह्मणादि कर्तृक आधान तथा उपनयन की प्राप्ति नहीं होसक्ती, क्योंकि उपनयन के विना भी पुस्तक पढ़कर अनुष्ठान का प्रकार जान लेने से स्वतःसिद्ध लौकिक अग्निद्वारा वैदिक कर्म का अनुष्ठान होसक्ता है, इसलिये प्रथम ब्राह्मणादि कर्तृक आधान तथा उपनयन की प्राप्ति न होने के कारण उक्त वाक्य ब्राह्मण आदि का अनुवाद करके वसन्तादि कालविशेष का विधान नहीं करता किन्तु वसन्तादि कालविशिष्ट ब्राह्मणादि कर्तृक अग्न्याधान तथा उपनयनरूप कर्मान्तर का विधायक है ।

सं०-अब "दाक्षायण" आदि को गुण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

अयनेषु चोदनान्तरं संज्ञोपबन्धात् । ९ ।

पद०-अयनेषु । चोदनान्तरं । संज्ञोपबन्धात् ।

पदा०-(अयनेषु) दाक्षायणादि वाक्यों में (चोदनान्तरं) कर्मान्तर की विधि है, क्योंकि उनमें (संज्ञोपबन्धात) कर्म की संज्ञा का सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य-दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित **"दाक्षायण यज्ञेनस्वर्गकामोयजेत" "साकंप्रस्थाप्येन पशु कामो**

यजेत "=स्वर्ग की कामना वाला पुरुष दाक्षायण याग करे और पशुकी कामना वाला साकंप्रस्थाप्य याग करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य अपूर्व कर्म का विधायक है किंवा प्रकृत याग में "दाक्षायण" आदि नामक किसी गुण विशेष का विधान करता है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "दाक्षायण" तथा "साकंप्रस्थाप्य" आदि पदों का वाच्य कोई गुण विशेष लोक में प्रसिद्ध नहीं है और "उद्भिदायजेत" की भांति याग के साथ समानाधिकरणरूप सम्बन्ध होने से वह याग का नाम प्रतीत होते हैं इसलिये उक्त वाक्य "दाक्षायण" तथा "साकंप्रस्थाप्य" आदि संज्ञक अपूर्व कर्म के विधायक हैं किसी गुण विशेष के विधायक नहीं।

सं०-अब उक्तार्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

अगुणाच्च कर्मचोदना । ६ ।

पद०-अगुणात् । च । कर्मचोदना ।

पदा०-(च) और (अगुणात्) अन्य किसी गुण का सम्बन्ध न पाये जाने से वह (कर्मचोदना) कर्ममात्र की विधि है।

भाष्य-उक्त वाक्यों का पर्य्यालोचन करने से अन्य किसी गुण का विधान भी प्रतीत नहीं होता, इसलिये वह कर्ममात्र की ही विधि है गुण की नहीं।

सं०-अब उक्तार्थ में अन्य हेतु कहते हैं :-

समाप्तं च फले वाक्यम् । ७ ।

पद०—समाप्तं । च । फले । वाक्यम् ।

पदा०—(च) और (वाक्यं) उक्त वाक्य (फले) स्वर्गादि फल में (समाप्तं) कर्ममात्र का जन्यजनकभाव सम्बन्ध बोधन करने से ही निराकांक्ष है ।

भाष्य—यदि उक्त वाक्य गुण का विधायक होता तो फल के साथ कर्म का सम्बन्ध कथन करके निराकांक्ष न होता किन्तु गुण के विधान करने के लिये साकांक्ष बना रहता परन्तु तावन्मात्र से ही निराकांक्ष प्रतीत होता है इसलिये वह कर्मविधि है गुण विधि नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

विकारो वा प्रकरणात् । ८ ।

पद०—विकारः । वा । प्रकरणात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (विकारः) उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास में गुण विशेष का विधायक है, क्योंकि (प्रकरणात्) उसके प्रकरण में पठित है ।

भाष्य—(दक्ष=उत्साही) उत्साही यजमान का नाम "दक्ष" (दक्षस्ये मे=दाक्षाः) वह जिन ऋत्विजों के द्वारा कर्म का अनुष्ठान करता है उनका नाम "दाक्ष" तथा "अयन" नाम आवृत्ति का है और दाक्ष कर्तृक आवृत्ति जिस यज्ञ की होती है उसको "**दाक्षायणयज्ञ**" और पुनः २ अनुष्ठान को "**आवृत्ति**" कहते हैं । यह आवृत्ति कर्म का गुण सर्वलोक प्रसिद्ध है अप्रसिद्ध नहीं, विद्यार्थी प्रति दिन अपने पाठकी तथा कर्षक लोग भूमि कर्षण

की आवृत्ति करते देखे जाते हैं, जैसे दाक्षायण शब्द आवृत्ति रूप गुण का वाचक है वैसे ही साकंप्रस्थाप्य भी याग में उपयुक्तदधि तथा पय की चार घड़ियों के सह प्रस्थापन अर्थात् जुटाकर रखने रूप गुण का वाचक है और "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग कामो यजेत" से दर्शपूर्णमास संज्ञक याग प्रथम प्राप्त है, इसलिये उक्त वाक्य प्रकृत दर्शपूर्णमास याग में आवृत्ति तथा साकंप्रस्थाप्यरूप गुण विशेष का विधायक है कर्मान्तर का विधायक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे अग्निहोत्र कर्म की सायं प्रातः दोनों काल में आवृत्ति होती है वैसे ही स्वर्ग की कामना वाला पुरुष सायं प्रातः दोनों काल में दर्शपूर्णमास कर्म की आवृत्ति करे और पशु की कामना वाला पुरुष उक्त याग में दधि तथा पय की कुम्भीचतुष्टय का सहप्रस्थापन करे, यह उक्त वाक्यों का अर्थ है उद्भिदादि की भांति दाक्षायण आदि पद कर्म का नाम नहीं किन्तु आवृत्ति आदि गुण विशेष का नाम है इसलिये उक्त वाक्य कर्मान्तर का विधायक नहीं किन्तु गुण का विधायक है।

सं०—अब उक्तार्थ में हेतु कहते हैं :—

लिङ्गदर्शनाच्च । ९ ।

पद०—लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखने से प्रतीत होता है कि उक्त वाक्य गुण का विधायक है कर्मान्तर का नहीं।

भाष्य—शब्द सामर्थ्य का नाम "लिङ्ग" है "त्रिंशतं वर्षाणि दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत, यदि दाक्षायण याजी स्यात्, अथो अपिपञ्चदशैव वर्षाणि यजेत, अत्र हि

एवसा सम्पद्यते, द्वे हि पौर्णमास्यौ यजेत, द्वे अमावास्ये, अत्र हि एव खलु सा सम्पत् भवति" = तीस वर्ष पर्य्यन्त दर्शपूर्णमास याग करे, यदि दाक्षायण याजी हो तो पन्द्रह वर्ष ही उक्त याग करे, क्योंकि जो फल तीस वर्ष पर्य्यन्त उक्त याग के करने से प्राप्त होता है वह दाक्षायण याजी को पन्द्रह वर्ष में ही प्राप्त होजाता है अर्थात् जो प्रतिदिन सायं प्रातः दो दर्शयाग तथा दो पूर्णमास याग करता है उसको वही संपत्ति प्राप्त होती है जो तीस वर्ष के करने से होती है, यह वाक्य उक्त वाक्य के आगे पढ़ा है, इस वाक्यशेष में जो तीस वर्ष पर्य्यन्त उक्त याग के करने की आज्ञा देकर पुनः दाक्षायण याजी को पन्द्रह वर्ष की आज्ञा दी है और तीस तथा पन्द्रह वर्ष में अनुष्ठान किये कर्म का फल समान निरूपण किया है यह दर्शपूर्णमास याग तथा दाक्षायण याग के एक होने में लिङ्ग है अर्थात् उक्त वाक्य की सामर्थ्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि "दाक्षायण यज्ञेन यजेत" वाक्य दाक्षायण रूप गुण विशेष विधान के लिये प्रकृत याग ही का अनुवाद करता है कर्मान्तर का विधान नहीं करता, यदि दाक्षायण याग प्रकृत याग से भिन्न होता तो तीस वर्ष पर्य्यन्त दर्शपूर्णमास याग के अनुष्ठान की आज्ञा देकर पुनः उसी फल के लिये दाक्षायण याजी को पन्द्रह ही वर्ष की आज्ञा न दी जाती, इसी से स्पष्ट होता है कि दाक्षायण नाम आवृत्ति का है, क्योंकि तीस वर्ष में होने वाला याग ही आवृत्ति करने से पन्द्रह वर्ष में होसक्ता है इसलिये दाक्षायण यज्ञ का अर्थ आवृत्ति वाला यज्ञ होने से सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य गुण विशेष का विधायक है कर्मान्तर का नहीं ।

सं०—अब पूर्वपक्ष सूत्र में कथन किये "संज्ञोपबन्धात्" हेतु का समाधान करते हैं :—

गुणात्संज्ञोपबन्धः । १० ।

पद०—गुणात् । संज्ञोपबन्धः ।

पदा०—(गुणात्) आवृत्ति रूप गुण के (संज्ञोपबन्धः) याग की दाक्षायण संज्ञा कथन की गई है।

भाष्य—पूर्वोक्त व्युत्पत्ति से दाक्षायण शब्द आवृत्तिरूप गुण का वाचक है, उसी गुण के सम्बन्ध से प्रकृत याग को दाक्षायण याग कहते हैं अपूर्व कर्म के तात्पर्य्य से नहीं ।

सं०—अब ७वें सूत्र में कथन किये पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

समाप्तिरविशिष्टा । ११ ।

पद०—समाप्तिः । अविशिष्टा ।

पदा०—(समाप्तिः) उक्त वाक्य का निराकांक्ष होना (अविशिष्टा) कर्म फल के सम्बन्ध कथन करने की भांति गुण फल के सम्बन्ध कथन करने में भी समान है ।

भाष्य—जैसे फल के साथ कर्म का सम्बन्ध कथन करने से उक्त वाक्य निराकांक्ष होजाता है वैसे ही फल के साथ उक्त गुण का सम्बन्ध कथन करने से भी निराकांक्ष होजाता है, इसलिये वाक्य का निराकांक्ष होना कर्मान्तर विधि का प्रयोजक नहीं, अतएव वह गुण का विधायक है कर्मान्तर का नहीं ।

सं०—अब "वायव्यंश्वेतम्" इत्यादि वाक्यों को अपूर्व कर्म का विधायक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

संस्कारश्चा प्रकरणेऽकर्मशब्दत्वात् । १२ ।

पद०—संस्कारः । च । अप्रकरणे । अकर्मशब्दत्वात् ।

पदा०—यहां "च" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (अप्रकरणे) अप्रकरण पठित "वायव्यंश्वेतम्" इत्यादि वाक्य (संस्कारः) स्पर्शरूप संस्कार आदि गुण के अनुवादक हैं अपूर्व कर्म के विधायक नहीं, क्योंकि उनमें (अकर्मशब्दत्वात्) उसका वाचक कोई शब्द नहीं ।

भाष्य—अप्रकरण पठित* "**वायव्यंश्वेतमालभेत भूतिकामः**" "**सौर्य्यं चरुं निर्वपेद्ब्रह्मवर्चसकामः**" इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य "दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में पठित "**ईषामालभेत**"=शकट के आगे की लम्बी लकड़ी का नाम "**ईषा**" है, उसका स्पर्श करे "**चतुरोमुष्टीर्निर्वपति**"=चरु के लिये चार मुष्टिभर चावलों का निर्वाप करे, इत्यादि वाक्य ईषास्पर्श तथा चरुनिर्वाप का अनुवाद करके "ईषा" में श्वेत गुण तथा चरु सिद्धि के लिये अपेक्षित चरु† = स्थाली

---

* जो वाक्य किसी याग विशेष के प्रकरण में पठित नहीं है उसको "**अप्रकरण पठित**" कहते हैं अनारभ्याधीत तथा अप्रकरणपठित यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, ऐश्वर्य्य की कामना वाला पुरुष प्रजापालक परमात्मा के उद्देश से शुक्ल वर्ण की गौ का त्याग करे ? ब्रह्म तेज की कामना वाला प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से "चरु" का प्रदान करे, यह सिद्धान्त पक्ष में उक्त दोनों वाक्यों का अर्थ है ।

† "चरु" शब्द शक्तिवृत्ति से "ओदन" भात लक्षणावृत्ति से स्थाली को कहता है स्थाली, हाण्डी, पाकपात्र, यह सब पर्य्याय शब्द हैं ॥

रूप गुण का विधायक है किंवा उक्त फल के लिये यावदुक्त स्पर्श मात्र तथा निर्वापमात्र कर्म का विधायक है अथवा दर्शपूर्णमास याग के समान प्रधान कर्म का विधायक है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम तथा द्वितीय पक्ष पूर्वपक्षी और तृतीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि दर्शपूर्णमास याग में ईषास्पर्श तथा चरुनिर्वाप प्रथम विहित हैं और भूति तथा ब्रह्मवर्चस फल भी उक्त याग को सर्व फल का दाता होना प्रथम प्राप्त है और विहित का पुनः विधान नहीं होसक्ता और आलभेत आदि पद के बिना प्रधान कर्म का वाचक कोई पद प्रतीत नहीं होता, इसलिये उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास याग के अतिरिक्त किसी भागान्तर का विधान नहीं करते किन्तु प्रथम विहित स्पर्श आदि का आलभेत आदि पद से अनुवाद करके स्पर्शनीय ईषा आदि में श्वेतादि गुण का विधान करते हैं अर्थात् जिस ईषा का स्पर्श विधान किया है वह वायु से स्पर्शित तथा रङ्ग की श्वेत होनी चाहिये और चरु सिद्धि के लिये चार मुष्टि चावलों का निर्वाप सूर्य्य पद के वाच्य अग्नि सम्बन्धि स्थाली में होना चाहिये, यह उक्त दोनों वाक्य विधान करते हैं, इसलिये वह अपूर्व कर्म के विधायक नहीं।

सं०—अब द्वितीय पूर्वपक्ष का निरूपण करते हैं :—

यावदुक्तं वा कर्मणः श्रुतिमूलत्वात् । १३ ।

पद०—यावदुक्तं । वा । कर्मणः । श्रुतिमूलत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्षान्तर के लिये आया है (यावदुक्तं) उक्त वाक्य स्पर्श तथा निर्वापमात्र कर्म के विधायक हैं, क्योंकि (कर्मणः) कर्म का (श्रुतिमूलत्वात्) यथा श्रवण ही विधान मानना उचित है।

भाष्य-उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित नहीं अतएव वह स्पर्श आदि का अनुवाद करके श्वेत आदि गुण का विधान नहीं कर सक्ते, क्योंकि अप्रकरण पठित होने से उनके साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं, और बिना सम्बन्ध के गुण का विधान नहीं होसक्ता इसलिये उक्त वाक्य भूति आदि फल के लिये स्पर्श तथा निर्वाप मात्र कर्म का विधान करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्यों से स्पर्श तथा निर्वाप का श्रवण होता है और यथा श्रवण ही कर्म का विधान मानना उचित है इसलिये वह उक्त फल की सिद्धि के लिये यत्किञ्चिद्द्रव्य के स्पर्श तथा चरुनिर्वाप लक्षण कर्म के विधायक हैं किसी प्रधान कर्म के नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

यजतिस्तु द्रव्यफलभोक्तृसंयोगादेतेषां कर्म-सम्बन्धात्। १४।

पद०-यजतिः। तु। द्रव्यफलभोक्तृसंयोगात्। एतेषां। कर्म-सम्बन्धात्।

पदा०-'तु' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (यजतिः) उक्त वाक्य प्रधान कर्म के विधायक हैं, क्योंकि उनसे(द्रव्यफलभोक्तृ-संयोगात्) द्रव्य, फल तथा देवता तीनों का सम्बन्ध पायाजाता है और (एतेषां) उक्त तीनों का (कर्मसम्बन्धात्) प्रधान कर्म के साथ नियत सम्बन्ध है।

भाष्य-द्रव्य, देवता यह दोनों याग का स्वरूप हैं और फल उसका प्रयोजन है, जिस वाक्य से इन तीनों के सम्बन्ध का श्रवण होता है वह प्रधान कर्म का विधायक होता है यह नियम है, उक्त वाक्यों

से भी पश्वादि द्रव्य, वायु आदि देवता तथा भूति आदि फल के सम्बन्ध का श्रवण पायाजाता है, इसलिये वह गुण किंवा यावदुक्त कर्म के विधायक नहीं किन्तु प्रधान कर्म के विधायक हैं। तात्पर्य्य यह है कि गुणविधि मानने में फल का श्रवण व्यर्थ होजाता है और यावदुक्त आलम्भ तथा निर्वापरूप कर्म अतिदेश से प्राप्त है उसका विधान मानना भी ठीक नहीं, इसलिये उक्त वाक्य अपूर्व कर्म के विधायक हैं, यही मानना समीचीन है।

सं०-अब उक्तार्थ में और हेतु कहते हैं:-

लिङ्गदर्शनाच्च। १९।

पद०-लिङ्गदर्शनात्। च।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखे जाने से उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"सौमारौद्रंचरुंनिर्वपेत्" = सोम्य तथा रौद्र स्वभाव परमात्मा के उद्देश से चरु का निर्वाप करे, इस प्रकार चरु निर्वाप का विधान करके जो पुनः "परिश्रितेयाजयेत्"=समाजमें याग करावे, उक्त निर्वाप का यागवाची यजि पद से अनुवाद करके परिश्रयण गुण का विधान किया है, वह उक्त वाक्यों के याग विधायक होने में लिङ्ग है अर्थात् जैसे सौमारौद्र वाक्य में निर्वापमात्र अभिप्रेत नहीं किन्तु याग अभिप्रेत है वैसे ही उक्त वाक्यों में भी याग विधान ही अभिप्रेत है गुण विधान किंवा निर्वापमात्र विधान अभिप्रेत नहीं।

सं०-अब "वत्समालभेत" वाक्य को संस्कार कर्म का विधायक कथन करते हैं:-

विशयेप्रायदर्शनात् । १६ ।

पद०-विशये । प्रायदर्शनात् ।

पदा०-(विशये) याग विधि है किंवा संस्कार विधि है, इस प्रकार संशय होने पर (प्रायदर्शनात्) प्रकरण के बल से निर्णय होता है ।

भाष्य-अग्निहोत्र के प्रकरण में पठित "वत्समालभेत" वाक्य इस अधिकरण का विषय है, उक्त वाक्य प्रधान कर्म का विधायक है किंवा स्पर्शरूप संस्कारमात्र का विधायक है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इसप्रकार की गई है कि गो दोहन विधायक वाक्यों के मध्य उक्त वाक्य का पाठ है, दोहन संस्कार कर्म है उन के मध्यवर्ति होने से वत्सालम्भन भी संस्कार कर्म होना चाहिये, क्योंकि लोक में यह देखा जाता है कि प्रधान पुरुषों की श्रेणी में जिसका नाम लिखाजाता है वह प्रधान ही होता है और फल श्रवण के बिना प्रधान कर्म का विधान मानना ठीक नहीं, इसलिये उक्त वाक्य वत्स के स्पर्शरूप संस्कार मात्र का विधायक है, याग का नहीं ।

सं०-अब उक्तार्थ में हेतु कहते हैं :-

अर्थवादोपपत्तेश्च । १७ ।

पद०-अर्थवादोपपत्तेः । च ।

पदा०-(च) और (अर्थवादोपपत्तेः) अर्थवाद से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-" वत्सनिकान्ता हि पशवः "=वत्सप्रिय पशु होते हैं, यह वाक्यशेषरूप अर्थवाद उक्त वाक्य की सन्निधि में

पड़ा है, दोनों के मिलने से "यस्मात् वत्सप्रियाः पशवः तस्माद् वत्स आलब्धव्यः" = जिस लिये पशुओं को अपने बच्चे प्रिय होते हैं इसलिये वत्स=बच्छे का आलम्भ करना चाहिये यह अर्थ होता है। आलम्भ शब्द का अर्थ यहां स्पर्श है, जब गौ दोहन समय में वत्स लाकर गौ के सन्मुख खड़ा किया जाता है तब उसकी पृष्ठ पर हाथ फेरने से प्रफुल्लित हुए वत्स को देखकर प्रसन्न हुई गौ यथा काम दुग्ध देती है, इसलिये उस समय वत्स का हाथ से स्पर्श करना चाहिये यह अर्थवाद का भाव है, यदि आलम्भ का स्पर्श अर्थ न करके परित्याग ही किया जाय तो उक्त अर्थवाद उपपन्न नहीं होता क्योंकि वत्स के परित्याग से गौ प्रसन्न नहीं होसक्ती, इससे स्पष्ट होजाता है कि उक्त वाक्य प्रधान कर्म का विधायक नहीं किन्तु वत्स के लालन लक्षण स्पर्श रूप संस्कार का विधायक है।

सं०-अब "चरुमुपदधाति" वाक्य को संस्कार कर्म का विधायक कथन करते हैं:-

संयुक्तस्त्वर्थशब्देन तदर्थः श्रुति-संयोगात्। १८।

पद०-संयुक्तः। तु। अर्थशब्देन। तदर्थः। श्रुतिसंयोगात्।

पदा०-(अर्थशब्देन) उपधानरूप अर्थ के वाचक उपदधाति क्रिया के साथ (संयुक्तः) सम्बद्ध जो चरु वह (तदर्थः) उपधान के लिये है (तु) याग के लिये नहीं, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) ऐसा मानने से श्रुत अर्थ का लाभ होता है।

भाष्य–अग्निचयन के प्रकरण में पठित "**चरुमुपदधाति**" वाक्य इस अधिकरण का विषय है, यहां नीवार के चार मुष्टि भर चावलों के पकाये ओदन को "**चरु**" और उसके स्थान विशेष में रखने को "**उपधान**" कहते हैं, उक्त वाक्य यागार्थ चरु के उपधान का विधायक है कि याग करके अवशिष्ट चरु को किसी स्थान विशेष में रखे किंवा चरु के उपधान मात्र का विधायक है अर्थात् उक्त वाक्य नीवार चरु द्रव्य साध्य प्रधान कर्म का विधान करता है किंवा चरु के उपधान रूप संस्कार मात्र का विधायक है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि चरु का सम्बन्ध उपदधाति के साथ है यजति के साथ नहीं, यदि यजति की कल्पना करके उसका सम्बन्ध माना जाय तो कल्पना गौरवरूप दोष आता है और श्रूयमाण चरु तथा उपधान के सम्बन्ध का बाध होजाता है सो ठीक नहीं और चरु के उपधान मानने में श्रुतार्थ का लाभ होता है, उपधान चरु का संस्कार विशेष है, और स्थल विशेष में रखने का नाम उपधान है, इसलिये उक्त वाक्य प्रधान कर्म का विधायक नहीं किन्तु उपधान रूप संस्कार का विधायक है।

सं०–अब "**पर्य्यग्निकृत**" वाक्य को संस्कार का विधायक कथन करते हैं:–

पात्नीवते तु पूर्वत्वादवच्छेदः । १९ ।

पद०–पात्नीवते । तु । पूर्वत्वात् । अवच्छेदः ।

पदा०–(पात्नीवते) "पर्य्यग्निकृतपात्नीवतमुत्सृजन्ति" वाक्य में (अवच्छेदः) प्रकृत याग में अपेक्षित द्रव्य के संस्कार

का विधान है (तु) अपूर्व याग का नहीं, क्योंकि (पूर्वत्वात्) याग प्रथम प्राप्त है।

भाष्य-"त्वाष्ट्रं पात्नीवतमालभेत" = विश्वकर्त्ता सर्वशक्ति सम्पन्न परमात्मा के उद्देश से पशु का परित्याग करे, इस वाक्य विहित "त्वाष्ट्रपात्नीवत" नामक याग के प्रकरण में पठित "पर्य्यग्निकृतं पात्नीवतमुत्सृजन्ति" वाक्य इस अधिकरण का विषय है, उक्त वाक्य प्रकृत याग से यागान्तर का विधायक है किंवा प्रकृत याग का "उत्सृजन्ति" पद से अनुवाद करके "त्वाष्ट्रपात्नीवत" पशु के पर्य्यग्निकरण संस्कार का विधायक है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि याग के विधायक "आलभेत" पद का "उत्सृजन्ति" पद से अनुवाद स्पष्ट है और "पात्नीवत" पद से प्रकृत "त्वाष्ट्रपात्नीवत" पशु का परामर्श भी निर्विवाद है, क्योंकि एकदेश का ग्रहण भी समुदाय का परमर्शक होसक्ता है, इसलिये उक्त वाक्य अपूर्व कर्म का विधान नहीं करता किन्तु प्रकृत याग का अनुवाद करके उसके साधन पशु में पर्य्यग्निकरण रूप संस्कार का विधायक है अर्थात् प्रकृत याग में जो पशु दिया जाता है उसका पर्य्यग्निकरण पर्य्यन्त ही संस्कार करके दान कर देना चाहिये आग्नेय संस्कारों की कोई अपेक्षा नहीं, यह उक्त वाक्य का तात्पर्य्य है। कुशामुष्टि के अग्र भाग में अग्नि लगाकर पशु के चारों ओर घुमाने को "पर्य्यग्निकरण" कहते हैं।

सं०-अब "अदाभ्य" आदि को पात्र विशेष का नाम कथन करते हैं:-

अद्रव्यत्वात्केवलेकर्मशेषः स्यात् । २० ।

पद०—अद्रव्यत्वात् । केवले । कर्मशेषः । स्यात् ।

पदा०—(अद्रव्यत्वात्) द्रव्य तथा देवता के बिना (केवले) केवल 'अदाभ्य' तथा 'अंशु' का ग्रहण श्रवण होने से याग के विधान की कल्पना नहीं होसक्ती, इसलिये उक्त ग्रहण (कर्मशेषः) ज्योतिष्टोम-कर्म का अङ्ग (स्यात्) है प्रधान कर्म नहीं ।

भाष्य—अनारभ्याधीत "एष ह वै हविषा हविर्यजते, योऽदाभ्यंगृहीत्वा सोमाय यजते"=वही पुरुष हवि से हवन करता है जो "अदाभ्य" का ग्रहण करके सोम्य स्वभाव परमात्मा के उद्देश से हवि का त्याग करता है। "परा वा एतस्यायुः प्राण इति, योंऽशुं गृह्णाति"=उस पुरुष के प्राण आयु को नाश होते हैं जो "अंशु" का ग्रहण करता है। इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य "अदाभ्य" तथा "अंशु" नामक याग का विधायक हैं किंवा ज्योतिष्टोम याग में उक्त नाम के ग्रह=पात्र विशेष के ग्रहण का विधायक हैं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इसप्रकार की गई है कि द्रव्य और देवता यह दोनों याग का स्वरूप हैं, जिस वाक्य में इन दोनों की उपलब्धि होती है वह याग का विधायक होसकता है दूसरा नहीं, उक्त वाक्य द्रव्य तथा देवता वाचक कोई शब्द नहीं है और जो प्रथम वाक्य में याग का वाचक "यजते" पद है उसके साथ व्यवहित होने के कारण "अदाभ्य" का सम्बन्ध नहीं, किन्तु सन्निहित "गृहीत्वा" पद के साथ है और "अंशु" वाक्य में

तो याग का वाचक कोई पद भी नहीं है, इसलिये उक्त वाक्य याग के विधायक नहीं हो सकते, किन्तु ज्योतिष्टोम याग में उक्त नाम के दोनों ग्रहों का ग्रहण विधान करते हैं। तात्पर्य्य यह है कि 'अदाभ्य' तथा 'अंशु' यह दोनों याग के नाम नहीं किन्तु ग्रह के नाम हैं, अतएव उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम याग के अङ्गभूत ग्रह ग्रहण का विधान करते हैं, यागान्तर का नहीं।

सं०—अब "अग्निचयन" को संस्कारकर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

अग्निस्तुलिङ्गदर्शनात्क्रतुशब्दःप्रतीयेत।२१।

पद०—अग्निः। तु। लिङ्गदर्शनात्। क्रतुशब्दः। प्रतीयेत।

पदा०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (अग्निः) "य एवं विद्वानग्निं चिनुते" वाक्य में अग्नि शब्द (क्रतुशब्दः) याग का नाम (प्रतीयेत) जानना चाहिये, क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) उसके बोधक स्तोत्र तथा शस्त्ररूप लिङ्ग की उपलब्धि होती है।

भाष्य—"य एवं विद्वानग्निंचिनुते"* इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य 'अग्नि' नामक याग का विधायक है किंवा आधान संस्कृत अग्नि द्रव्य के उत्तर वेदि स्थानापन्न स्थण्डिल विशेष में चयन अर्थात् स्थापनरूप अग्नि संस्कार विशेष का विधायक है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है। पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिस का जिसके साथ नियत सम्बन्ध है उसके देखने से उसका ज्ञान

---

*जैसे ऊपर निरूपण किया गया है, उसी प्रकार आधान संस्कृत अग्निका उत्तर वेदि स्थानापन्न स्थण्डिल विशेष में (चयन) स्थापन करे, यह सिद्धान्त में उक्त वाक्य का अर्थ है॥

नियम से होता है यह अनुभव सिद्ध है, जैसे धूम का वह्नि के साथ नियत सम्बन्ध है, इससे जहां२ धूम का ज्ञान होता है वहां२ वह्नि का ज्ञान भी नियम से होता है अर्थात् पर्वत में धूम है तो वह्नि भी अवश्य है। वैसे ही स्तोत्र तथा शस्त्र का भी याग के साथ नियत सम्बन्ध है, और वह अग्नि के साथ "**अग्नेःस्तोत्र मग्नेःशस्त्रम्**" = यह अग्नि सम्बन्धि स्तोत्र तथा शस्त्र है, इत्यादि वाक्य मे पाया जाता है, इससे अनुभव होता है कि अग्नि याग का नाम है, क्योंकि इसके साथ याग के नियत सम्बन्धी स्तोत्र तथा शस्त्र का वाक्यान्तर से सम्बन्ध पायाजाता है और वह याग का नाम माने विना उपपन्न नहीं हो सकता और "**चिनुते**" पद लक्षणावृत्ति से याग का वाचक है। इसलिये उक्त वाक्य अग्निचयनरूप संस्कार कर्म का विधायक नहीं किन्तु "अग्नि" नामक अपूर्व कर्म का विधायक है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

द्रव्यंवास्याच्चोदनायास्तदर्थत्वात्। २२।

पद०—द्रव्यं। वा। स्यात्। चोदनायाः। तदर्थत्वात्।

पदा०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (द्रव्यं) उक्त वाक्य में 'अग्नि' शब्द का अर्थ द्रव्य = आधान संस्कृत दहन तथा प्रकाश धर्म वाला 'ज्वलन' अपर नामक द्रव्य विशेष है याग नहीं, क्योंकि (चोदनायाः) "चिनुते" पद का अर्थ (तदर्थत्वात्) उक्त द्रव्य के उत्तर वेदिस्थानापन्न स्थण्डिल विशेष में स्थापन रूप संस्कार का वाचक है।

भाष्य—वैदिक मंत्रों द्वारा गार्हपत्यादि रूप से स्थापित अग्नि के उत्तर वेदिस्थानापन्न स्थण्डिल विशेष में स्थापन करने को

"**चयन**" कहते हैं, जैसे परम पवित्र वेदसंहिता की पुस्तकों का चौकी से उठा कर अल्मारी में रखना एक संस्कार है वैसे ही उक्त चयन भी आधान की हुई अग्नि का एक संस्कार विशेष है, उक्त चयनरूप संस्कार विशेष कर्तव्य है यह "**चिनुते**" पद का मुख्यार्थ है, क्योंकि इसमें लक्षणा करनी नहीं पड़ती और जिस में लक्षणा की जाती है वह अमुख्यार्थ होता है, अतएव "चयन" की याग विशेष में लक्षणा होने के कारण "याग कर्तव्य है" यह "चिनुते" पद का अमुख्यार्थ है और "**मुख्या मुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः**" = मुख्य तथा अमुख्य के मध्य मुख्य का स्वीकार ही श्रेष्ठ होता है और अग्नि पद की "ज्वलन" द्रव्य विशेष में प्रसिद्धि है लिङ्गाभास से नाम की कल्पना करने में उक्त प्रसिद्धि का परित्याग होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये उक्त वाक्य "अग्नि" नामक अपूर्व याग का विधायक नहीं किन्तु अग्नि चयन रूप संस्कार कर्म का विधायक है।

सं०—अब "**अग्नि**" पद को याग वाची सिद्ध करने वाले "**अग्नेःस्तोत्रम्**" इत्यादि लिङ्ग का समाधान करते हैं :—

तत्संयोगात्क्रतुस्तदाख्यः स्यात्तेनधर्म-विधानानि। २३।

पद०—क्रतुसंयोगात्। क्रतुः। तदाख्यः। स्यात्। तेन। धर्म-विधानानि।

पदा०—(क्रतुसंयोगात्) याग के साथ अग्नि का अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होने से (तदाख्यः) उक्त लिङ्ग वाक्य में अग्नि पद (क्रतुः)

ज्योतिष्टोमादि याग का वाचक (स्यात्) है, इसलिये (तेन) वह वाक्य (धर्मविधानानि) उक्त याग में स्तोत्र तथा शस्त्र रूप गुण का विधायक है नाम का बोधक नहीं।

भाष्य-" अग्नेःस्तोत्र मग्नेःशस्त्रम् " में अग्नि पद का प्रयोग ज्योतिष्टोमादि याग के अभिप्राय से आया है "अग्नि" नामक किसी याग विशेष के अभिप्राय से नहीं और अग्नि पद उक्त याग का वाचक होसक्ता है, क्योंकि अग्नि का उक्त याग के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध है, इसलिये उक्त वाक्य ज्योतिष्टोमादि यागों में स्तोत्र शस्त्र रूप गुण विशेष का विधान करता है अग्नि को किसी अपूर्व याग का नाम सिद्ध नहीं करता, अतएव वह उक्तार्थ में लिङ्ग नहीं लिङ्गाभास है।

सं०-अब "मासाग्निहोत्र" आदि को कर्मान्तर कथन करते हैं :-

प्रकरणान्तरेप्रयोजनान्यत्वम् । २४ ।

पद०-प्रकरणान्तरे । प्रयोजनान्यत्वम् ।

पदा०-(प्रयोजनान्यत्वं) नित्य " अग्निहोत्र " आदि कर्म से " मासाग्निहोत्र " आदि कर्म भिन्न हैं, क्योंकि (प्रकरणान्तरे) वह दूसरे प्रकरण में विधान किये गये हैं।

भाष्य-" कुण्डपायिनामयन " संज्ञक सत्र* के प्रकरण में पठित " मासमग्निहोत्रंजुहोति " " दर्शपूर्णमासाभ्यां यजते "=मास भर अग्निहोत्र तथा दर्शपूर्णमास कर्म करे, इत्यादि

* जिस याग में अनेक यजमान तथा स्वयं ऋत्विक होते हैं उसको " सत्र " कहते हैं।

वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य नियत अग्निहोत्र तथा नियत दर्शपूर्णमास याग में "मास" रूप गुण विशेष का विधायक है किंवा उक्त कर्म से कर्मान्तर का विधायक है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि जो वाक्य जिस कर्म के प्रकरण में पठित नहीं है वह उसमें गुण का विधान नहीं कर सक्ता, क्योंकि उसके साथ वाक्य का कोई सम्बन्ध नहीं, उक्त वाक्य "कुण्डपायिनामयन" संज्ञक सत्र के प्रकरण में पठित है, नियत अग्निहोत्र तथा नियत दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित नहीं है, इसलिये वह उनमें "मास" रूप गुण विशेष का विधान नहीं करता किन्तु उक्त नित्य कर्म से भिन्न "मासाग्निहोत्र" आदि कर्म विशेष का विधायक है।

सं०-अब "आग्नेय" आदि को कर्मान्तर कथन करते हैं :-

फलं चाकर्मसन्निधौ । २५ ।

पद०-फलं । च । अकर्मसन्निधौ ।

पदा०-(च) और (अकर्मसन्निधौ) अनारभ्याधीत "आग्नेयम्" इत्यादि वाक्य में (फलं) श्रूयमाण फल प्रकरणान्तर की भांति कर्म का भेदक है।

भाष्य-अनारभ्याधीत "**आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत्रुक्कामः**"=तेज की कामना वाला पुरुष प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से आठ कपालों में पकाए हुए पुरोडाश का प्रदान करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास याग गत "आग्नेय" याग का अनुवाद करके उसमें तेजरूप फल का विधान करता है किंवा उक्त कर्म से भिन्न फल सहित

कर्मान्तर का विधायक है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि उक्त वाक्य प्रकरणान्तर पठित नहीं तथापि उक्त कर्म की सन्निधि में भी पठित नहीं है और उक्त कर्म फलान्तर से अवरुद्ध है उसको फल की आकांक्षा नहीं और आकांक्षा के विना फल का सम्बन्ध नहीं होसक्ता परन्तु फल का श्रवण होता है, उसका कर्म के साथ सम्बन्ध होना आवश्यक है इसलिये उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास गत "आग्नेय" याग में तेजरूप फल का विधान नहीं करता किन्तु उक्त कर्म से भिन्न फल सहित "आग्नेय" संज्ञक काम्यकर्म का विधायक है।

जैसे अप्रकरण पठित तेजस्कामेष्टि कर्मान्तर है वैसे ही काम्येष्टि प्रकरण में पठित "ऐन्द्राग्नमेकादशकपालं निर्वपेत"=ऐश्वर्य्य शाली प्रकाश स्वरूप परमात्मा के उद्देश से एकादश कपालों में पकाए हुए पुरोडाश का प्रदान करे, इत्यादि वाक्य विहित "ऐन्द्राग्न" संज्ञक कर्म भी कर्मान्तर है।

सं०—अब "एतया" आदि वाक्य को अवेष्टि याग के फल का विधायक कथन करते हैं :—

सन्निधौ त्वविभागात्फलार्थेन पुनःश्रुतिः । २६ ।

पद०—सन्निधौ । तु । अविभागात् । फलार्थेन । पुनः । श्रुतिः ।

पदा०—(सन्निधौ) अवेष्टि संज्ञक याग की सन्निधि में पठित "एतया" इत्यादि वाक्य (फलार्थेन) फल सम्बन्ध के लिये (पुनः, श्रुतिः) अवेष्टि याग का पुनर्विधान करता है (तु) कर्मान्तर का नहीं (अविभागात्) "एतत्" शब्द से उक्त याग का ही परामर्श होता है।

भाष्य–"**अवेष्टि***" संज्ञक याग की सन्निधि में पठित "**एतयाऽन्नाद्यकामं याजयेत्**" = उक्त इष्टि अन्नाद्य काम पुरुष से करावे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य "अवेष्टि" से भिन्न कर्मान्तर का विधायक है किंवा (एतया) "एतत्" शब्द से अवेष्टि संज्ञक याग का परामर्श करके उसमें अन्नाद्य रूप फल का विधान करता है यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि "**तत्**" तथा "**एतत्**" शब्द प्रकृत का परामर्शी होता है अप्रकृत का नहीं, यह नियम है, उक्त वाक्य में जो (एतया) "एतत्" शब्द है उसको भी प्रकृत का ही परामर्शी होना आवश्यक है प्रकृत "अवेष्टि" संज्ञक याग है और उसको फल की आकांक्षा है, इसलिये उक्त वाक्य प्रकृत अवेष्टि याग में फल का विधायक है कर्मान्तर का नहीं।

सं०–अब द्विरुक्त "आग्नेय" वाक्य को (स्तावक) अर्थवाद कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:–

आग्नेयसूक्तहेतुत्वादभ्यासेनप्रतीयेत ।२७।

पद०–आग्नेयः । तु । उक्तहेतुत्वात् । अभ्यासेन । प्रतीयेत ।

पदा०–'तु' शब्द पूर्वपक्ष का सूचक है (आग्नेयः) "आग्नेय" इत्यादि वाक्य में पुनः श्रुत 'आग्नेय' याग (अभ्यासेन) पृथग् अनुष्ठान के लिये है, क्योंकि (उक्तहेतुत्वात्) पुनः श्रुति के कर्म भेद का साधक मीमां० २।२।२ में कथन किया गया है।

भाष्य–"**यदाग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायांपौर्णमास्याञ्चाच्युतोभवति**" = प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से

---

* इसी पाद के तीसरे सूत्र में अवेष्टि याग का निरूपण किया गया है।

'अमावास्या' तथा 'पौर्णमासी' में प्रदान किया हुआ अष्टाकपाल पुरोडाश स्थायी फल का जनक होता है, इत्यादि वाक्य से अमावास्या तथा पौर्णमासी में एक २ 'आग्नेय' याग का विधान करके "**आग्नेयोऽष्टाकपालोऽमावास्यायां भवति**" = प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से अमावास्या में आठ कपालों में पकाया हुआ पुरोडाश दिया जाता है, इस वाक्य से पुनः अमावास्या में 'आग्नेय' याग का कथन किया है, यही वाक्य इसी अधिकरण का विषय है, उक्त वाक्य पूर्ववाक्य विहित 'आग्नेय' याग से भिन्न अमावास्या में अभ्यास के लिये 'आग्नेय' याग का विधायक है अर्थात् प्रति अमावास्या दो 'आग्नेय' याग के अनुष्ठान का विधान करता है किंवा अर्थवाद है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि पुनः श्रवणकर्म भेद का नियामक है, यह द्वितीयाध्याय द्वितीयपाद के द्वितीयसूत्र में निरूपण किया गया है, उक्तवाक्य से भी 'आग्नेय' याग का पुनः श्रवण होता है, इसलिये वह अर्थवाद नहीं किन्तु पूर्ववाक्यविहित 'आग्नेय' याग से भिन्न पृथक् अनुष्ठान के लिये 'आग्नेय' संज्ञक यागान्तर का विधायक है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का सिद्धान्ती के एकदेशी की ओर से समाधान करते हैं:—

अविभागात्तुकर्मणाद्विरुक्तेर्नविधीयते ।२८।

पद०—अविभागात् । तु । कर्मणा । द्विरुक्तेः । न । विधीयते ।

पदा०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (द्विरुक्तेः) द्विरुक्ति होने पर भी (न, विधीयते) उक्तवाक्य कर्मान्तर का विधा-

यक नहीं हो सकता, क्योंकि (कर्मणा) पूर्ववाक्य विहित कर्म से (अविभागात्) एतद्वाक्यविहितकर्म का अभेद पाया जाता है।

भाष्य-यद्यपि 'आग्नेय' याग की दो बार उक्ति पाई जाती है तथापि वह कर्म भेद का प्रयोजक नहीं हो सकती, क्योंकि प्रकरण के एक होने से कर्म का अभेद स्पष्ट प्रतीत होता है, इसलिये उक्त वाक्य पूर्ववाक्यविहित कर्म से भिन्न आग्नेय कर्म का विधान नहीं करता किन्तु पूर्वविहित कर्म का ही विकल्प से विधायक है अर्थात् पूर्ववाक्य तथा उक्तवाक्य दोनों विकल्प से आग्नेय याग का विधान करते हैं इसलिये अमावास्या में आग्नेय याग के पृथक् २ अनुष्ठान की कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु विकल्प से दोनों वाक्य विहित कर्म का अनुष्ठान होना चाहिये, यह उक्त वाक्य का तात्पर्य्य है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का सिद्धान्ती की ओर से समाधान करते हैं:-

अन्यार्था वा पुनःश्रुतिः । २९ ।

पद०-अन्यार्था । वा । पुनः श्रुतिः ।

पदा०-'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण तथा एकदेशी के समाधान को समाधानाभास सूचन करने के लिये आया है (पुनः-श्रुतिः) 'आग्नेय' याग का पुनः श्रवण(अन्यार्था)ऐन्द्र याग की स्तुति के लिये है।

भाष्य-जब प्रकरण के ऐक्य तथा प्रत्यभिज्ञा से याग का अभेद पाया जाता है तो उक्त वाक्य को विकल्प से भी विधायक नहीं मान सकते और केवल अनुवादक मानना भी ठीक नहीं, क्योंकि निष्प्रयोजन अनुवाद व्यर्थ होता है और अनुवाद का प्रयोजन विधेय की स्तुति है, प्रकृत में विधेय आग्नेय याग है, इसलिये उक्त

वाक्य प्रकृत याग से भिन्न यागान्तर का विधायक नहीं किन्तु प्रकृत याग का स्तावक अर्थवाद है अर्थात् प्रकृत याग ऐसा तेजस्वी है कि जिसका देवता अग्नि परमात्मा है, यह तात्पर्य्य है ।

इति मीमांसार्य्यभाषा
भाष्ये द्वितीयाध्याये
तृतीयपादः

ओ३म्

अथ द्वितीयाध्याये चतुर्थपादः प्रारभ्यते

सङ्गति-अब यावदायुः = मरण पर्य्यन्त अग्निहोत्रादि कर्मों की कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

यावज्जीविकोऽभ्यासः कर्मधर्मः प्रकरणात् । १ ।

पद०-यावज्जीविकः । अभ्यासः । कर्मधर्मः । प्रकरणात् ।

पदा०-(यावज्जीविकः) यावदायु होने वाला (अभ्यासः) पुनः २ अनुष्ठान (कर्मधर्मः) अग्निहोत्रादि कर्म का धर्म है, क्योंकि (प्रकरणात्) उक्त कर्म का प्रकरण है ।

भाष्य-अग्निहोत्रादि काम्य कर्मों के प्रकरण में पठित "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" = यावदायुः प्रतिदिन अग्निहोत्र करे, "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" = यावदायुः प्रतिमास दर्श तथा पूर्णमास याग करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य "जुहोति" "यजेत" पद से प्रकृत अग्निहोत्रादि कर्म का अनुवाद करके उनमें "यावज्जीव" रूप धर्म का विधान करते हैं कि यावज्जीव = जीवन भर में होने वाले उक्त कर्म का पुनः २ अनुष्ठान लक्षण अभ्यास करे किंवा "यावज्जीव" को पुरुष का धर्म विधान करते हैं कि जीवनभर अग्निहोत्रादि कर्म करे अर्थात् उक्त वाक्य प्रकृत अग्निहोत्रादि कर्म में यावज्जी-

विक अभ्यास के विधायक हैं किंवा प्रकृत अग्निहोत्रादि से भिन्न पुरुष का धर्म जीवनरूप निमित्त के होते नैमित्तिक अग्निहोत्रादि कर्म के विधायक हैं? यह सन्देह है, इस में प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में स्थित "यावज्जीव" शब्द का अर्थ "जीवनकाल" है, वह कर्म का धर्म होसक्ता है पुरुष का नहीं, और कर्म प्रकरण से प्राप्त है, इसलिये उक्त वाक्य प्रकृत अग्निहोत्रादि कर्म में यावज्जीव रूप धर्म के विधायक हैं पुरुष गत धर्म के विधायक नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

कर्तुर्वाश्रुतिसंयोगात् । २ ।

पद०-कर्तुः । वा । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (कर्तुः) "यावज्जीव" पुरुष का धर्म है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) ऐसा मानने से मुख्यार्थ का लाभ होता है।

भाष्य-"यावज्जीव" शब्द का जीवनकाल लक्ष्यार्थ है वाच्यार्थ नहीं, वाच्यार्थ तो उसका "कृत्स्नजीवन" है, वह पुरुष का धर्म होसक्ता है कर्म का धर्म नहीं, क्योंकि वह जड़ है, इसलिये उक्त वाक्य पुरुष धर्म कृत्स्नजीवन रूप निमित्त के होते प्रकृत अग्निहोत्रादि काम्यकर्म से भिन्न नैमित्तिक अग्निहोत्रादि कर्म का विधान करते हैं, प्रकृत कर्म के धर्मभूत यावज्जीविकाभ्यास का विधान नहीं करते अर्थात् यावज्जीव शब्द का "जीवनकाल" गौण तथा "कृत्स्नजीवन" मुख्यार्थ है और गौण तथा मुख्यार्थ के मध्य मुख्यार्थ का स्वीकार श्रेष्ठ होता है और वह पुरुष का धर्म

होने से अग्निहोत्रादि कर्म का निमित्त है और निमित्त होते नैमि-त्तिक के न होने से पुरुष प्रत्यवायी होजाता है, क्योंकि उसने वेदाज्ञा का पालन नहीं किया और जो जीवन रूप निमित्त के होते नियम से प्रतिदिन तथा प्रतिमास अग्निहोत्रादि कर्म का अनुष्ठान करता है वह प्रत्यवायी नहीं होता, जैसाकि :-

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ यजु० ४०।२

में कहा है कि मनुष्य प्रतिदिन अग्निहोत्रादि वेदोक्त कर्मों को करता हुआ सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, क्योंकि ऐसा करने से वह प्रत्य-वायी नहीं होता और काम्य कर्म के करने तथा न करने में प्रत्यवाय का नियम नहीं, इसलिये उक्तवाक्य प्रकृत अग्निहोत्रादि काम्य-कर्मों से भिन्न जीवनरूप निमित्त के होते प्रतिदिन नियम से अनु-ष्ठेय अग्निहोत्रादि नित्यकर्म का विधान करते हैं, यह तात्पर्य्य है ।

सं०-अब उक्तार्थ में हेतु कहते हैं :-

लिङ्गदर्शनाच्च कर्मधर्मे हि प्रक्रमेण नियम्येत तत्रानर्थकमन्यत्स्यात् । ३ ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च । कर्मधर्मे । हि । प्रक्रमेण । नियम्येत । तत्र । अनर्थकम् । अन्यत् । स्यात् ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखने से "याव-ज्जीव" पुरुष का धर्म प्रतीत होता है कर्म का नहीं (हि) क्योंकि (कर्मधर्मे) कर्म का धर्म होने से (प्रक्रमेण) आरब्ध कर्म का (नियम्येत) मरण पर्य्यन्त समाप्ति का नियम होना चाहिये (तत्र)

परन्तु ऐसा होने से (अन्यत्) श्रूयमाण फल क्षय (अनर्थकं) व्यर्थ (स्यात्) होजाता है ।

भाष्य-" जरामर्य्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ, जरया वा एताभ्यां निर्मुच्यते मृत्युना च"=प्रति दिन तथा प्रतिपर्व समाप्त होने वाले अग्निहोत्र और दर्शपूर्णमास रूप सत्र* की अवधि जरा तथा मरण है अर्थात् शरीर के अत्यन्त जीर्ण किंवा अन्त होजाने पर पुरुप अग्निहोत्रादि कर्मों के अनुष्ठान से छूट सक्ता है अन्यथा नहीं, यह उक्त विधि का वाक्यशेषरूप अर्थवाद है इसमें जो जीर्णावस्था तथा प्राणवियोगरूप मरण को अग्निहोत्रादि कर्म के अनुष्ठान की अवधि कथन की है वह यावज्जीव के पुरुप धर्म होने में लिङ्ग है, क्योंकि पुरुप धर्म के बिना जरा तथा मरण अग्निहोत्रादि कर्म के अनुष्ठान की अवधि नहीं होसक्ते और यदि " यावज्जीव " को कर्म का धर्म मानें तो मृत्यु होने पर उसकी समाप्ति होनी चाहिये मध्य में नहीं, परन्तु ऐसा होने से "अपि ह वा एष स्वर्गाल्लोकाच्छिद्यते यो दर्शपूर्णमासयाजी पौर्णमासीममावास्यां वा अतिपातयेत् "= जो पुरुष दर्शपूर्णमासादि याग का अनुष्ठाता होकर उनके मध्य किसी एक का अतिक्रमण करता है उसका ऐहिक तथा पारलौकिक सुख क्षीण होजाता है, इत्यादि वाक्यों में जो दर्श आदि के अतिक्रमण से फल का क्षय कथन किया है वह व्यर्थ होजाता है, क्योंकि जिसकी अभी तक समाप्ति ही नहीं हुई किन्तु आयु भर में समाप्त होने के कारण यथा काम होरहा है उसका अतिक्रमण

---

* जो दीर्घ काल तक किया जाता है उसको " सत्र " कहते हैं ।

नहीं होसक्ता और उक्त वाक्य अतिक्रमण से फल का क्षय निरू-
पण करता है इससे अनुमान होता है कि यावज्जीव कर्म का धर्म
नही किन्तु पुरुष का धर्म है, क्योंकि पुरुष का धर्म होने से प्रतिपर्व
तथा प्रतिदिन समाप्त होजाने के कारण अतिक्रमण होसक्ता है,
अतएव उक्त विषय वाक्य प्रकृत अग्निहोत्रादि कार्य्य कर्म से भिन्न
जीवन नैमित्तिक अग्निहोत्रादि नित्य कर्म के विधायक हैं प्रकृत
कर्म में " यावज्जीव " रूप गुण के विधायक नहीं ।

सं०-अब उक्तार्थ में और हेतु कहते हैं :-

व्यपवर्गं च दर्शयति कालश्चेत्कर्मभेदः स्यात् । ४ ।

पद०-व्यपवर्गं । च । दर्शयति । कालः । चेत् । कर्मभेदः । स्यात् ।

पदा०-(व्यपवर्गं) दर्श आदि कर्म की समाप्ति (च) और कर्मान्तर की विधि (दर्शयति) वाक्यान्तर से देखी जाती है (चेत्) यदि (कालः) दर्श आदि कर्म की समाप्ति के अनन्तर काल का शेष है (कर्मभेदः) तब ही कर्मविशेष का विधान (स्यात्) होसक्ता है अन्यथा नहीं ।

भाष्य-"दर्शपूर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत" = दर्शपूर्णमास याग करके ज्योतिष्टोम याग करे, इत्यादि वाक्यों में दर्शपूर्णमास कर्म की समाप्ति और समाप्ति के अनन्तर ज्योतिष्टोम याग की विधि कथन की है, यदि " यावज्जीव " को कर्म का धर्म मानें तो उक्त कर्म की समाप्ति तथा समाप्ति के अनन्तर कर्मान्तर की विधि न होनी चाहिये, क्योंकि आयु भर में समाप्त होने वाले

कर्म की मध्य में समाप्ति और समाप्ति के न होने से कर्मान्तर की विधि नहीं होसक्ती परन्तु उक्त वाक्य से दोनों का दर्शन पाया जाता है इससे स्पष्ट है कि " यावज्जीव " पुरुष का धर्म है कर्म का धर्म नहीं ।

सं०-अब उक्तार्थ में और हेतु कहते हैं :-

अनित्यत्वात्तु नैवं स्यात् । ५ ।

पद०-अनित्यत्वात् । तु । न । एवं । स्यात् ।

पदा०-(तु) और प्रकृत अग्निहोत्रादि काम्य कर्म (एवं) जरा मरण अवधि वाला (न, स्यात्) नहीं होसक्ता, क्योंकि (अनित्यत्वात्) वह अनित्य है ।

भाष्य-"जरामर्य्यं वा एतत्" इत्यादि वाक्यों से जरा तथा मरणावस्था पर्य्यन्त अग्निहोत्रादि कर्मों की अवधि कथन की है अर्थात् यावत् पर्य्यन्त मनुष्य का शरीर जर्जरीभूत नहीं होता किंवा इसके प्राण का वियोग नहीं होता तावत्पर्य्यन्त अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म कर्तव्य हैं, ऐसा निरूपण किया गया है वह नित्य पक्ष में उपपन्न होसक्ता है काम्य पक्ष में नहीं, क्योंकि काम्य कर्म की कर्तव्यता तथा अकर्तव्यता अपनी इच्छा के अधीन है उसके लिये किसी नियम विशेष की आवश्यकता नहीं, चाहे मनुष्य करे चाहे न करे, उसके न करने से प्रत्यवाय नहीं होता, परन्तु नित्य कर्म के न करने से प्रत्यवाय होता है वह केवल जरा तथा मरणावस्था में ही छोड़ा जासक्ता है अन्य किसी अवस्था में नहीं । इससे सिद्ध होता है कि प्रकृत अग्निहोत्रादि काम्य कर्म से नित्य अग्निहोत्रादि कर्म भिन्न है और उसी का विधायक उक्त विषय वाक्य है ।

सं०-और हेतु कहते हैं :-

विरोधश्चापि पूर्ववत् । ६ ।

पद०-विरोधः । च । अपि । पूर्ववत् ।

पदा०-(च) और " यावज्जीव " को कर्म का धर्म मानने में (पूर्ववत्) पूर्वोक्त दोषों की भांति (विरोधः, अपि) अननुष्ठान लक्षण दोष भी है ।

भाष्य-प्रकृति तथा विकृति रूप से याग दो प्रकार के होते हैं इसका विस्तार पूर्वक निरूपण आगे किया जायगा, यावत् अन्न साध्य याग हैं उन सब की प्रकृति याग दर्शपूर्णमास और विकृति " सौर्य्य " आदि याग हैं, जो धर्म प्रकृति याग का होता है वह विकृति का भी होता है यह नियम है, जैसाकि कहा है कि " **प्रकृतिवद्विकृतिः कर्तव्याः** "=प्रकृति याग की भांति विकृति याग किया जाता है । यदि " यावज्जीव " को दर्शपूर्णमासादि कर्म का धर्म मानें तो सौर्य्य आदि याग का भी धर्म मानना होगा, परन्तु ऐसा मानने में अनुष्ठानाभाव रूप दोष आता है, क्योंकि एक दो दिन में समाप्त होने वाले याग का मनुष्य अनुष्ठान कर सक्ता है आयु भर में समाप्त होने वाले अनन्त यागों का नहीं, और " यावज्जीव " को कर्म का धर्म मानने से मध्य में समाप्ति नहीं होसक्ती, इसलिये " यावज्जीव " पुरुष का धर्म है कर्म का नहीं । अनुष्ठानाभाव, अननुष्ठान तथा अनुष्ठान का न होना, यह सब पर्य्याय शब्द हैं ।

सं०-अब उक्तार्थ का उपसंहार करते हैं :-

कर्तुस्तु धर्मनियमात्कालशास्त्रं निमित्तंस्यात् ॥ ७ ॥

पद०—कर्तुः । तु । धर्मनियमात् । कालशास्त्रं । निमित्तं । स्यात् ।

पदा०—(कालशास्त्रं) काल शास्त्र की भांति प्रतीयमान "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य (निमित्तं) जीवनरूप निमित्त के होने पर अग्निहोत्रादि कर्म का नियम विधान करते हैं, क्योंकि (कर्तुः, धर्मनियमात्) यावज्जीव को कर्ता के धर्म का नियम है (तु) कर्म के धर्म का नहीं ।

भाष्य—'यावज्जीव' शब्द का अर्थ 'जीवनकाल' आपात से प्रतीत होता है, वस्तुतः उसका अर्थ कृत्स्नजीवन है, और वह पुरुष का धर्म हो सक्ता है कर्म का नहीं, इसका विशेषरूप से वर्णन पिछले सूत्रों में किया गया है, यहां विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं। यावज्जीव को नियम से पुरुष का धर्म होने से यह सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य जीवनरूप निमित्त के होने पर अग्निहोत्रादि कर्मों के नियम का विधायक है कि जीते दम पुरुष मात्र को उक्त कर्म नियम पूर्वक करने चाहियें, जैसे अग्निहोत्रादि कर्मों के करने का निमित्त मनुष्य जीवन है, वैसे ही सन्ध्या वन्दन का भी जानना चाहिये अर्थात् जैसे जीते रहकर अग्निहोत्रादि कर्मों के छोड़ देने से मनुष्य प्रत्यवायी होजाता है वैसे ही सन्ध्या वन्दन छोड़ देने से भी प्रत्यवायी हो जाता है, इसलिये वैदिकों को कदापि उक्त कर्म का परित्याग नहीं करना चाहिये किन्तु सायं प्रातः नियम से करने चाहियें, यह रहस्य है ।

सं०—अब ऐत्तरेयादि सर्व ब्राह्मण तथा काठक, कालापक, काण्व, माध्यंदिन, तैत्तिरीयादि सर्व शाखाओं में अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों की एकता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्ति समाप्तिवचनप्रायश्चित्ताऽन्यार्थ दर्शनाच्छाखान्तरेषु कर्मभेदः स्यात्॥ ८ ॥

पद०—नामरूपधर्मविशेषपुनरुक्तिनिन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचन प्राय श्चित्ताऽन्यार्थ दर्शनात् । शाखान्तरेषु । कर्मभेदः । स्यात् ।

पदा०—(शाखान्तरेषु) ऐतरेयादि ब्राह्मण तथा काठकादि शाखाओं में (कर्मभेदः) अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का परस्पर भेद (स्यात्) है, क्योंकि (नामरूपधर्मविशेष* पुनरुक्तिनिन्दाशक्ति समाप्ति वचनप्रायश्चित्तान्यार्थदर्शनात्) भेद के प्रयोजक नामभेद, स्वरूप-भेद, धर्मभेद तथा पुनरुक्ति आदि की उपलब्धि होती है ।

भाष्य—वेद के ऐतरेयादि चार ब्राह्मण तथा काठकादि ११२७ शाखा हैं इनमें वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों का विस्तार पूर्वक निरूपण कियागया है, वह भिन्न २ ब्राह्मण तथा भिन्न २ शाखाओं में निरूपण होने के कारण भिन्न है किंवा अभिन्न है अर्थात् ऐत्तरेय ब्राह्मण तथा काठक शाखा में जो अग्निहोत्रादि कर्म निरूपण किया गया है उसका तैत्तिरेयादि ब्राह्मण तथा काण्वादि शाखा में निरूपण किये उक्त कर्म से भेद है किंवा अभेद है, या यों कहिये कि ब्राह्मण तथा शाखा के भेद से कर्म का भेद है किंवा सर्व ब्राह्मण तथा सर्व शाखाओं में कर्म एक है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्व पक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है पूर्व पक्षी का

* विशेष शब्द का अर्थ भेद और उसका सम्बन्ध नाम, रूप तथा धर्म तीनों के साथ है ।

कथन यह है कि कर्मभेद के प्रयोजक नामभेदादिक नौ कारण उपलब्ध होते हैं, इसलिये प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म का भेद है ऐक्य नहीं।

१ **नामभेदः** = 'काठक' शाखा में पठित कर्म का नाम '**काठक**' तथा 'कालापक' शाखा में पठित का नाम '**कालापक**' है इसीप्रकार शाखान्तर पठित होने के कारण भी नाम का भेद जानना चाहिये, उक्त नाम भेद से ज्ञात होता है कि प्रतिशाखा कर्म का भेद है अभेद नहीं, क्योंकि अभेद होने पर नाम का भेद नहीं होसक्ता।

२ **रूपभेदः** = द्रव्य तथा देवता यह दोनों याग का रूप कहलाते हैं, एकशाखा में "**अग्निषोमीयमेकादश कपालं**' दूसरी में "**द्वादश कपालं**" इस प्रकार रूप का भेद उपलब्ध होने से प्रतिशाखा कर्म का भेद है अभेद नहीं।

३ **धर्मभेदः** = तैत्तिरीय शाखा वाले 'कारीरी' * वाक्यों के अध्ययन काल में भूमि पर भोजन करते हैं और दूसरे नहीं करते तथा कई एक अग्न्याधान प्रकरण के अध्ययन काल में अध्यापक को प्रतिदिन जल का कुम्भ लाकर देते हैं दूसरे नहीं तथा कई एक अश्वमेध प्रकरण के अध्ययन काल में अध्यापक के घोड़े के लिये घास लाकर देते हैं सब नहीं, इस प्रकार स्वर आचरणीय धर्म का भेद होने से प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि कर्म का भेद है अभेद नहीं।

४ **पुनरुक्तिः** = एक ब्राह्मण किंवा एक शाखा में विधान

* कारीरी याग के विधायक मन्त्र तथा ब्राह्मण वाक्यों को कारीरी वाक्य कहते हैं।

किये उक्त कर्म के ब्राह्मणान्तर तथा शाखान्तर में पुनर्विधान को पुनरुक्ति कहते हैं, यदि सर्व ब्राह्मण तथा सर्व शाखाओं में कर्म एक है तो पुनरुक्ति व्यर्थ है, क्योंकि एकमें विधान होने से सर्वत्र अनुष्ठान होसक्ता है, पुनर्विधान की कोई अवश्यकता नहीं, परन्तु पुनरुक्ति उपलब्ध होती है और वह कर्मभेद के माने विना उपपन्न नहीं होसक्ती, इसलिये प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा का कर्म का भेद है ऐक्य नहीं।

५ निन्दा=कईएक शाखावाले "प्रातः प्रातरनृतं ते वदन्ति पुरोदयात् जुह्वति ये अग्निहोत्रं दिवा कीर्त्यमदिवा कीर्तयन्तः सूर्य्योज्योतिर्न तदा ज्योतिरेषाम्"= जो पुरुष सूर्य्योदय से प्रथम अग्निहोत्र करते हैं वह प्रति प्रातः अनृत भाषण करते हैं अर्थात् अनृत भाषण के समान पाप के भागी होते हैं, क्योंकि सूर्य्योदय के अनन्तर पाठ करने वाले मन्त्रों का सूर्य्योदय के प्रथम ही पाठ करते हैं और उनका ज्योतिः उस समय नहीं है, इस प्रकार अनुदित होम की तथा कई एक "यथाऽतिथये प्रद्रुतायान्न माहरेयुस्तादृगेतद् यद् उदित जुह्वति"= जैसे प्लायमान अतिथि के पीछे अन्नादि का ले जाना है वैसे ही वह होम है जो सूर्य्योदय हो जाने पर किया जाता है, इस प्रकार उदित होम की निन्दा करते हैं यह कर्म का भेद होने पर उपपन्न होसक्ती है अन्यथा नहीं, इसलिये प्रतिशाखा कर्म का भेद है अभेद नहीं।

६ अशक्तिः=अनेक ब्राह्मणादि विहित अङ्गजात के अनुष्ठान की असामर्थ्य को 'अशक्ति' कहते हैं, वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म का अङ्ग प्रत्यङ्ग सहित ब्राह्मणादि में विस्तारपूर्वक

निरूपण किया है उन सब का संग्रह करके अनुष्ठान करना मनुष्य की शक्ति से बाहर है यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद मानें तो अनुष्ठान होसक्ता है अन्यथा अशक्य का विधान मानना पड़ेगा सो ठीक नहीं, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है अभेद नहीं ।

७ **समाप्तिवचन** = कई एक शाखी कहते हैं कि "**अत्रास्माकमग्निः परिसमाप्यते**" = हमारे यहां अग्निकर्म यहां समाप्त होता है, दूसरे कहते हैं कि "**अन्यत्र परिसमाप्यते**" = हमारे यहां अग्निकर्म अन्यत्र समाप्त होता है, इस प्रकार समाप्तिवचन की उपलब्धि होने से ज्ञात होता है कि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है, क्योंकि अभेद होने से उक्त समाप्तिवचन परस्पर विरुद्ध होने के कारण उपपन्न नहीं होसक्ता ।

८ **प्रायश्चित्त** = कई एक शाखी अनुदित होम के अतिक्रमण से प्रायश्चित्त का निरूपण करते हैं, दूसरे इनके विरुद्ध उदित होम के अतिक्रमण से प्रायश्चित्त कथन करते हैं वह कर्माभेद पक्ष में उपपन्न नहीं हो सक्ता, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है अभेद नहीं ।

९ **अन्यार्थदर्शन** = "**यदि पुरादिदीक्षाणाःस्युः एतमेव बृहत्सामानं क्रतुमुपेयुः उपेतं ह्येषां रथन्तरमथयदि अदिदीक्षाणाः**" = जो मनुष्य किसी अन्य याग की दीक्षा से प्रथम दीक्षित है वह "**बृहत्सामा**" = ज्योतिष्टोम याग करे और जो प्रथम दीक्षित नहीं हैं वह "**रथन्तरसामा**" = उक्त याग करे, यह दोनों याग द्वादश दिन में सिद्ध होने के कारण "द्वादशाह"

तथा ज्योतिष्टोम का अवान्तर भेद होने से "ज्योतिष्टोम" कहलाते हैं, इस प्रकार उक्त द्वादशाह ज्योतिष्टोम याग में दीक्षित तथा अदीक्षित दोनों का अधिकार कथन किया है और ब्राह्मणान्तर में "एषवाक प्रथमोयज्ञोयज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः य एतेनानिष्ट्वाऽथान्येन यजेत गर्त्तपत्यमेवतज्जायेत प्रवामीयेत" = सब यागों के मध्य ज्योतिष्टोम प्रथम याग है, जो इसको न करके दूसरे को करता है वह अवनति को प्राप्त होता है किंवा रोगी होजाता है, इस प्रकार अदीक्षित का अधिकार निरूपण किया है, यह दोनों प्रकार का कथन प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का ऐक्य मानने से उपपन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि उसमें शास्त्र का परस्पर विरोध होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है ऐक्य नहीं ।

दूसरे—कईएक शाखी अग्निचयन के प्रकरण में "यत्पक्षसंमितां मिनुयात् कनीयां सं यज्ञक्रतुमुपेयात् कनीयसीं प्रजां कनीयसःपशून्, कनीयोऽन्नाद्यं पापीयान् स्यात् अथ यदि वेदिसंमित्या मिनोति" = जिस याग में प्रदेय पशुओं के बांधने के लिये एकादश यूप = स्तम्भ गाढ़े जाते हैं, उसको "एकादशिनी" कहते हैं, यदि उक्त याग की भूमि श्येनाकार हो और कुण्ड में स्थापित अग्नि पक्ष = पांख के समान परिमाणवाली हो तो यजमान को याग का फल अल्प प्राप्त होगा, उसकी सन्तान तुच्छ बुद्धि वाली, पशु अल्पजीवी, खाने पीने के पदार्थ नीरस तथा स्वयं पापीमान् होगा, इसलिये जितनी भूमि की वेदि होती है उतनी ही उक्त याग की भूमि

होनी चाहिये, इसप्रकार पक्ष सम्मित एकादशिनी की निन्दा करके वेदि सम्मित का विधान करते हैं और शाखान्तर में " **रथाक्षमात्राणि यूपान्तरालानि भवन्ति**" = उन एकादश यूपों के मध्य में रथचक्र के समान अन्तराल होता है, इस प्रकार रथचक्र के समान मध्य में भूमि छोड़कर यूपों के गाड़ने का विधान किया है, यदि प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का ऐक्य मानें तो उक्त दोनों प्रकार संगत नहीं होते, क्योंकि रथ के चक्र की दूरी पर यूपों के गाड़ने से पक्ष तथा वेदि के परिमाण की अपेक्षा यागभूमि का परिमाण अधिक होजाता है और कर्माभेद पक्ष में यह सब उपपन्न नहीं होसकता, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है ऐक्य नहीं।

तीसरे-कई एक शाखी "**द्वे संस्तुतानां विराजमतिरिच्येते**" = ज्योतिष्टोम याग में दो स्तोत्रीया ऋचायें विराट् से अधिक होती हैं और कई एक " **तिस्रःसंस्तुतानां विराजमतिरिच्यन्ते**" = तीन स्तोत्रीया ऋचायें विराट् से अधिक होती हैं, इस प्रकार दो तथा तीन ऋचायों का अतिरेक = बढ़ना कथन करते हैं, वह कर्म के ऐक्य पक्ष में उपपन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि एक ही ज्योतिष्टोम में दोनों का बढ़ना असंभव है, यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद मानें तो किसी में दो ऋचा का और किसी में तीन ऋचा का इस प्रकार दोनों का अतिरेक बन सक्ता है, इस लिये सर्वत्र कर्म का भेद है, ऐक्य नहीं।

चौथे-कई एक शाखी "**ये पुरोडाशिनस्ते उपाविशन्ति ये सान्नायिनस्ते वत्सान् वारयन्ति**" = जिन्होंने प्रथम ज्यो-

तिष्टोम याग नहीं किया, उनको "पुरोडाशी" और जिन्होंने उक्त याग किया है उनको "सान्नायी" कहते हैं, "सारस्वत" नामक 'सत्र' में दोनों प्रकार के कर्त्ता होते हैं, उनके मध्य पुरोडाशी बैठे रहते हैं और 'सान्नायी' 'वत्सों' का वारण करते हैं, इस प्रकार सारस्वत नामक सत्र में पुरोडाशी तथा सान्नायी दोनों का अधिकार कथन करते हैं और कई एक पुरोडाशी का सत्रादि में अनधिकार निरूपण करते हैं,यह परस्पर विरुद्ध निरूपण एक कर्मपक्ष में नहीं बन सक्ता और भेदपक्ष में सुतरां बन सक्ता है, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है, ऐक्य नहीं।

पांचवें – कईएक शाखी "उपहव्योनिरुक्तः अग्निष्टोमो यज्ञः, रथन्तरसामअश्वःश्यावो दक्षिणा" = "उपहव्य" नामक अग्निष्टोम याग में "रथन्तर" साम तथा कृष्ण पीत मिश्रित रङ्ग वाला अश्व दक्षिणा है, इस प्रकार "उपहव्य" नामक याग में रथन्तर साम तथा श्याव अश्व की दक्षिणा कथन करते हैं।

और दूसरे-"उपहव्योऽनिरुक्तउकथ्योयज्ञो बृहत्सामा अश्वःश्वेतो रुक्मललाटो दक्षिणा" = "उपहव्य" नामक उकथ्य याग में "बृहत्" साम तथा मस्तक में लाल फूल वाला श्वेत अश्व दक्षिणा है, इस प्रकार बृहत्साम तथा श्वेताश्व दक्षिणा कथन करते हैं, यह दोनों "उपहव्य" नामक निरुक्त तथा अनिरुक्त याग ज्योतिष्टोम याग की विकृति है, यदि प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का ऐक्य होता तो उक्त दोनों यागों में "रथन्तर" तथा "बृहत्" साम के विधान की कोई आवश्यकता

न थी, क्योंकि "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्याः" = प्रकृति के समान विकृति याग किया जाता है, इस न्याय से उक्त दोनों साम स्वयं विकल्प से प्राप्त हैं, परन्तु विधान किया है, इससे अनुमान होता है कि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है ऐक्य नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

एकं वा संयोगरूप चोदनाख्या विशेषात्।९।

पद०-एकं। वा। संयोगरूपचोदनाऽऽख्याऽविशेषात्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (एकं) प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा "अग्निहोत्र" आदि कर्म एक है नाना नहीं, क्योंकि (संयोगरूपचोदनाऽऽख्याऽविशेषात्) फल, स्वरूप, चोदना तथा नाम की सर्वत्र समानता पाई जाती है।

भाष्य-अग्निहोत्रादि कर्म का फल स्वरूपविधि तथा नाम जैसा एक ब्राह्मण तथा एक शाखा में कथन किया है, वैसे ही ब्राह्मणान्तर तथा शाखान्तर में भी किया है, यदि उक्त कर्म का प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा भेद होता तो फलादिक का भी अवश्य भेद होना चाहिये था परन्तु फलादिक की समानता सर्वत्र पाई जाती है, इसलिये ब्राह्मण तथा शाखा के भेद से कर्म का भेद नहीं किन्तु कर्म सर्वत्र एक है।

सं०-अब यथाक्रम कर्मभेद के प्रयोजक हेतुओं का खण्डन करते हुए प्रथम "नामभेद" रूप हेतु का खण्डन करते हैं :-

न नाम्नास्यादचोदनाभिधानत्वात्। १०।

पद०-न। नाम्ना। स्यात्। अचोदनाभिधानत्वात्।

पदा०-(नाम्ना) काठक तथा कालापक आदि नामभेद से (न, स्यात्) अग्निहोत्रादि कर्मों का भेद नहीं होसक्ता, क्योंकि (अचोदनाभिधानत्वात्) वह नामविधि वाक्य प्रतिपाद्य नहीं है ।

भाष्य-कर्म के विधायक वाक्यों को उत्पत्तिवाक्य कहते हैं जैसाकि "अग्निहोत्रं जुहोति" इत्यादि वाक्य हैं, उक्त उत्पत्ति वाक्यों में जो कर्म का नाम प्रतिपादन किया है उसी के भेद से कर्म का भेद होसक्ता है अन्यथा नहीं और जो काठक, कालापक आदि उक्त कर्म के नाम हैं वह काठक आदि ग्रन्थों के संयोग से हैं विधिवाक्य प्रतिपाद्य नहीं, इसलिये कर्मभेद के प्रयोजक नहीं होसक्ते ।

सं०-अब उक्तार्थ में युक्ति कहते हैं :-

सर्वेषां चैककर्म्यंस्यात् । ११ ।

पद०-सर्वेषां । च । ऐककर्म्यं । स्यात् ।

पदा०-(च) और यदि ग्रन्थ सम्बन्ध से होने वाले काठकादि नाम को कर्मभेद का प्रयोजक मानें तो (सर्वेषां) अग्निहोत्र दर्श-पूर्णमास, ज्योतिष्टोम आदि सब याग (ऐककर्म्यं) एक कर्म (स्यात्) होने चाहियें ।

भाष्य-उक्त अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण कर्म "तैत्तिरिय" ब्राह्मण में पढ़े गये हैं, यदि ग्रन्थ के संयोग से होने वाले कर्म का नाम कर्म-भेद का कारण मानें तो इन सब को एक कर्म होना चाहिये, क्योंकि उक्त ग्रन्थ के संयोग से इन सब का नाम "तैत्तिरीय" एक है ।

सं०-अब और युक्ति कहते हैं :-

कृतकंचाभिधानम् । १२ ।

पद०-कृतकं । च । अभिधानम् ।

पदा०-(च) और (अभिधानं) काठक, कालापक आदि नाम (कृतकं) अनित्य हैं।

भाष्य-काठक, कालापकादि संज्ञा का प्रचार कठ, कलापकआदि ऋषियों के प्रवचन से हुआ है प्रथम नहीं था, अतएव वह अनित्य है और अनित्य होने के कारण कर्मभेद का प्रयोजक नहीं।

सं०-अब दूसरे 'रूपभेद' हेतु का निराकरण करते हैं:-

एकत्वेऽपिपरम् ॥ १३ ॥

पद०-एकत्वे। अपि। परम्।

पदा०-(एकत्वे, अपि) प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का ऐक्य होने पर भी (परं) एकादश कपाल तथा द्वादश कपाल का कथन विकल्प के अभिप्राय से होसक्ता है।

भाष्य-एक शाखा में 'एकादश कपालं' कथन करके जो दूसरी शाखा में "द्वादश कपालं" कथन किया है वह विकल्प के अभिप्राय से किया है कर्मभेद के अभिप्राय से नहीं, इसलिये वह कर्म भेद का प्रयोजक नहीं।

सं०-अब तीसरे 'धर्मभेद' हेतु का समाधान करते हैं:-

विद्यायां धर्मशास्त्रम् ॥ १४ ॥

पद०-विद्यायां। धर्मशास्त्रम्।

पदा०-(विद्यायां) कारीरी आदि वाक्यों के अध्ययन में (धर्मशास्त्रं) शास्त्र विहित भूमि भोजनादिक अङ्ग हैं कर्म में नहीं।

भाष्य-कारीरी आदि वाक्यों के अध्ययन काल में जो भूमि पर भोजन किया जाता है किंवा अध्यापक के लिये जल का कुंभ अथवा घोड़े के लिये घास लाया जाता है वह कर्म का अङ्ग नहीं

किन्तु अध्ययन का अङ्ग है, अतएव वह कर्म का भेदक नहीं होसक्ता।

सं०-अब चौथे 'पुनुरुक्ति' हेतु का समाधान करते हैं:-

आग्नेयवत्पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥

पद०-आग्नेयवत् । पुनर्वचनम् ।

पदा०-(आग्नेयवत्) आग्नेय याग की भांति (पुनर्वचनं) पुनरुक्ति अनुवाद है ।

भाष्य-जैसे 'अमावास्या' में वाक्यान्तर से 'आग्नेय' याग की प्राप्ति होने पर भी "यदाग्नेयोऽष्टाकपालः" से पुनः उसका अनुवाद किया गया है वैसे ही एक ब्राह्मण तथा एकशाखा में उक्त कर्म का ब्राह्मणान्तर तथा शाखान्तर में अनुवाद किया गया है, अतएव वह कर्मभेद का प्रयोजक नहीं ।

सं०-अब प्रकारान्तर से पुनः समाधान करते हैं :-

अद्विर्वचनं वा श्रुतिसंयोगाविशेषात् ॥१६॥

पद०-अद्विर्वचनं । वा । श्रुतिसंयोगाविशेषात् ।

पदा०-'वा' शब्द समाधानान्तर की सूचना के लिये आया है (वा) अथवा (अद्विर्वचनं) प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा जो अग्निहोत्र आदि वेदोक्त कर्मों का निरूपण उपलब्ध होता है वह पुनर्वचन अर्थात् पुनरुक्ति नहीं है किन्तु भिन्न २ पुरुषों का स्व २ शाखियों के प्रति उपदेश है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगाविशेषात्) वेद का सम्बन्ध सब के साथ समान है ।

भाष्य-एक पुरुष के कथन में पुनरुक्ति हुआ करती है, ब्राह्मण तथा शाखाओं के कर्ता अनेक हैं और वह सब वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों का प्रचारार्थ उपदेश करते हैं उनके उपदेश में एक ही कर्म

का प्रति उपदेश कथन होना संभव है इसलिये प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा उक्त कर्म का कथन पाए जाने पर भी पुनरुक्ति नहीं ।

सं०-अब उक्तार्थ में युक्ति कहते हैं :-

अर्थासन्निधेश्च । १७ ।

पद०-अर्थासन्निधेः । च ।

पदा०-(च) और (अर्थासन्निधेः) एकशाखा में उक्त अग्निहोत्रादि रूप अर्थ का शाखान्तरोक्त के साथ सम्बन्ध होने से पुनरुक्ति नहीं ।

भाष्य-जिस ब्राह्मण अथवा जिस शाखा में अग्निहोत्रादि कर्म का निरूपण कियागया है उसी ब्राह्मण अथवा उसी शाखा में उक्त कर्म के समीप पुनः अग्निहोत्रादि कर्म का कथन किया जाता तो पुनरुक्ति होती परन्तु ऐसा न होने से पुनरुक्ति नहीं ।

सं०-अब उक्तार्थ में और युक्ति कहते हैं :-

न चैकंप्रति शिष्यते । १८ ।

पद०-न । च । एकंप्रति । शिष्यते ।

पदा०-(च) और (एकंप्रति) ब्राह्मण तथा शाखा द्वारा जो वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों का उपदेश किया गया है वह एक पुरुष के प्रति (न, शिष्यते) नहीं है ।

भाष्य-सब मनुष्यों के कल्याणार्थ महिदास प्रभृति ऋषियों ने वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्मों का उपदेश किया है किसी एक मनुष्य के लिये नहीं और उनके बनाए "ऐतरेय" आदि अनेक ग्रन्थ हैं यदि उनके मध्य प्रत्येक ग्रन्थ में ऋषिकृत अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का उपदेश पाया जाता है तो इससे वह पुनरुक्त नहीं होसक्ते

क्योंकि उनका उद्देश मनुष्यमात्र का कल्याण है, हां यदि एकही मनुष्य के लिये सब ऋषियों का उपदेश होता तो अवश्य कथञ्चित् पुनरुक्त होसक्ता है परन्तु ऐसा नहीं है इसलिये प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा अग्निहोत्रादि कर्म का भेद नहीं किन्तु सर्वत्र कर्म एक है।

सं०–अब सातवें 'समाप्तिवचन' रूप हेतु का समाधान करते हैं:–

समाप्तिवच्च संप्रेक्षा । १९ ।

पद०–समाप्तिवत् । च । सम्प्रेक्षा ।

पदा०–(च) और जो (समाप्तिवत्) कर्म की समाप्ति का बोधक वचन उपलब्ध होता है उससे (सम्प्रेक्षा) प्रति ब्राह्मण तथा प्रति शाखा कर्म का अभेद प्रतीत होता है भेद नहीं।

भाष्य–"अत्रास्माकमग्निःपरिसमाप्यते" इत्यादि समाप्तिवद् बचनों में जो "अस्माकं" पद है उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि अग्निकर्म सर्वत्र एक है केवल उसकी समाप्ति का भेद है अर्थात् कई एक शाखी अवान्तर समाप्ति के अभिप्राय से मध्य में ही अपने अग्नि कर्म की समाप्ति कथन करते हैं दूसरे उसकी अवान्तर समाप्ति होने से अन्यत्र समाप्ति कहते हैं, यदि कर्म का भेद होता तो "अस्माकं" पद की कोई अवश्यकता न थी परन्तु उक्त पद का प्रयोग किया है इसलिये अनुमान होता है कि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद नहीं किन्तु कर्म एक है।

सं०–अब निन्दा, अशक्ति तथा समाप्तिवचन इन तीनों को कर्म भेद का अहेतु कथन करते हैं:–

एकत्वेऽपिपराणि निन्दाशक्तिसमाप्ति वचनानि । २० ।

पद०—एकत्वे । अपि । पराणि । निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि ।

पदा०—(एकत्वे, अपि) प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि कर्मों का ऐक्य होने पर भी (निन्दाऽशक्तिसमाप्तिवचनानि) निन्दा, अशक्ति तथा समाप्तिवचन (पराणि) यह तीनों उपपन्न होसक्ते हैं ।

भाष्य—" नहि निन्दा निन्द्यं निन्दितुं प्रयुज्यते किन्तर्हि ? निन्दितादितरत्प्रशंसितुम्, तत्र न निन्दितस्य-प्रतिषेधोगम्यते, किन्तु इतरस्यविधिः "=निन्दा के योग्य को " निन्द्य " तथा "निन्दनीय" और जिस की निन्दा की गई है उसको " निन्दित " कहते हैं, निन्दा, निन्द्य वस्तु की निन्दा के अभिप्राय से नहीं की जाती किन्तु दूसरे की प्रशंसा के अभिप्राय से की जाती है अर्थात् निन्दा से निन्दित का प्रतिषेध अभिप्रेत नहीं किन्तु दूसरे की विधि अभिप्रेतहै, "उदितेजुहोति"= सूर्य्य के उदय होने पर हवन करे, "अनुदिते जुहोति" = सूर्य्योदय से पूर्व हवन करे, इत्यादि विधि वाक्यों से उदित तथा अनुदित दोनों होम प्राप्त हैं उनकी जो निन्दा की गई है उसका तात्पर्य्य दोनों के विधान में है निषेध में नहीं, क्योंकि ऐसा होने से विधि सर्वथा व्यर्थ होजाती है, परन्तु परस्पर विरुद्ध होने के कारण दोनों का सम विधान भी असंभव है, इसलिये विकल्प विधान की कल्पना की जाती है अर्थात् विधि प्राप्त होने से दोनों होम कर्तव्य हैं जिसको जैसा सुभीता हो वैसा करे बन्धन कुछ नहीं, यह उक्त निन्दा का तात्पर्य्य है । इस प्रकार एक ही वेदोक्त अग्निहोत्रादि कर्म के विकल्प विधान में तात्पर्य्य होने से उक्त निन्दा कर्मभेद

का प्रयोजक नहीं होसक्ती और समाप्तिवचन जैसे कर्मभेद का प्रयोजक नहीं वैसे कथन किया गया है। अशक्त पुरुष के लिये जिन कर्मों का अनुष्ठान असंभव है शक्त के लिये वह सब संभव है इसलिये निन्दा तथा समाप्तिवचन की भांति अशक्ति भी प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्मभेद का प्रयोजक नहीं, अतएव वह सर्वत्र एक है।

सं०-अब उक्तार्थ में आशङ्का करते हैं :-

प्रायश्चित्तंनिमित्तेन । २१ ।

पद०-प्रायश्चित्तं । निमित्तेन ।

पदा०-(निमित्तेन) होमार्थ विहित उदय तथा अनुदय काल के लोपरूप निमित्त उपस्थित होने पर (प्रायश्चित्तं) प्रायश्चित्त विधान किया है वह एक कर्मपक्ष में उपपन्न नहीं होसक्ता।

भाष्य-उदित होम को उदय काल में न करके अनुदय काल में और अनुदित होम को अनुदय काल में न करके उदय काल में करने को उदय तथा अनुदय का लोप कहते हैं, यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्र कर्म एक है और उदित तथा अनुदित का विधान केवल विकल्प के अभिप्राय से है तो फिर उदय तथा अनुदय काल के लोप होजाने पर जो प्रायश्चित का विधान किया है वह नहीं होसक्ता, क्योंकि विपरीत अनुष्ठान होने पर भी विकल्प का बाध नहीं होता, परन्तु प्रायश्चित्त का विधान किया है, इस से अनुमान होता है कि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्र कर्म एक नहीं किन्तु नाना है।

सं०-अब उक्ताशङ्का का समाधान करते हैं :-

प्रक्रमाद्वा नियोगेन । २२ ।

पद०-प्रक्रमात् । वा । नियोगेन ।

पदा०-"वा" शब्द उक्ताशङ्का की निवृत्ति सूचन करता है (नियोगेन) मैं उदित होम करूंगा अथवा अनुदित होम करूंगा, इस प्रकार नियम करके (प्रक्रमात्) आरंभ करने से कदाचित् अन्यथा होजाने पर प्रायश्चित्त विधान किया है ।

भाष्य-आरम्भ का नाम "उपक्रम" तथा नियम का नाम "नियोग" है । नियम, नियोग, प्रतिज्ञा, यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, अग्निहोत्र कर्म के आरम्भ काल में जो उदित अथवा अनुदित होम की प्रतिज्ञा की गई है उसके भङ्ग होजाने पर प्रायश्चित्त विधान किया है अतएव वह कर्मभेद का प्रयोजक नहीं होसक्ता, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि कर्म एक है नाना नहीं ।

सं०-ननु, समाप्तिवचन से अवान्तर कर्म की समाप्ति क्यों प्रतीत होती है ? उत्तर :-

समाप्तिः पूर्ववत्त्वाद्यथाज्ञाते प्रतीयेत । २३ ।

पद०-समाप्तिः । पूर्ववत्त्वात् । यथाज्ञाते । प्रतीयेत ।

पदा०-(समाप्तिः) समाप्ति (यथाज्ञाते) यथा प्रतिज्ञात में (प्रतीयेत) जाननी चाहिये, क्योंकि (पूर्ववत्त्वात्) उसको आरम्भ पूर्वकत्व का नियम है ।

भाष्य-जिसका आरम्भ होता है उसीकी समाप्ति होती है दूसरे की नहीं, क्योंकि समाप्ति को आरम्भपूर्वकत्व का नियम है उक्त समाप्तिवचन में जो "अस्माकं" पद का प्रयोग किया है उससे स्पष्ट है कि वह अग्निकर्म की समाप्ति नहीं जैसाकि प्रथम

निरूपण किया गया है, परन्तु समाप्ति होने से उसको आरम्भ-पूर्वकत्व अवश्य होना चाहिये, आरम्भ जैसे अग्निकर्म का है वैसे ही अवान्तर कर्म का भी है, इसलिये वह अवान्तरकर्म की समाप्ति है यह निश्चय करना चाहिये।

सं०-अब "अन्यार्थदर्शन" रूप हेतु के अन्तर्गत प्रथम हेतु का समाधान करते हैं :-

लिङ्गमविशिष्टं सर्वशेषत्वान्नहितत्र कर्म-चोदना तस्माद्द्वादशाहस्याहार-व्यपदेशःस्यात्।२४।

पद०-लिङ्गम्। अविशिष्टं। सर्वशेषत्वात्। नहि। तत्र। कर्म-चोदना। तस्मात्। द्वादशाहस्य। आहारव्यपदेशः। स्यात्।

पदा० - (लिङ्गं) "यदिपुरादिदीक्षाणाः" इत्यादि लिङ्ग (अविशिष्टं) प्रति ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्मभेद का प्रयोजक नहीं क्योंकि (सर्वशेषत्वात्) उससे केवल ज्योतिष्टोम का सर्व यागों की अपेक्षा प्रथम होना पाया जाता है और (तत्र) ऐसा पाये जाने से (कर्मचोदना) कर्मभेद की विधि (नहि) नहीं मान सक्ते (तस्मात्) इसलिये (द्वादशाहस्य) "बृहत्सामा" आदि द्वादशाह के (आहारव्यपदेशः) "दिदीक्षाणाः" तथा "अदिदीक्षाणाः" शब्द के अनुष्ठान का कथन (स्यात्) है कर्मभेद का नहीं।

भाष्य- "**यदिपुरादिदीक्षाणाः**" वाक्य में "**दिदीक्षाणाः**" तथा "**अदिदीक्षाणाः**" पदों का अर्थ किसी अन्य याग की दीक्षा से प्रथम दीक्षित तथा अदीक्षित नहीं, किन्तु द्वादशाह

की दीक्षा से प्रथम दीक्षित तथा अदीक्षित है अर्थात् जो पुरुष द्वादशाहज्योतिष्टोम याग की दीक्षा से प्रथम दीक्षित है वह "**वृहत्सामा**" ज्योतिष्टोम याग और जो उक्त याग की दीक्षा से प्रथम दीक्षित नहीं है, वह "**रथन्तरसामा**" उक्त याग करे, इस प्रकार उक्त वाक्य से अदीक्षित का ही ज्योतिष्टोम याग में अधिकार पायाजाता है अतएव ब्राह्मणान्तर के "**एषवाव**" इत्यादि वाक्य से भी उसका निरोध नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य भी सर्व यागों के मध्य ज्योतिष्टोम याग को प्रथम याग कथन करने से अदीक्षित का ही अधिकार कथन करता है, केवल भेद इतना है कि प्रथम वाक्य ज्योतिष्टोम याजी को "वृहत्सामा" का और अयाजी को "रथन्तरसामा" का अनुष्ठान निरूपण करता है, सर्व यागों के मध्य ज्योतिष्टोम याग के प्रथम होने का बाध नहीं करता और द्वितीय वाक्य सर्व यागों के मध्य ज्योतिष्टोम का प्रथम याग कथन करता है, इसलिये परस्पर विरोध न होने के कारण उक्त हेतु के बल से प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि कर्मों का भेद सिद्ध नहीं होसक्ता, लिङ्ग और हेतु यह दोनों पर्य्याय-शब्द हैं।

सं०-अब "अन्यार्थदर्शन" गत दूसरे हेतु का समाधान करते हैं:-

द्रव्येचाचोदितत्वाद्विधीनामव्यवस्था स्यान्निर्देशाद्व्यवतिष्ठेत तस्मा न्नित्यानुवादःस्यात्। २५।

पद०-द्रव्ये। च। अचोदितत्वात्। विधीनाम्। अव्यवस्था।

स्यात् । निर्देशात् । व्यवतिष्ठेत । तस्मात् । नित्यानुवादः । स्यात् ।

पदा०-(च) और (द्रव्ये) अग्निरूप द्रव्य के चयन प्रकरण में (अचोदितत्वात्) एकादशिनी याग का विधान न होने से (विधीनां) पक्ष समान निन्दा तथा वेदि समान याग भूमि और यूपों के मध्य रथाक्षपरिमित अन्तराल विधायक वाक्यों की (अव्यवस्था) अव्यवस्था (स्यात्) अवश्य है परन्तु (निर्देशात्) "वाचःस्तोम" याग में एकादश यूप का विधान होने से (व्यवतिष्ठेत) पक्ष समान निन्दा पूर्वक वेदि समान याग भूमि तथा यूपों के मध्य रथाक्षपरिमित अन्तराल के विधायक उक्त वाक्यों की व्यवस्था होसक्ती है (तस्मात्) इसलिये वह अग्निचयन प्रकरण में (नित्या-नुवादः) वाचःस्तोम यागस्थ नित्य सिद्ध वेदि सम्मित भूमि तथा रथाक्षपरिमित अन्तराल का अनुवाद (स्यात्) है वि-धान नहीं ।

भाष्य—यद्यपि अग्निचयन प्रकरण में उक्त दोनों प्रकार के वाक्य पढ़े हैं तथापि वह अग्निचयन में पक्ष समान भूमि की निन्दा करके वेदि समान भूमि तथा एकादश यूपों के मध्य रथाक्षपरि-मित अन्तराल का विधान नहीं करते, क्योंकि अग्निचयन में एक ही यूप होता है एकादश नहीं किन्तु "वाचःस्तोम" नामक याग में स्थित एकादश यूपों की भूमि तथा उनके अन्तराल का अनुवाद करते हैं अर्थात् "वाचःस्तोम" याग में एकादश यूपों का विधान है और वह यज्ञ भूमि में रथचक्र की दूरी पर गाढ़े जाते हैं, उनकी भूमि यदि पक्ष के समान होगी तो उक्त दोष होगा और वेदि समान होने में वह दोष नहीं, इस प्रकार अनुवाद मात्र करते हैं, पक्ष समान भूमि की निन्दा करके वेदि समान

भूमि का विधान नहीं करते । सार यह है कि उक्त वाक्यों का यह आशय कदापि नहीं कि एकादशिनी की भूमि अवश्यमेव वेदि के समान ही होनी चाहिये पक्षसमान नहीं, किन्तु पक्षसमान होने में जो दोष हैं वह वेदि समान होने में नहीं, केवल इतने मात्र में तात्पर्य्य है और ऐसा तात्पर्य्य होने से उनका परस्पर कोई विरोध सिद्ध नहीं होता और विरोध के सिद्ध न होने से प्रति-ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का भेद भी नहीं कह सक्ते, इसलिये वह सर्वत्र एक है यही मानना ठीक है ।

सं०—अब "अन्यार्थदर्शन" गत तीसरे हेतु का समाधान करते हैं :-

विहितप्रतिषेधात्पक्षेऽतिरेकः स्यात् । २६ ।

पद०-विहितप्रतिषेधात् । पक्षे । अतिरेकः । स्यात् ।

पदा०-(विहितप्रतिषेधात्) "अतिरात्र" नामक याग में "षोडशी" पात्र के ग्रहण का विधान तथा निषेध होने से (पक्षे) विधान तथा निषेधपक्ष में (अतिरेकः) दो और तीन का अतिरेक (स्यात्) होसक्ता है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में जो "**द्वे संस्तुतानां**" इत्यादि वाक्यों से दो तथा तीन ऋचा का विराट् की अपेक्षा अतिरेक कथन किया है वह अतिरात्र नामक ज्योतिष्टोम याग विशेष के अभिप्राय से किया है, उक्त याग में "**अतिरात्रे षोडशिनंगृ-ह्णाति**"=अतिरात्र याग में षोडशी का ग्रहण करे "**नातिरात्रे षोडशिनंगृह्णाति**"=अतिरात्र याग में षोडशी का ग्रहण न करे, इस प्रकार षोडशी के ग्रहण का विधान तथा निषेध अर्थात्

विकल्प कथन किया है, कदाचित् ग्रहण और कदाचित् अग्रहण को "विकल्प" कहते हैं, जिस पक्ष में षोडशी का ग्रहण है उस पक्ष में तीन का और जिसपक्ष में ग्रहण नहीं है उस पक्ष में दो ऋचा का विराट् से अतिरेक होसक्ता है, क्योंकि ग्रहण का विकल्प होने से ऋचाओं के अतिरेक का विकल्प होना भी सम्भव है इसमें कोई विरोध नहीं और विरोध के न होने से वह एक कर्म पक्ष में भी उपपन्न होसक्ता है, प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्मभेद मानने की कोई आवश्यकता नहीं। षोडशी ग्रहण के विकल्प पक्ष में दो और तीन स्तोत्रीय ऋचाओं का अतिरेक जिस प्रकार गणन्त करने से होता है वह प्रकार कठिन होमे के कारण यहां नहीं लिखा गया, शाबरभाष्य में उसका प्रकार स्पष्ट है।

सं०-अब "अन्यार्थदर्शन" गत चौथे हेतु का समाधान करते हैं:-

सारस्वते विप्रतिषेधाद्यदेतिस्यात्। २७।

पद०-सारस्वते। विप्रतिषेधात्। यदा। इति। स्यात्।

पदा०-(सारस्वते) "सारस्वत" नामक सत्र में (विप्रतिषेधात्) पुरोडाशी और सान्नायी का अधिकार कथन करने से जो शाखान्तर पठित "एषवावप्रथमोयज्ञः" इत्यादि वाक्य के साथ विरोध आता है उसका परिहार (यदा, इति) "यदा" पद के अध्याहार करने से (स्यात्) होजाता है।

भाष्य-"सारस्वत" सत्र में (पुरोडाशी) असोम याजी तथा (सान्नायी) सोम याजी दोनों का अधिकार कथन करने से जो यागान्तर में सोमयाजी मात्र के अधिकार को कथन करने वाले

"एषवाव प्रथमोयज्ञः" इत्यादि शाखान्तरीय वाक्य के साथ कर्मभेद का प्रयोजक विरोध निरूपण किया है, वह "यदा" पद के अध्याहार करने से निवृत्त होजाता है अर्थात् "यदा ते सान्नायिनः स्युस्तदाते" = जब वह सान्नायी हों तब वह सत्रान्तर्गत-वत्सवारणादि क्रिया को करें, इस प्रकार "यदा" पद का सम्बन्ध करने से यह बात स्पष्ट होजाती है कि उक्त वाक्य सोमयाजी ही का अधिकार कथन करते हैं असोमयाजी का नहीं, क्योंकि सोम-याजी होने से प्रथम असोमयाजियों का यज्ञभूमि के बाहर बैठना उक्त वाक्य से प्रत्यक्ष है, जब इस प्रकार "यदा" पद का सम्बन्ध करने से उक्त वाक्य भी सोमयाजी ही का सारस्वत सत्र में अधि-कार कथन करता है तब उसका शाखान्तरीय वाक्य के साथ विरोध नहीं होसक्ता और विरोध के न होने से प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद भी सिद्ध नहीं होसक्ता, अतएव वह सर्वत्र एक है भिन्न २ नहीं।

सं०-अब "अन्यार्थदर्शन" गत पांचवें हेतु का समाधान करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

उपहव्येऽप्रतिप्रसवः । २८ ।

पद०-उपहव्ये । अप्रतिप्रसवः ।

पदा०-(उपहव्ये) "उपहव्य" नामक याग में "बृहत्" तथा "रथन्तर" साम का विधान व्यर्थ है, क्योंकि (अप्रतिप्रसवः) वह प्रकृति से प्राप्त है।

भाष्य-यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का अभेद मानें तो "उपहव्य" नामक ज्योतिष्टोम की विकृति याग में "बृहत्"

तथा "रथन्तर" साम का विधान व्यर्थ होजाता है, क्योंकि वह दोनों ज्योतिष्टोमरूप प्रकृति याग से स्वयं प्राप्त है और यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद मानें तो प्रकृति से प्राप्त होने पर भी नियमार्थ दोनों का ग्रहण सार्थक होसक्ता है क्योंकि प्रकृति याग से वह दोनों साम विकल्प प्राप्त हैं और "उपहव्यो निरुक्तः" इत्यादि वाक्य उक्त विकल्प का बाध करके प्रतिशाखा कर्म में उनका नियम करते हैं, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद है ऐक्य नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

गुणार्था वा पुनःश्रुतिः । २९ ।

पद०—गुणार्था । वा । पुनःश्रुतिः ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (पुनःश्रुतिः) प्रकृति याग से प्राप्त होने पर भी वृहत् तथा रथन्तर साम का पुनर्विधान (गुणार्था) दक्षिणारूप गुण विशेष के नियम के लिये है।

भाष्य—यद्यपि "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस न्याय के अनुसार ज्योतिष्टोम प्रकृति याग से "उपहव्य" नामक विकृति याग में दोनों साम प्राप्त हैं तथापि "उपहव्यो निरुक्तः" इत्यादि वाक्य से उनका पुनर्विधान दक्षिणारूप गुण विशेष के नियम के अभिप्राय से किया गया है अर्थात् यदि उक्त याग रथन्तर सामा हो तो श्यावअश्व, वृहत्साम हो तो श्वेतअश्व, दक्षिणा है। इस प्रकार दक्षिणा नियम के लिये पुनर्विधान हुआ है व्यर्थ

नहीं। अतएव वह प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्मभेद का साधक भी नहीं होसक्ता, क्योंकि उसका फल दक्षिणा नियम है साम नियम नहीं।

सं०-अब प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्मभेद के साधक लिङ्गों का यथाक्रम खण्डन करके, अब कर्म के अभेद का साधक लिङ्ग कथन करते हैं:-

प्रत्ययं चापि दर्शयति। ३०।

पद०-प्रत्ययं। च। अपि। दर्शयति।

पदा०-(च) और (प्रत्ययं) एक शाखा में याग का और दूसरी शाखा में उसके गुणों का विधान (अपि) भी (दर्शयति) प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि कर्म का अभेद सूचन करता है।

भाष्य-जैसे कर्मभेद के साधक लिङ्गों का निराकरण कर्माभेद का साधक है वैसे ही प्रत्यय भी प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्माभेद का साधक है, इस बात के दिखलाने के लिये सूत्र में "अपि" शब्द आया है, तैत्तिरीय शाखा में समिदादि पांच प्रयाजों का विधान करके मैत्रायणीशाखा में अनुवाद पूर्वक "समानीय होतव्याः"=पांच प्रयाजों का एकदेश में अनुष्ठान करना, इत्यादि वाक्यों से उनका एकदेश में अनुष्ठानरूप गुण विधान किया है, यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का भेद होता तो एक शाखा में कर्म विधान करके दूसरी शाखा में उसका अनुवाद तथा उसके गुण का विधान न होना चाहिये था, क्योंकि भेदपक्ष में एक शाखा के कर्म से दूसरी शाखा के कर्म का कोई

सम्बन्ध नहीं और सम्बन्ध के न होने से अनुवाद पूर्वक उसके गुण का विधान नहीं होसक्ता। परन्तु एकशाखा में कर्म का विधान करके दूसरी शाखा में अनुवाद पूर्वक उसके गुण का विधान किया है इससे अनुमान होता है कि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का अभेद है भेद नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि एक शाखा में विहित कर्म का दूसरी शाखा में अनुवाद करके गुण का विधान सङ्गत होसक्ता है, यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का अभेद माना जाय तो अन्यथा एकशाखा के कर्म का दूसरी शाखा में अनुवाद करके गुण का विधान करना सर्वथा असङ्गत और व्यर्थ होजाता है, परन्तु असङ्गत और व्यर्थ होना ठीक नहीं, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म एक है और वह मनुष्यमात्र के लिये यथाशक्ति यावदायु कर्तव्य है।

सं०—अब उक्तार्थ में आशङ्का करते हैं :—

अपिवा क्रमसंयोगाद्विधिपृथक्त्वमेकस्यां व्यवतिष्ठेत । ३१ ।

पद०—अपि । वा । क्रमसंयोगात् । विधिपृथक्त्वम् । एकस्यां । व्यवतिष्ठेत ।

पदा०—"अपि, वा" शब्द आशङ्का की सूचना के लिये आया है, यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का अभेद है तो (एकस्यां) प्रत्येकशाखा में (विधिपृथक्त्वं) अङ्गों के अनुष्ठान का भेद (व्यवतिष्ठेत) होना चाहिये, क्योंकि (क्रमसंयोगात्) अनुष्ठान का पाठक्रम के साथ सम्बन्ध है और वह प्रतिशाखा भिन्न २ है।

भाष्य-यदि प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का अभेद मानें तो जिन २ शाखाओं में अङ्गों का विधान किया गया है उन शाखाओं से दूसरी शाखाओं में उनका उपसंहार* करना होगा, क्योंकि अङ्गों सहित कर्म के अनुष्ठान से ही विहित फल की प्राप्ति होसक्ती है अन्यथा नहीं, परन्तु एक शाखा में जिस क्रम से अङ्गों का पाठ है, दूसरी शाखा में उससे विपरीत है अर्थात् एक शाखा में "स्विष्टकृत्" अङ्ग के अनन्तर "प्राशित्रदान" अङ्ग का और "प्राशित्रदान" अङ्ग के अनन्तर "इडावदान" अङ्ग का पाठ करके दूसरी शाखा में इससे विपरीत पाठ किया है, जिस शाखा में उक्त अङ्गों का उपसंहार होगा उसमें पाठक्रम के अनुसार ही उनका अनुष्ठान होना आवश्यक है, अन्यथा नूतनक्रम की कल्पना करनी पड़ेगी और नूतनक्रम की कल्पना करने की अपेक्षा पाठ-क्रम के अनुसार अनुष्ठानक्रम की कल्पना करना श्रेय है, क्योंकि पाठक्रम के साथ अनुष्ठानक्रम का सम्बन्ध है । परन्तु पाठक्रम प्रतिशाखा भिन्न २ है, अतएव अनुष्ठान क्रम भी भिन्न २ होगा, उसके भिन्न होने से प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म के ऐक्य होने की तो कथा ही क्या, एक शाखा में भी कर्म का ऐक्य सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि अङ्गों के अनुष्ठान के क्रम का भेद होने से अङ्गों के कर्म का भेद होना सम्भव है, इसलिये प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का अभेद मानना ठीक नहीं किन्तु भेद मानना ही ठीक है ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

विरोधिना त्वसंयोगादैककर्म्यैतत्संयोगा

---

* एकत्र करने का नाम उपसंहार है ।

द्विधीनां सर्वकर्मप्रत्ययः स्यात् । ३२ ।

पद०-विरोधिना । तु । असंयोगात् । ऐककर्म्ये । तत्संयोगात् । विधिनां । सर्वकर्मप्रत्ययः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (विरोधिना) अनुष्ठान क्रम के विरोधी पाठक्रम के साथ (असंयोगात्) अङ्गानुष्ठान का सम्बन्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि (ऐककर्म्ये) पूर्वोक्त युक्तियों के बल से प्रतिब्राह्मण तथा प्रतिशाखा कर्म का ऐक्य सिद्ध होजाने से (विधीनां) सम्पूर्ण अङ्ग विधियों का (तत्संयोगात्) एक कर्मविधि के साथ सम्बन्ध है, इसलिये (सर्वकर्मप्रत्ययः) सब शाखाओं में प्रतिकर्मविहितक्रम के अनुसार अङ्गों का अनुष्ठान (स्यात्) होता है ।

भाष्य-यद्यपि कई एक शाखाओं में अङ्गों का पाठ भिन्न २ क्रम से किया गया है तथापि अङ्गानुष्ठान का उसके साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि वह वाक्यविहितक्रम की अपेक्षा निर्बल है और निर्बल तथा प्रबल के मध्य निर्बल ही त्याज्य होता है प्रबल नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि सम्पूर्ण अङ्गविधि में कर्मविधि का शेष है और जो शेष होता है वह शेषी का अनुसारी होता है यह नियम है, अङ्ग तथा शेष की भांति अङ्गी तथा शेषी यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इसलिये प्रकृतिभूत अङ्गीकर्म के विधायक वाक्यों में जो क्रम अङ्गों के अनुष्ठान का विधान किया गया है इसी प्रकार शाखान्तर से उपसंहार किये गये अङ्गों का अनुष्ठान भी उस क्रम से होना चाहिये पाठ क्रम के अनुसार उनका अनुष्ठान न होने से प्रतिशाखा कर्म का भेद सिद्ध नहीं होसक्ता,

सार यह है कि वाक्यविहित क्रम ही अङ्गानुष्ठान का क्रम है पाठक्रम किंवा कोई नूतन कपोलकल्पित क्रम नहीं, इसलिये प्रति-ब्राह्मण तथा प्रतिशाखा अग्निहोत्रादि कर्म एक है अनेक नहीं ।

इति श्रीमदार्य्यमुनिनोप निबद्धे
मीमांसार्य्यभाष्ये द्वितीया-
ध्यायस्य चतुर्थपादः
समाप्तः

समाप्तोऽयंद्वितीयाध्यायः

ओ३म्

अथ मीमांसार्य्यभाष्ये तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादः प्रारभ्यते

सङ्गति—द्वितीयाध्याय में यागादि कर्मों के भेद का निरूपण किया, अब उनके मध्य कौन शेष तथा कौन शेषी है, इस प्रकार उनके शेषशेषिभाव का निरूपण करने के लिये तृतीयाध्याय का आरम्भ करते हुए प्रथम शेष के लक्षण कथन करने की प्रतिज्ञा करते हैं :-

अथातः शेषलक्षणम् ॥ १ ॥

पद०—अथ । अतः । शेषलक्षणम् ।

पदा०—(अथ) भेद निरूपण के अनन्तर (शेषलक्षणं) शेष का लक्षण कथन किया जाता है (अतः) इसलिये कि वह शेष-शेषिभाव के निरूपण में उपयोगी है ।

भाष्य—" **शेषोऽस्यास्तीतिशेषी** " = शेषवाले का नाम " **शेषी** " और " **शेषशेषिणोर्भावः = सम्बन्धः** " शेष-शेषिभावः " = शेष तथा शेषी के परस्पर सम्बन्ध का नाम " **शेषशेषिभाव** " है, इन दोनों का ज्ञान शेष के स्वरूप का ज्ञान हुए बिना नहीं हो सक्ता और शेष के स्वरूप का ज्ञान लक्षण के बिना होना असम्भव है, इसलिये प्रथम शेष के लक्षण की प्रतिज्ञा कीगई है ।

सं०—अब ' **शेष** ' का लक्षण करते हैं:-

शेषः परार्थत्वात् ॥ २ ॥

पद०-शेषः । परार्थत्वात् ।

पदा०-(परार्थत्वात्) जो दूसरे के लिये होता है उसको (शेषः) शेष कहते हैं ।

भाष्य-इस सूत्र में 'शेष' का लक्षण तथा शेष होने का कारण इन दोनों का कथन है, इसी के सूचनार्थ "परार्थत्वात्" यह पञ्चम्यन्त पद का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ यह होता है कि जिस लिये वह दूसरे के लिये है इसलिये उसको "शेष" कहते हैं, इस का भाव यह है कि "शेषत्व" किसी का स्वाभाविक धर्म नहीं किन्तु "परार्थत्व" निमित्तक है, इसलिये 'शेष' का यह लक्षण निष्पन्न हुआ कि "यःपरस्योपकारेवर्तते स शेषः"=जो दूसरे के उपकार में प्रवृत्त है वह "शेष" है। यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि "यैस्तुद्रव्यं" मी० २ । १ । ८ इत्यादि सूत्रों में प्रथम केवल शेषभूत "कर्ममात्र" का लक्षण किया गया है और यहां "द्रव्य" आदि साधारण शेषमात्र का लक्षण किया है, इसलिये पुनरुक्त दोष नहीं ।

सं०-अब 'शेष' का लक्ष्य कथन करते हैं :-

द्रव्यगुणसंस्कारेषु बादरिः । ३ ।

पद०-द्रव्यगुणसंस्कारेषु । बादरिः ।

पदा०-(द्रव्यगुणसंस्कारेषु) द्रव्य, गुण तथा संस्कार इन तीनों में 'शेष' शब्द की प्रवृत्ति है यह (बादरिः) बादरि आचार्य्य का मत है ।

भाष्य-याग, दान, होम, आदि कर्मों की सिद्धि में उपकारी सामग्री के साधन व्रीहि आदि का नाम "द्रव्य" उसके शौकल्य' अरुण आदि धर्मों का नाम "गुण" और "संस्कारो नाम यस्मिन् जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य" = जिसके होने पर पदार्थ किसी अर्थ की सिद्धि के योग्य हो जाता है, ऐसे उक्त सामग्री के प्रोक्षण आदि धर्मों का नाम "संस्कार" है, यह तीनों उक्त कर्म की सिद्धि के लिये होने से 'शेष' हैं, जैसे सामग्री के बिना उक्त कर्म की सिद्धि नहीं होसक्ती, वैसे ही सामग्री के होनेपर भी जो २ गुण सामग्री के विधान कियेगये हैं उनके तथा प्रोक्षणादि संस्कारों के बिना भी उक्त कर्म की सिद्धि नहीं होसक्ती, अतएव सामग्री की भांति गुण तथा संस्कार भी सामग्री द्वारा उक्त कर्म की सिद्धि में उपकारी हैं, क्योंकि तीनों के होने से ही उक्त कर्म की सिद्धि होती हैं अन्यथा नहीं, जिसलिये द्रव्य, गुण तथा संस्कार यह तीनों (परार्थ) दूसरे के लिये हैं इसलिये "शेष" का लक्ष्य हैं, यह बादरि आचार्य्य का मत है।

सं०-अब उक्त मत की न्यूनता पूर्ण करते हैं:-

कर्माण्यपिजैमिनिःफलार्थत्वात्। ४।

पद०-कर्माणि। अपि। जैमिनिः। फलार्थत्वात्।

पदा०-(कर्माणि, अपि) याग, दान, होम आदि कर्म भी 'शेष' का लक्ष्य हैं, क्योंकि (फलार्थत्वात्) वह सब फल के लिये हैं, यह (जैमिनिः) जैमिनि आचार्य्य का मत है।

भाष्य-जैसे द्रव्य, गुण तथा संस्कार यह तीनों कर्म की सिद्धि का हेतु होने से कर्म के प्रति शेष हैं, वैसे ही कर्म भी फल की

सिद्धि का हेतु होने से फल के प्रति शेष है, इसलिये द्रव्य आदि तीनों को ही "शेष" का लक्ष्य मानना ठीक नहीं, क्योंकि उन की भांति कर्म भी परार्थ होने के कारण "शेष" का लक्ष्य है, यह जैमिनि आचार्य्य का मत है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि याग, दान, होमादि की भांति व्याख्यान भी एक प्रकार का कर्म विशेष है और जैसे यागादिकों से भावि अभ्युदयरूप फल की प्राप्ति होती है वैसे ही व्याख्यान से भी व्याख्येय ग्रन्थ के अर्थों का विशद ज्ञानरूपफल प्राप्त होता है इसलिये उक्त कर्म की भांति वह भी अपने व्याख्येय ग्रन्थ का शेष है, इसी अभिप्राय से आचार्य्य ने "शेषे ब्राह्मण शब्दः" मी० २।१।२३ में ऐत्तरेयादि ब्राह्मण ग्रन्थों को शेष कथन किया है।

सं०-शेष का और लक्ष्य कथन करते हैं:-

फलं च पुरुषार्थत्वात्।५।

पद०-फलं। च। पुरुषार्थत्वात्।

पदा०-(च) और (फलं) द्रव्य, गुण, संस्कार तथा कर्म की भांति फल भी शेष है, क्योंकि (पुरुषार्थत्वात्) वह पुरुष के लिये है।

भाष्य-याग आदि कर्मों के अनुष्ठान से जो फल होता है वह पुरुष के लिये होने से पुरुष का शेष है, क्योंकि "स्वर्गादि फलं मे भवतु"=स्वर्गादि फल मुझ को प्राप्त हो, इस कामना से पुरुष ने उक्त कर्मों का अनुष्ठान किया है। इसलिये द्रव्य आदि

की भांति वह भी शेष का लक्ष्य है। यह जैमिनि आचार्य्य का मत है।

सं०—अब और शेष का लक्ष्य कथन करते हैं :—

पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्। ६।

पद०—पुरुषः। च। कर्मार्थत्वात्।

पदा०—(च) और (पुरुषः) द्रव्यादि की भांति पुरुष भी शेष है, क्योंकि (कर्मार्थत्वात्) वह कर्म के लिये है।

भाष्य—जैसे द्रव्यादि के बिना कर्म की सिद्धि नहीं होसक्ती वैसे ही यजमान के बिना भी नहीं होसक्ती, इसलिये द्रव्यादि की भांति यजमान भी कर्म के लिये होने से उसका शेष है, यह जैमिनि आचार्य्य का मत है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि बादरि आचार्य्य ने जो द्रव्य,गुण तथा संस्कार तीनों को ही शेष माना है वह नियत शेषता के अभिप्राय से माना है अर्थात् यागादि कर्मों के प्रति द्रव्यादि तीनों नियम से शेष हैं किसी अन्य के प्रति शेषी नहीं, इस तात्पर्य्य से उक्त तीनों को ही शेष कथन किया है और जैमिनि आचार्य्य ने द्रव्य, गुण तथा संस्कार के अतिरिक्त कर्म, फल तथा पुरुष को भी शेष कथन किया है, वह आपेक्षिक शेषता के अभिप्राय से किया है अर्थात् कर्मादि में जो शेषता है वह नियत नहीं किन्तु सापेक्ष है, क्योंकि द्रव्यादि की अपेक्षा कर्म शेषी और फल की अपेक्षा शेष, कर्म की अपेक्षा फल शेषी और पुरुष की अपेक्षा शेष तथा फल की अपेक्षा पुरुष शेषी और कर्म की अपेक्षा शेष है, इसलिये दोनों आचार्य्यों का परस्पर कोई विरोध नहीं, यह मी-

मांसा सूत्रों के वृत्तिकार "उपवर्ष*" मुनि का निश्चय है।

सं०-अब "अवहननादि" धर्मों को आदि का शेष कथन करते हैं:-

तेषामर्थेन सम्बन्धः । ७ ।

पद०-तेषाम् । अर्थेन । सम्बन्धः ।

पदा०-(तेषां) अवहननादि धर्मों का (अर्थेन) वितुषीआवादि दृष्ट फल के अनुसार (सम्बन्धः) व्रीहि आदि के साथ शेषशेषिभाव सम्बन्ध है ।

भाष्य-दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित अवहनन, प्रोक्षण आदि व्रीहि के, विलापन† अवेक्षण आदि (आज्य) घृत के तथा दोहन आतञ्चन आदि सांनाय्य‡ के धर्म इस अधिकरण का विषय हैं। उक्त धर्म प्रति द्रव्य व्यवस्थित हैं किंवा अव्यवस्थित हैं अर्थात् उक्त धर्मों के मध्य जो धर्म जिस द्रव्य के विधान किये गये हैं वह नियम से उसी के हैं किंवा सब धर्म सब के हैं? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष सिद्धान्ती का और अन्तिम पक्ष पूर्वपक्षी का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि अवहनन आदि धर्मों का तुषविमोकआदि फल प्रतिद्रव्य

---

* अष्टाध्यायी के कर्ता "पाणिनि" इसी महामुनि **उपवर्ष** के शिष्य थे, आपके मत का दिक्प्रदर्शन शबर स्वामी ने **मीमांसाभाष्य** के कई स्थलों में बड़े आदर से किया है। और शबर स्वामी के पश्चाद्भावी **शङ्करस्वामी** ने भी "**शब्द इति चेन्नात:**" ब्र० सू० १।३।२७ इत्यादि सूत्रों के भाष्य में उक्त महामुनि के सिद्धान्त का सत्कार किया है, आप की बनाई वृत्ति उपलब्ध नहीं होती अनुमान होता है कि बौद्धों के अत्याचार से उक्त वृत्ति का लोप होगया और उसके लोप होजाने के बहुत पीच्छे "**विक्रमादित्य**" के समय में "**शबर स्वामी**" ने मीमांसा भाष्य निर्माण किया।

† ग्लाना ‡ दधि दुग्ध दोनों का नाम "सांनाय्य" है।

व्यवस्थित देख पड़ता है अव्यवस्थित नहीं अर्थात् अवहननादि धर्मों का तुषविमोकादि फल (व्रीहि) धानों में ही दीखता है आज्य तथा सांनाय्य में नहीं और विलापनादि धर्मों का द्रविभावादि फल आज्य में ही दीखता है व्रीहि तथा सान्नाय्य में नहीं, ऐसे ही दोहन आतञ्चनादि धर्मों का दुग्ध दधि आदि फल भी सांनाय्य में ही देखाजाता है अन्य में नहीं, इस प्रकार उक्त धर्मों के फल का प्रति द्रव्य व्यवस्थित देख पड़ने से धर्मों को भी प्रति द्रव्य व्यवस्थित होना चाहिये, क्योंकि अव्यवस्थित पदार्थों का फल कदापि व्यवस्थित नहीं होसक्ता, इसलिये अवहननआदि धर्म प्रति द्रव्य व्यवस्थित हैं अव्यवस्थित नहीं। तात्पर्य्य यह है कि जो धर्म जिस द्रव्य का विधान किया गया है जैसा कि अवहननआदि व्रीहि आदि का, वह धर्म उसी द्रव्य का शेष है दूसरे का नहीं ॥

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष करते हैं :—

विहितस्तु सर्वधर्मः स्यात्संयोगतोऽविशेषा-त्प्रकरणाविशेषाच्च । ८ ।

पद०—विहितः । तु । सर्वधर्मः । स्यात् । संयोगतः । अविशेषात् । प्रकरणाविशेषात् । च ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (विहितः) शास्त्र विहित अवहनन आदि (सर्वधर्मः) सब के धर्म (स्यात्) हैं, क्योंकि (संयोगतः, अविशेषात्) उनका द्रव्य द्वारा प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध समान है (च) और (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण भी एक है ।

भाष्य—" व्रीहीनवहन्ति " " आज्यंविलापयति "

इत्यादि वाक्यों से जो "अवहनन" आदि धर्म विधान किये गये हैं वह दर्शपूर्णमास याग के साधनभूत द्रव्यमात्र के उद्देश से किये गये हैं किसी नियत द्रव्य के उद्देश से नहीं, क्योंकि उनका मुख्य प्रयोजन उक्त याग की सिद्धि होने से उसके साथ ही मुख्य सम्बन्ध है और वह सम्बन्ध द्रव्य की भांति प्रत्येक धर्म का याग के साथ समान है अर्थात् जैसे साधनभूत व्रीहि आदि प्रत्येक द्रव्य का याग के साथ समान सम्बन्ध है वैसेही अवहनन आदि प्रत्येक धर्म का भी समान सम्बन्ध है परन्तु वह द्रव्य द्वारा ही होसक्ता है साक्षात् नहीं, और प्रकरण के एक होने से व्रीहि आदि द्रव्य के अतिरिक्त किसी अन्य द्रव्य की कल्पना भी नहीं होसक्ती, इसलिये प्रकृत याग के जितने व्रीहि आदि साधन द्रव्य हैं उन सब के अवहनन आदि धर्म हैं, प्रतिद्रव्य व्यवस्थित नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अर्थलोपादकर्मस्यात् । ९ ।

पद०-अर्थलोपात् । अकर्म । स्यात् ।

पदा०-(अर्थलोपात्) फल के न देख पड़ने से (अकर्म,स्यात्) सब धर्म सब द्रव्यों में नहीं किये जासक्ते, इसलिये वह प्रतिद्रव्य व्यवस्थित हैं।

भाष्य-यद्यपि सम्बन्ध तथा प्रकरण की समानता है तथापि उसके बल से अवहनन आदि सब द्रव्यों के धर्म नहीं होसक्ते, क्योंकि सब का सब में फल नहीं देख पड़ता और फल के बिना अनुष्ठान होना असंभव है और दूसरे "व्रीहिनवहन्ति" आदि वाक्यों से अवहनन आदि का व्रीहि के विलापन आदि का आज्य के और

दोहन आदि का सांनाय्य के साथ शेषशेषिभाव सम्बन्ध साक्षात् श्रवण हो रहा है सबको सबका धर्म मानने में उसका वाध होजाता है और व्रीहि आदि का साधनभूत द्रव्यमात्र अर्थ करने में लक्षणा करनी पड़ती है और वह शक्तिवृत्ति से उचित अर्थ का लाभ हो जाने पर मानी नहीं जासक्ती और तीसरे दर्शपूर्णमास नाम का कोई एक याग नहीं किन्तु ६ याग हैं अर्थात् **आग्नेययाग** १ **दधियाग** २ **पययाग** ३ यह तीन दर्शयाग और **आग्नेय-याग** १ **अग्नीषोमीययाग** २ **उपांशुयाग** ३ यह तीन पूर्णमास याग हैं, जिनके मध्य आग्नेय तथा अग्नीषोमीय यह दो याग व्रीहि साध्य और शेष आज्य तथा सांनाय्य साध्य हैं, सब याग सब द्रव्य साध्य नहीं, अतएव उनका सब यागों के साथ समान भाव से सम्बन्ध भी नहीं होसक्ता और व्रीहि आदि द्रव्यों का समान भाव से सम्बन्ध न होने पर 'अवहनन' आदि धर्मों का भी समान सम्बन्ध नहीं होसक्ता, और सब यागों का भावी सुखरूप फल एक होने से तद्द्वारा समान सम्बन्ध मानने में अत्यन्त गौरव है, इसलिये 'अवहनन' आदि सब धर्म व्रीहि आदि सब द्रव्यों के नहीं होसक्ते किन्तु जैसे प्रतियाग व्रीहि आदि द्रव्य व्यवस्थित हैं वैसे ही अवहनन आदि धर्म भी प्रतिद्रव्य व्यवस्थित हैं। सार यह है कि 'अवहनन' आदि क्रिया से जो 'तुषविमोक' आदि फल होता है वह प्रतिद्रव्य व्यवस्थित देखा जाता है अव्यवस्थित नहीं, इसलिये अविशेषरूप से सब द्रव्यों में 'अवहनन' आदि क्रिया नहीं की जासक्ती, क्योंकि जिस द्रव्य में जिस क्रिया का फल दृष्ट है वह क्रिया उसी द्रव्य का शेष है दूसरे का नहीं।

सं०—ननु, 'आज्य' आदि में 'तुषविमोक' आदि फल दृष्ट न होने पर भी प्रकरण के बल से 'अवहनन' आदि क्रिया क्यों न कीजाय? उत्तर :—

फलं तु सह चेष्टया शब्दार्थोऽभावा-द्विप्रयोगे स्यात् । १० ।

पद०—फलं । तु । सह । चेष्टया । शब्दार्थः । अभावात् । विप्रयोगे । स्यात् ।

पदा०—'तु' शब्द उक्ताशङ्का की निवृति के लिये आया है (चेष्टया) 'अवहनन' आदि क्रिया के (सह) सहित (फलं) 'तुषविमोक' आदि फल (शब्दार्थः) 'अवहन्ति' आदि शब्द का अर्थ (स्यात्) है (विप्रयोगे) फल के न होने पर (अभावात्) 'अवहनन' आदि 'अवहन्ति' आदि का अर्थ नहीं होसक्ते ।

भाष्य—"**व्रीहीनवहन्ति**"=व्रीहि का अवहनन करे, "**आज्यं विलापयति**"=घृत को गलावे, इत्यादि वाक्यों में जो "अवहन्ति" आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है उसका अर्थ फल सहित क्रिया है केवल क्रिया नहीं, जैसाकि महाभाष्य में कहा है कि "**फलव्यापारयोर्धातुः**"=फल तथा व्यापार यह दोनों धातु का और आश्रय तिङ्प्रत्यय का अर्थ है । यदि प्रकरण के बल से "आज्य" आदि में अवहनन आदि क्रिया की जाय तो वह तुषविमोक आदि फल के न होने से "अवहन्ति" आदि शब्द का अर्थ नहीं होसक्ती और अनर्थ का अनुष्ठान करना व्यर्थ है, क्योंकि वह विधेय नहीं है इसलिये वह "आज्य" आदि में नहीं कीजासक्ती ।

तात्पर्य्य यह है कि "अवहनन" आदि संस्कार क्रिया ब्रीहि का, विलापन आदि उक्त क्रिया आज्य का, दोहन आदि उक्त क्रिया सांनाय्य का शेष है, सब क्रिया सब द्रव्य का शेष नहीं ।

सं०-अब "स्फ्य" आदि यज्ञों के साधनों की व्यवस्था कथन करते हैं :-

द्रव्यं चोत्पत्तिसंयोगात्तदर्थमेव चोद्यते।११।

पद०-द्रव्यं । च । उत्पत्तिसंयोगात् । तदर्थम् । एव । चोद्यते ।

पदा०-(च) और (द्रव्यं) "स्फ्य" आदि द्रव्य का (उत्पत्तिसंयोगात्) उत्पत्ति वाक्य से जिस २ क्रिया के साथ सम्बन्ध है (तदर्थम्, एव) वह उसी क्रिया के लिये (चोद्यते) विधान किया गया है ।

भाष्य-"**स्फ्यश्च कपालानिचाग्निहोत्रहवनी च शूर्पं च कृष्णाजिनञ्च शम्या चोलूखलञ्च मुसलञ्च दृषचोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानि**" = स्फ्य, १ कपाल, २ अग्निहोत्रहवनी, ३ शूर्प, ४ कृष्णाजिन, ५ शम्या, ६ उलूखल, ७ मुसल, ८ दृषत्, ९ उपला, १० यह दश याग के साधन इस अधिकरण का विषय हैं । खड्गाकार काष्ठविशेष का नाम "**स्फ्य**" पुरोडाश पकाने के साधन मिट्टी के ठीकरों का नाम "**कपाल**" अग्नि में हवि डालने के साधन काष्ठपात्र का नाम "**अग्निहोत्रहवनी**" सूप का नाम "**शूर्प**" काले मृगचर्म का नाम "**कृष्णाजिन**" मुसलाकार काष्ठ विशेष का नाम "**शम्या**" कूटने के साधनकाष्ठ-

मय ऊखल का नाम "**उलूखल**" मूसल=मूला का नाम "**मूसल**" सिला का नाम "**दृषत्**" और लोहड़े का नाम "**उपला**" है। उक्त साधन प्रतिक्रिया व्यवस्थित हैं किंवा अव्यवस्थित हैं अर्थात् उत्पत्तिवाक्य* से जिस साधन का जिस क्रिया के साथ सम्बन्ध है वह उस क्रिया का शेष है किंवा जिस साधन से जो क्रिया कीजासकती है वह उस क्रिया का शेष है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष सिद्धान्ती का और अन्तिम पक्ष पूर्वपक्षी का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि यद्यपि "स्फ्य" आदि साधनों के मध्य जिस किसी साधन से जिस किसी याग सम्बन्धि क्रिया के कर लेने पर भी उक्त साधनों में समानरूप से श्रूयमाण यज्ञायुधता का बाध नहीं होता तथापि ऐसा करने से "**स्फ्येनोद्धन्ति**"=स्फ्य से खोदे "**कपालेषुश्रयति**"=कपालों में पुरोडाश पकावे, "**अग्निहोत्रहवण्या हवींषि निर्वपति**"=अग्निहोत्रहवनी से अग्निकुण्ड में हवि डाले "**शूर्पेणविविनक्ति**"=सूप से साफ करे "**कृष्णाजिनमधस्तादुलूखलस्यावस्तृणाति**"=ऊखल के नीचे कृष्णाजिन बिछावे "**शम्यायादृषदमुपदधाति**"=शम्या को सिला का सहारा देने वाला टेका=ठुम्मना बनावे "**उलूखलमुसलाभ्यामवहन्ति**"=ऊखल और मूसल से कूटे "**दृषदुपलाभ्यां पिनष्टि**"=सिला और लोहड़े से पीसे, इस प्रकार "उद्धनन" आदि क्रिया के साथ

---

* प्रथम विधायक वाक्य को "उत्पत्तिवाक्य" कहते हैं।

"स्फ्य" आदि साधनों का सम्बन्ध विधान करने वाले सम्पूर्ण उत्पत्ति वाक्य निरर्थक = बाधित होजाते हैं, सो ठीक नहीं, इसलिये उक्त उत्पत्ति वाक्यों ने जिस साधन का जिस क्रिया के साथ सम्बन्ध कथन किया है वह उसी क्रिया के लिये होने से उसी क्रिया का शेष है दूसरी का नहीं। सार यह है कि जिस किसी साधन से जो कोई क्रिया नहीं कर सक्ते किन्तु उत्पत्ति वाक्य ने जिस साधन से जिस क्रिया का करना विधान किया है उससे वही क्रिया कर सक्ते हैं दूसरी नहीं, इसलिये उक्त साधन उत्पत्ति वाक्य के अनुसार प्रतिक्रिया व्यवस्थित हैं अव्यवस्थित नहीं।

सं०-अब "आरुण्यादि" गुणों की व्यवस्था कथन करते हैं :-

अर्थैकत्वेद्रव्यगुणयोरैककर्म्यान्नियमः स्यात्। १२।

पद०-अर्थैकत्वे। द्रव्यगुणयोः। ऐककर्म्यात्। नियमः। स्यात्।

पदा०-(अर्थैकत्वे) एक वाक्यार्थ में (द्रव्यगुणयोः) द्रव्य और गुण के (नियमः) परस्पर परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावरूप सम्बन्ध का नियम (स्यात्) है, क्योंकि (ऐककर्म्यात्) दोनों का क्रियासिद्धिरूपकार्य्य एक है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के अन्तर्गत सोमक्रय* के प्रकरण में **"अरुणया एकहायन्या पिङ्गाक्ष्या गवा सोमंक्रीणाति"** = लाल रङ्ग तथा पीलेनेत्रों वाली एक वर्ष की गौ से सोम मूल्य ले, यह वाक्य पढ़ा है। इसमें "क्रीणाति" क्रिया पद

* सोमलता का मूल्य लेना।

"सोमं" कर्मकारक पद तथा शेष तीनों तृतीयान्त करण कारक पद हैं. कारक पदों का क्रियापद के साथ ही सम्बन्ध होता है परस्पर नहीं, यह नियम है "एकहायनी" तथा "पिङ्गाक्षी" यह दोनों पद "एकोहायनोयस्याः" पिङ्गे = पिङ्गलवर्णे अक्षिणी = नेत्रेयस्याः सा गौः, एकहायनी तथा पिङ्गाक्षी, इस प्रकार बहुव्रीहि-समास से द्रव्य के वाचक हैं, उनका परस्पर समानाधिकरण होने के कारण साधनरूप से क्रिया में अन्वयः = सम्बन्ध हो सक्ता है, अतएव वह दोनों यहां विचारणीय नहीं हैं, परन्तु "अरुणा" शब्द "आकृतिन्याय"* से आरुण्य = रक्तरूपगुण का वाचक है, उसका अमूर्त्त होने के कारण क्रिया में साधनरूप से अन्वय नहीं होसक्ता और करणवाची तृतीया विभक्ति उसको क्रिया का साधन कथन करती है अतएव यह विचारणीय होने के कारण इस अधिकरण का विषय है उक्त गुणवाची "अरुणा" शब्द का साधन-रूप से "क्रीणाति" क्रिया के साथ सम्बन्ध है किंवा उक्त वाक्य विच्छिन्न होकर "सोमक्रय के साधन वस्त्र आदि जितने द्रव्य हैं वह सब लालरङ्ग वाले होने चाहियें" इस प्रकार प्रकरण पठित सोमक्रय के साधन वस्त्र आदि द्रव्यमात्र के साथ सम्बन्ध है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष सिद्धान्ती का और अन्तिम पक्ष पूर्वपक्षी का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि यद्यपि गुण अमूर्त्त पदार्थ है उसका साधनरूप से क्रिया में अन्वय नहीं होसक्ता तथापि 'अरुणा' शब्दोत्तरवर्त्तितृतीया विभक्ति से क्रिया के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है, उसका बाध करना ठीक नहीं और न "अरुण्य" शब्द का उक्त वाक्य से विच्छेद

* सब पदों की आकृति = जाति में शक्ति है, इसके प्रतिपादक सूत्र का नाम "आकृतिन्याय" है, यह सूत्र प्रथमाध्याय के तृतीयपाद का ३३वां है।

करके वाक्यान्तर पठित वस्त्र आदि द्रव्यान्तर के साथ सम्बन्ध की कल्पना करना उचित है, क्योंकि ऐसा करने में अत्यन्त गौरव तथा अत्यन्त असम्बद्ध अर्थ का मानना रूप दोष है, परन्तु "अरुण्य" गुण का 'अरुणा' शब्दोत्तरवर्त्ति तृतीया विभक्ति से क्रिया के साथ सम्बध प्रतीत होने पर भी अमूर्त्त होने के कारण साक्षात् साधनरूप से सम्बन्ध नहीं होसक्ता। उसके लिये मध्य में द्रव्य रूप द्वार की कल्पना करना आवश्यक है और सन्निहित तथा असन्निहित द्रव्य के मध्य सन्निहित द्रव्य ही आदरणीय होता है और वह प्रकृत में "एकहायनी" शब्द का वाच्य गौ है उसके साथ उक्तगुण का परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव सम्वन्ध होना चाहिये, क्योंकि यह नियम है कि जहां द्रव्य और गुण दोनों एक वाक्यार्थ में अन्वित होकर एक क्रिया सिद्धिरूप कार्य्य करते हैं वहां उनका परस्पर "परिच्छेद्यपरिच्छेदकभाव" सम्बन्ध होता है जो औरों से परिछिन्न = व्यावृत्त अर्थात् भिन्न किया जाता है उसका नाम "परिछेद्य" और परिछिन्न = व्यावृत्त अर्थात् भिन्न करने वाले का नाम "परिच्छेदक" है, प्रकृत में "क्रय" एक क्रियारूप कार्य्य उसको मिलकर सिद्ध करने वाला औरों से परिच्छिन्न होने के कारण "एकहायनी" शब्द का वाच्य गौरूप द्रव्य "**परिच्छेद्य**" परिछिन्न करने के कारण "**अरुणा**" शब्द का वाच्य "**आरुण्य**" रूप गुण "**परिछेदक**" और उनके परस्पर सम्वन्ध का नाम "**परिछेद्यपरिछेदकभाव**" है। इसके द्वारा उक्त द्रव्य को परिच्छिन्न करते हुए उक्त गुण का उक्त क्रिया में साधनरूप से अन्वय होसक्ता है, इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये "आरुण्य" गुण के वाची "अरुणा" शब्द का साधनरूप से

"क्रीणाति" क्रिया के साथ ही सम्बन्ध है, प्रकरण पठित सोमक्रय के साधन वस्त्रादि द्रव्यमात्र के साथ नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि तृतीया विभक्ति श्रुति केवल "क्रय" रूप क्रिया में अन्वित हुआ "आरुण्य" गुण क्रिया के साधन "एकहायनी" गौरूप द्रव्य का ही अन्य द्रव्यों से व्यावृत्त करता है कि सोमक्रय का साधन जो पिङ्गाक्षी तथा "एकहायनी" गौ है वह आरुण्य गुण वाली अर्थात् लाल रङ्ग की होनी चाहिये वाक्यान्तरविहितक्रय के साधन वस्त्र आदि अन्य द्रव्यों को व्यावृत्त नहीं करता, वह चाहे किसी रङ्ग के हों उनमें कोई नियम नहीं, इसलिये उक्त गुण गौ आदि रूप द्रव्य में व्यवस्थित है अव्यवस्थित नहीं।

सार यह है कि "आरुण्य" गुण सोमक्रय के साधन गौरूप द्रव्य का ही शेष है द्रव्यमात्र का नहीं।

इसी का नाम "अरुणा" न्याय है, शास्त्रान्तर में इसका बहुत लेख आता है।

सं०—अब उद्देश्यगत संख्या की अविवक्षा कथन करते हुए "सम्मार्जन" आदि को "ग्रह" आदि द्रव्यमात्र का धर्म = शेष निरूपण करने के लिये प्रथम पूर्वपक्ष करते हैं :—

एकत्वयुक्तमेकस्य श्रुतिसंयोगात्। १३।

पद०—एकत्वयुक्तम्। एकस्य। श्रुतिसंयोगात्।

पदा०—(एकत्वयुक्तं) एकत्व संख्या युक्त "ग्रह" आदि द्रव्य का "सम्मार्जन" आदि होना चाहिये, क्योंकि (एकस्य) एक का ही (श्रुतिसंयोगात्) एकवचन श्रुति से "सम्मार्जन" आदि के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य–ज्योतिष्टोम के प्रकरण में "**दशापवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि**"=दशापवित्र = वस्त्र के टुकड़े से ग्रह = पात्रविशेष का सम्मार्जन करे, अग्निहोत्र के प्रकरण में "**अग्नेस्तृणान्य पचिनोति**" = अग्नि से तृण = कूड़ाकचरा निकाल दे, दर्शपूर्णमास के प्रकरण में "**पुरोडाशंपर्य्यग्निकरोति**" = पुरोडाश का पर्य्यग्निकरण संस्कार करे, इत्यादि वाक्य पढ़े हैं, इनमें ग्रह, अग्नि तथा पुरोडाश, यह तीनों उद्देश्य और "सम्मार्जन, तृणापचयन तथा पर्य्यग्निकरण" यह तीनों विधेय हैं, उक्त "सम्मार्जन" आदि एक ग्रह, एक अग्नि तथा एक पुरोडाश का किंवा सब "ग्रह" सब "अग्नि" सब "पुरोडाश" का करना चाहिये अर्थात् "सम्मार्जन" आदि एकग्रह आदि का किंवा सबग्रह आदि का धर्म है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और अन्तिम पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे "**पशुमालभेत**" में "पशु" प्रातिपदिक के उत्तरवर्ती एकवचन श्रुति के बल से "पशु" गत एकत्वसंख्या विवक्षित है और उसके विवक्षित होने से एक ही पशु के आलम्भ = भावि सुख के उद्देश से विधिपूर्वक दान किया जाता है, पशुमात्र का नहीं, वैसेही "ग्रह" आदि प्रातिपदिक के उत्तरवर्त्ती एकवचन श्रुति के बल से "ग्रह" आदि गत भी एकत्व संख्या विवक्षित है अविवक्षित नहीं, क्योंकि उसके अविवक्षित होने से एकवचन का श्रवण व्यर्थ होजाता है इसलिये एकही "ग्रह" आदि द्रव्य का "सम्मार्जन" आदि कर्तव्य है सबका नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि शब्द से एकत्व ही ग्रह आदि निष्ठ प्रतीत

होता है बहुत नहीं, इसलिये 'एकत्व' संख्या युक्त ही 'ग्रह' आदि द्रव्यों का सम्मार्जन आदि धर्म है, सबग्रह आदि नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सर्वेषां वा लक्षणत्वादविशिष्टं हि लक्षणम् । १४ ।

पद०-सर्वेषां । वा । लक्षणत्वात् । अविशिष्टं । हि । लक्षणम् ।

पदा०-'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वेषां) सब "ग्रह" आदि द्रव्यों का "सम्मार्जन" आदि कर्तव्य है, क्योंकि (लक्षणत्वात्) "ग्रहं सम्मार्ष्टि" आदि में "ग्रहत्व" आदि जाति के अभिप्राय से एकवचन का उपन्यास किया गया है (हि) और (लक्षणं) उक्तजाति (अविशिष्टं) सब "ग्रह" आदि में समान है ।

भाष्य-यद्यपि 'ग्रह' आदि प्रातिपदिक के उत्तरवर्त्ति एक-वचन श्रुति से 'ग्रह' आदि गत एकत्व संख्या का श्रवण होता है तथापि वह विवक्षित नहीं, क्योंकि "ग्रहं सम्मार्ष्टि" आदि में जो एक-वचन से ग्रह आदि का उपन्यास किया है वह ग्रहत्वादि जाति के अभिप्राय से किया है व्यक्ति के अभिप्राय से नहीं । और "ग्रहत्व" आदि जाति सब "ग्रह" आदि में समान है, इसलिये सब ग्रह आदि का सम्मार्जन आदि कर्तव्य है ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे ग्रहआदि प्रातिपदिक के उत्तर-वर्ति एकवचन श्रुति से ग्रहआदि गत एकत्व संख्या का श्रवण होता है वैसे ही कर्मवाची द्वितीयाविभक्ति श्रुति से उद्देश्यता तथा प्रयोजनवत्ता का भी श्रवण होता है, क्योंकि "**कर्मणि-द्वितीया**" अष्टा० ७ । ३ । २ सूत्र से उद्देश्य तथा प्रयोजनवान्

में ही द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया है, और उद्देश्य तथा प्रयोजनवान् होने के कारण ग्रहआदि प्रधान तथा सम्मार्जन आदि गौण निश्चय होते हैं, क्योंकि जिसके उद्देश्य से जो विधान किया जाता है वह उसके प्रति गौण ही होता है यह नियम है, और "**प्रतिप्रधानञ्च गुण आवर्त्तनीयः**"=प्रति प्रधान गुण की आवृत्ति की जाती है, इस न्याय के अनुसार जितने "ग्रह" आदि द्रव्य हैं उन सब के प्रति सम्मार्जन आदि प्राप्त है उसके लिये संख्या की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि आवश्यकता होनेसे एकवचन श्रुति के द्वारा ग्रहआदि गत एकत्वसंख्या का श्रवण होने पर भी वह उद्देश्यगत होने के कारण विवक्षित नहीं होसक्ती, इसलिये सब 'ग्रह' सम्मार्जनीय सब अग्नियों से तृण अपचेय तथा सब पुरोडाश पर्य्यग्नि करणीय हैं। सार यह है कि सम्मार्जन आदि सब ग्रह आदि का धर्म=शेष है, एक का नहीं।

सं०—अब "**पशुमालभेत**" दृष्टान्त का समाधान करते हैं :—

चोदिते तु परार्थत्वाद्यथाश्रुतिप्रतीयेत ।१९।

पद०—चोदिते । तु । परार्थत्वात् । यथाश्रुति । प्रतीयेत ।

पदा०—'तु' शब्द उक्त दृष्टान्त की विषमता सूचन करने के लिये आया है (चोदिते) याग में यथाविधि दान के लिये विधान किये पशु में (यथाश्रुति) जिस संख्या का श्रवण होता है उसी का (प्रतीयेत) ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि (परार्थत्वात्) उक्त पशु आलम्भ के लिये होने से गौण है।

भाष्य—"**पशुमालभेत**" में पशु आलम्भ के लिये होने से गौण तथा आलम्भ प्रधान है और "**ग्रहं सम्मार्ष्टि**" में 'ग्रह' के

लिये होने से सम्मार्जन गौण तथा ग्रह प्रधान है और **"प्रतिप्रधानञ्च गुण आवर्त्तनीयः"** इस न्याय के अनुसार यावत प्रधान के प्रति गौण की आवृत्ति का नियम होने से प्रधानगत संख्या अविवक्षित होसक्ती है गुणगत नहीं, इसलिये 'पशु' में एकवचन श्रुति के बल से श्रूयमाण एकत्व संख्या की विवक्षा होने पर भी 'ग्रह' गत एकत्व संख्या विवक्षित नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक यह दोनों परस्पर विषम हैं, क्योंकि दृष्टान्त में पशु आलम्भ क्रिया के प्रति उपादेय होने से गौण है और दार्ष्टान्तिक में ग्रह सम्मार्जन क्रिया के प्रति उद्देश्य होने से प्रधान है इसलिये उपादेय में श्रूयमाण संख्या की विवक्षा होने पर भी उद्देश्य में श्रूयमाण संख्या की विवक्षा नहीं होसक्ती । सार यह है कि 'ग्रह' गत श्रूयमाण एकत्वसंख्या की अविवक्षा होने से सम्मार्जन ग्रहमात्र का धर्म है एकग्रह का नहीं, इसी का नाम "ग्रहैकत्व" न्याय है, शास्त्रान्तर में यह न्याय उदाहरणरूप से बहुत आता है ।

सं०—अब "सम्मार्जन "ग्रहों" का ही धर्म है "चमसों" का नहीं" यह कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

संस्काराद्वा गुणानामव्यवस्था स्यात् । १६ ।

पद०—संस्कारात् । वा । गुणानाम् । अव्यवस्था । स्यात् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (गुणानां) गुणभूत "सम्मार्जन" आदि का (अव्यवस्था, स्यात्) "वह ग्रहों का ही धर्म है चमसों का नहीं" यह नियम नहीं होसक्ता, क्योंकि (संस्कारात्) वह संस्कार कर्म है ।

भाष्य–सोमयाग में दो प्रकार के पात्र होते हैं, एक "**मृन्मय**" दूसरे "**दारुमय**" इनमें मृन्मय दो प्रकार के हैं, एक "**स्थाली**" दूसरे "**कलश**" यह दोनों मृन्मय होने के कारण सम्मार्जनीय नहीं, दारुमय भी दो प्रकार के होते हैं एक "**ग्रह**" दूसरे "**चमस**" जिन पात्रों का ईश्वररूप देवता के उद्देश से सोमरस की हवि देने के लिये ग्रहण किया जाता है उनका नाम "**ग्रह**" और जिनमें हवि का शेष सोमरस पान किया जाता है उनका नाम "**चमस**" है, ग्रहों की भांति चमसों का सम्मार्जन करना किंवा न करना अर्थात् सम्मार्जन ग्रहों की भांति चमसों का भी धर्म है किंवा नहीं है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी का और अन्तिम पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "सम्मार्जन" संस्कार कर्म है उसका संस्कार्य्यमात्र में अनुष्ठान होना आवश्यक है, संस्कार्य्य जैसे "ग्रह" है वैसे ही "चमस" भी संस्कार्य्य हैं क्योंकि दोनों समान हैं, इसलिये ग्रहों की भांति चमसों का भी दशापवित्र से सम्मार्जन करना चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे ग्रह में एकत्वसंख्या विवक्षित नहीं वैसे ही "ग्रहत्व" धर्म भी विवक्षित नहीं, क्योंकि दोनों उद्देश्यगत होने के कारण समान हैं, यदि इनमें एक की विवक्षा तथा दूसरे की अविवक्षा मानी जाय तो "**सहयोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः**"=जिनका एक साथ उपदेश किया गया है उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति भी एक साथ ही होती है, इस न्याय के साथ विरोध तथा

"अर्द्धजरती*" न्याय का अनुसरण करना पड़ता है सो ठीक नहीं, और "ग्रहं सम्मार्ष्टि" में जो "ग्रह" पद का उपादान किया है वह सम्मार्जनीय पात्रमात्र के अभिप्राय से किया है अर्थात् वह लाक्षणिक है जैसाकि "भोजनकालोवर्तते स्थालानि सम्मृज्यन्ताम्" = अब भोजन का समय हुआ सब थाल मांज लो, इत्यादि लौकिक वाक्यों में "स्थाल" पद का लाक्षणिक प्रयोग अर्थात् भोजनोपयोगी मार्जनीय पात्रमात्र के अभिप्राय से किया गया है और ग्रहों की भांति सम्मार्जित हुए चमसों द्वारा कलशों से सोमरस का निष्कासन = निकालना आदि रूप प्रयोजन भी सिद्ध होसक्ता है। इसलिये सम्मार्जन जैसे "ग्रहों" का धर्म है वैसे ही चमसों का भी धर्म है।

स०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

व्यवस्था वाऽर्थस्यश्रुतिसंयोगात्तस्य शब्दप्रमाणत्वात्। १७।

पद०—व्यवस्था। वा। अर्थस्य। श्रुतिसंयोगात्। तस्य। शब्दप्रमाणत्वात्।

पदा०—'वा' शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (व्यवस्था) "सम्मार्जन ग्रहों का ही धर्म है चमसों का नही" यह नियम हो सक्ता है, क्योंकि (अर्थस्य) ग्रहों का (श्रुतिसंयोगात्) "ग्रहं" इस द्वितायान्त पदश्रुति से सम्मार्जन के साथ धर्मधर्मिभाव

* जीर्ण स्त्री के स्वाभीष्ट अर्द्धभाग के ग्रहण तथा अनभीष्ट अर्द्धभाग के त्याग का नाम "अर्द्धजरती" न्याय है।

सम्बन्ध पाया जाता है और (तस्य) उसका (शब्दप्रमाणत्वात्) शब्दप्रमाण सिद्ध होने के कारण त्याग नहीं होसक्ता।

भाष्य–यद्यपि "सम्मार्जन" संस्कारकर्म होने के कारण संस्कार्य्यमात्र का धर्म होसक्ता है और संस्कार्य्य जैसे 'ग्रह' है वैसेही 'चमस' भी हैं तथापि उसको ग्रहों का ही धर्म मानना उचित है, क्योंकि "ग्रहं" इस द्वितीयान्त पद श्रुति से केवल ग्रहों के सम्मार्जन का ही साक्षात् श्रवण होता है चमसों के सम्मार्जन का नहीं और श्रुतिसिद्ध अर्थ का परित्याग करके लक्षणा द्वारा "ग्रह" पद से सम्मार्जनीय पात्रमात्र की उपस्थिति मानकर सम्मार्जन को ग्रह तथा चमस दोनों का धर्म मानना ठीक नहीं अर्थात् "तात्पर्य्यानुपपत्ति" किंवा "अन्वयानुपपत्ति" यह दोही लक्षणा के कारण होते हैं, जहां उच्चरित पदों का साक्षात् अर्थ ग्रहण करने में वक्ता का तात्पर्य्य किंवा उन पदों का परस्पर अन्वय=सम्बन्ध नहीं बन सक्ता वहां ही लक्षणा होता है जैसाकि "गङ्गा या घोषः"=गङ्गा में मेरा ग्राम है, इत्यादि वाक्यों में तात्पर्य्य तथा अन्वय दोनों के न बनने से गङ्गा पद की गङ्गा तीर में लक्षणा सर्व सम्मत है परन्तु "ग्रहं सम्मार्ष्टि" वाक्य में इन दोनों कारणों के मध्य एक कारण भी प्रतीत नहीं होता जिसके बल से "ग्रह" पद को लाक्षणिक अर्थात् सम्मार्जनीय पात्रमात्र के अभिप्राय से प्रयुक्त मानकर लक्षणा द्वारा सम्मार्जन को ग्रह तथा चमस दोनों का धर्म मानाजाय और शब्दप्रमाण सिद्ध "ग्रह" मात्र के सम्मार्जन का परित्याग किया जाय और "भोजनकालोवर्तते" इत्यादि लौकिक वाक्यों में तो "स्थाल"

पद के लाक्षणिक होने का कारण वक्ता की तात्पर्य्य अनुपपत्ति स्पष्ट है और उसकी अनुपपत्ति का सूचक "**भोजनकालः**" पद है और "ग्रहं सम्मार्ष्टि" में वक्ता के तात्पर्य्य की अनुपपत्ति का सूचक कोई पद भी नहीं दीखता, और जैसे "एकत्व" संख्या के परित्याग में पुष्कल कारण पाये जाते हैं जैसाकि पिछले सूत्र के भाष्य में स्पष्ट कर आये हैं वैसे ग्रहत्व धर्म के परित्याग में कोई पुष्कल कारण नहीं मिलता, अतएव जैसे "**ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्**"* अष्टा० १।१।११ में सहयोग शिष्ट होने पर भी "ईकार" "ऊकार" तथा "एकार" के मध्य अनुपपत्ति वश "**अदसोमात्**†" अष्टा० १।१।१२ में ईकार तथा ऊकार का ग्रहण और एकार का परित्याग किया गया है वैसे ही सहयोग शिष्ट होने पर भी "ग्रहत्व" धर्म के ग्रहण तथा एकत्व संख्या के परित्याग करने में उक्त न्याय का विरोध नहीं आता और न "**अर्द्धजरती**" न्याय के अनुसरण का उपालम्भ समञ्जस होसक्ता है, क्योंकि अकारण एकदेश के परित्याग तथा ग्रहण दशा में ही उक्त न्याय का अवतार होता है अन्यथा नहीं, इसलिये

---

* ई, ऊ, ए, अन्त द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है अर्थात् यदि ई आद्यन्त द्विवचन के आगे अच् हो तो सन्धि नहीं होती जैसाकि हरी एतौ, विष्णू इमौ, गङ्गे अमू, यह तीनों इसके उदाहरण हैं।

† "अदस्" शब्द सम्बन्धी "मकार" के आगे वर्त्तमान ई, ऊ, की प्रगृह्य संज्ञा होती है जैसाकि अमी ईशाः, अमू आसाते, यह दोनों इसके उदाहरण हैं, "अदस्" शब्द सम्बन्धी मकार के आगे "ए" कहीं नहीं आता इसलिये "ए" को छोड़ कर केवल "ई" "ऊ" का पूर्वसूत्र से इससूत्र में ग्रहण किया गया है॥

सम्मार्जन चमसों का धर्म नहीं होसक्ता और धर्म न होने से उनमें उसका अनुष्ठान करना भी उचित नहीं वह केवल "ग्रहों" का ही व्यवस्थित धर्म है ।

सं०—अब "सप्तदशारत्निता" को "वाजपेय" याग के अङ्ग पशुयाग सम्बन्धि यूप का धर्म कथन करते हैं :—

आनर्थक्यात्तदङ्गेषु । १८ ।

पद०—आनर्थक्यात् । तदङ्गेषु ।

पदा०—(तदङ्गेषु) "सप्तदशारत्निः" इत्यादि वाक्योक्त सप्तदशारत्निता 'वाजपेय' याग के अङ्गभूत 'पशुयाग' सम्बन्धि यूप में जाननी चाहिये, क्योंकि (आनर्थक्यात्) वाजपेय याग में यूप के न होने के कारण धर्मी का लाभ न होने से वह निरर्थक होजाती है ।

भाष्य—"वाजपेय" याग के प्रकरण में "**सप्तदशारत्निर्वाजपेयस्य यूपोभवति**" बद्ध मुष्टि हस्त परिमाण का नाम "**अरत्नि**" है, ऐसे सप्तदश अरत्नि परिमाण वाला "वाजपेय" याग का यूप होता है यह वाक्य पढ़ा है । उक्त याग "सोम" याग की विकृति होने से केवल औषधि साध्य है इसमें पशु का दान न होने से यूप नहीं होता परन्तु इसके अङ्गभूत कई एक पशु याग हैं जिनमें प्रजापति परमात्मा के उद्देश से यथाविधि पशुओं का दान दिया जाता और उनके बांधने के लिये यूप गाढ़ा जाता है परन्तु उक्त वाक्य में "**वाजपेयाङ्गस्ययूपः**" पाठ न करके "**वाजपेयस्ययूपः**" पाठ किया है, इससे सन्देह होता है कि उक्त वाक्य में जो सप्तदश अरत्निता कथन की हैं वह "वाजपेय"

सम्बन्धि किसी यूप सदृश पात्र विशेष का धर्म हैं किंवा यूप के अङ्ग पशुयाग सम्बन्धि यूप का धर्म हैं ? इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और अन्तिम पक्ष सिद्धान्ती का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि यद्यपि उक्त याग में खैर की लकड़ी का एक "षोडशी" नामक लम्बापात्र होता है जिसको लम्बाई तथा खैर का होने के कारण यूप सदृश कह सक्ते हैं क्योंकि "यूप" भी लम्बा तथा खैर की लकड़ी का ही होता है परन्तु उसका सप्तदश अरत्नि परिमाण मानना ठीक नहीं, क्योंकि इतना लम्बा होने से वह याग के किसी उपयोग में नहीं आसक्ता और "यूप" पद की "यूप-सदृश" पात्र विशेष में लक्षणा मानने की अपेक्षा "वाजपेय" पद का "वाजपेयाङ्ग" में औपचारिक प्रयोग मान लेना श्रेष्ठ है, क्योंकि अङ्ग अङ्गी का अभेद होने से अङ्ग में भी अङ्गी का प्रयोग होसक्ता है और यदि "वाजपेय" पद का "वाजपेय" अङ्गी में ही मुख्य प्रयोग मानकर यूप के साथ सम्बन्ध किया जाय तो भी कोई दोष नहीं आता, क्योंकि जैसे लोक में देवदत्त के पुत्र का पुत्र देवदत्त का पुत्र कह दिया जाता है वैसेही अङ्ग सम्बन्धि भी अङ्ग द्वारा अङ्गी सम्बन्धी कहा जासक्ता है, इसलिये उक्त वाक्य में जो सप्तदश अरत्नि परिमाण कथन किया है, वह "वाजपेय" याग सम्बन्धी किसी पात्र विशेष का धर्म नहीं किन्तु उक्त याग के अङ्ग पशुयाग सम्बन्धि यूप का धर्म है ।

सं०—अब "अभिक्रमण" आदि "प्रयाज" मात्र का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

कर्तृगुणे तु कर्मासमवायाद्वाक्यभेदः स्यात् । १९ ।

पद०–कर्तृगुणे । तु । कर्मासमवायात् । वाक्यभेदः । स्यात् ।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (वाक्यभेदः) "अभिक्रामंजुहोति" वाक्य का भेद (स्यात्) होना चाहिये, क्योंकि (कर्तृगुणे) कर्ता के गुण अभिक्रमण का (कर्मासमवायात्) "जुहोति" क्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता।

भाष्य–"दर्शपूर्णमास" याग के आदि में जो ऋतुदेव परमात्मा के उद्देश से "समिध्" आदि नामक घृत की पांच आहुति दीजाती हैं उनका नाम "प्रयाज" है, उक्त याग के प्रकरण में इसी प्रयाज" के समीप "अभिक्रामंजुहोति"=(अभि) आहवनीय अग्नि के चारों ओर (क्रामं) घूम कर (जुहोति) होम करे, इत्यादि वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो अभिक्रमण=आहवनीय अग्नि के चारों ओर घूमना कथन किया है वह उक्त याग के प्रकरण में जितने प्रधान तथा अङ्गभूत होम होते हैं उन सब का धर्म है किंवा "प्रयाज" संज्ञक होम का ही धर्म है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और अन्तिम पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "अभिक्रामं" पद "णमुल्" प्रत्ययान्त होने के कारण अभिक्रमण का वाचक है उसका "जुहोति" पद वाच्य जुहोति क्रिया=हवन रूपक्रिया के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि "अभिक्रमण" क्रिया होने के कारण कारक नहीं और क्रिया के साथ कारक के सम्बन्ध का ही नियम है क्रिया के सम्बन्ध का नहीं और सम्बन्ध के न होने से "अभिक्रामंजुहोति" का एकवाक्य होना असंभव है, यदि वाक्य भेद के भय से एक वाक्यता के लिये कर्ता द्वारा "अभिक्रमण" का "जुहोति" क्रिया के साथ

सम्बन्ध कल्पना की जाय तो प्रकरण के बल से उपस्थित निखिल "दर्शपूर्णमास" याग के कर्ता द्वारा ही उसके सम्बन्ध की कल्पना करना ठीक है और वह सम्बन्ध प्रकरणान्तर्गत सब होमों के साथ समान है, इसलिये उक्त कर्ता द्वारा सम्बन्ध को प्राप्त हुआ "अभिक्रमण" भी केवल प्रयाज का ही धर्म नहीं किन्तु होममात्र का धर्म है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

साकांक्षं त्वेकवाक्यं स्यादसमाप्तं हि पूर्वेण । २० ।

पद०—साकांक्षं । तु । एकवाक्यं । स्यात् । असमाप्तं । हि । पूर्वेण ।

पदा०—'तु' शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (एकवाक्यं) "अभिक्रामंजुहोति" यह एक वाक्य है (हि) क्योंकि (साकांक्षं) विभाग करने से दोनों पद साकांक्ष होजाते हैं और (पूर्वेण) एकले "अभिक्रामं" पद से (असमाप्तं) वाक्य पूर्ण नहीं होता।

भाष्य—एक पद को दूसरे पद के बिना वाक्यार्थ बोध की अजनकता का नाम "**आकांक्षा**" है, वह जिन पदों में होती है उनको "**साकांक्ष**" कहते हैं, जो पद परस्पर विभक्त = जुदा होने पर साकांक्ष होजाते हैं और मिलकर निराकांक्ष हुए वाक्यार्थ बोध को उत्पन्न करते हैं उन पदों के समुदाय का नाम "**एकवाक्य**" है। इसका विस्तार पूर्वक निरूपण द्वितीयाध्याय के प्रथम पाद ४६वें सूत्र के भाष्य में किया गया है, अब इसके पुनः दुहराने की

आवश्यकता नहीं। यदि "अभिक्रामं जुहोति" में "अभिक्रामं" पद से "जुहोति" को और "जुहोति" पद से "अभिक्रामं" को विभक्त = जुदा करादिया जाय तो उक्त दोनों पद साकांक्ष होजाते हैं और एकला "अभिक्रामं" पद किसी प्रकार से भी वाक्यार्थ का बोधक न होने से पूर्णवाक्य नहीं होसक्ता, इससे इसके एकवाक्य होने में तो कोई सन्देह नहीं परन्तु "अभिक्रामं" पद के वाच्य "अभिक्रमण" रूप क्रिया का "जुहोति" पद के वाच्य जुहोति क्रिया के साथ सम्बन्ध के लिये मध्य में प्रकरण के बल से उपस्थित निखिल याग के कर्ता की कल्पना करना ठीक नहीं, क्योंकि उसकी कल्पना करने में सन्निधि तथा दर्शपूर्णमास प्रकरण के अन्तर्गत अवान्तर प्रयाज प्रकरण का सर्वथा बाध होजाता है और सन्निहित तथा असन्निहित दोनों के मध्य सन्निहित का परित्याग करके असन्नि-हित का ग्रहण भी उचित नहीं है और उक्त प्रकरण की अपेक्षा सन्निधि तथा अवान्तर प्रकरण के बल से उपस्थित प्रयाज के कर्ता की उक्त सम्बन्ध के लिये कल्पना करना समीचीन है। तात्पर्य्य यह है कि "दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "समि-धो यजति" इत्यादि से "समिध्" आदि नामक प्रयाज का प्रकरण चलाकर उसकी सन्निधि में "अभिक्रामं जुहोति" पढ़ा है, इससे यह स्पष्ट होजाता है कि उक्त वाक्य का "दर्श पूर्णमास" याग के साथ परस्पर = प्रयाजद्वारा सम्बन्ध होने पर भी साक्षात् सम्बन्ध "प्रयाज" के साथ ही है, क्योंकि उसके प्रकरण तथा उसकी सन्निधि में उसका पाठ किया गया है और परम्परा तथा साक्षात् सम्बन्ध के मध्य साक्षात् सम्बन्ध प्रबल होता है, उसके प्रबल होनेसे "अभिक्रमण" तथा "जुहोतिक्रिया" के परस्पर सम्बन्ध के लिये कर्ता की

अपेक्षा होने पर जैसी " प्रयाज कर्ता " की शीघ्र उपस्थिति हो सक्ती है वैसी उक्त याग के कर्ता की नहीं, और " उपस्थितं-परित्यज्यानुपस्थित कल्पनेमाना भावः" = उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं, इस न्याय के अनुसार उपस्थित का परित्याग अनुचित है, और उक्त उपस्थित का सम्बन्ध केवल प्रयाज के साथ ही है अन्य किसी के साथ नही, इसलिये उक्त कर्ता द्वारा " जुहोति " क्रिया के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुआ " अभिक्रमण " भी ' प्रयाज ' मात्र का ही धर्म है अन्य का नहीं ।

सं०-अब "उपवीत" को प्राकरणिक सर्व कर्म का अङ्ग कथन करते हैं :-

सन्दिग्धे तु व्यवायाद्वाक्यभेदः स्यात् । २१ ।

पद०-सन्दिग्धे । तु । व्यवायात् । वाक्यभेदः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द "सामिधेनी" की अङ्गता का निराकरण सूचन करता है (सन्दिग्धे) " उपवीत "सामिधेनी का अङ्ग है किंवा सर्व कर्म का अङ्ग है, इस प्रकार उपवीत में सन्देह होने पर (वाक्य-भेदः) उक्त सन्देह की निवृत्ति के लिये उपवीत वाक्य का "सामिधेनी" प्रकरण से भेद (स्यात्) जानना चाहिये, क्योंकि (व्यवायात्) मध्य में " निवित् " संज्ञक मन्त्रों का व्यवधान है ।

भाष्य-" दर्शपूर्णमास " प्रकरण के अन्तर्गत " विश्वरूपो वै त्वाष्ट्रः " इस अध्याय के सप्तम तथा अष्टम अनुवाक में "प्रवो वाजा अभिद्यवोहविष्मन्तः" ऋ० ३ । १ । २८ । १

इत्यादि "सामिधेनी" संज्ञक ऋचाओं का नवम अनुवाक में "अग्ने महाँ असि" इत्यादि "निवित्" संज्ञक मन्त्रों का और दशम अनुवाक में इस कामना वाले के लिये अमुक "सामिधेनी" का उच्चारण करे, और अमुक कामना वाले के लिये अमुक का, इस प्रकार काम्य सामिधेनी कल्पों का कथन करके एकादश अनुवाक में "निवीतं मनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानाम्, उपव्ययते देवलक्ष्यमेव कुरुते"=मनुष्य कर्म में "निवीत" पितृकर्म में "प्राचीनावीत" तथा देव कर्म में "उपवीत" होना चाहिये, जो "उपवीत" को करता है वह मानो देव चिन्ह को करता है, इस प्रकार "उपवीत" का विधान किया है। गल में लम्बायमान सूत्र का नाम "निवीत" अपसव्य अर्थात् जिसमें वाम हस्त बाहर निकला रहता है ऐसे दक्षिण कन्धे में अर्पित सूत्र का नाम "प्राचीनावीत" तथा जिसमें दक्षिण हस्त बाहिर निकला रहता है ऐसे वाम कन्धे में अर्पित सूत्र का नाम "उपवीत" है, याग में सूत्र के स्थान में प्रायः बिना सिया वस्त्र ही उक्त प्रकार से डाला हुआ "उपवीत" कहा जाता है यही "उपवीत" इस अधिकरण का विषय है, उक्त "उपवीत" केवल सामिधेनी का ही अङ्ग है किंवा "दर्शपूर्णमास" याग के अन्तर्गत जितने "कर्म" हैं उन सब का अङ्ग है अर्थात् सामिधेनी के उच्चारण काल में ही "उपवीत" को धारण करना किंवा दर्शपूर्णमास संज्ञक सब कर्मों के करने काल में धारण करना? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और अन्तिम पक्ष सिद्धान्ती का है, सिद्धान्ती का कथन यह है कि यद्यपि दर्शपूर्ण-

मास प्रकरण के अन्तर्गत अवान्तर प्रकरण सामिधेनी का है और उपवीत वाक्य के अनन्तर "तिष्ठनन्वाह" = खड़ा होकर सामिधेनी का उच्चारण करे, इत्यादि सामिधेनी के गुण कथन करने से पूर्वोत्तर सामिधेनी की सन्निधि भी है जिसके कारण उपवीत में उक्त सन्देह का होना संभव है तथापि "प्रयाज" के धर्म = शेष "अभिक्रमण" की भांति सामिधेनी का अङ्ग = शेष उपवीत नहीं होसक्ता, क्योंकि "निवित्" संज्ञक मन्त्रों के मध्य में आजाने से अवान्तर प्रकरण का विच्छेद होगया है और उसके विच्छिन्न होजाने से उपवीत वाक्य का उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और एकली सन्निधि प्रकरण से दुर्बल होने के कारण "उपवीत" को सामिधेनी का अङ्ग सिद्ध नहीं कर सक्ती, इसलिये वह सामिधेनी का अङ्ग नहीं किन्तु दर्शपूर्णमास प्रकरण के बल से जितने "दर्शपूर्णमास" संज्ञक कर्म हैं उन सब का अङ्ग है।

तात्पर्य्य यह है कि "दर्शपूर्णमास" याग में केवल सामिधेनी के उच्चारण काल में ही उपवीत धारण नहीं करना किन्तु उक्त याग में होने वाले सब कर्मों के करने काल में धारण करना चाहिये, क्योंकि वह उन सब का शेष है।

सं०—ननु, "निवित्" संज्ञक मंत्र सामिधेनी का अंग होने से अवान्तर प्रकरण के विच्छेदक नहीं होसक्ते? उत्तर :—

गुणानां च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्स्यात्। २२।

पद०—गुणानां। च। परार्थत्वात्। असम्बन्धः। समत्वात्। स्यात्।

पदा०-(च) और (गुणानां) सामिधेनी तथा निविद् मंत्र (परार्थत्वात्) परमात्मा तथा यज्ञाग्नि की स्तुति के लिये (समत्वात्) समभाव होने से (असम्बन्धः, स्यात्) परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं होसक्ता ।

भाष्य-जैसे "सामिधेनी" मंत्र यज्ञाग्नियों के गुण कीर्तन करने तथा जगत्पति परमपिता प्रकाशस्वरूप परमात्मा के स्तावक होने से परार्थ हैं वैसे ही "निवद्" मन्त्र भी यज्ञाग्नियों तथा परमपुरुष परमात्मा के गुणों के प्रकाशक होने से परार्थ हैं और परार्थ होने के कारण दोनों समान हैं, अतएव उनका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध भी नहीं होसक्ता, क्योंकि जिनमें कुछ न्यूनाधिक भाव है उनमें ही उक्त सम्बन्ध होता है औरों में नहीं और उक्त सम्बन्ध के न होने से निविद् मन्त्र अवान्तर प्रकरण के विच्छेदक होसक्ते हैं और स्व सहायी भूत अवान्तर प्रकरण के विछिन्न हो जाने से निःसहाय हुई सन्निधि "उपवीत" को "सामिधेनी" मात्र का अङ्ग सिद्ध नहीं करसक्ती इसलिये वह प्रकरण प्राप्त कर्ममात्र का अङ्ग है, केवल "सामिधेनी" का अङ्ग नहीं ।

सं०-अब "वार्त्रघ्नी" तथा "वृधन्वती" संज्ञक चार मन्त्रों को आज्यभाग का अङ्ग कथन करते हैं :-

मिथश्चानर्थसम्बन्धात् । २३ ।

पद०-मिथः । च । अनर्थसम्बन्धात् ।

पदा०-(च) और (मिथः) "वार्त्रघ्नी" तथा "वृधन्वती" का "दर्शपूर्णमास" संज्ञक प्रधान याग के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता क्योंकि (अनर्थसम्बन्धात्) वह निरर्थक है ।

भाष्य-"अग्निर्वृत्राणिजङ्घनत" ऋ० । ४ । ५ । २७ । ३४

इस ऋचा का नाम"आग्नेयीवार्त्रघ्नी" "त्वं सोमासिसत्पतिः" ऋ० १।६।१९।५ इस ऋचा का नाम "सौमीवार्त्रघ्नी" "अग्निःप्रत्नेन मन्मना" ऋ० ६।३।३८।१२ इस ऋचा का नाम" "आग्नेयीवृधन्वती" और "सोम गीर्भिष्ट्वावयम्" ऋ० १।६।२१।११ इस ऋचा का नाम "सौमीवृधन्वती" है। दर्श पूर्णमास याग में "आग्नेय"* तथा "सौम्य" नामक दो आज्यभाग विधान करके पश्चात् दोनों "वार्त्रघ्नी" तथा दोनों "वृधन्वती" का क्रम से विधान किया है और इसके अनन्तर "वार्त्रघ्नीपूर्णमासेऽनूच्येते वृधन्वतीअमावास्यायाम् = पूर्णमास में दोनों "वार्त्रघ्नी" तथा दर्श में दोनों "वृधन्वती का उच्चारण किया जाता है यह वाक्य पढ़ा है, इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त संज्ञक चारों मन्त्र "दर्शपूर्णमास" संज्ञक "आग्नेय" आदि प्रधान षट्याग का अङ्ग हैं किंवा प्रति "दर्श" तथा प्रति "पूर्णमास" होने वाले "आग्नेय" और "सौम्य" संज्ञक "आज्यभाग" का अङ्ग हैं अर्थात् प्रति "दर्शपूर्णमास" याग इनको उच्चारण किया जाता है किंवा केवल प्रति आज्यभाग? यह सन्देह है, इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि "वार्त्रघ्नीपूर्णमासे" इत्यादि उक्त वाक्यों से दोनों

---

* प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से जो आज्यभाग दियाजाता है उसका नाम "आग्नेय" और सौम्यस्वभाव परमात्मा के उद्देश से जो दिया जाता है उसका नाम "सौम्य" है, उक्त नाम के दो भाग दर्श तथा दो भाग पूर्णमास याग में दिये जाते हैं।

"वार्त्रघ्नी" तथा दोनों "वृधन्वती" का "दर्शपूर्णमास" याग के साथ सम्बन्ध पाया जाता है तथापि उक्त याग में "आग्नेय" याग के होने पर भी "सौम्य" याग के न होने से उसके साथ उनका सम्बन्ध मानना उचित नहीं, क्योंकि याग तथा मन्त्र का देवता एक होने पर ही दोनों का सम्बन्ध सार्थक होसक्ता है अन्यथा नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "वार्त्रघ्नी" तथा "वृधन्वती" का देवता "अग्नि" तथा "सोम" परमात्मा है और "दर्शपूर्णमास" में अग्निदेवताक "आग्नेय" याग तो है परन्तु सोम देवताक "सौम्य" याग नहीं, यदि उक्त वाक्य के बल से "वार्त्रघ्नी" तथा "वृधन्वती" का "दर्शपूर्णमास" के साथ सम्बन्ध माना जाय तो वह "आग्नेय" याग में सफल हुआ भी अन्य यागों में सफल नहीं होसक्ता, और सफल न होने से उसका मानना व्यर्थ है, दूसरे उक्त वाक्य में जो "दर्श" तथा "पूर्णमास" का आधार की सूचक सप्तमीविभक्ति से निर्देश किया है इससे ज्ञात होता है कि यहां उनसे दर्शकाल तथा पूर्णमास काल विवक्षित है, उक्त नाम के याग विवक्षित नहीं, यदि याग की विवक्षा मानें तो याग अङ्गी होने के कारण प्रधान=मुख्य है उसका आधाररूप से निर्देश उपपन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि आधार गौण ही होता है मुख्य नहीं यह नियम है, भाव यह है कि उक्त वाक्य "वार्त्रघ्नी" तथा "वृधन्वती" का "दर्शपूर्णमास" याग के साथ सम्बन्ध विधान नहीं करता किन्तु अमावास्या काल तथा पौर्णमासी काल में उनके अनुवचन=उच्चारण का विधान करता है, अतएव वह 'आज्यभाग' के साथ उनके सम्बन्ध के प्रयोजक पाठक्रम का बाधक भी नहीं होसक्ता और पाठक्रम से "वार्त्रघ्नी" तथा "वृधन्वती" मन्त्रों का आज्यभाग के साथ सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है

क्योंकि " होत्रकाण्ड " में आज्यभाग के क्रमानुसार ही "वार्त्रघ्नी" युगल तथा " वृधन्वती " युगल का " अग्निर्वृत्राणिजङ्घनत " इत्यादि अनुवाक से पाठ किया है, इसलिये " वार्त्रघ्नी " तथा "वृधन्वती" संज्ञक चारो मन्त्र आज्यभाग का अङ्ग हैं, दर्शपूर्णमास का नहीं।

सं०-अब हस्त अवनेजन = प्रक्षालन आदि को प्राकरणिक = प्रकरण में होने वाले यावत् कर्म का अङ्ग कथन करते हैं :-

आनन्तर्य्यमचोदना । २४ ।

पद०-आनन्तर्य्यम् । अचोदना ।

पदा०-(आनन्तर्य्यम्) व्यवधान रहित पाठ (अचोदना) अङ्गअङ्गीभाव सम्बन्ध का विधायक नहीं ।

भाष्य-" दर्शपूर्णमास " याग के प्रकरण में " हस्तावनेनिक्ते " = हाथों का प्रक्षालन करे, "उलपराजिं स्तृणाति" = वेदि में बिछाने के लिये संपादन किये हुए उलप = सुगन्धित तथा कोमल तृण विशेष के राजि = फूलोंका नाम "उलपराजि" है उक्त उलपराजि को वेदि में बिछावे, यह दोनों वाक्य व्यवधान रहित पढ़े हैं, इनका व्यवधान रहित पाठ होने के कारण यह सन्देह हुआ कि हस्त प्रक्षालन वेदि में उलपराजि के स्तरण = बिछाने मात्र का अङ्ग है किंवा दर्शपूर्णमास के अन्तर्गत यावत् कर्म का अङ्ग है अर्थात् हाथों का धोना उलपास्तरण मात्र के लिये है अथवा यावत् कर्म के लिये है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि उक्त वाक्यों के निरन्तर पाठ से हस्तप्रक्षालन तथा उलपास्तरण का क्रम पाया जाता है

तथापि वह लिङ्ग के साथ विरोध होने से उनके परस्पर अङ्गअङ्गि-भाव सम्बन्ध का नियामक नहीं होसक्ता, क्योंकि क्रम की अपेक्षा लिङ्ग प्रबल होता है। हाथों के प्रक्षालन करने से उनमें सब कर्मों के अनुष्ठान की योग्यता होजाती है । जैसाकि " अवनेजितौ हस्तौ सर्वानुष्ठान योग्यौ भवतः " = अवनेजन = प्रक्षालन रूप संस्कार से संस्कृत हुए हाथ सब कर्मों के अनुष्ठान योग्य होजाते हैं, उसी योग्यतारूप सामर्थ्य विशेष का नाम यहां " लिङ्ग " है, और उक्त लिङ्ग से " हस्तावनेजन " का यावत् कर्म के साथ सम्बन्ध पाया जाता है, इसलिये वह " उलपराजि-स्तरण " मात्र का अङ्ग नहीं किन्तु प्राकरणिक यावत् कर्म का लिङ्ग है ।

तात्पर्य्य यह है कि हाथों का धोना केवल उलपराजि-स्तरण के लिये ही नहीं किन्तु प्राकरणिक यावत् कर्मों के लिये है जैसे " दर्शपूर्णमास " याग के प्रकरण में विधान किया "हस्ता-वनेजन" कर्ममात्र का अङ्ग है केवल उलपराजिस्तरण का ही नहीं वैसेही " मुष्टीकरण " = मुट्ठी बांधना तथा " वाग्यमः " = वाणि का निरोध अर्थात् मौन भी प्राकरणिक सर्व कर्म का अङ्ग है, केवल " दीक्षितावेदन " = दीक्षित की सूचना देने का ही अङ्ग नहीं अर्थात् " ज्योतिष्टोम " याग के प्रकरण में " मुष्टीकरोति " = मुट्ठी बान्धले, " वाचंयच्छति " = वाणि का निरोध करे, अर्थात् मौन धारण करे, इस प्रकार " मुष्टीकरण " तथा " वाग्यम " का विधान करके अनन्तर " दीक्षितमावेदयति " = दीक्षित का आवेदन करे, यह वाक्य पढ़ा है, इससे यह सन्देह हुआ कि "मुष्टी

करण" तथा "वाग्यम" यह दोनों "दीक्षितावेदन" का अङ्ग है किंवा "ज्योतिष्टोम" याग के अन्तर्गत यावत्कर्म का अङ्ग है? इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र से इस प्रकार की गई है कि "मुष्टीकरण" से हाथ का और "वाग्यम" से जिह्वा का चापल्य दूर होकर मन की एकाग्रता होती है और एकाग्र हुआ मन सर्वकर्म के योग्य होजाता है, एकाग्र हुए मन की जो सर्व कर्म के अनुष्ठान में योग्यतारूप सामर्थ्य है वह "मुष्टीकरण" तथा "वाग्यम" के सर्व कर्म का अङ्ग होने में लिङ्ग है, इसलिये वह दोनों "ज्योतिष्टोम" याग के अन्तर्गत यावत्कर्म का अङ्ग है केवल "दीक्षितावेदन" का ही नहीं।

सङ्कल्पपूर्वक सोम यागादि करने की यथाविधि प्रतिज्ञा विशेष का नाम "**दीक्षा**" और उक्त दीक्षा को प्राप्त यजमान का नाम "**दीक्षित**" है, दीक्षा निमित्तक "**दीक्षणीयेष्टि**" को समाप्त करके अनन्तर अध्वर्यु खड़ा होकर जो दीक्षित यजमान का 'आवेदन' करता है उसका प्रकार यह है कि "**अदीक्षिष्टायं ब्राह्मण इति त्रिरुपांश्वाह देवेभ्य एवैनं प्राह, त्रिरुच्चैरुभयेभ्यएवैनं देवमनुष्येभ्यःप्राह**" = प्रथम विद्वानों की ओर मुख करके तीन बार ओष्ठों में और पश्चात् विद्वान् अविद्वान् सर्व साधारण की ओर मुख करके तीन बार उच्चस्वर से यजमान को दिखाता हुआ अध्वर्यु "यह ब्राह्मण दीक्षित हुआ" ऐसा उच्चारण करे, ऐसे उच्चारण करने को ही दीक्षित का आवेदन कहते हैं, दीक्षित का आवेदन तथा दीक्षितावेदन यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि उक्त "आवेदन" वाक्य में ब्राह्मण शब्द का प्रयोग जाति ब्राह्मण के खण्डन तथा कर्म ब्राह्मण के मण्डन के अभिप्राय से किया गया है अर्थात् ब्रह्म = वेद प्रतिपादित कर्म का जो पुरुष अनुष्ठान करता है उसको ब्राह्मण कहते हैं, इस तात्पर्य्य से "**अदीक्षिष्ट ब्राह्मणः**" कहा है और "**यदि-क्षत्रियो वा वैश्यो वा यजमानस्तदापि "अदीक्षिष्टायं-ब्राह्मण" इत्येवाध्वर्युर्ब्रूयात्**" = यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य यजमान हो तब भी अध्वर्यु "ब्राह्मण" कहकर ही आवेदन करे, इत्यादि वाक्य से कल्पसूत्रकार आदि ने भी यही तात्पर्य्य प्रकाशित किया है, और यही पक्ष वैदिक मात्र को मन्तव्य है।

सं०-अब उक्त सूत्र से निर्णीत अर्थ में युक्ति कहते हैं :-

वाक्यानां च समाप्तत्वात् । २५ ।

पद०-वाक्यानां । च । समाप्तत्वात् ।

पदा०-(च) और (वाक्यानां) उदाहृत वाक्यों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि (समाप्तत्वात्) वह सब अपने २ पद समूह द्वारा अर्थ को बोधन करने से ही निराकांक्ष हैं।

भाष्य-"**हस्तावववनेनिक्ते**" वाक्य का "**उलपराजिं स्तृणाति**" वाक्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, वह स्वतन्त्रता पूर्वक अपने २ पदों द्वारा वाक्यार्थ का बोधन करके समाप्त हो-जाते हैं और वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध न होने से उनके अर्थों का सम्बन्ध भी नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त वाक्य प्रतिपादित "हस्तावनेजन" आदि का "उलपराजिस्तरण" आदि के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध नहीं किन्तु प्राकरणिक कर्ममात्र के साथ उक्त सम्बन्ध है।

सं०-अब "चतुर्धाकरण" = चार भाग करने को "आग्नेय" पुरोडाशमात्र का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

शेषस्तु गुणसंयुक्तः साधारणः प्रतीयेत मिथस्तेषामसम्बन्धात् । २६ ।

पद०-शेषः । तु । गुणसंयुक्तः । साधारणः । प्रतीयेत । मिथः । तेषाम् । असम्बन्धात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (गुणसंयुक्तः) "आग्नेय" पुरोडाश सम्बन्धी (शेषः) चतुर्धाकरण (सर्वसाधारणः) सब पुरोडाशों का धर्म (शेष=अङ्ग) (प्रतीयेत) जानना चाहिये, क्योंकि (तेषाम्) अग्नि तथा चतुर्धाकरण का (मिथः) परस्पर (असम्बन्धात्) सम्बन्ध नहीं किन्तु पुरोडाश तथा चतुर्धाकरण का सम्बन्ध है ।

भाष्य-दर्शपूर्णमास के प्रकरण में "**आग्नेयं चतुर्धा करोति**" अग्नि=प्रकाशस्वरूप परमात्मा है देवता जिस पुरोडाश का उसके चार भाग करे, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो चतुर्धाकरण कथन किया है वह पुरोडाश मात्र का धर्म है किंवा आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि चतुर्धाकरण का पुरोडाश के साथ सम्बन्ध है अग्नि देवता के साथ नहीं, क्योंकि वह पुरोडाश का "उपलक्षण"* है और पुरोडाशत्व धर्म से पुरोडाश मात्र का ग्रहण होसक्ता है, इसलिये चतुर्धाकरण पुरोडाश मात्र का धर्म है, आग्नेय पुरोडाश का ही नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

व्यवस्था वाऽर्थसंयोगाल्लिङ्गस्यार्थेन सम्ब-

---

* जो तटस्थ अर्थात् वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट न होकर वस्तु को बोधन करे उसको "**उपलक्षण**" कहते हैं ।

न्धाल्लक्षणार्था गुणश्रुतिः । २७ ।

पद०—व्यवस्था । वा । अर्थसंयोगात् । लिङ्गस्य । अर्थेन । सम्बन्धात् । लक्षणार्था । गुणश्रुतिः ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (व्यवस्था) चतुर्धाकरण आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है, क्योंकि (लिङ्गस्य) अग्नि देवता का (अर्थेन) पुरोडाश के साथ (सम्बन्धात्) विशेषणविशेष्यभाव सम्बन्ध होने से (अर्थसंयोगात्) चतुर्धाकरण का आग्नेयपुरोडाश के साथ सम्बन्ध है और (गुणश्रुतिः) पुरोडाश के साथ अग्नि देवता का उक्त सम्बन्ध (लक्षणार्था) पुरोडाशान्तर से भिन्न करने के लिये है ।

भाष्य—अग्नि देवता पुरोडाश का विशेषण है उपलक्षण नहीं, क्योंकि देवता सम्बन्ध के विद्यमान होने पर ही "अग्नि" शब्द के आगे तद्धित प्रत्यय करने से "आग्नेय" शब्द बनसक्ता है अन्यथा नहीं, और विशेषण विशेष्य से पृथक् रह कर विशेष्य को विशेष्यान्तरों से भिन्न नहीं करता किन्तु विशेष्य के साथ संयुक्त हुआ ही भिन्न करता है यह नियम है । और उक्त नियम के होने से अग्नि देवता को छोड़कर केवल पुरोडाश के साथ चतुर्धाकरण का सम्बन्ध नहीं होसक्ता और सम्बन्ध के न होने से वह पुरोडाश मात्र का धर्म भी नहीं होसक्ता, क्योंकि अग्नि देवता विशिष्ट पुरोडाशता सब पुरोडाशों में नहीं है, इसलिये चतुर्धाकरण आग्नेयपुरोडाश का ही धर्म है, पुरोडाशमात्र का नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाषाभाष्ये
तृतीयाध्यायस्य
प्रथमपादः

ओ३म्

अथ तृतीयाध्याये द्वितीयपादः प्रारभ्यते

सङ्गति–प्रथम पाद में पद तथा विभक्ति "श्रुति" के बल से "शेषशेषिभाव" का निरूपण किया, अब "लिङ्ग" के बल से "शेषशेषिभाव" का निरूपण करने के लिये द्वितीय पाद का आरम्भ करते हुए प्रथम अग्निहोत्रादि कर्मों के प्रकाशक मन्त्रों का मुख्यार्थ में "विनियोग" अर्थात् "शेषशेषिभाव" रूप सम्बन्ध कथन करते हैं :–

अर्थाभिधानसामर्थ्यान्मन्त्रेषु शेषभावः स्यात्तस्मादुत्पत्तिसम्बन्धोऽर्थेन नित्यसंयोगात् । १ ।

पद०–अर्थाभिधानसामर्थ्यात् । मन्त्रेषु । शेषभावः । स्यात् । तस्मात् । उत्पत्तिसम्बन्धः । अर्थेन । नित्यसंयोगात् ।

पदा०–(अर्थाभिधानसामर्थ्यात्) जिस अर्थ के प्रकाशन करने की मन्त्रों में सामर्थ्य है उसके प्रति (मन्त्रेषु) मन्त्रों में (शेषभावः) शेषता (स्यात्) होती है (तस्मात्) परन्तु (अर्थेन) अर्थ के साथ (उत्पत्तिसम्बन्धः) मन्त्रस्थ पदों का "शक्तिवृत्ति" रूप सम्बन्ध होना चाहिये, क्योंकि (नित्यसंयोगात्) "शक्तिवृत्ति" से उपस्थित अर्थ के साथ ही पदों का नित्य सम्बन्ध है ।

भाष्य–अर्थ दो प्रकार का होता है एक "मुख्य" दूसरा "गौण" जैसे मनुष्य के देखने से उत्तम अङ्ग होने के कारण प्रथम "मुख" उपस्थित होता है वैसे ही शब्द के श्रवण से मुख

की भांति प्रथम जो अर्थ उपस्थित होता है उसको "**मुख्य**" और उपस्थित अर्थ अथवा उपास्थित अर्थ सम्बन्धी गुण के सम्बन्ध द्वारा जघन=जंघा की भांति जो अर्थ उपस्थित होता है उसको जघन्य अर्थात् "**गौण**" कहते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जिस अर्थ का शब्द के साथ साक्षात् सम्बन्ध है उसका नाम "**मुख्य**" और जिसका दूसरे के द्वारा अर्थात् परम्परा सम्बन्ध है उसका नाम "**गौण**" है जैसाकि "**अग्निर्माणवकः**" में "अग्नि" शब्द का अग्नि "मुख्य" अर्थ और मुख्यार्थ अग्निरूपद्रव्य में वर्तमान "तेजस्विता" आदि गुण सम्बन्ध द्वारा माणवक "गौण" अर्थ तथा "**सिंहोऽयंदेवदत्तः**" में "सिंह" शब्द का सिंह व्यक्ति "मुख्य" अर्थ और मुख्यार्थ सिंह व्यक्ति में वर्तमान शूरता तथा क्रूरता आदि गुण सम्बन्ध द्वारा देवदत्त "गौण" अर्थ है। शब्द तथा अर्थ के परस्पर साक्षात् सम्बन्ध का नाम "**शक्तिवृत्ति**" और परम्परा सम्बन्ध का नाम "**लक्षणावृत्ति**" तथा "**गौणीवृत्ति**" है, इसके अवान्तर भेद बहुत हैं विस्तार के भय से यहां उनका वर्णन नहीं किया, विस्तार अभिलाषियों को "**वैशेषिकसूत्रवैदिकवृत्तिः**" किंवा "**वैशेषिकार्य्यभाष्य**" का अवलोकन करना चाहिये "**शक्तिवृत्ति**" से जिस अर्थ की उपस्थिति होती है उसको "**शक्यार्थ**" और "**लक्षणावृत्ति**" से जिस अर्थ की उपस्थिति होती है उसको "**लक्ष्यार्थ**" कहते हैं। शक्यार्थ, वाच्यार्थ तथा मुख्यार्थ यह तीनों, लक्ष्यार्थ जघन्यार्थ तथा गौणार्थ यह तीनों और ज्ञान,

प्रत्यय, उपस्थिति, ग्रहण तथा प्रतीति यह पांचो पर्य्याय शब्द हैं और अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य विशेष का नाम "लिङ्ग" है, "अग्निहोत्र" आदि कर्मों के प्रकाशक "सुसमिद्धाय शोचिषे घृतं तीव्रं जुहोतन" यजु० । ३ । २ इत्यादि सम्पूर्ण मन्त्र इस अधिकरण का विषय हैं और "जुहोति" आदि क्रिया पद घटित होने के कारण "अग्निहोत्र" आदि कर्म का प्रकाशक होने से हवनप्रकाशनसामर्थ्यलक्षण "लिङ्ग" द्वारा उक्त कर्म में विनियुक्त अर्थात् उक्त कर्म के प्रति शेष हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं,परन्तु हवनीय द्रव्य गौण तथा मुख्य भेद से दो प्रकार का होने के कारण सन्देह है कि उक्त मन्त्रों में जो हवनीय द्रव्य के वाचक "घृत" आदि शब्द हैं उनसे तैल आदि गौण अर्थ का किंवा "घृत" आदि मुख्य अर्थ का ग्रहण है ? इस की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि वैदिक शब्दों का मुख्यार्थ के साथ ही औत्पत्तिक = नित्य सम्बन्ध है गौणार्थ के साथ नहीं और जिसका जिसके साथ नित्य सम्बन्ध नहीं है उस के ग्रहण से उसकी शीघ्र उपस्थिति भी नहीं होसक्ती और "गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यसम्प्रत्ययः" = गौण तथा मुख्य के मध्य मुख्य में ही कर्तव्य बुद्धि होती है, इस न्याय के अनुसार गौण में झटिति कर्तव्य बुद्धि का होना असम्भव है, इस-लिये उक्त मन्त्रों में "घृत" आदि शब्दों से मुख्य "घृत" आदि हवनीय द्रव्य का ही ग्रहण है तैल आदि गौण द्रव्य का नहीं ।

भाष्यकार "शवर" स्वामी तो "बर्हिर्देवसदनं दामि" इत्यादि लवन = काटने के प्रकाशक मन्त्रों का लवनप्रकाशनसा-मर्थ्य रूप लिङ्ग से लवन क्रिया में विनियोग कथन करके लवि-

तव्य = काटने योग्य वर्हि द्रव्य में यह सन्देह करते हैं कि "वर्हि" शब्द से कुश काश आदि दश विध दर्भ विशेष रूप मुख्यार्थ का किंवा तत्सदृश "उलप" आदि तृण विशेषरूप गौणार्थ का ग्रहण है, इसकी निवृत्ति का प्रकार वही है जो पूर्व कथन किया गया है इसमें और कुछ विशेषता नहीं ।

सं०—अब अविहित कर्म में मन्त्रों के विनियोग का निषेध करते हैं :-

संस्कारकत्वादचोदिते न स्यात् । २ ।

पद०—संस्कारकत्वात् । अचोदिते । न । स्यात् ।

पदा०—(अचोदिते) अविहित कर्म में (न, स्यात्) मंत्रों का विनियोग नहीं होता, क्योंकि (संस्कारकत्वात्) वह विहित कर्म के ही संस्कारक हैं ।

भाष्य—जिन कर्मों का वेद में विधान किया गया है वह यथेष्ट फल का जनक होने के कारण वैदिक मन्त्रों से संस्करणीय हैं और जो कर्म वेद विहित नहीं किन्तु लोक सिद्ध हैं उनका लौकिक ही संस्कार अपेक्षित है वैदिक नहीं, इसलिये उनमें मन्त्रों का विनियोग नहीं होसक्ता ।

सं०—अब इन्द्ररूप ईश्वर के प्रकाशक मन्त्रों का "गार्हपत्य" अग्नि के उपस्थान में विनियोग कथन करते हैं :-

वचनात्त्वयथार्थमैन्द्रीस्यात् । ३ ।

पद०—वचनात् । तु । अयथार्थम् । ऐन्द्री । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द लैङ्गिक विनियोग की व्यावृत्ति के लिये आया है (ऐन्द्री) इन्द्ररूप ईश्वर के प्रकाशक मन्त्र का (अयथार्थं) लिङ्ग से विनियोग नहीं होता किन्तु (वचनात्) वाक्यविशेष से (स्यात्) होता है ।

भाष्य—सर्व प्रकार से शुद्धता पूर्वक समीप स्थित होने का नाम "उपस्थान" तथा इन्द्र रूप ईश्वर का प्रकाशक होने से "निवेशनः सङ्गमनो वसूनांविश्वारूपाभिचष्टेशचीभिः । देव इव सविता सत्यधर्मेन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनाम्" यजु० १२।६६

अर्थ—जो 'पृथिवी' आदि निखिल पदार्थों का व्यवस्थाता = व्यवस्था करने वाला "धन" आदि सम्पूर्ण ऐश्वर्य्य का दाता= देने वाला, नाना प्रकार की स्वाभाविक शक्तियों से नित्य प्रख्यात = प्रसिद्ध, सूर्य्य के समान प्रकाश स्वरूप तथा सर्वदा "सत्य" का पक्षपाती है, वह इन्द्र = सर्वैश्वर्य्यसम्पन्न जगत् पिता परमात्मा हमारी "युद्ध" आदि सर्व धर्म कार्य्यों में सहायता करे ।

इस ऋचा का नाम "ऐन्द्री" है, इसका पूर्वाधिकरण के अनुसार इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्यरूप "लिङ्ग" से इन्द्ररूप ईश्वर के उपस्थान में विनियोग है किंवा "गार्हपत्य" अग्नि के उपस्थान में ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि उक्त मन्त्र इन्द्ररूप ईश्वर का प्रकाशक है तथापि उसका इन्द्र प्रकाशन सामर्थ्य रूप "लिङ्ग" से इन्द्र के उपस्थान में विनियोग नहीं होसक्ता, क्योंकि "निवेशनः सङ्गमनो वसूनामिति ऐन्द्र्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" = "निवेशनः" इस ऋचा से "गार्हपत्य" अग्नि का उपस्थान करे अर्थात् उक्त ऋचा को पढ़ता हुआ "गार्हपत्य" अग्नि के समीप स्थित होवे, इस वाक्य विशेष से गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग विधान किया गया है और विधान किये गये का बाध निर्बल होने के कारण लिङ्ग नहीं कर सक्ता, इसलिये उक्त मन्त्र का लिङ्ग से इन्द्र के

उपस्थान में विनियोग नहीं किन्तु विशेषवाक्य से गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में विनियोग है ।

सं०-ननु, मन्त्रस्थ "इन्द्र" पद से इन्द्ररूप ईश्वर का अभिधान = कथन पाया जाता है गार्हपत्य अग्नि का नहीं, इसलिये उक्त मन्त्र का "गार्हपत्य" अग्नि के उपस्थान में विनियोग नहीं होसक्ता ? उत्तर :-

गुणाद्वाऽप्यभिधानंस्यात्सम्बन्धस्याशास्त्रहेतुत्वात् । ४ ।

पद०-गुणात् । वा । अपि । अभिधानं । स्यात् । सम्बन्धस्य । अशास्त्रहेतुत्वात् ।

पदा०-"वा, अपि" शब्द शङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (गुणात्) गुण सम्बन्ध द्वारा (अभिधानं) "इन्द्र" शब्द से "गार्हपत्य" अग्नि का अभिधान (स्यात्) होसक्ता है, क्योंकि (सम्बन्धस्य) पद पदार्थ के सम्बन्ध का (अशास्त्रहेतुत्वात्) उक्त वचन बाधक नहीं ।

भाष्य-यद्यपि इन्द्र शब्द शक्तिवृत्ति से गार्हपत्य अग्नि का अभिधान नहीं कर सक्ता तथापि उक्त शब्द से गौणी वृत्ति द्वारा गार्हपत्य अग्नि का अभिधान होसक्ता है, क्योंकि जैसे ईश्वर जगत् का कारण है वैसे ही गार्हपत्य अग्नि भी याग का कारण है और उक्त 'कारणत्व' रूप गुण द्वारा इन्द्र शब्द का गार्हपत्य अग्नि के साथ परम्परा सम्बन्ध विद्यमान है, और इसका उक्त वाक्य बाधक नहीं प्रत्युत सहायक है, इसलिये उक्त सम्बन्ध द्वारा इन्द्र शब्द से उपस्थित हुई गार्हपत्य अग्नि के उपस्थान में उक्त मन्त्र का विनियोग होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि " गौण मुख्ययोर्मुख्येकार्य्य-सम्प्रत्ययः " इस न्याय के अनुसार शीघ्र उपस्थिति न होने के कारण गौण अर्थ में कर्तव्य बुद्धि नहीं होसक्ती तथापि सहायक के मिल जाने से उक्त अर्थ की भी शीघ्र उपस्थिति होसक्ती है और शीघ्र उपस्थित हुए उक्त अर्थ में कर्तव्य बुद्धि का होना सम्भव है, इसलिये उक्त न्याय से भी विरोध नहीं ।

सं०-अब आह्वान प्रकाशक मन्त्रों का आह्वान = बुलाने में विनियोग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तथाह्वानमपीतिचेत् । ५ ।

पद०-तथा । आह्वानम् । अपि । इति । चेत् ।

पदा०-(तथा) जैसे " निवेशनः सङ्गमनो वसूनाम् " यह मन्त्र गार्हपत्य अग्नि के लिये है, वैसे ही (आह्वानं) " एहि " इत्यादि मन्त्र (अपि) भी अवहनन के लिये होने चाहियें (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-" दर्शपूर्णमास " याग के प्रकरण में " हविष्कृत् ? "एहि" इति त्रिरवघ्नन्नाह्वयति " हे हविष्कृत् = परमात्मा को देने के लिये हवि बनाने वाली यजमान पत्नी तू (एहि) आ (इति) इस मन्त्र से (त्रिः) तीन बार (अवघ्नन्) वितुषीकरण के लिये तण्डुल आदि का अवहनन = कूटना करता हुआ अध्वर्यु (आ-ह्वयति) यजमान पत्नी को बुलावे, यह वाक्य पढ़ा है । इसमें जो "एहि" इत्यादि यजुर्वेद के मन्त्र से तीन बार अवहनन करते

हुए अध्वर्यु का "हविष्कृत्" सम्बोधन करके यजमान पत्नी को बुलाना कथन किया है उसमें यह सन्देह है कि उक्त मन्त्र अवहनन का शेष है किंवा आह्वान का शेष है अर्थात् उक्त मन्त्र का अवहनन में विनियोग है कि उक्त मन्त्र से तीन बार अवहनन करता हुआ अध्वर्यु यजमान पत्नी का आह्वान करे किंवा आह्वान में विनियोग है कि अवहनन करता हुआ अध्वर्यु उक्त मन्त्र से तीन बार यजमान पत्नी का आह्वान करे? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे इन्द्र प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्ग के विद्यमान होने पर भी "निवेशनः सङ्गमनो वसूनामित्यैन्द्या गार्हपत्यमुपतिष्ठते" इस वाक्यविशेष के बल से "निवेशनः" इत्यादि मन्त्रों का "गार्हपत्य" अग्नि में ही विनियोग होता है इन्द्र में नहीं, वैसेही आह्वान प्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्ग के विद्यमान होनेपर भी "एहि" इत्यादि मंत्रों का अवहनन में ही विनियोग होना चाहिये आह्वान में नहीं, क्योंकि उक्त वचन की भांति यहां भी "एहीति त्रिरवघ्नन्नाह्वयति" "एहि" मन्त्र से तीन बार अवहनन करता हुआ आह्वान करे, यह वाक्य विशेष विद्यमान है और उक्त वाक्य विशेष के विद्यमान होने पर लिङ्ग से विनियोग नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त वाक्य विशेष के बल से "एहि" मन्त्र का "अवहनन" क्रिया में ही विनियागे है "आह्वान" क्रिया में नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नकालविधिश्चोदितत्वात्। ६।

पद०—न । कालविधिः । चोदितत्वात् ।

पदा०—(कालविधिः) उक्त वचन में "अवघ्नन्" पद "अवहनन" क्रियोपलक्षित काल का विधायक है "अवहनन" क्रिया का नहीं, क्योंकि (चोदितत्वात्) वह "व्रीहीनवहन्ति" वाक्य से प्रथम विधान की गई है, इसलिये (न) उक्त वचन के बल से "एहि" मन्त्र का अविहित "अवहनन" क्रिया में विनियोग मानना ठीक नहीं ।

भाष्य—उक्त वचन में जो "अवघ्नन्" पद है वह "लक्षण-हेत्वोःक्रियायाः" अष्टा० ६।२।१२६ = लक्षण (उपलक्षण) तथा हेतु (कारण, फल) अर्थ में वर्तमान धातु से "शतृ" तथा "शानच्" प्रत्यय होता है, इस सूत्र के अनुसार "लक्षण" अर्थ में वर्तमान "अव" उपसर्ग पूर्वक "हन" धातु के आगे "शतृ" प्रत्यय करने से सिद्ध होने के कारण "अवहनन" क्रियोपलक्षित काल का विधायक है, "अवहनन" क्रिया का नहीं । यदि "अवहनन" क्रिया का होता तो उक्त वाक्य विशेष के बल से आह्वान प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग का बाध करके "एहि" मन्त्र का उक्त क्रिया में विनियोग होसक्ता, परन्तु वह उक्त क्रिया का विधायक नहीं बन सक्ता, क्योंकि वह क्रिया "व्रीहीनवहन्ति" वाक्य से प्रथम विधान कीगई है और विधान कीगई का पुनर्विधान नहीं होसक्ता और काल का विधायक होने से उक्त वाक्य विशेष का यह अर्थ होता है कि अध्वर्यु अवहनन काल में "एहि" मन्त्र से तीन बार यजमान पत्नी का आह्वान करे=बुलावे ।

ऐसा अर्थ होने से वह वाक्य "अवहनन" क्रिया में मन्त्र का विनि-योजक प्रतीत नहीं होता, उसके प्रतीत न होने से आह्वान प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग का बाध मानना भी अनुचित है, और बाध के न होने से अबाधित हुआ लिङ्ग उक्त मन्त्र का आह्वान क्रिया में विनि-योजक होसक्ता है, इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये उसका आह्वान क्रिया में ही विनियोग मानना ठीक है, अवहनन क्रिया में नहीं।

सं०-ननु, "एहि" मन्त्र "आह्वान" का प्रकाशक नहीं किन्तु गुणवृत्ति से "हे हविष्कृत् = अवहनन ? तू (एहि) सिद्ध हो" इस प्रकार "अवहहन" का प्रकाशक है, इसलिये उसका अवहनन प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्ग से अवहनन क्रिया में ही विनि-योग होना चाहिये आह्वान क्रिया में नहीं ? उत्तर :-

गुणाभावात् । ७ ।

पद०-गुणाभावात् ।

पदा०-(गुणाभावात्) गुण का सम्बन्ध न पाए जाने से "एहि" मन्त्र अवहनन का प्रकाशक नहीं होसक्ता ।

भाष्य-जिस पद के मुख्यार्थ में स्थित गुणों का उससे भिन्न जिस अर्थ में सम्बन्ध होता है उस पद का वह गौणार्थ कहलाता है यह नियम है, जैसाकि सिंह पद के मुख्यार्थ सिंह व्यक्ति में स्थित क्रूरता आदि गुणों का सम्बन्ध होने से "पुरुष" सिंह पद का तथा अग्नि पद के मुख्यार्थ अग्निद्रव्य में स्थित तेजस्वितादि गुणों का सम्बन्ध होने से "माणवक" अग्नि पद का "गौणार्थ" है और आहूत = बुलाये गये पुरुष में "अहमनेनाहूतोऽस्मि" = मैं इससे बुलाया गया हूं, इस प्रकार के ज्ञान का उत्पन्न करना

"एहि" मन्त्र के मुख्यार्थ "आह्वान" क्रिया का गुण है उसका "अवहनन" क्रिया में सम्बन्ध नहीं पाया जाता, क्योंकि अवहननीय जड़ पदार्थ में इस प्रकार का ज्ञान उत्पन्न नहीं होसक्ता और न उक्त क्रिया में इस प्रकार के ज्ञान उत्पन्न करने की सामर्थ्य है और उक्त गुण का सम्बन्ध न पाये जाने से अवहनन क्रिया "एहि" मन्त्र का गौणार्थ नहीं होसक्ती और उसके न होने से उक्त मन्त्र "अवहनन" रूप क्रिया का प्रकाशक भी नहीं होसक्ता, इसलिये उसका अवहनन प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग से अवहनन क्रिया में विनियोग मानना ठीक नहीं।

सं०-अब "हविष्कृत्" पद का अर्थ "यजमानपत्नी" है "अवहनन" नहीं, इसमें लिङ्ग कथन करते हैं :-

लिङ्गाच्च । ८ ।

पद०-लिङ्गात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गात्) लिङ्ग के पाये जाने से अवहनन "हविष्कृत्" पद का अर्थ भी नहीं होसक्ता।

भाष्य-"हविष्कृदेहीतित्रिरवघ्नन्नाह्वयति" इस वाक्य से आगे "वाग् वै हविष्कृत्, वाचमेवएतत् आह्वयति"= वाणि ही हविष्कृत् है, जो हविष्कृत् को बुलाता है वह बाणि को ही बुलाता है, यह अर्थवाद वाक्य पढ़ा है, इस अर्थवाद वाक्य में जो हविष्कृत् को बाणि कथन किया है वह हविष्कृत् के यजमान पत्नी होने में लिङ्ग है, यदि "हविष्कृत्" पद से अवहनन विवक्षित होता तो उसको वाणि न कथन किया जाता, क्योंकि बाणि और अवहनन की परस्पर कोई सदृशता नहीं है और सदृशता के

विना अवहनन को बाणि कथन करना असमञ्जस होजाता है और यदि हविष्कृत् पद का अर्थ यजमान पत्नी करें तो कोई असमञ्जसता नहीं होती, क्योंकि स्त्रीत्व धर्म के समान होने से यजमान पत्नी को बाणि कह सक्ते हैं, इसलिये " हविष्कृत् " पद का अवहनन अर्थ करना भी ठीक नहीं ।

सं०–अब " अवघ्नन् " पद को अवहनन रूप कर्म का विधायक मानने में दोष कथन करते हैं :–

विधिकोपश्चोपदेशेस्यात् । ९ ।

पद०–विधिकोपः । च । उपदेशे । स्यात् ।

पदा०–(च) और (उपदेशे) " अवघ्नन् " पद से उक्त कर्म का विधान मानें तो (विधिकोपः) लक्षणार्थ में विहित " शतृ " प्रत्यय अनुपपन्न (स्यात्) होजाता है ।

भाष्य–" अव " उपसर्ग पूर्वक " हन " धातु से " शतृ " प्रत्यय करने पर " अवघ्नन् " शब्द सिद्ध होता है और उक्त प्रत्यय " लक्षणहेत्वोःक्रियायाः " अष्टा० ३ । २ । १२६ इस सूत्र से लक्षण अर्थ में विधान किया गया है, यदि " अवघ्नन् " पद से धात्वर्थ मात्र अर्थात् " अवहनन " मात्र का ग्रहण करें तो लक्षणार्थ में जो " शतृ " प्रत्यय विधान किया है वह सर्वथा अनुपपन्न हो जाता है, क्योंकि उसके विधान का कोई फल नहीं, दूसरे धात्वर्थ तथा प्रत्ययार्थ के मध्य प्रत्ययार्थ प्रधान होता है उसको छोड़कर अप्रधान धात्वर्थ का ग्रहण भी उचित नहीं, इसलिये " अवघ्नन् " पद अवहनन रूप कर्म का विधायक नहीं किन्तु अवहनन काल का विधायक है, यही मानना समीचीन है ।

सं०–अब "अग्निविहरण" आदि के प्रकाशक मन्त्रों का अग्निविहरण आदि में विनियोग कथन करते हैं :–

तथोत्थानविसर्जने । १० ।

पद०–तथा । उत्थानविसर्जने ।

पदा०–(तथा) जैसे "हविष्कृदेहीतित्रिरवघ्नन्नाह्वयति" में "अवघ्नन्" पद "अवहननकाल" का बोधक है वैसे ही (उत्थानविसर्जने) "उत्तिष्ठन्नन्वाह" में "उत्तिष्ठन्" तथा "व्रतंकृणुतेतिवाचंविसृजति" में "विसृजति" पद भी "उत्थानकाल" तथा "विसर्जन काल" के बोधक हैं ।

भाष्य–"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "उत्तिष्ठन्नन्वाहाग्नीदग्नीन्विहर" = (अग्नीध्र) हे अग्नीध्र तू (अग्नीन्) यज्ञकी अग्नियों को (विहर) विहरण = प्रज्वलित कर, इस प्रकार अग्नि विहरण प्रज्वालन के प्रैष = आज्ञारूप मन्त्र का (उत्तिष्ठन्) उठता हुआ अर्थात् उत्थान काल में (अन्वाह) पाठ करे, यह वाक्य तथा "व्रतंकृणुतेतिवाचं विसृजति" (व्रतं) दुग्ध पान रूप व्रत को (कृणुत) तुम सब ऋत्विक्करो (इति) इस मन्त्र से पयः पानरूप व्रत की आज्ञा को देता हुआ (वाचं) वाणि का (विसृजति) विसर्ग = खोलना करे, यह वाक्य पढ़ा है । उक्त दोनों वाक्यों में जो प्रैष रूप "अग्नीदग्नीन्विहर" तथा "व्रतंकृणुत" यजु० ४ । ११ यह दो मन्त्र कथन किये हैं, क्या इनका उत्थान क्रिया तथा वाग् विसर्ग क्रिया में विनियोग है कि "अग्नीदग्नीन्विहर" मन्त्र

से व्युत्थान तथा "**व्रतंकृणुत**" मन्त्र से वाणि का विसर्ग करे **अथवा** अग्निविहरण तथा व्रतकरण में विनियोग है कि अध्वर्यु खड़ा होकर अग्नीध्र को यज्ञाग्नियों के विहरण = प्रज्वलन करने की आज्ञा "**अग्नीद्**" मन्त्र से तथा वाणि का विसर्ग करता हुआ ऋत्विकों को पयःपानरूप व्रत की आज्ञा "**व्रतंकृणुत**" मन्त्र से दे? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि लोडन्त "विहर" तथा "कृणुत" विधि पद घटित होने के कारण उक्त दोनों मन्त्रों से अग्नीविहरण तथा व्रतकरण की आज्ञा का स्पष्ट रूप से प्रकाश होरहा है और "अग्नीविहरण" तथा "व्रतकरण" प्रकाशनसामर्थ्यरूप स्पष्ट मन्त्र लिङ्ग के साथ विरोध होने से "उत्तिष्ठन्" तथा "विसृजति" यह दोनों पद "व्युत्थान" तथा "विसर्जन" क्रिया का विधान नहीं कर-सक्ते किन्तु अविरोध के लिये "अवघ्नन्" पद की भांति उत्थान काल तथा विसर्जन काल का विधायक होसक्ते हैं, इसलिये उक्त दोनों मन्त्रों का व्युत्थान तथा विसर्जन क्रिया में विनियोग नहीं किन्तु उक्त लिङ्ग से "अग्नीद्" मन्त्र का अग्निविहरण में और 'व्रतकृणुत" का व्रतकरण में विनियोग है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त लिङ्ग से दोनों मन्त्रों का अग्निवि-हरणप्रैष तथा पयःपानरूपव्रतकरणप्रैष में सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है और "उत्तिष्ठन्" आदि पदों को काल का विधायक मानने में कोई बाधक नहीं, इसलिये उक्त दोनों मन्त्रों का विहरण आदि में ही विनियोग मानना ठीक है उत्थान आदि में नहीं।

सं०-अब "सूक्तवाक" का प्रस्तर प्रहरण में विनियोग अर्थात् सूक्तवाक को प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्व-पक्ष करते हैं :-

सूक्तवाके च कालविधिः परार्थत्वात् । ११ ।

पद०-सूक्तवाके । च । कालविधिः । परार्थत्वात् ।

पदा०-(च) और (सूक्तवाके) सूक्तवाक में भी (कालविधिः) काल का विधान जानना चाहिये, क्योंकि (परार्थत्वात्) परार्थ होने के कारण सूक्तवाक का प्रस्तर के साथ "अङ्गाङ्गिभाव" सम्बन्ध नहीं होसक्ता ।

भाष्य-दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति" = सूक्तवाक से प्रस्तर को अग्नि में डाले, यह वाक्य पढ़ा है "इदंद्यावापृथिवी" इत्यादि मन्त्रों का नाम "सूक्तवाक" तथा प्रथम काटी हुई कुशा की मुट्ठी का नाम "प्रस्तर" और अग्नि में प्रक्षेप = डालने का नाम "प्रहरण" है, इस वाक्य में जो "सूक्तवाक" से प्रस्तर का प्रहरण कथन किया है इसमें सूक्तवाक काल का बोधक है कि जिस काल में होता सूक्तवाक का पाठ करे उस काल में अध्वर्यु प्रस्तर को अग्नि में डाले किंवा सूक्तवाक प्रहरण का अङ्ग है कि सूक्तवाक को पढ़ता हुआ अध्वर्यु प्रस्तर का अग्नि में प्रहरण करे ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "सूक्तवाक" और "प्रस्तर" यह दोनों दूसरे के लिये होने से गुण = गौण हैं अर्थात् प्रकाशस्वरूप अग्नि = परमात्मारूपदेवता

के सङ्कीर्तनमर्थ होने से "सूक्तवाक" तथा "स्रुवा" के धारणार्थ होने से "प्रस्तर" गुण हैं और जो गुण होते हैं उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं होसक्ता, यह "गुणानाञ्चपरार्थत्वाद-सम्बन्धःसमत्वात्" मी० ३। १। २२ में कथन कर आये हैं और सम्बन्ध के न होने से "सूक्तवाक" को प्रहरण का अङ्ग मानना ठीक नहीं और यदि उसको काल का बोधक मानें तो उक्त वाक्य का लापन भले प्रकार होजाता है अर्थात् होता के सूक्तवाक पठन काल में अध्वर्यु प्रस्तर को अग्नि में फेंक दे, ऐसा अर्थ करने में कोई दोष नहीं आता, इसलिये उक्त वाक्य में सूक्तवाक काल का बोधक है प्रहरण का अङ्ग नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

उपदेशो वा याज्याशब्दो हि नाकस्मात्। १२।

पद०—उपदेशः। वा। याज्याशब्दः। हि। न। अकस्मात्।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (उपदेशः) उक्त वाक्य में सूक्तवाक का प्रहरणाङ्गत्वरूप से उपदेश जानना चाहिये (हि) क्योंकि (याज्याशब्दः) वह याग सम्बन्धी देवता का प्रकाशक होने से "याज्या" शब्द का वाच्य हुआ (अकस्मात्) बिना निमित्त के (न) प्रहरण का अङ्ग नहीं होसक्ता।

भाष्य—उदाहृत वाक्य में "सूक्तवाक" का साधनवाची तृतीया विभक्ति से प्रयोग किया है वह सूक्तवाक को प्रस्तर प्रहरण का

अङ्ग सिद्ध किये बिना उपपन्न नहीं होसक्ती और प्रस्तर प्रहरण को होमरूप होने से साधन की आकांक्षा उत्कट है वह साधनरूप से सूक्तवाक का सम्बन्ध हुए बिना शान्त नहीं होसक्ती, यदि इस प्रकार उत्कट आकांक्षा के होने पर भी सूक्तवाक का साधनरूप से सम्बन्ध न कियाजाय तो श्रूयमाण साधनवाची तृतीया विभक्ति श्रुति सर्वथा अनुपपन्न होजाती है और दूसरे उदाहृतवाक्य के आगे " **सूक्तवाक एव याज्या प्रस्तर आहुतिः** " = सूक्तवाक ही (याज्या) होम का साधन मन्त्र और प्रस्तर (आहुतिः) हवनीय द्रव्य अर्थात् हवि है, इस अर्थवाद में जो सूक्तवाक को " याज्या " और प्रस्तर को " आहुति " कथन किया है वह भी सूक्तवाक को प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग माने बिना उपपन्न नहीं होसक्ता और काल का बोधक मानने में लक्षणा करनी पड़ती है और वह तात्पर्य्यानुपपत्ति अथवा अन्वयानुपपत्तिरूप निमित्त के होने पर होती है अन्यथा नहीं और उदाहृत वाक्य में इन दोनों के मध्य एक निमित्त भी नहीं दीखता और बिना किसी निमित्त के सूक्तवाक को काल का बोधक मानकर प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग मानना ठीक नहीं, इसलिये वह काल का बोधक नहीं किन्तु प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग है ।

सं०—अब " परार्थ " होने के कारण जो सूक्तवाक का असम्बन्ध कथन किया है उसका समाधान करते हैं :—

स देवतार्थस्तत्संयोगात् । १३ ।

पद०—स । देवतार्थः । तत्संयोगात् ।

पदा०—(स) सूक्तवाक (देवतार्थः) देवता के लिये होने पर भी प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग जानना चाहिये, क्योंकि (तत्संयोगात्)

उसका देवता द्वारा प्रस्तर के साथ सम्बन्ध होसक्ता है ।

भाष्य–यद्यपि "प्र" पूर्वक "हरति" धातु का अर्थ "प्रक्षेप" मात्र है, देवता के उद्देश्य से प्रक्षेपरूप अपूर्व कर्म नहीं तथापि प्रस्तर को हवि कथन करने और "अग्निरिदं हविरजुषत"=(इदं) यह प्रस्तररूप हवि (अग्निः) अग्नि देवता ने (अजुषत) स्वीकार की, इस प्रकार मन्त्र प्रतिपाद्य अग्निदेवता कर्तृक उक्त हवि का स्वीकार वर्णन करने से देवतोद्देश पूर्वक प्रक्षेपरूप अपूर्व कर्म ही प्रहरति धातु का अर्थ कल्पना करना चाहिये, क्योंकि ऐसी कल्पना करने से उक्त दोनों प्रकार का कथन तथा वर्णन असङ्गत होजाता है और जिस प्रकाशस्वरूपपरमात्मारूप अग्नि देवता के उद्देश से प्रस्तर के प्रक्षेपरूप अपूर्वकर्म की कल्पना कीगई है उसी देवता का प्रकाशक सूक्तवाक है, इसलिये उसका देवता द्वारा प्रस्तर के साथ सम्बन्ध होसक्ता है और सम्बन्ध के होजाने से उसको प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग मानने में कोई दोष नहीं ।

सं०–अब प्रस्तर प्रहरण में "प्रतिपत्ति" आख्यसंस्कार कर्म की आशङ्का करते हुए उक्तार्थ को दृढ़ करते हैं :–

प्रतिपत्तिरिति चेत्स्विष्टकृद्वदुभय संस्कारः स्यात् । १४ ।

पद०–प्रतिपत्तिः । इति । चेत् । स्विष्टकृद्वत् । उभयसंस्कारः । स्यात् ।

पदा०–(प्रतिपत्तिः) प्रस्तर प्रहरण प्रतिपत्ति रूप संस्कार कर्म है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि (स्विष्टकृद्वत्) "स्विष्टकृत्" कर्म की भांति (उभयसंस्कारः) वह दोनों प्रकार का कर्म (स्यात्) है ।

भाष्य–श्रेष्ठ कार्य्य में उपयुक्त वस्तु के किसी उत्तम स्थान में प्रक्षेप=रखदेने का नाम "प्रतिपत्ति" नामक संस्कार कर्म है, जैसे आचार्य्य की पूजा में उपयुक्त पुष्पमाला को जहां तहां पाओं में न फेंककर किसी उत्तम स्थान में रखदेना लोक प्रसिद्ध प्रतिपत्ति कर्म है वैसे ही "स्रुवा" के धारण में उपयुक्त "प्रस्तर" का याग की समाप्ति पर अग्नि में प्रक्षेप भी "प्रतिपत्ति" रूप आख्य संस्कार कर्म है, देवता के उद्देश से प्रक्षेपरूप कोई अपूर्व कर्म नहीं, इसलिये देवता द्वारा भी सूक्तवाक प्रहरण का अङ्ग नहीं होसक्ता, यह शङ्का अंश का तात्पर्य्य है, सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रस्तर का प्रक्षेप "स्विष्टकृत्" कर्म की भांति उभय प्रकार का कर्म है अर्थात् सब आहुतियों के दिये जाने पर जो हविद्रव्य=हवनीय घृत आदि द्रव्य शेष रह जाता है उस हवि शेष का जो वैदिक मन्त्रों से "स्विष्टकृत्" नाम की अग्नि में प्रहरण किया जाता है उस कर्म का नाम "स्विष्टकृत्" है, जैसे यह मन्त्र प्रतिपाद्य देवता के उद्देश से शेष हवि का प्रक्षेप रूप होने से "प्रयाज" आदि की भांति अपूर्व कर्म तथा "प्रत्तिपति" आख्य संस्कार कर्म अर्थात् दोनों प्रकार का कर्म है वैसे ही प्रस्तर प्रक्षेप भी दोनों प्रकार का कर्म है, इसलिये सूक्तवाक को देवता द्वारा प्रस्तर के साथ सम्बन्ध होजाने से प्रस्तर प्रहरण का अङ्ग मानना ठीक है।

सं०–अब "सूक्तवाक" संज्ञक मन्त्रों का अर्थ के अनुसार विनियोग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

कृत्स्नोपदेशादुभयत्र सर्ववचनम् । १९ ।

पद०–कृत्स्नोपदेशात् । उभयत्र । सर्ववचनम् ।

पदा०—(उभयत्र) दर्श तथा पूर्णमास याग के मध्य प्रत्येक याग में (सर्ववचनं) सूक्तवाक संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का पाठ करना चाहिये, क्योंकि (कृत्स्नोपदेशात्) "सूक्तवाक" संज्ञा के ग्रहण करने से सम्पूर्ण मन्त्रों का प्रहरण के प्रति अङ्गत्व रूप से उपदेश पाया जाता है ।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "**सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति**" यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो "दर्श" तथा "पूर्णमास" दोनों यागों में सूक्तवाक से प्रस्तर का प्रहरण = अग्निकुण्ड में प्रक्षेप कथन किया है, क्या वह प्रहरण प्रत्येक याग में सूक्तवाक संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों से कियाजाय किंवा उक्त संज्ञक मन्त्रों के मध्य जिन मन्त्रों का अर्थ दर्श याग के अनुकूल हो उन मन्त्रों से दर्श में और जिन मन्त्रों का अर्थ पूर्णमास के अनुकूल हो उन मन्त्रों से पूर्णमास में प्रस्तर का प्रहरण किया जाय अर्थात् "सूक्तवाक" संज्ञा के अनुसार प्रतियाग प्रस्तर प्रहरण में उक्त संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का विनियोग कियाजाय किंवा अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य-रूपलिङ्ग के अनुसार जिन मन्त्रों का अर्थ दर्श के अनुकूल है उनका दर्शगत प्रस्तर प्रहरण में और जिन मन्त्रों का अर्थ पूर्णमास के अनुकूल है उनका पूर्णमास गत प्रस्तर प्रहरण में विनियोग किया जाय ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और अन्तिम पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "सूक्तवाकेनप्रस्तरं प्रहरति" इस प्रस्तर प्रहरण के विधायक वाक्य में "सूक्तवाक" संज्ञा = समाख्या का ग्रहण किया है, उससे उक्त संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का प्रस्तर प्रहरण के प्रति अङ्गत्वरूप से उपदेश पाया जाता है उनके मध्य किसी मन्त्र विशेष का नहीं, क्योंकि ऐसा होने से

उक्त संज्ञा को मुख्यार्थ का लाभ नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त संज्ञा के अनुसार प्रत्येक याग में प्रस्तर प्रहरण के समय उक्त संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का पाठ होना चाहिये, अर्थ के अनुसार विभाग पूर्वक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "सूक्तवाक" से प्रस्तर का प्रहरण विधान किया है इसलिये "सूक्तवाक" जितने मन्त्रों की संज्ञा है उन सब मंत्रों का प्रति याग प्रस्तर प्रहरण में विनियोग होना चाहिये अर्थ के अनुसार किसी मन्त्र विशेष का नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

यथार्थं वा शेषभूतसंस्कारात्। १६।

पद०-यथार्थं। वा। शेषभूतसंस्कारात्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (यथार्थं) "सूक्तवाक" संज्ञक मन्त्रों का अर्थ के अनुसार प्रति याग प्रस्तर प्रहरण में विभाग पूर्वक विनियोग होना चाहिये, क्योंकि (शेषभूतसंस्कारात्) वह याग के शेषभूत अर्थात् याग सम्बन्धी देवता का स्मारक होने से संस्काररूप हैं।

भाष्य-अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य को "**लिङ्ग**" तथा यौगिक संज्ञा को "**समाख्या**" कहते हैं, और लिङ्ग की अपेक्षा समाख्या सर्वदा निर्बल तथा समाख्या की अपेक्षा लिङ्ग सर्वदा प्रबल होता है यह नियम है, इसलिये लिङ्ग के विद्यमान होने पर "**सूक्तवाक**" इस यौगिक संज्ञा के अनुसार प्रतियाग प्रस्तर प्रहरण में उक्त संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का विनियोग करना ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि याग में जो वेद मन्त्रों का पाठ किया जाता है उसका मुख्य प्रयोजन याग सम्बन्धी देवता का स्मरण है, जिस याग में जिस मन्त्र के पाठ करने से याग सम्बन्धी देवता का स्मरण नहीं होता उस याग में उस मन्त्र का पाठ करना व्यर्थ है, "इदंद्यावापृथिवी" आदि जिन मन्त्रों की "सूक्तवाक" संज्ञा है उनमें कई एक मन्त्र "प्रकाश" गुण को मुख्य रखकर "अग्नि" रूप से, कई एक "प्रकाश" तथा "सौम्य" गुण को मुख्य रखकर "अग्नीषोम" रूप से, कई एक ऐश्वर्य्य गुण को मुख्य रख कर इन्द्ररूप से तथा कई एक महान् ऐश्वर्य्य को मुख्य रख कर महेन्द्र रूप से, परमात्मा का प्रकाश अर्थात् वर्णन करते हैं। एक रूप से सम्पूर्ण मन्त्र जगत्पति परमात्मा का प्रकाश नहीं करते, यदि उक्त संज्ञा के बल से "दर्शपूर्णमास" याग के मध्य प्रत्येक याग में प्रस्तर प्रहरण के समय सम्पूर्ण मन्त्रों के पाठ का विधान माना जाय तो जो मन्त्र अग्नि, इन्द्र तथा महेन्द्ररूप से परमात्मा का प्रकाश करते हैं उनका दर्श याग में प्रस्तर प्रहरण के समय पाठ करना सार्थक होने पर भी पूर्णमास याग में पाठ करना सार्थक नहीं होसक्ता, क्योंकि दर्शयाग में अग्नि, इन्द्र आदि ही देवता हैं "अग्नीषोम" आदि नहीं, इसी प्रकार जो मन्त्र "अग्नीषोम" आदि रूप से परमात्मा का प्रकाश करते हैं उनका "पूर्णमास" याग में प्रस्तर प्रहरण के समय पाठ करना सार्थक होने पर भी दर्श याग में सार्थक नहीं होसक्ता, क्योंकि पूर्णमास याग में ही अग्नीषोम आदि देवता हैं दर्श याग में नहीं। और जिस याग में जिन मन्त्रों का पाठ करना व्यर्थ है केवल

संज्ञा के बल से उस याग में उनके पाठ का विधान मानना भी अनुचित है और समुदाय की संज्ञा होने पर भी "सूक्तंवक्तीति सूक्तवाकः"=जो समीचीन कथन करे उसको "सूक्तवाक" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति के बल से एक देश में वर्तमान हुई उक्त संज्ञा मुख्यार्थ का लाभ नहीं कर सक्ती, इसलिये उसके अनुसार प्रत्येक याग में सम्पूर्ण मन्त्रों का प्रति प्रस्तर प्रहरण विनियोग करना ठीक नहीं किन्तु अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग के अनुसार अर्थात् जो मन्त्र जिस याग सम्बन्धी देवता का प्रकाश करते हैं उन मन्त्रों का उस याग सम्बन्धी प्रस्तर प्रहरण में विनियोग करना चाहिये सम्पूर्ण मन्त्रों का नहीं यही समीचीन पक्ष है ।

सं०—अब उक्तार्थ में आशङ्का करते हैं :—

वचनादिति चेत् । १७ ।

पद०—वचनात् । इति । चेत् ।

पदा०—(वचनात्) "सूक्तवाकेन प्रस्तरं प्रहरति" इस वाक्य से सूक्तवाक संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का प्रतियाग प्रस्तरप्रहरण में विनियोग होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य—उक्त वाक्य में "सूक्तवाक" शब्द का ग्रहण किया है और वह सम्पूर्ण मन्त्रों का नाम है इसलिये प्रतियाग प्रस्तर प्रहरण में उक्त संज्ञक सम्पूर्ण मन्त्रों का ही विनियोग होना चाहिये अर्थ के अनुसार विभागपूर्वक नहीं ।

सं०—अब उक्ताशङ्का का समाधान करते हैं :—

प्रकरणाविभागादुभे प्रति कृत्स्नशब्दः । १८ ।

पद०—प्रकरणाविभागात् । उभे । प्रति । कृत्स्नशब्दः ।

पदा०—(कृत्स्नशब्दः) सम्पूर्ण मन्त्रों के वाचक "सूक्तवाक" शब्द का ग्रहण (उभे, प्रति) दर्श तथा पूर्णमास दोनों के प्रति = दोनों के अभिप्राय से जानना चाहिये, क्योंकि (प्रकरणाविभागात्) दोनों का प्रकरण एक है ।

भाष्य—उक्त वाक्य में जो सम्पूर्ण मन्त्रों के वाचक "सूक्तवाक" शब्द का ग्रहण किया है वह दर्शपूर्णमास दोनों यागों के अभिप्राय से किया गया है, एक २ के अभिप्राय से नहीं । और दोनों का प्रकरण एक होने से दोनों के प्रति कृत्स्नशब्द का प्रयोग होसक्ता है । जैसाकि "यह सब फल "देवदत्त" तथा "यज्ञदत्त" को दे दो" इस प्रकार लोक में कृत्स्नशब्द का प्रयोग देखा जाता है, इसका यह आशय कदापि नहीं होसक्ता कि सब फल देवदत्त को देदो तथा सब फल यज्ञदत्त को देदो, क्योंकि ऐसा होना असंभव है किन्तु यथायोग्य विभाग पूर्वक दो, यह आशय है। इसी प्रकार प्रकृत में भी समझना चाहिये कि कृत्स्नशब्द का प्रयोग प्रति याग प्रस्तर प्रहरण में सम्पूर्ण मन्त्रों के विनियोग के अभिप्राय से नहीं किन्तु यथायोग्य = अर्थ के अनुसार विभाग पूर्वक विनियोग के अभिप्राय से है, इसलिये संज्ञा के अनुसार विनियोग करना ठीक नहीं किन्तु अर्थ के अनुसार विभाग पूर्वक ही विनियोग करना ठीक है ।

सं०—अब "काम्ययाज्यानुवाक्या" संज्ञक मन्त्रों का काम्येष्टि मात्र में विनियोग कथन करते हैं :—

लिङ्गक्रमसमाख्यानात्काम्ययुक्तं समाम्नानम् । १९ ।

पद०—लिङ्गक्रमसमाख्यानात् । काम्ययुक्तं । समाम्नानम् ।

पदा०—(समाम्नानं) काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड का (काम्ययुक्तं) काम्येष्टियों में ही विनियोग है इष्टिमात्र में नहीं, क्योंकि (लिङ्गक्रमसमाख्यानात्) क्रम तथा समाख्या सहकृत लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य—काम्येष्टिकाण्ड अध्याय में "**ऐन्द्राग्नमेकादश कपालं निर्वपेत्, यस्य सजाताः वीयुः**"=(यस्य) जिसके (सजाताः) सजाति लोग=बान्धव (वीयुः) धनहीन तथा विद्या हीन होजायं वह (ऐन्द्राग्नं) ऐश्वर्य्य युक्त तथा प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से (एकादशकपालं) एकादश कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का (निर्वपेत्) निर्वाप करे । इत्यादि चार काम्य इष्टियों का विधान करके मन्त्रकाण्ड में यथाक्रम "**इन्द्राग्नी रोचनादिवः**" साम० ३ । ८ । २ । १४ इत्यादि आठ मन्त्र पढ़े हैं, याज्ञिकों की परिभाषा में इन आठों मन्त्रों का नाम "**काम्ययाज्यानुवाक्या**" मन्त्र काण्ड का नाम "**काम्ययाज्यानुवाक्या काण्ड**" और एक २ इष्टि में दो २ याज्यानुवाक्या के विनियोग का नियम है, जो याग किसी फल विशेष की कामना से किया जाता है उसको "**काम्येष्टि**" और इष्टियों में जिन वेद मन्त्रों का पाठ किया जाता है उनको "**याज्यानुवाक्या**" कहते हैं, मन्त्र काण्ड में जो "**इन्द्राग्नीरोचनादिवः**" इत्यादि याज्यानुवाक्या के चार युगल=जोड़े पढ़े हैं, उनमें सन्देह है कि वह जिन इष्टियों में "**इन्द्राग्नी**" आदि देवता हैं उन सब

का अङ्ग हैं **किंवा** उक्त काम्येष्टियों का ही अङ्ग हैं अर्थात् इन्द्राग्नी आदि देवता का प्रकाशक होने के कारण उक्त मन्त्रों का देवता प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग से इन्द्राग्नी आदि देवता वाली सब इष्टियों में विनियोग है **अथवा** उक्त काम्येष्टि मात्र में ही विनियोग है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि "**लिङ्ग**" सर्व इष्टि साधारण है तथापि "**काम्य याज्यानुवाक्या काण्डं**" यह "**समाख्या**" तथा "**प्रथमेष्टेः प्रथमयाज्यानुवाक्या युगलं**"=प्रथम इष्टि का अङ्ग प्रथम याज्यानुवाक्या युगल है, यह दोनों "**क्रम**" सब इष्टि साधारण नहीं किन्तु असाधारण हैं और इस प्रकार "**क्रम**" तथा "**समाख्या**" रूप असाधारण विनियोजकों के विद्यमान होने पर केवल "**लिङ्ग**" से उक्त "याज्यानुवाक्या" मन्त्रों का सब इष्टियों में विनियोग नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि "**क्रम**" तथा "**समाख्या**" का आश्रयण करता हुआ ही लिङ्ग विनियोजक अर्थात् कर्म मन्त्र के परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध विशेष का बोधक होसक्ता है स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि स्वतन्त्र लिङ्ग से कर्म सम्बन्धी देवता का ज्ञान होजाने के कारण कर्म मन्त्र का परस्पर सम्बन्ध सामान्य ज्ञान होने पर भी " अमुक कर्म के साथ इस मन्त्र का अङ्गाङ्गिभावरूप विशेष सम्बन्ध है " इस प्रकार सम्बन्ध विशेष का ज्ञान श्रुति कल्पना किंवा क्रम तथा समाख्या के विना नहीं होसक्ता अर्थात् लिङ्ग द्वारा सामान्यरूप से प्रतीत हुए सम्बन्ध का श्रुति अथवा

क्रम तथा समाख्या के बल से ही सम्बन्ध विशेष में पर्य्यवसान होता है केवल लिङ्ग से नहीं, प्रकृत में "**काम्ययाज्यानुवाक्या काण्डं**" समाख्या तथा "**प्रथमेष्टेः प्रथम याज्यानुवाक्या युगलं**" क्रम से सहकृत हुए "इन्द्राग्नी" आदि प्रकाशन सामर्थ्यरूप लिङ्ग द्वारा उक्त संज्ञक मन्त्रों का काम्येष्टियों के साथ अङ्गाङ्गिभाव रूप सम्बन्ध स्पष्ट ज्ञात होता है, इसलिये उनका उक्त इष्टियों में ही विनियोग होना चाहिये इन्द्राग्नीदेवताक इष्टि मात्र में नहीं।

सं०-अब "आग्नीध्र" आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत मन्त्रों का विनियोग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

अधिकारेतु मंत्रविधिरतदाख्येषु शिष्टत्वात् । २० ।

पद०-अधिकारे । तु । मन्त्रविधिः । अतदाख्येषु । शिष्टत्वात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (अधिकारे) ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में (मन्त्रविधिः) जो "आग्नीध्र" आदि मण्डपों के उपस्थानार्थ "आग्नेयी" आदि मन्त्रों का उपदेश है वह (अतदाख्येषु) अप्रकृत मन्त्रों में जानना चाहिये, क्योंकि (शिष्टत्वात्) सामान्यरूप से किया गया है।

भाष्य-"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "**आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते**" "**ऐन्द्र्या सदः**" "**वैष्णव्या हविर्धानं**" ="आग्नेयी" ऋचा को पढ़ता हुआ "आग्नीध्र" नामक "ऐन्द्री" ऋचा को पढ़ता हुआ "सदः" नामक "वैष्णवी" ऋचा को पढ़ता

हुआ "हविर्धान" नामक मण्डप के समीप स्थित होवे, यह वाक्य पढ़े हैं "अग्नेआयाहिवीतये" साम० ३।१।१।४ इत्यादि ऋचा का नाम अग्नि, इन्द्र तथा विश्णु नाम से ईश्वर की स्तुति करने के कारण आग्नेयी, ऐन्द्री तथा वैष्णवी है "ऋचा" शब्द स्त्री लिङ्ग है, अतएव "आग्नेयी" आदि शब्दों का भी स्त्रीलिङ्ग से निर्देश किया है, मन्त्र की अपेक्षा तो आग्नेय, ऐन्द्र तथा वैष्णव निर्देश होना चाहिये, उक्त वाक्यों में जो आग्नेय, ऐन्द्र तथा वैष्णव मन्त्रों से आग्नीध्र, सदः तथा हविर्धान नामक मण्डपों का उपस्थान विधान किया है क्या वह उपधान आग्नेय, ऐन्द्र तथा वैष्णव मन्त्रों से करना किंवा ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में स्तोत्र तथा शस्त्र आदि के लिये जिस पूर्वोक्त आग्नेय, ऐन्द्र तथा वैष्णव मन्त्रों का पाठ किया गया है उस २ मन्त्र से करना अर्थात् उक्त वाक्यों में "आग्नीध्र" आदि मण्डपों के उपस्थान में अप्रकृत "आग्नेय" आदि मन्त्रों के अथवा स्तोत्र शस्त्रादि के साधन आग्नेय आदि प्रकृत मन्त्रों के विनियोग का विधान है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्यों में उपस्थान के साधन मन्त्रों का केवल आग्नेय, ऐन्द्र तथा वैष्णव नाम से उपदेश किया है, ज्योतिष्टोम प्रकरण पठित आग्नेय आदि नाम से नहीं, यदि ज्योतिष्टोम प्रकरण पठित आग्नेय आदि नाम से उपदेश होता तो उससे प्रकृत आग्नेय आदि मन्त्रों का ग्रहण होसक्ता परन्तु उपदेश केवल अग्नि आदि नाम से किया है, इससे अग्नि आदि ईश्वर प्रकाशक मन्त्र मात्र का ग्रहण होसक्ता है प्रकृत मन्त्रों का नहीं, क्योंकि सामान्यरूप से किये गये उपदेश से विशेष का ग्रहण

होना असंभव है, इसलिये उक्त मण्डपों के उपस्थान में अप्रकृत आग्नेय आदि मन्त्रों का ही विनियोग विधान किया है प्रकृत मन्त्रों का नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

तदाख्यो वा प्रकरणोपपत्तिभ्याम्।२१।

पद०-तदाख्यः। वा। प्रकरणोपपत्तिभ्याम्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (तदाख्यः) जिस स्तोत्र तथा शस्त्र आदि के साधन आग्नेय आदि मन्त्रों का प्रकरण में पाठ है, उन्हीं प्रकृत मन्त्रों का मण्डपोपस्थान के प्रति विनियोग विधान किया है अप्रकृत का नहीं,क्योंकि (प्रकरणोपपत्तिभ्यां) प्रकरण तथा युक्ति से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-यद्यपि आग्नेय आदि मन्त्रों का सामान्य रूप से निर्देश किया है विशेष रूप से नहीं तथापि यहां प्रकृत मन्त्रों का ही ग्रहण युक्त है अप्रकृत मन्त्रों का नहीं, क्योंकि प्रकृत सन्निहित तथा अप्रकृत असन्निहित है और "**सन्निहितासन्निहितयोश्च सन्निहितो-बलीयान्**"=सन्निहित तथा असन्निहित के मध्य सन्निहित बली होता है, और बली होने से उसका परित्याग अनुचित है, इसलिये "आग्नीध्र" आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत "आग्नेय" आदि मन्त्रों का ही विनियोग होना चाहिये अप्रकृत का नहीं।

सं०-अब युक्ति कथन करते हैं:-

अनर्थकश्चोपदेशः स्यादसम्बन्धात्फलवता नह्युपस्थानं फलवत्।२२।

पद०—अनर्थकः। च। उपदेशः। स्यात्। असम्बन्धात्। फलवता। नहि। उपस्थानं। फलवत्।

पदा०—(च) यदि आग्नीध्र आदि मण्डपों के उपस्थान में अप्रकृत मन्त्रों का विनियोग मानें तो (उपदेशः) उपदेश (अनर्थकः) निष्फल (स्यात्) होजाता है, क्योंकि (फलवता) फलवाले ज्योतिष्टोम के साथ (असम्बन्धात्) उनका सर्वथा असम्बन्ध है और (उपस्थानं) जिस उपस्थान के साथ सम्बन्ध है वह (फलवत्) फल वाला (नहि) नहीं है।

भाष्य—प्रकृत मन्त्रों का ज्योतिष्टोम याग के साथ सम्बन्ध है, क्योंकि वह उसके प्रकरण में पठित हैं, यदि उनको छोड़ कर अप्रकृत मन्त्रों का विनियोग मानें तो उपस्थान के प्रति जो साधन रूप से मन्त्रों का उपदेश किया है वह सर्वथा व्यर्थ होजाता है, क्योंकि उपस्थान फलवाला नहीं है और फल वाले ज्योतिष्टोम के साथ प्रकरण में पठित न होने के कारण अप्रकृत मन्त्रों का सर्वथा असम्बन्ध है।

तात्पर्य्य यह है कि ज्योतिष्टोम के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए मन्त्रों का यदि उपस्थान के साथ सम्बन्ध मानें तो उनका उपदेश सफल होसक्ता है, क्योंकि ज्योतिष्टोम फलवाला है और उसी के द्वारा मन्त्रों का उपस्थान के साथ सम्बन्ध होता है परन्तु प्रकृत आग्नेय आदि मन्त्रों का ज्योतिष्टोम के प्रकरण में पठित होने के कारण ज्योतिष्टोम के साथ सम्बन्ध है, अप्रकृत आग्नेय आदि मन्त्रों का नहीं, इसलिये प्रकृत मन्त्रों का परित्याग करके अप्रकृत मन्त्रों का विनियोग मानना ठीक नहीं। सार यह है कि "**आग्नेय्या आग्नीध्रमुपतिष्ठते**" आदि वाक्यों से जो "आग्नीध्र" आदि

मण्डपों के उपस्थान में आग्नेय आदि मन्त्रों का विनियोग विधान किया है वह प्रकृत आग्नेय आदि मन्त्रों का ही है अप्रकृत का नहीं ।

सं०—ननु, ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो "अग्नआ- याहि वीतये" इत्यादि आग्नेय, ऐन्द्र तथा वैष्णव मन्त्र पढ़े गये हैं उनका स्तोत्र शस्त्र आदि क्रिया में प्रथम विनियोग विधान किये जाने के कारण पुनः उपस्थानरूप विधान किये कर्मान्तर में विनि- योग मानना ठीक नहीं, क्योंकि विनियुक्त का विनियोग नहीं होसक्ता ? उत्तर :-

सर्वेषां चोपदिष्टत्वात् । २३ ।

पद०—सर्वेषां । च । उपदिष्टत्वात् ।

पदा०—(सर्वेषां) सब मन्त्रों का (उपदिष्टत्वात्) "वाचःस्तोम" याग में विनियोग उपदेश किया गया है (च) इसलिये विनियुक्त के विनियोग होने में कोई दोष नहीं ।

भाष्य—जितने मन्त्र हैं, उन सब का "वाचःस्तोम" याग में विनियोग विधान किया है, यदि एक कर्म में विनियुक्त का कर्मान्तर में विनियोग नहीं होसक्ता तो "वाचःस्तोम" याग के अतिरिक्त ज्योतिष्टोम आदि यागों में जो मन्त्रों के पुनः विनियोग का विधान उपलब्ध होता है वह नहीं होना चाहिये, परन्तु उसके उपलब्ध होने से यह स्पष्ट होजाता है कि एक कर्म में विनियुक्त मन्त्र का कर्मान्तर में विनियोग होसक्ता है, इसलिये स्तोत्र तथा शस्त्र आदि क्रिया में विनियुक्त होने पर भी "आग्नीध्र" आदि मण्डपों के उपस्थान में प्रकृत मन्त्रों का ही विनियोग मानना ठीक है अप्रकृत का नहीं ।

सं०-अब सोम भक्षण के प्रकाशक मन्त्रों का यथा लिङ्ग "ग्रहण" आदिकों में विनियोग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

लिङ्गसमाख्यानाभ्यांभक्षार्थता ऽनुवाकस्य । २४ ।

पद०-लिङ्गसमाख्यानाभ्यां । भक्षार्थता । अनुवाकस्य ।

पदा०—(अनुवाकस्य) "भक्षे हि" इत्यादि अनुवाक का (भक्षार्थता) भक्षण में ही विनियोग है, क्योंकि (लिङ्गसमाख्यानाभ्यां) लिङ्ग तथा समाख्या से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "अभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परत्य सदसि सोमंभक्षयन्ति" = सोम को कूट रस निकाल "आहवनीय" अग्नि में हवन करके शेष बचे सोम रस का मण्डप के पश्चिम द्वार से निकल कर "सदो" मण्डप में बैठ सब ऋत्विक् भक्षण करें, इस प्रकार शेष सोमरस के भक्षण का विधान करके "भक्षे हि" इत्यादि अनुवाक में भक्षण के प्रकाशक मन्त्रों का पाठ किया गया है । भक्षण में "ग्रहण" "अवेक्षण" "निगरण" तथा "सम्यग्जरण" यह चार व्यापार होते हैं अर्थात् प्रथम सोमरस भरे "चमस" पात्र का हाथ में ग्रहण करना, पुनः मक्षिकापातादि भ्रम निवृत्ति के लिये आंखों से उसको भले प्रकार देखना, फिर (भक्षण करना) पीना और पीकर पचाना, इन चार क्रियाओं को "भक्षण" कहते हैं । परन्तु "अभिषुत्य" इत्यादि भक्षण विधायक वाक्यों में जैसे भक्षण

का साक्षात् विधान किया है वैसे "ग्रहण" आदि का नहीं, इससे सन्देह हुआ कि "भक्षे हि" इत्यादि सम्पूर्ण अनुवाक का "भक्षण" मात्र में विनियोग है किंवा लिङ्ग के अनुसार अनुवाकान्तर्गत भक्षण वाक्य को छोड़कर अन्य वाक्यों का "ग्रहण" आदि में भी विनियोग है अर्थात् उक्त "अनुवाक" में जो मन्त्र रूप नाना वाक्य हैं वह सब भक्षण का ही अङ्ग हैं अथवा उनके मध्य कोई "ग्रहण" का, कोई "अवेक्षण" का, कोई "निगरण" का तथा कोई "सम्यग्जरण" का अङ्ग है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि विहित में ही मन्त्र के विनियोग का नियम है अविहित में नहीं, विधान किये गये का नाम "विहित" तथा विधान न किये गये का नाम "अविहित" है और "अभिषुत्य" इत्यादि वाक्यों से "भक्षण" का विधान किया गया है "ग्रहण" आदि का नहीं, दूसरे "भक्षे हि" से केवल भक्षण मात्र का ही प्रकाश होता है और उक्त "अनुवाक" की समाख्या = संज्ञा भी "भक्षानुवाक" है, भक्षणप्रकाशसामर्थ्य रूप लिङ्ग तथा उक्त समाख्या इन दोनों का बाध करके "ग्रहण" आदि में अनुवाकान्तर्गत मन्त्र वाक्यों के विनियोग की कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये उक्त लिङ्ग तथा उक्त समाख्या के बल से सम्पूर्ण अनुवाक का "भक्षण" मात्र में ही विनियोग है ग्रहण आदि में नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

तस्यरूपोपदेशाभ्यामपकर्षोऽर्थस्य चोदितत्वात् । २५ ।

पद०-तस्य । रूपोपदेशाभ्याम् । अपकर्षः । अर्थस्य । चोदितत्वात् ।

पदा०-(तस्य) भक्षानुवाक सम्बन्धी वाक्यों का (अपकर्षः) भक्षण वाक्य से विच्छेद करके "ग्रहण" आदि में विनियोग होना चाहिये, क्योंकि (रूपोपदेशाभ्यां) उनसे रूप "ग्रहण" आदि का प्रकाश तथा उपदेश "अभिषुत्य" वाक्य से "ग्रहण" आदि का विधान पाया जाता है और (अर्थस्य) ग्रहण आदि का (चोदितत्वात्) वह विधान "भक्षण" विधि से ही चोदित अर्थात् आर्थिक है ।

भाष्य-यद्यपि उक्त वाक्य से "ग्रहण" आदि का साक्षात् विधान नहीं किया गया तथापि उनका आर्थिक विधान पाया जाता है, क्योंकि ग्रहण आदि के विना भक्षण नहीं होसक्ता और जिसके बिना जो नहीं होसक्ता उसका विधान उसके विधान से ही समझा जाता है, पृथक् विधान की आवश्यकता नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि भक्षणविधि ही ग्रहण आदि की विधि है उनके लिये पृथक् विधि अपेक्षित नहीं, क्योंकि भक्षण के विधान से ही ग्रहण आदि का विधान पाया जाता है, इस प्रकार विधान के पाये जाने से "ग्रहण" आदिकों को अविहित नहीं कहसक्ते और विहित में मन्त्र का विनियोग सर्व सम्मत है और अनुवाकान्तर्गत वाक्यों से ग्रहण आदि का प्रकाश भी पाया जाता है और वह लिङ्गरूप होने से समाख्या की अपेक्षा प्रबल है इसलिये सम्पूर्ण अनुवाक का भक्षण मात्र में विनियोग होना ठीक नहीं किन्तु लिङ्ग के अनुसार ग्रहण, अवेक्षण, निगरण तथा सम्यग्जरण, इन चारों में विनियोग होना ठीक है ।

निष्कर्ष यह है कि यद्यपि सम्पूर्ण मन्त्रों की "भक्षानुवाक" रूप समाख्या एक है तथापि अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग अनेक हैं और उनकी अपेक्षा एकाकी होने के कारण समाख्या अति निर्बल है, वह लिङ्गों के होते विनियोजक नहीं होसक्ती और लिङ्ग सब समान हैं उनमें निर्बलता तथा प्रबलता की कल्पना नहीं कर सक्ते, इसलिये समाख्या के बल से सम्पूर्ण अनुवाक का भक्षण मात्र में विनियोग मानना ठीक नहीं किन्तु उक्त लिङ्गों के अनुसार अनुवाकान्तर्गत वाक्यों का विभागपूर्वक ग्रहण आदि में विनियोग मानना ठीक है ।

सं०-अब उक्तानुवाक के अन्तर्गत "तृप्ति" तथा "भक्षण" के प्रकाशक "मन्द्र" आदि मन्त्रों का "भक्षण" मात्र में विनियोग कथन करते हैं :-

गुणाभिधानान्मन्द्रादिरेकमन्त्रः स्यात्तयोरेकार्थसंयोगात् । २६ ।

पद०-गुणाभिधानात् । मन्द्रादिः । एकमन्त्रः । स्यात् । तयोः । एकार्थसंयोगात् ।

पदा०-(मन्द्रादिः) "मन्द्र" आदि (एकमन्त्रः) सम्पूर्ण मन्त्र (स्यात्) भक्षण का अङ्ग हैं तृप्ति, भक्षण दोनों का नहीं, क्योंकि (गुणाभिधानात्) तृप्ति का गुण रूप से कथन होने के कारण (तयोः) मन्त्रस्थ "तृप्ति" तथा "भक्षण" के प्रकाशक दोनों भागों का (एकार्थसंयोगात्) एक भक्षण रूप अर्थ में ही मुख्य सम्बन्ध है ।

भाष्य-"मन्द्र" आदि मन्त्र इस अधिकरण का विषय है

इसमें प्रथम भाग "तृप्ति" तथा द्वितीय भाग "भक्षण" का प्रकाशक होने से यह सन्देह है कि उक्त सम्पूर्ण मन्त्र भक्षण के किंवा अर्थप्रकाशनसामर्थ्य रूप लिङ्ग के अनुसार प्रथम भाग "तृप्ति" और द्वितीय भाग "भक्षण" का अङ्ग है? इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि मन्त्र के प्रथम भाग से "तृप्ति" तथा द्वितीय भाग से "भक्षण" का अभिधान=प्रकाश पाया जाता है तथापि वह अभिधान दोनों का प्रधान रूप से नहीं किन्तु "भक्षण" का प्रधान रूप से और "तृप्ति" का गौणरूप से है, क्योंकि भक्षण क्रिया का कार्य्य होने के कारण "तृप्ति" गुण तथा कारण होने के कारण भक्षण प्रधान है और वाक्य का प्रधान भूत अर्थ के साथ ही मुख्य सम्बन्ध होता है गौण अर्थ के साथ नहीं, यह नियम है, और जिसका जिसके साथ मुख्य सम्बन्ध नहीं है वह गौण रूप से अभिधान करता हुआ भी मुख्य रूप से उसका अभिधायक=प्रकाशक नहीं कहा जा सक्ता किन्तु प्रधान रूप से जिसका अभिधान करता है वह उसीका अभिधायक होसक्ता है।

दूसरे जहां इस प्रकार एकभाग गुणभूतअर्थ तथा द्वितीय भाग प्रधानभूत अर्थ का अभिधान करता है वहां गुणभूतअर्थ का अभिधायक भाग "शेष" तथा प्रधानभूतअर्थ का अभिधायक भाग "शेषी" होता है और जहां शेषी का विनियोग होता है शेष का भी उसी अर्थ में विनियोग होजाता है भिन्न अर्थ में नहीं, क्योंकि शेष में शेषी का अनुगामी=पीछे २ चलने वाला होना नियत है, तृप्ति को गुण होने से उसका प्रकाशक भाग "शेष" तथा भक्षण को प्रधान होने से उसका प्रकाशक भाग "शेषी" है और भक्षणप्रकाशनसामर्थ्य रूप लिङ्ग से शेषी भाग का भक्षण अर्थ में

विनियोग सिद्ध है, शेष भाग का भी उक्त अर्थ में ही विनियोग होना उचित है, क्योंकि अन्यार्थ में विनियोग मानने से उक्त नियम का भङ्ग तथा उसके अङ्ग होने से परस्पर शेषशेषिभावरूप सम्बन्ध का अभाव होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त मन्त्र का भक्षण में ही विनियोग है, अन्य किसी में नहीं।

सं०—अब उक्त भक्ष मन्त्र अर्थात् शेष सोमरस के भक्षण में विनियुक्त मन्त्र का सब शेष सोमों के भक्षण में विनियोग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

लिङ्गविशेषनिर्देशात्समानविधानेष्वनैन्द्राणाममन्त्रत्वम्। २७।

पद०—लिङ्गविशेषनिर्देशात्। समानविधानेषु। अनैन्द्राणाम्। अमन्त्रत्वम्।

पदा०—(समानविधानेषु) जिन शेष सोमरस युक्त ग्रहों के भक्षण का विधान समान है उनके मध्य (अनैन्द्राणां) इन्द्र=ऐश्वर्य्य गुण युक्त ईश्वर के उद्देश से जिनका प्रदान नहीं किया गया उनके भक्षण में (अमन्त्रत्वं) उक्त मन्त्र का विनियोग नहीं होता, क्योंकि (लिङ्गविशेषनिर्देशात्) उसमें इन्द्रपीतशेषत्व प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग विशेष का कथन पाया जाता है।

भाष्य—उक्त भक्ष मन्त्र इस अधिकरण का विषय है, उसका ऐन्द्र प्रदान के शेषभूत सोमरस के पान में ही विनियोग है किंवा अनैन्द्र प्रदान के शेषभूत सब सोमरसों के पान में विनियोग है? यह उक्त मन्त्र में सन्देह है अर्थात् ऐन्द्र तथा अनैन्द्र भेद से सोम प्रदान दो प्रकार का है, इन्द्र रूप परमात्मा के उद्देश से "शुक्र" आदि ग्रह द्वारा आहवनीय अग्नि में जो सोमरस का होम किया

जाता है उसका नाम "ऐन्द्रप्रदान" मित्रावरुण आदि रूप परमात्मा के उद्देश से "मैत्रावरुण" आदि ग्रह द्वारा जो सोमरस का उक्त अग्नि में हवन किया जाता है उसका नाम "अनैन्द्र प्रदान" है, ऐश्वर्य्य गुण की प्रधानता से "इन्द्र" "स्नेहनीय" तथा "वरणीय" आदि गुणों की प्रधानता से "मित्रावरुण" आदि परमपिता जगदधिपति ईश्वर के नाम हैं।

दोनों प्रदानों के मध्य ऐन्द्र प्रदान के शेषभूत सोमरस के भक्षण में ही उक्त मन्त्र का विनियोग है किंवा ऐन्द्र, अनैन्द्र प्रदान मात्र के शेषभूत सोमरसों के भक्षण में विनियोग है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त मंत्र "इन्द्रपीतस्य" इस प्रकार का पाठ है जिसका "इन्द्राय = ऐश्वर्य्य गुण विशिष्टाय ईश्वराय पीतः* = प्रदत्तो यः सोमरसः तस्य शेषं भक्ष-

---

* "पीत" शब्द का अर्थ आधुनिक टीकाकारों ने भी "प्रदत्तः" ही किया है, जैसा कि "अधिकरणमाला" में माधवाचार्य्य ने कहा है कि "**नवमाध्याये वक्ष्यमाण देवताधिकरण न्यायेनाशरीरस्येन्द्रस्य पाना सम्भवादत्र पीत शब्देन दानं विवक्ष्यते, तदानीं इन्द्रायदत्तः सोम इति मन्त्रार्थो भवति**" = नवमाध्याय के देवताधिकरण से सिद्ध है कि इन्द्र शरीरधारी देवता नहीं, इसलिये उसका सोम पान करना नहीं बन सकता, अतएव गौणीवृत्ति से यहां पीत शब्द का अर्थ दान करना चाहिये, जिससे उक्त मंत्र का ऐश्वर्य्यवान् ईश्वर के उद्देश से प्रदान किया गया जो सोम उसको "**इन्द्र पीत**" कहते हैं, यह अर्थ होता है और सूत्रकार भी स्वयं ४३वें सूत्र में "**पा**" धातु का अर्थ गौणीवृत्ति से यहां दान विवक्षित है, यह कथन करेंगे।

यामि"=इन्द्ररूप ईश्वर के उद्देश से जिस सोमरस का प्रदान किया है उसका शेष मैं भक्षण करता हूं, यह अर्थ होता है। और ऐसा अर्थ होने से उक्त मंत्र की ऐन्द्रशेष के भक्षण में ही सामर्थ्य पाई जाती है "मैत्रावरुण" आदि शेष के भक्षण में नहीं। और सामर्थ्य रूप लिङ्ग के अनुसार ही मंत्र का विनियोग होना ठीक है। इसलिये ऐन्द्रप्रदान के शेषभूत सोमरस के भक्षण में ही उक्त मन्त्र का विनियोग है ऐन्द्र, तथा अनैन्द्र प्रदान के शेषभूत सब सोमरसों के भक्षण में नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि इन्द्रपीतसोमरस के शेष का ही उक्त मन्त्रांश से प्रकाश होता है "मित्रावरुण" आदिपीतसोमरस के शेष का नहीं, क्योंकि उसके प्रकाश करने में वह सामर्थ्यहीन है, और जिसके प्रकाश करने में वह सामर्थ्यहीन है उसमें मंत्र के विनियोग की कल्पना नहीं होसकती, इसलिये सब ग्रहों के भक्षण का विधान समान होने पर भी इन्द्रपीतशेषत्वप्रकाशनसामर्थ्यरूप लिङ्ग के बल से ऐन्द्रशेष के भक्षण में ही उक्त मंत्र का विनियोग मानना ठीक है "मैत्रावरुण" आदि शेष के भक्षण में नहीं।

सार यह निकला कि ऐन्द्र शेष का भक्षण समन्त्रक अर्थात् उक्त मंत्र पूर्वक और अनैन्द्र शेष का भक्षण अमन्त्रक है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधानरूप दूसरा पूर्वपक्ष करते हैं:-

यथादेवतं वा तत्प्रकृतित्वं हि दर्शयति।२८।

पद०-यथादेवतं। वा। तत्प्रकृतित्वं। हि। दर्शयति।

पदा०-(वा) अथवा (यथादेवतं) जिस २ गुणरूप देवता की

प्रधानता मानकर ईश्वर के उद्देश से ग्रहों द्वारा सोम का प्रदान=
हवन किया जाता है उस २ देवता के अनुसार "ऊहः" द्वारा अनैन्द्र
ग्रहों के भक्षण में भी उक्त मंत्र का विनियोग होना चाहिये (हि)
क्योंकि (तत्प्रकृतित्वं) ऐन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों का परस्पर प्रकृति-
विकृतिभाव (दर्शयति) शास्त्र से पाया जाता है।

भाष्य–जो सब अङ्गों = धर्मों के सहित शास्त्र से प्राप्त है उस
का नाम "**प्रकृति**" इससे विपरीत का नाम "**विकृति**" तथा
विरुद्ध कल्पना का नाम "**ऊहः**" अर्थात् प्रकृति में विनियुक्त
मन्त्र का "**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**" इस चोदक वाक्य
के बल से विकृति में अतिदेश = प्राप्ति होने पर मन्त्रस्थ प्रकृति
सम्बन्धी देवता वाची पद के स्थान में विकृति सम्बन्धी देवता
वाची पद की कल्पना का नाम "**ऊहः**" है, इसका विशेष रूप से
"**नवमाध्याय**" में विस्तार पूर्वक निरूपण किया जायगा,
यद्यपि उक्त प्रकृतिविकृतिभाव भिन्न कर्मों में ही नियम से होता है
एक कर्म में नहीं, और ज्योतिष्टोम याग एक कर्म है उसमें ऐन्द्र
तथा अनैन्द्र प्रदानों का परस्पर प्रकृतिविकृतिभाव नहीं होसक्ता
तथापि तृतीयसवन में ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी "षोड़शी" पात्र-
स्थ शेष के भक्षण समय भक्षमन्त्र में "गायत्रच्छन्दसः" के स्थान
में "जगतीच्छन्दसः" के प्राप्त होने पर जो "**अनुष्टुप्छन्दसः
इति षोड़शिनि भक्षमन्त्रं नमति**" = षोड़शी शेष के भक्ष मन्त्र
में "गायत्रच्छन्दसः" के स्थान में "**अनुष्टुप्छन्दसः**" ऐसी
"ऊहः" करे, इस प्रकार जगतीच्छन्द का प्रतिषेध करके उसके स्थान
में अनुष्टुप्छन्द की "ऊहः" कथन की है, इससे पाया जाता है कि

एक याग में भी प्रदानों का भेद होने से उनका परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव होसक्ता है, उक्त प्रदानों के मध्य अनैन्द्र अर्थात् "मैत्रा-वरुण" आदि प्रदान "विकृति" और ऐन्द्रप्रदान उनकी "प्रकृति" है, क्योंकि "ऐन्द्रः सोमो गृह्यते मीयते च" इस वाक्य से ऐन्द्र याग में सोम का होना तथा अनैन्द्र में न होना स्पष्टरूप से कथन किया है और जहां सोम धर्मी विद्यमान है वहां उसके सम्पूर्ण धर्मों का होना युक्त है। इस प्रकार ऐन्द्र याग में सम्पूर्ण धर्मों सहित सोम की प्राप्ति होने से ऐन्द्रप्रदान प्रकृति तथा अनैन्द्रप्रदान उसकी विकृति सिद्ध होती है, और इसके सिद्ध होने से प्रकृति के सम्पूर्ण धर्मों का विकृति में उक्त चोदक वाक्य द्वारा अतिदेश हो-सक्ता है और अतिदेश के होने से ऐन्द्र शेष के भक्षण में विनियुक्त मन्त्र का अनैन्द्र शेष के भक्षण में अवश्य विनियोग होना चाहिये, परन्तु ऐन्द्र शेष के भक्षण का प्रकाशक होने से अनैन्द्रशेष के भक्षण में उक्त मन्त्र का साक्षात् विनियोग नहीं होसक्ता, क्योंकि इस अवस्था में वह अनैन्द्र शेष का भक्षण प्रकाश नहीं कर सक्ता, इसलिये प्रकृतिसम्बन्धी देवता वाची इन्द्र पद के स्थान में "मित्रा वरुण" आदि पदों की "ऊहः" करके विनियोग करना उचित है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त "ऊहः" के करने से ऐन्द्र शेष के भक्षण की भांति मैत्रावरुण आदि शेष के भक्षण का भी उक्त मन्त्र प्रकाश कर सक्ता है, क्योंकि उक्त "ऊहः" के होने से अब उसका स्वरूप "इन्द्रपीतस्य" के स्थान में "मित्रावरुण आदिपीतस्य" होगया है जिसका स्नेहनीय = प्रीति के योग्य, वरणीय = प्रार्थना तथा सत्कार के योग्य, आदि गुणविशिष्ट ईश्वर के उद्देश से जिस "मैत्रावरुण" आदि पात्रस्थ सोमरस का प्रदान किया है,

उसका शेष मैं भक्षण करता हूं, यह अर्थ होता है । और ऐसा अर्थ होने से उक्त मन्त्र में "मैत्रावरुण" आदि शेषभक्षण के प्रकाशन की सामर्थ्य स्पष्ट रूप से पाई जाती है और जिस मन्त्र में जिस अर्थ के प्रकाशन की सामर्थ्य है उसका उस अर्थ में विनियोग मानना अनुचित नहीं, इसलिये उक्त मन्त्र का जैसे ऐन्द्र शेष के भक्षण में विनियोग है वैसेही अनैन्द्र शेष के भक्षण में भी विनियोग होना चाहिये । सार यह निकला कि जैसे ऐन्द्रशेष का भक्षण समन्त्रक है वैसे ही "ऊहः" करने से अनैन्द्रशेष का भक्षण भी समन्त्रक है अमन्त्रक नहीं ।

सं०-अब पुनरभ्युन्नीतसोमशेष के भक्षण में उक्त भक्ष मन्त्र के विनियोगार्थ इन्द्र सहित मित्रावरुण आदि की "ऊहः" का निरूपण करते हैं :-

पुनरभ्युन्नीतेषु सर्वेषामुपलक्षणं द्विशेषत्वात् । २९ ।

पद०-पुनरभ्युन्नीतेषु । सर्वेषाम् । उपलक्षणं । द्विशेषत्वात् ।

पदा०-(पुनरभ्युन्नीतेषु) दोबारा डाला गया है सोमरस जिन ग्रहों में उनके भक्षण काल में (सर्वेषां) इन्द्र तथा मित्रावरुण आदि सबकी (उपलक्षणं) "ऊहः" करनी चाहिये, क्योंकि (द्विशेषत्वात्) वह भक्षणीय सोम सबका शेष है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रातः सवन, मध्यंदिन सवन तथा सायं सवन, इन तीन सवनों के मध्य "**प्रातःसवन**" में दश "चमस" होते हैं, ग्रह अर्थात् पात्रविशेष में स्थित सोमरस का नाम "**चमस**" है अथवा यों कहिये कि प्रातः सवन में दश ग्रह

होते हैं, उनके मध्य ब्रह्मादि ऋत्विजों के चार और मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी, पोता, नेष्टा तथा आग्नीध्र आदि ऋत्विक् विशेषों के छः ग्रह हैं,। ब्रह्मादि ऋत्विजों को "मध्यतःकारी" तथा मैत्रावरुणादि ऋत्विजों को "होत्रक" कहते हैं, "होता" के "वषट्" शब्द उच्चारण करने पर प्रथम इन्द्ररूप ईश्वर के उद्देश से हवन करके पुनः शेष बचे सोमरस सहित उक्त ग्रहों में "द्रोण" नामक कलश से सोमरस डालकर होता के "अनुवषट्" शब्द उच्चारण करने पर "होत्रक" संज्ञक ऋत्विक् पश्चात् "मित्रावरुण" आदि रूप ईश्वर के उद्देश से हवन करते हैं अर्थात् "मैत्रावरुण" ऋत्विक "मित्रं वयं हवामहे" ऋ० । १ । २ । ८ । ४ इस मन्त्र का उच्चारण करके "मित्रावरुण" रूप ईश्वर के उद्देश से "ब्राह्मणाच्छंसी" "इन्द्रत्वा वृषभं वयं" ऋ० ३ । ३ । १ । १ इस मन्त्र का उच्चारण करके "इन्द्र" रूप ईश्वर के उद्देश से "पोता" "मरुतो यस्य हि क्षये" ऋ० । १ । ६ । ११ । १ इस मन्त्र का उच्चारण करके "मरुत" रूप ईश्वर के उद्देश से, नेष्टा "अग्ने पत्नीःइहावह" ऋ० । १ । ६ । ११ । १ इस मन्त्र का उच्चारण करके सर्वप्रजारक्षणकरी शक्ति सहित "त्वष्टा" रूप ईश्वर के उद्देश से और आग्नीध्र "उक्षां नाय-वशांनाय" ऋ० । ६ । ३ । ३१ । ११ इस मन्त्र का उच्चारण करके अग्निरूप ईश्वर के उद्देश से हवन करता है, इस प्रकार हवन करने से जो सोमरस पात्रों में शेष = बाकी रहजाता है उसका सब ऋत्विक् भक्षण करते हैं, यही भक्षण इस अधिकरण का विषय है, इसमें विनियोग के लिये "इन्द्रपीतस्य" मन्त्र की "मित्रा-

वरुणपीतस्य" इस प्रकार केवल मित्रावरुण की "ऊहः" करना किंवा "इन्द्रमित्रावरुणपीतस्य" इस प्रकार मित्रावरुण के साथ इन्द्र की भी "ऊहः" करनी ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन आगे के सूत्र में स्पष्ट करेंगे, सिद्धान्ती का कथन यह है कि होता के "वषट्" शब्द उच्चारण करने पर इन्द्र के उद्देश से हवन करके शेष रहे सोमरस में ही "द्रोण" कलश से अन्य सोमरस मिलाकर पीछे 'होता' के "अनुवषट्" शब्द करने पर "मित्रावरुण" आदि के उद्देश से हवन किया गया है ऐन्द्रशेष को जुदा निकालकर दूसरे सोमरस से नहीं, और दोनों को मिलाकर हवन करने से शेष रहे सोमरस के साथ जैसे मित्रा वरुण आदि का सम्बन्ध है वैसेही इन्द्र का भी सम्बन्ध है, इस लिये उक्त शेष के भक्षण में विनियुक्त "इन्द्रपीतस्य" मन्त्र के विनियोगार्थ "इन्द्रमित्रावरुण पीतस्य" इस प्रकार मित्रावरुण के साथ इन्द्र की भी "ऊहः" करनी चाहिये केवल मित्रावरुण की नहीं ।

सं-अब उक्तार्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

अपनयाद्वा पूर्वस्याऽनुपलक्षणम् । ३० ।

पद०-अपनयात् । वा । पूर्वस्य । अनुपलक्षणम् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (पूर्वस्य) प्रथम जिसके उद्देश से हवन किया गया है उसकी अर्थात् इन्द्र की (अनुपलक्षणं) भक्षमन्त्र में "ऊहः" नहीं होसक्ती, क्योंकि (अपनयात्) भक्षणीय शेष के साथ उसके सम्बन्ध का विच्छेद होगया है ।

भाष्य–इन्द्र के उद्देश से जिस सोम का हवन किया गया है उसके शेष के साथ इन्द्र का सम्बन्ध विद्यमान रहने पर भी उक्त शेष में सोमान्तर मिलाकर जो "मित्रावरुण" आदि के उद्देश से हवन किया गया है उसके शेष के साथ उसका सम्बन्ध नहीं रह सक्ता, क्योंकि शेषसहित पुनरुन्नीत=दुबारा मिलाये गये सोम का "मित्रावरुण" आदि के उद्देश से ग्रहण हुआ है इन्द्र के उद्देश से नहीं और जिसके उद्देश से जिसका ग्रहण नहीं हुआ उसका उसके शेष के साथ सम्बन्ध होना असंभव है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे और अन्न मिलाकर आचार्य्य के शेष का भक्षण करता हुआ देवदत्त यदि अपना शेष विष्णुमित्र को देदे तो वह शेष कि जिसका विष्णुमित्र भक्षण कर रहा है देवदत्त का कहा जासक्ता है, आचार्य्य का नहीं, क्योंकि मध्य में देवदत्त का सम्बन्ध होजाने से आचार्य्य के सम्बन्ध का विच्छेद होगया है वैसेही इन्द्रशेष सहित जिस पुनरुन्नीत सोम का मित्रावरुण आदि के उद्देश से हवन किया गया है उसका शेष मित्रावरुण आदि का शेष कहा जासक्ता है, इन्द्र का नहीं, क्योंकि मध्य में मित्रावरुण आदि का सम्बन्ध होजाने से इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद होगया है और जिस शेष के साथ इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद होगया है उसके भक्ष मन्त्र में इन्द्र की "ऊहः" आवश्यक नहीं है, इसलिये उक्त भक्ष मन्त्र में "मित्रावरुणपीतस्य" इस प्रकार मित्रावरुण की ही "ऊहः" करनी उचित है "इन्द्रमित्रावरुण-पीतस्य" इस प्रकार मित्रावरुण के साथ इन्द्र की नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:–

ग्रहणाद्वाऽनपनयः स्यात्। ३१।

पद०-ग्रहणात् । वा । अनपनयः । स्यात् ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (अनपनयः) इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद नहीं (स्यात्) होसक्ता, क्योंकि (ग्रहणात्) इन्द्रशेष में पुनरुन्नीत सोम का ही "मित्रा-वरुण" आदि के उद्देश से ग्रहण पाया जाता है ।

भाष्य-"पूर्वशेषे द्रोणकलशात् मित्रावरुणाद्यर्थं गृह्णाति"=पूर्व शेष में "द्रोण" नामक कलश से मित्रावरुण आदि के लिये सोमरस का ग्रहण करे, इस प्रकार जो इन्द्रशेष में "मित्रावरुण" आदि के लिये सोम का पुनरुन्नयन विधान किया है इससे इन्द्रशेष तथा द्रोण" कलश से पुनरुन्नीत सोम इन दोनों का परस्परसम्बंधरूप केवल संस्कारविशेष पाया जाता है, देवदत्तार्थ आचार्य्य शेष की भांति इन्द्रशेष का मित्रावरुण आदि के लिये होना नहीं पायाजाता और उसके न पाये जाने से इन्द्रशेष सहित पुनरुन्नीत सोम का मित्रावरुण आदि रूप ईश्वर के उद्देश से हवन करने पर जो शेष रहगया है उसके साथ इन्द्र तथा मित्रावरुण आदि दोनों का सम्बन्ध है, क्योंकि पुनरुन्नीत सोम का ही मित्रावरुण आदि के उद्देश से ग्रहण हुआ है इन्द्रशेष का नहीं, इसलिये इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद न होने से उक्त शेष के भक्षण समय भक्षमन्त्र में" इन्द्र-मित्रावरुणपीतस्य" इस प्रकार मित्रावरुण आदि के साथ इन्द्र की भी "ऊहः" करनी चाहिये केवल मित्रावरुण आदि की ही नहीं ।

सं०-अब "पात्नीवत" पात्रस्थ होमशेष के भक्षमन्त्र में "पत्नीवान् अग्नि" रूप ईश्वर देवता के साथ इन्द्र, वायु आदि की "अनूहः" कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

पात्नीवते तु पूर्ववत् । ३२ ।

पद०—पात्नीवते । तु । पूर्ववत् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (पात्नीवते) "पात्नीवत" नामक ग्रह में स्थित होमशेष के भक्षण समय भक्षमन्त्र में (पूर्ववत्) पूर्व की भांति "पत्नीवान् अग्नि" रूप ईश्वर देवता के साथ इन्द्र, वायु आदि की भी "ऊहः" होनी चाहिये।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के "**प्रातःसवन**" में "ऐन्द्रवायव" "मैत्रावरुण" "आश्विन" इन तीनों ग्रहों द्वारा इन्द्र, वायु आदि रूप ईश्वर के उद्देश से हवन होकर शेष सोम "**आदित्य**" नाम की स्थाली में डाला जाता है और "आदित्य" स्थाली से पुनः "**सायंसवन**" में "**आग्रयण**" नाम की स्थाली में डाला जाता है और उक्त स्थाली से पुनः "**उपांशुपात्रेण पात्नीवतमाग्रयणाद् गृह्णाति**" "आग्रयण" नामक स्थाली से "उपांशु" पात्र द्वारा "पात्नीवत" नामक पात्र में "पत्नीवान् अग्निः"=(सर्व प्रजारक्षणकरी शक्ति युक्त प्रकाशस्वरूपपरमात्मा रूप देवता) के लिये सोम का ग्रहण करे, इस वाक्य के अनुसार "**पात्नीवत**" नामक पात्र में ग्रहण किया जाता है, उक्त पात्र में आग्रयण स्थाली से ग्रहण किये सोम का "पत्नीवान्" देवता के उद्देश से हवन करने के अनन्तर जो शेष रह जाता है वही इस अधिकरण का विषय है, उसके भक्षण समय उक्त भक्षमन्त्र में "**इन्द्रवायु पत्नीवत्पीतस्य**" इस प्रकार "पत्नीवान्" के साथ इन्द्र वायु आदि की "ऊहः" होनी चाहिये किंवा "**पत्नीवत्पीतस्य**"

इस प्रकार केवल "पत्नीवान्" की ही "ऊहः" होनी चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे इन्द्रशेष में सोमान्तर मिलाकर "मित्रावरुण" आदि के उद्देश से हवन करने पर जो शेष रहजाता है उसमें इन्द्र का सम्बन्ध विद्यमान रहता है अर्थात् उसके सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता वैसेही इन्द्र वायु आदि के शेष में सोमान्तर मिलाकर "पत्नीवान्" के उद्देश से हवन करने पर भी जो शेष बच जाता है उसमें इन्द्र वायु आदि के सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त शेष के भक्षण समय भक्षमन्त्र में "**इन्द्रवायुपत्नीपीतस्य**" इस प्रकार "पत्नीवान्" के साथ इन्द्र वायु आदि की भी "ऊहः" होनी चाहिये ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

ग्रहणाद्वाऽपनीतः स्यात् । ३३ ।

पद०–ग्रहणात् । वा । अपनीतः । स्यात् ।

पदा०–"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरण का सूचन करता है (अपनीतः) "पात्नीवत" पात्र के शेष में इन्द्र वायु आदि के सम्बन्ध का विच्छेद (स्यात्) होजाता है, क्योंकि (ग्रहणात्) उस में "आग्रयण" स्थाली से सम्बन्ध रहित हुए सोम का ग्रहण हुआ है ।

भाष्य–जिस देवता के उद्देश से जिस पात्र द्वारा प्रथम हवन किया गया है उसी पात्र में शेष रहे सोम के साथ सोमान्तर मिला कर दूसरे देवता के उद्देश से हवन करने पर जो शेष रहजाता है उसके साथ प्रथम देवता का सम्बन्ध बना रहता है अर्थात् उसके सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होता और जहां पात्र का भेद होजाता है

वहां प्रथम देवता के सम्बन्ध का विच्छेद होजाता है, इन्द्रशेष में सोमान्तर मिलाकर " मित्रावरुण " आदि के उद्देश से हवन करने में पात्रभेद नहीं हुआ इसलिये उसके साथ इन्द्र के सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होसक्ता परन्तु यहां "आग्रयण" स्थाली से "पात्नीवत" पात्र में सोम का ग्रहण करने के कारण पात्र का भेद होगया है और पात्र का भेद होजाने के कारण हवन करने पर जो "पात्नीवत" पात्र में शेष सोम बच गया है उसके साथ इन्द्र वायु आदि का सम्बन्ध नहीं रह सक्ता और सम्बन्ध के न रहने से उसके भक्षण समय भक्षमन्त्र में " इन्द्रवायुपत्नीवत्पीतस्य " इस प्रकार पत्नीवान् के साथ इन्द्र वायु आदि की " ऊहः " की कल्पना करना ठीक नहीं,इसलिये उक्त मन्त्र में केवल"पत्नीवत्पीतस्य" इस प्रकार पत्नीवान् की ही "ऊहः" होनी उचित है इन्द्र वायु आदि के सहित पत्नीवान् की नहीं ।

सं०-अब "पात्नीवत" शेष के भक्षमन्त्र में "त्वष्टा" रूप ईश्वर की "अनूहः" कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

त्वष्टारंतूपलक्षयेत्पानात् । ३४ ।

पद०-त्वष्टारं । तु । उपलक्षयेत् । पानात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष के लिये आया है (त्वष्टारं) सम्पूर्ण जगत् के कर्ता त्वष्टा नामक परमात्मा की (उपलक्षयेत्) "पात्नीवत" शेष के भक्षणमन्त्र में ऊहः होनी चाहिये, क्योंकि (पानात्)* त्वष्टा के सहित पत्नीवान् का सोम स्वीकार करना सुना जाता है ।

---

* निराकार ईश्वर में पान शब्द के मुख्यार्थ का असम्भव होने से सब टीकाकारों ने गौणीवृत्ति द्वारा " स्वीकार करना " ही उक्त शब्द का अर्थ किया है ।

भाष्य—"पात्नीवत" शेष के भक्षमन्त्र में पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की ऊहः होनी किंवा न होनी चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "अग्ने*पत्नीरिहावह देवानामुशतीरुप-त्वष्टारं सोमपीतये स्वाहा"=हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् प्रजा रक्षण तथा विद्वानों की कामनापूर्णकरी शक्ति से युक्त हुए आप (उपत्वष्टारं) जगत्कर्तृत्वविशिष्टस्वरूप त्वष्टा सहित सोम के स्वीकारार्थ उपस्थित होवें अर्थात् सोम का स्वीकार करें, यह मैं आपके उद्देश से अग्नि में हवन करता हूं। इस हवन मन्त्र में त्वष्टा के सहित पत्नीवान् का सोम स्वीकार करना कथन किया है इससे सिद्ध होता है कि पत्नीवान् की भांति त्वष्टा का भी "पत्नीवान्" ग्रह में स्थित हवनीय सोम के साथ सम्बन्ध है और उसके साथ सम्बन्ध होने से शेष के साथ सम्बन्ध होना भी आवश्यक है, इसलिये उक्त शेष के भक्षण समय भक्षमंत्र में पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की भी "ऊहः" होनी चाहिये।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अतुल्यत्वात्तु नैवं स्यात्। ३५।

पद०—अतुल्यत्वात्। तु। न। एवं। स्यात्।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (एवं) पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की "ऊहः" (न) नहीं (स्यात्) होसक्ती, क्योंकि सोम के स्वीकार में दोनों का सम्बन्ध समान नहीं पाया जाता।

---

* भाष्यकार "शबर" स्वामी ने तो उक्त मन्त्र के स्थान में "अग्ने पत्नीवन् सजूर्देवेन त्वष्ट्रा सोमं पिब स्वाहा" यजु०। ८।१० यह मन्त्र लिखा है अर्थ दोनों का एक है।

भाष्य–हवन मन्त्र में जो पत्नीवान् के साथ त्वष्टा का साहित्य कथन किया है, उसका सह अवस्थान मात्र में तात्पर्य्य है सोम के स्वीकार में नहीं, क्योंकि उक्त मन्त्र से केवल पत्नीवान् अग्नि रूप ईश्वर से ही "अग्ने" इस प्रकार सम्बोधन करके सोम के स्वीकार की प्रार्थना पाई जाती है, यदि त्वष्टा का भी स्वीकार में साहित्य विवक्षित होता तो पत्नीवान् की भांति त्वष्टा से भी उक्त प्रकार का सम्बोधन करके सोम स्वीकार करने की प्रार्थना की जाती उसके न करने से स्पष्ट होता है कि "पात्नीवत" पात्रस्थ सोम के साथ केवल पत्नीवान् का ही सम्बन्ध है त्वष्टा का नहीं, इसलिये तत्सम्बन्धी शेष के भक्षण समय उक्त भक्ष मन्त्र में पत्नीवान् के साथ त्वष्टा की "ऊहः" होनी ठीक नहीं।

सं०–अब "पात्नीवत" शेष के भक्षमन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ तेतीस देवताओं की "अनूहः" कथन करते हैं:–

त्रिंशच्चपरार्थत्वात्। ३६।

पद०–त्रिंशत्। च। परार्थत्वात्।

पदा०–(च) और (त्रिंशत्) पात्नीवत शेष के भक्षमन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ पत्नीवान् नाम के तेतीस देवताओं की "ऊहः" नहीं होसक्ती, क्योंकि (परार्थत्वात्) वह गौण हैं।

भाष्य–जिस सर्व प्रजारक्षणकरी प्रकाशरूप शक्ति की प्रधानता से परमात्मा का नाम "पत्नीवान् अग्नि" है, उस प्रधान शक्ति की अवान्तर शक्तियें तेतीस हैं, उनके कारण भी परमात्मा का नाम पत्नीवान् है। "पात्नीवत" शेष के भक्षमन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ अवान्तर शक्ति रूप पत्नीवान् नामक तेतीस देवताओं की "ऊहः" होनी चाहिये किंवा न होनी चाहिये? यह

सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि प्रधान के ग्रहण से अप्रधान का ग्रहण स्वयं होजाता है उनके ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं, पत्नीवान् अग्नि प्रधान देवता और उक्त तेतीस अप्रधान अर्थात् गौण देवता हैं, इसलिये उक्त भक्षमन्त्र में उनकी "ऊहः" नहीं होसक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि पत्नीवान् अग्नि के सोम स्वीकार करने से उक्त तेतीस का स्वीकार करना राजा के स्वीकार से भृत्य के स्वीकार की भांति अर्थ सिद्ध है और उसके अर्थ सिद्ध होने से उक्त स्वीकृत शेष के भक्ष मन्त्र में उनकी ऊहः की भी कोई आवश्यकता नहीं। इसलिये उक्त भक्षमन्त्र में पत्नीवान् अग्नि देवता के साथ उनकी "ऊहः" नहीं होसक्ती।

सं०-अब "अनुवषट्कार" के देवता अग्नि की "अनूहः" कथन करते हैं:-

वषट्कारश्च कर्तृवत्। ३७।

पद०-वषट्कारः। च। कर्तृवत्।

पदा०-(च) और (कर्तृवत्) जैसे होता, अध्वर्यु आदि की भक्षमन्त्र में "ऊहः" नहीं होती वैसे ही (वषट्कारः) अनुवषट्कार के देवता अग्नि की भी "ऊहः" नहीं होसक्ती।

भाष्य-जैसे ऐन्द्र याग रूप प्रकृति में गृहीत न होने के कारण होता आदि ऋत्विजों की भक्षमन्त्र में "उहः" नहीं होती वैसेही अनुवषट्कार के देवता अग्नि की भी उहः नहीं होसक्ती, क्योंकि ऐन्द्र प्रदान रूप प्रकृति याग में उक्त देवता का ग्रहण नहीं किया गया, जिस मन्त्र को पढ़कर अन्त में "अनुवषट्" शब्द का उच्चारण किया जाता है उस मन्त्र में सम्बोधन विभक्ति से ग्रहण किये परमात्मा

का नाम "अनुवषट्कार देवता" है, जैसे इन्द्र आदि के उद्देश से हवन किया जाता है वैसे इसके उद्देश से हवन नहीं किया जाता यह केवल मन्त्रप्रतिपादित होने से मान्त्रिक देवता कथन किया जाता है।

यद्यपि यह कई बार कथन कर आए हैं कि वैदिक सिद्धान्त में परमात्मा की शक्तियों को ही देवता माना है तथापि उसके स्मरणार्थ यहां पुनः सूचन किया जाता है कि "देव" नाम परमात्मा का है उसकी जो शक्ति हो उसको देवता कहते हैं, वह शक्तियें अनन्त हैं अतएव देवता भी अनन्त हैं, जहां कहीं दो शक्तियों को मिलाकर परमात्मा का वर्णन किया गया अथवा उसके उद्देश से प्रदान किया गया है वहां दो देवता का व्यवहार होता है और जहां प्रधान शक्ति तथा उसकी सहकारिणी शक्ति को मिलाकर परमात्मा का निरूपण अथवा उसके उद्देश से कुछ प्रदान किया जाता है वहां "पत्नीवान्" शब्द से व्यपदेश होता है।

तात्पर्य्य यह है कि वेद का उपदेश हूबहू माता पिता के उपदेश के समान है, जैसे माता पिता अपने बच्चों को उपदेश करने के समय उन्हीं शब्दों का उच्चारण करते हैं कि जिनका अर्थ बच्चों के देखने अथवा सुनने में आचुका है किंवा उस अर्थ के समान है अर्थात् देखे सुने पदार्थों के उदाहरण द्वारा वह उनकी बुद्धि में भले प्रकार आरूढ़ होसक्ता है, और जो अर्थ वह कदापि समझ नहीं सक्ते उसका उपदेश माता पिता नहीं करते वैसे ही वेद का उपदेश भी जानना चाहिये। हम लोग प्रतिदिन देखते तथा श्रवण करते हैं कि प्रकाश शक्ति सब शक्तियों से मुख्य है, जो २ पदार्थ प्रकाशमय हैं वह अन्य पदार्थों की अपेक्षा बली तथा ज्यायान् हैं, क्योंकि उसीसे हम सब जीवों का जीवन तथा सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान का लाभ होता

है यदि प्रकाश न होता तो हम अज्ञानी होजाते किंवा सब अन्धकार में पड़े मर जाते, वेद भी हम लोगों के देखे तथा सुने के अनुसार प्रकाश शक्ति को मुख्य मानकर अग्नि नाम से परमात्मा का उपदेश करता है, और हम यह भी प्रतिदिन देखते तथा सुनते हैं कि जैसे पति तथा पत्नी यह दोनों सन्तानोत्पत्ति के लिये परस्पर सहकारी हैं, पति के न होने से पत्नी और पत्नी के न होने से पति एकाकी सन्तान उत्पन्न नहीं कर सक्ता वैसेही प्रधान शक्तियें भी सहकारी शक्तियों के बिना कोई कार्य्य नहीं करसक्तीं किन्तु दोनों मिलकर ही कर सक्ती। हैं इसी अनुसन्धान से वेद भी उनका "पत्नीवान्" नाम से उपदेश करता है, क्योंकि पत्नीवान् शब्द के श्रवण करने से हम सब शीघ्र ही समझ जाते हैं कि यह दो सहकारी पदार्थों का उपदेश है, यहां उदाहरण रूप से परमात्मा के अग्नि आदि नामों की प्रवृत्ति का दिक्प्रदर्शन किया गया है बुद्धिमान-आर्य्य महाशय इतने ही से परमात्मा के सम्पूर्ण नामों की प्रवृत्ति का कारण जान लेंगे और विस्तार अभिलाषियों के लिये "**वेदप्रसाद***" की भूमिका में इसका विशेषरूप से निरूपण किया गया है और वर्तमान पूर्वमीमांसाभाष्य के कर्ता "**शवर**" स्वामी ने भी देवता शब्द का उक्त अर्थ ही बड़े समारोह के साथ "नवमाध्याय" के भाष्य में प्रतिपादन तथा देहधारी जीव विशेष के देवता होने का निराकरण किया है, उसका निरूपण उसी अध्याय के भाष्य में किया जायगा।

---

*यह ऋग्वेद आदि चारों वेदों के मूल मन्त्रों का यथाक्रम सरल तथा रम्य-आर्य्यभाषा में संक्षिप्त अनुवाद है, मन्त्र के आशय तथा पदार्थ पर बहुत दृष्टि दी गई है, इसके रचयिता श्रीमन्निखिलशास्त्रनिष्णात पण्डित **स्वामी हरिप्रसाद** जी महाराज हैं।

सं०-अब प्रथम पूर्वपक्षी "जिसका पूर्वपक्ष सूत्र २७ में हुआ है" उक्त दूसरे पूर्वपक्ष का खण्डन करता है :-

छन्दःप्रतिषेधस्तु सर्वगामित्वात् । ३८ ।

पद०-छन्दःप्रतिषेधः । तु । सर्वगामित्वात् ।

पदा०-"तु" शब्द दूसरे पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (छन्दःप्रतिषेधः) जगतीछन्द के प्रतिषेध पूर्वक अनुष्टुप्छन्द की "ऊहः" का विधान ऐन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों के परस्पर प्रकृति-विकृतिभाव में लिङ्ग नहीं होसक्ता, क्योंकि (सर्वगामित्वात्) ज्योतिष्टोम याग एक होने से सोम तथा सोम के धर्मों का सम्बन्ध सब प्रदानों में समान है ।

भाष्य-"सोमेनयजेत" यह ज्योतिष्टोम याग का विधायक वाक्य है इस वाक्य से "सोम" कर्म का अङ्ग प्रतीत होता है किसी प्रदान विशेष का नहीं, यदि किसी प्रदान विशेष का अङ्ग होता तो ऐन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों के परस्पर प्रकृतिविकृतिभाव की कल्पना होसक्ती, और कर्म का अङ्ग होने से सम्पूर्ण प्रदानों में उसका समान भाव से सम्बन्ध स्पष्ट है और सम्बन्ध के समान होने से उक्त प्रदानों में प्रकृतिविकृतिभाव की कल्पना नहीं होसक्ती, क्योंकि जहां २ सोम है वहां सर्वत्र उसके सम्पूर्ण धर्म भी विद्यमान हैं और प्रति सोम धर्मों के विद्यमान होने से एक प्रदान को प्रकृति तथा दूसरे को विकृति नहीं कह सक्ते, और जो "अनुष्टुप्छन्दस इति षोडशिनि भक्षमन्त्रं नमति" इस वाक्य से "गायत्रछन्द" के स्थान में प्राप्त जगतीच्छन्द का प्रतिषेध करके अनुष्टुप्छन्द को उक्त प्रदानों के प्रकृतिविकृति-

भाव का साधक लिङ्ग कथन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि वह विधान वाचनिक है, वचनसिद्ध को "वाचनिक" कहते हैं और वाचनिक होने के कारण वह केवल तृतीय सवन सम्बन्धी षोडशीशेष के भक्षमन्त्र में ही होसक्ता है सर्वत्र नहीं, और जो "ऐन्द्रःसोमो गृह्यते मीयते च" इस वाक्य से ऐन्द्र प्रदान में ही सोम तथा सोम के धर्मों का होना कथन किया है सो भी ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य से अनैन्द्र प्रदानों में सोम तथा सोम के धर्मों का न होना नहीं पाया जाता, और उसके न पाये जाने से ऐन्द्र तथा अनैन्द्र प्रदानों के परस्पर प्रकृतिविकृतिभाव की कल्पना नहीं होसक्ती और उसके न होने के कारण ऐन्द्र प्रदान से अनैन्द्र प्रदानों में "प्रकृतिवद्विकृतिःकर्तव्या" इस चोदक वाक्य के अनुसार भक्षमन्त्र का अतिदेश भी नहीं होसक्ता और अतिदेश के न होने से "इन्द्रपीतस्य" मन्त्र की "मित्रा-वरुणपीतस्य" इस प्रकार "ऊहः" भी नहीं होसक्ती और "ऊहः" के न होने से उक्त भक्षमन्त्र का अनैन्द्रशेष के भक्षण में विनियोग होना असंभव है, इसलिये सिद्ध हुआ कि ऐन्द्र शेष का भक्षण ही समन्त्रक है अनैन्द्रशेष का भक्षण समन्त्रक नहीं किन्तु अमन्त्रक है ।

सं०—अब "ऐन्द्राग्न" शेष के भक्षण को अमन्त्रक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

ऐन्द्राग्ने तु लिङ्गभावात्स्यात् । ३९ ।

पद०—ऐन्द्राग्ने । तु । लिङ्गभावात् । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है

(ऐन्द्राग्ने) "ऐन्द्राग्न" नामक ग्रह सम्बन्धी शेष के भक्षण में (स्यात्) भक्षमन्त्र का विनियोग होना चाहिये, क्योंकि (लिङ्ग भावात्) उसका विनियोजक लिङ्ग विद्यमान है।

भाष्य-"ऐन्द्राग्नं गृह्णाति" जिस "ग्रह" द्वारा ऐश्वर्य्य तथा प्रकाशगुणयुक्त ईश्वर के उद्देश से सोम का प्रदान किया गया है उस "ऐन्द्राग्न" नामक ग्रह का सोमशेष भक्षण के लिये ग्रहण करे। इस वाक्य में जो "ऐन्द्राग्न" शेष का भक्षण विधान किया है वह समन्त्रक है किंवा अमन्त्रक है? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "इन्द्राग्निभ्यां पीतः (दत्तः) सोमः = ऐन्द्राग्नः" = ऐश्वर्य्य तथा प्रकाशगुणविशिष्ट इन्द्र तथा अग्नि रूप ईश्वर के उद्देश से जिस सोम का प्रदान किया गया है उसको "ऐन्द्राग्न" कहते हैं और जो सोम इन्द्र तथा अग्नि दोनों के उद्देश से प्रदान किया गया है वह इन्द्र के उद्देश से भी प्रदान किया कहा जासक्ता है और उसके उद्देश से प्रदान होने के कारण उक्त शेष के भक्षण में "इन्द्रपीतस्य" इत्यादि भक्षमन्त्र का विनियोग होसक्ता है, क्योंकि उसमें इन्द्रपीत सोम के प्रकाशन की सामर्थ्य विद्यमान है और उक्त सामर्थ्य का नाम ही "लिङ्ग" है और लिङ्ग के विद्यमान होने पर विनियोग होना आवश्यक है, इसलिये सिद्ध होता है कि ऐन्द्र-शेष भक्षण की भांति ऐन्द्राग्न शेष का भक्षण भी समन्त्रक है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

एकस्मिन्वा देवतान्तराद्विभागवत्।४०।

पद०-एकस्मिन्। वा। देवतान्तरात्। विभागवत्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है(विभागवत्) जैसे चतुर्धाकरण = चार भाग करना, आग्नेय पुरोडाश में ही होता है ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं वैसेही भक्षमन्त्र का विनियोग भी (एकस्मिन्) एक देवताक सोमशेष के भक्षण में ही होसक्ता है द्विदेवताक सोमशेष के भक्षण में नहीं, क्योंकि (देवतान्तरात्) इन्द्र से इन्द्राग्नी देवता भिन्न है ।

भाष्य-एक देवता के उद्देश से जिसका प्रदान किया जाता है उसको "एकदेवताक" और जिसका दो देवता के उद्देश से प्रदान किया जाता है उसको "द्विदेवताक" कहते हैं, "ऐन्द्राग्न" सोम का प्रदान इन्द्र तथा अग्नि दोनों के उद्देश से हुआ है, यदि केवल इन्द्र के उद्देश से होता तो उसके भक्ष्यशेष में भक्षमन्त्र का विनियोग होसक्ता, क्योंकि केवल ऐन्द्र प्रदान के प्रकाशन की सामर्थ्य ही उक्त मन्त्र में है ऐन्द्राग्न प्रदान के प्रकाशन की नहीं, और उक्त सामर्थ्य के न होने से उसका ऐन्द्राग्न शेष के भक्षण में विनियोग मानना ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि प्रदान मिश्रित देवता के उद्देश से हुआ है और भक्षमन्त्र अमिश्रित देवता का प्रकाशक है, इस प्रकार विनियो-जक लिङ्ग के विद्यमान न होने से उक्त मन्त्र का विनियोग नहीं होसक्ता, इसलिये ऐन्द्रशेषभक्षण की भांति ऐन्द्राग्न शेष का भक्षण समन्त्रक नहीं किन्तु अमन्त्रक है ।

सं०-अब अनेक छन्द वाले ऐन्द्र शेष के भक्षण में उक्त भक्ष-मन्त्र का विनियोग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

छन्दश्चदेवतावत् । ४१ ।

पद०-छन्दः । च । देवतावत् ।

पदा०-" च " शब्द " तु " शब्द के अर्थ में आने से पूर्वपक्ष का सूचक है (देवतावत्) जैसे एक इन्द्र देवता के उद्देश से प्रदान किये सोम के भक्षणीय शेष में भक्षमन्त्र का विनियोग होता है वैसे ही (छन्दः) एक गायत्री छन्द वाले सोम के भक्ष्यशेष में भी उक्त मन्त्र का विनियोग होना चाहिये ।

भाष्य-गायत्री, त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् आदि अनेक छन्द वाले मन्त्रों का पाठ करके सोम का आहवनीय अग्नि में प्रदान किया जाता है परन्तु भक्षमन्त्र में "गायत्रछन्दसइन्द्रपीतस्य" इस प्रकार केवल गायत्रीछन्द का उल्लेख किया है, इससे सन्देह हुआ कि केवल गायत्रीछन्द वाले मन्त्र का उच्चारण करके जिस सोम का इन्द्र के उद्देश से प्रदान किया गया है उसके भक्ष्य शेष में उक्त भक्षमन्त्र का विनियोग होना चाहिये किंवा अनेक छन्द वाले मन्त्रों का उच्चारण करके जिस सोम का इन्द्र के उद्देश से प्रदान किया गया है उसके भक्ष्य शेष में विनियोग होना चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि " गायत्रीछन्दस इन्द्रपीतस्य " इस भक्षमन्त्र में "इन्द्रपीतस्य" का विशेषण "गायत्रछन्दसः" दिया है, " गायत्री छन्द वाला मन्त्र है इन्द्र के उद्देश से दिये जिस सोम का, उसका शेष मैं भक्षण करता हूं " यह अर्थ होता है और ऐसा अर्थ होने से केवल एक गायत्री छन्द वाले ऐन्द्रशेष के भक्षण का ही उक्त मन्त्र से प्रकाश होसक्ता है अनेक छन्द वाले ऐन्द्र शेष के भक्षण का नहीं और अर्थ प्रकाशन सामर्थ्य रूप लिङ्ग के बल से ही मन्त्र का विनियोग होना सम्भव है । इसलिये उक्त भक्ष-मन्त्र का एक छन्द वाले ऐन्द्रशेष के भक्षण में ही विनियोग है अनेक छन्द वाले उक्त शेष के भक्षण में नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सर्वेषु वाऽभावादेकच्छन्दसः । ४२ ।

पद०-सर्वेषु । वा । अभावात् । एकछन्दसः ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वेषु) अनेक छन्द वाले सब ऐन्द्रशेषों के भक्षण में उक्त भक्षमन्त्र का विनियोग होता है एक छन्द वाले ऐन्द्रशेष के भक्षण में नहीं, क्योंकि (अभावात, एकछन्दसः) कोई ऐन्द्र सोम एक छन्द वाला नहीं है ।

भाष्य-इन्द्र के उद्देश से जितने सोमों का प्रदान किया जाता है उन सब के प्रदान काल में अनेक छन्द वाले ही मन्त्र उच्चारण किये जाते हैं ऐसा कोई ऐन्द्र प्रदान नहीं जिसमें केवल एक गायत्री छन्द वाला ही मन्त्र उच्चारण किया जाय और भक्षमन्त्र में जो "गायत्रछन्दसः" विशेषण दिया है उसका "गायत्री छन्द ही है जिस इन्द्रपीत सोम में" यह अर्थ कदापि नहीं होसक्ता किन्तु बिना अवधारण=ही के होता है जिससे और छन्दों के विद्यमान होने का निषेध नहीं पाया जाता, क्योंकि अनेक गायत्री छन्दों के विद्यमान होने पर भी गायत्री छन्द वाला कहाजासक्ता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि अनेक छन्द वाले ऐन्द्रशेष के भक्षण में उक्त भक्षमन्त्र का विनियोग है एक छन्द वाले ऐन्द्रशेष के भक्षण में नहीं ।

सं०-२७वें सूत्र से लेकर ४२वें सूत्र पर्य्यन्त प्रथम पूर्वपक्षी ने मध्य में "ऊहः" वादी दूसरे पूर्वपक्षी का खण्डन करके यह सिद्ध किया कि ऐन्द्रशेष का भक्षण समन्त्रक और अनैन्द्र अर्थात् मित्रा-वरुण आदि शेष का भक्षण अमन्त्रक है । अब इस इतने बड़े पूर्व-पक्ष का सिद्धान्ती एक सूत्र से समाधान करता है :-

सर्वेषां त्वैकमन्त्र्यमैतिशायनस्य भक्तिपानत्वात्सवनाधिकारो हि । ४३ ।

पद०—सर्वेषां । तु । ऐकमन्त्र्यम् । ऐतिशायनस्य । भक्तिपानत्वात् । सवनाधिकारः । हि ।

पदा०—" तु " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वेषां) सब ऐन्द्र तथा अनैन्द्र शेषों के भक्षण में (ऐकमन्त्र्यं) समानभाव से उक्त एक भक्षमन्त्र का विनियोग होता है (हि) क्योंकि (भक्तिपानत्वात्) लक्षणावृत्ति द्वारा "दा" धातु के अर्थ में "पा" धातु का प्रयोग करके बहुव्रीहि समास करने से (सवनाधिकारः) इन्द्रपीत शब्द का " सवन " अर्थ होता है यह (ऐतिशायनस्य) महर्षि ऐतिशायन का मत है ।

भाष्य—उक्त सिद्धान्त को ऋषि परम्परागत सूचन करने के लिये " ऐतिशायन " महर्षि का नाम ग्रहण किया है, यदि " इन्द्रपीतस्य " में "इन्द्रेण पीतःसोमः" इस प्रकार तृतीयातत्पुरुषसमास किया जाय तो अवश्यमेव उक्त मन्त्र ऐन्द्रशेष के भक्षण का ही प्रकाश कर सक्ता है अनैन्द्रशेष के भक्षण का नहीं " जिन दो पदों का समास किया जाता है उनके मध्य उत्तर पद का अर्थ जिस समास में प्रधान रहता है उसको "**तत्पुरुषसमास**" कहते हैं " परन्तु " इन्द्रपीतस्य " में तत्पुरुषसमास नहीं किन्तु " पीत " का अर्थ दत्त तथा बहुव्रीहि समास है " जिन दो पदों का समास किया जाता है उन दोनों पदों के अर्थ से अतिरिक्त अन्यार्थ का जिस समास में ग्रहण होता है उसको "**बहुव्रीहि**" कहते हैं" इस बहुव्रीहि समास करने से " इन्द्रपीतस्य " का "इन्द्राय पीतः=

दत्तः सोमो यस्मिन् सवने स इन्द्रपीतः, तस्य शेषं भक्षयामि "=ऐश्वर्य्य युक्त परमात्मा के उद्देश से दिया गया है सोम जिस सवन में उस सवन को "इन्द्रपीत" कहते हैं, उस सवन का शेष मैं भक्षण करता हूं यह अर्थ होता है, ऐसा अर्थ होने से भक्षमन्त्र द्वारा केवल ऐन्द्रशेष के भक्षण का ही प्रकाश नहीं होता किन्तु सवनमात्र के शेष के भक्षण का प्रकाश होता है और उसके अन्तर्गत ऐन्द्र तथा अनैन्द्र सम्पूर्ण शेष हैं, इस प्रकार ऐन्द्र तथा अनैन्द्र सब शेषों के भक्षण प्रकाश करने की सामर्थ्य वाला होने से उक्त भक्षमन्त्र का सब शेषों के भक्षण में विनियोग होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं। इसलिये सिद्ध हुआ कि ऐन्द्रशेष के भक्षण की भांति अनैन्द्र शेष का भक्षण भी समन्त्रक है अमन्त्रक नहीं, सार यह निकला कि ऐन्द्र अनैन्द्र सब शेषों का भक्षण समन्त्रक है कोई अमन्त्रक नहीं।

इति मीमांसार्य्यभाषा भाष्ये तृतीयाध्याये

द्वितीयपादः

ओ३म्
अथ तृतीयाध्याये तृतीयःपादः
प्रारभ्यते

सङ्गति–द्वितीयपाद में "लिङ्ग" अनुसार विनियोग निरूपण किया, अब "वाक्य" अनुसार विनियोग निरूपणार्थ "तृतीयपाद" का आरम्भ करते हुए प्रथम "उच्चैस्त्व" आदि को ऋग्वेदादि का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

श्रुतेर्जाताधिकारःस्यात् । १ ।

पद०–श्रुतेः । जाताधिकारः । स्यात् ।

पदा०–(जाताधिकारः) "ऋक्त्व"* आदि जाति=धर्मविशेष वाले मन्त्रों का "उच्चैस्त्व" आदि धर्म (स्यात्) हैं, क्योंकि (श्रुतेः) उसके विधायक "उच्चैर्ऋचा" इत्यादि वाक्यों में मन्त्रवाची "ऋचा" आदि शब्दों का श्रवण होता है ।

भाष्य–"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में पठित "**उच्चैर्ऋचा क्रियते उच्चैःसाम्ना उपांशु यजुषा**"="ऋग्" तथा "साम" से "उच्चैः" और "यजु" से "उपांशु" कर्म करे, इत्यादि वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, इसमें जो "उच्चैस्त्व" आदि धर्म विधान किये हैं वह मन्त्रों के किये हैं किंवा ऋग्वेदादि के किये हैं अर्थात् उक्त वाक्य में "ऋचा" आदि पद मन्त्रों के वाचक हैं किंवा ऋग्वेदादि के वाचक हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्व-

---

* ऋचा के धर्म को "ऋक्त्व" कहते हैं ।

पक्षी का कथन यह है कि ऋचा आदि शब्दों के उच्चारण करने से प्रथम "मन्त्र" रूप अर्थ की ही उपस्थिति होती है "वेद" रूप अर्थ की नहीं और "**उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितं कल्पने मानाभावः**" = उपस्थित अर्थ को छोड़कर अनुपस्थित अर्थ की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं, इस न्याय के अनुसार उपस्थित तथा अनुपस्थित दोनों के मध्य उपस्थित का ग्रहण उचित होता है, क्योंकि उसके ग्रहण करने से अनुपस्थित अर्थ की कल्पना करनी नहीं पड़ती और उपस्थित अर्थ "ऋक्त्व" आदि जात्यवच्छिन्न मन्त्र हैं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में जो "ऋचा" आदि पद हैं वह ऋग्वेदादि के वाचक नहीं किन्तु ऋक्त्व आदि धर्मों वाले मन्त्रों के वाचक हैं, इसलिये यह धर्म मन्त्रों के विधान किये हैं वेदों के नहीं। यहां अध्वर्यु द्वारा प्रयुज्यमान यजुर्वेदस्थ "ऋचा" का "उपांशु" पाठ पूर्वपक्ष में और उच्चैः पाठ सिद्धान्त पक्ष में फल जानना चाहिये।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

वेदो वा प्रायदर्शनात्। २।

पद०—वेदः। वा। प्रायदर्शनात्।

पदा०"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (वेदः) उक्त वाक्य में "ऋचा" आदि पद ऋग्वेदादि के वाचक हैं, क्योंकि (प्रायदर्शनात्) वेदों का उपक्रम करके उक्त पदों का प्रयोग किया गया है।

भाष्य—"**प्रजापतिरकामयत प्रजाः सृजेयेति सतपोऽतप्यत तस्मात्तपस्तेपनात् त्रयो देवा असृज्यन्त अ-**

मिर्वायुरादित्यः, ते तपोऽतप्यन्त तेभ्यस्तेपानेभ्यस्त्रयो वेदाः असृज्यन्त अग्नेर्ऋग्वेदः वायोर्यजुर्वेदः* आदित्यात्सामवेदः" = प्रजापति परमात्मा ने इच्छा की कि मैं प्रजा उत्पन्न करूं, उसने विचार रूप "तप" किया उससे अग्नि, वायु, अथर्वा, आदित्य, दिव्यशक्ति सम्पन्न चार महर्षि उत्पन्न हुए, पुनः इन चारों ने उक्त तप किया उससे यथाक्रम चार वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद, अथर्वा से अथर्ववेद, आदित्य से सामवेद, इसप्रकार वेदों का उपक्रम करके पश्चात् उपसंहार† में **"उच्चैर्ऋचा-क्रियते"** इत्यादि कथन किया है, उपक्रम और उपसंहार की एक-वाक्यता का होना आवश्यक है, वह एकवाक्यता उपसंहार को उपक्रम का अनुसारी हुए बिना नहीं होसक्ती और उपक्रम में वेद शब्द का प्रयोग पाया जाता है उसीके अनुसार उपसंहार में भी "ऋचा" आदि शब्दों से ऋग्वेदादि का ग्रहण उचित है ।

तात्पर्य्य यह है कि उपक्रम उपसंहार दोनों के मध्य उपक्रम असञ्जात विरोधी होने के कारण प्रबल तथा सञ्जातविरोधी होने के कारण उपसंहार निर्बल होता है और प्रबल निर्बल के मध्य निर्बल सर्वदा प्रबल के अनुसारी हुआ करता है, यह नियम है, उपक्रम में ऋग्वेद आदि का कथन स्पष्ट है, उसीके अनुसार उपसंहार में भी ऋचा आदि पदों से यथाक्रम उक्त वेद का ग्रहण करना ही युक्त है, दूसरे एकदेश के ग्रहण से समुदाय के ग्रहण का नियम है, उक्त वाक्य में भी "ऋग्वेद" आदि के एकदेश "ऋचा"

---

* यहां "वायु" शब्द वायु तथा अथर्वा दोनों का वाचक है अतएव यजुर्वेद से "अथर्ववेद" का भी ग्रहण है ।

† यहां उपसंहार का अर्थ "समाप्ति" है ।

आदि का ग्रहण किया है और एकदेश के ग्रहण से समुदाय का ग्रहण नियम प्राप्त है, इसलिये उक्त वाक्य में ऋचा आदि पद वेद के वाचक हैं और वेद के वाचक होने से सिद्ध हुआ कि उच्चैस्त्व आदि धर्म ऋक्त्वादिजात्याक्रान्त मन्त्रों के विधान नहीं किये किन्तु ऋग्वेद आदि के किये हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ का साधक लिङ्ग कथन करते हैं :-

लिङ्गाच्च । ३ ।

पद०-लिङ्गात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"ऋग्भिः प्रातर्दिवि देव ईयते, यजुर्वेदेन तिष्ठते मध्येऽह्नः, सामवेदेनास्तमये महीयते, वेदैरशून्यस्त्रिभिरेति सूर्यः"=दिव्य प्रकाश वाला सूर्य्य द्युलोक में प्रातःकाल ऋग्वेद से उदय, मध्याह्नकाल यजुर्वेद से स्थित तथा सायंकाल सामवेद से अस्त होता है, तीनों कालों में एक क्षण भी वेद से बिना गमन नहीं करता। इस प्रकार यथावकाश प्रातः, मध्याह्न तथा सायं वेद के उपदेश तथा अभ्यास आदि का निरूपण करने के लिये प्रथम चरण में "ऋग्" द्वितीय में "यजुर्वेद" तृतीय में "सामवेद" कथन करके चतुर्थ चरण में जो "वेदैः" अर्थात् बहुवचनान्त वेद शब्द का प्रयोग किया है वह उक्त "उच्चैर्ऋचा" आदि वाक्यों में "ऋचा" आदि पदों के वेदवाची होने में लिङ्ग है, क्योंकि "ऋग्" शब्द के वेद वाची हुए बिना बहुवचनान्त

वेद शब्द का प्रयोग नहीं होसक्ता अर्थात् यदि ऋचा शब्द ऋग्वेद का वाची विवक्षित न होता तो चतुर्थपाद में "वेदैः" इस प्रकार बहुवचनान्त वेद शब्द का प्रयोग न किया जाता किन्तु "वेदाभ्यां" इस प्रकार द्विवचनान्त का प्रयोग किया जाता, क्योंकि द्वितीय तथा तृतीय दोनों पादों में ही साक्षात् वेद शब्द का प्रयोग पाया जाता है परन्तु बहुवचनान्त वेद शब्द का प्रयोग किया है इससे सिद्ध होता है कि ऋग् शब्द ऋग्वेद का वाची है। इसी प्रकार यजुः तथा साम शब्द भी वेद के वाचक जानने चाहियें, और "ऋचा" आदि शब्दों को वेद का वाचक सिद्ध होने से उच्चैस्त्व आदि का मन्त्रधर्म होना असम्भव है, इसलिये उक्त धर्म वेद के विधान किये गये हैं मन्त्रों के नहीं, यही मानना ठीक है ।

सं०-अब उक्तार्थ में और हेतु कहते हैं :-

धर्मोपदेशाच्च नहि द्रव्येण सम्बन्धः । ४ ।

पद०-धर्मोपदेशात् । च । न । हि । द्रव्येण । सम्बन्धः ।

पदा०-(च) और (धर्मोपदेशात्) साम का "उच्चैस्त्व" धर्म कथन करने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है (हि) क्योंकि (द्रव्येण) साम के साथ (सम्बन्धः) "उच्चैस्त्व" धर्म का सम्बन्ध (न) "ऋग्" आदि पदों का "वेद" अर्थ माने बिना नहीं होसक्ता ।

भाष्य-यदि उक्त वाक्य में "ऋग्" "साम" तथा "यजुः" शब्द का अर्थ ऋग्वेद, सामवेद तथा यजुर्वेद मानें तो "उच्चैःसाम्ना" से जो "साम" का "उच्चैस्त्व" धर्म कथन किया है वह बनसक्ता है मन्त्र अर्थ मानने से नहीं, क्योंकि "ऋच्यध्यूढं साम-गायति"= ऋचा पर साम का गान करे, इस वाक्य के अनुसार ऋचा पर गाये जाने के कारण ऋचा का उच्चैस्त्व धर्म साम में

स्वयमेव प्राप्त होजाता है, उसके विधान करने की कोई आवश्यकता नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि "ऋचा" पर गान किये जाने से जो ऋचा का धर्म है वह साम का धर्म होसक्ता है उसका विधान निरर्थक है परन्तु विधान किया है और निरर्थक का विधान बन नहीं सक्ता, इसलिये सिद्ध होता है कि उक्त तीनों शब्द मन्त्र के वाची नहीं किन्तु वेद के वाची हैं, अतएव उच्चैस्त्व आदि वेद के धर्म हैं मन्त्र के नहीं ।

सं०—अब उक्तार्थ में और हेतु कहते हैं :—

त्रयीविद्याख्या च तद्विदि । ५ ।

पद०—त्रयीविद्याख्या । च । तद्विदि ।

पदा०—(च) और (तद्विदि) तीनों वेदों के वेत्ता पुरुष में (त्रयीविद्याख्या) "त्रयीविद्या" नाम की प्रवृत्ति होने से भी उक्तार्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—यदि ऋग् , साम तथा यजुः शब्द से वेद का ग्रहण करें तो उसके सम्यक् जानने वाले पुरुप में "त्रयीविद्य" संज्ञा की प्रवृत्ति बन सक्ती है अन्यथा नहीं, क्योंकि "त्रयीविद्यायस्य, असौ त्रयीविद्यः"=जो त्रयी को जानता है उसको "त्रयीविद्य" कहते हैं, और "त्रयी" यह नाम ऋग् , साम तथा यजुः इन तीनों का प्रसिद्ध है और "विद्या" पद के साथ समानाधिकरण होने से उनका वेद वाची होना स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है और मन्त्र वाची होने से उसके जानने वाले को "त्रयीविद्य" नहीं कह सक्ते, इसलिये उक्त वाक्य में "उच्चैस्त्व" आदि वेद के धर्म विधान किये हैं मन्त्र के नहीं ।

सं०-अब उक्तार्थ में आशङ्का करते हैं :-

व्यतिक्रमे यथाश्रुतीति चेत् । ६ ।

पद०-व्यतिक्रमे । यथाश्रुति । इति । चेत् ।

पदा०-(व्यतिक्रमे) "ऋचा" आदि शब्दों को मन्त्रवाची होने से व्यतिक्रम अर्थात् ऋचा का यजुर्वेद में तथा यजु का ऋग्वेद में पाठ होने पर भी (यथाश्रुति) यथाश्रुत "उच्चैस्त्व" आदि धर्मों का लाभ होता है इसलिये उक्त शब्दों को वेदवाची मानना ठीक नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-यदि उक्त वाक्य में "ऋचा" आदि शब्दों को वेद का वाचक मानें तो "ऋचा" में "उच्चैस्त्व" तथा यजु में "उपांशुत्व" इस प्रकार यथाश्रुत धर्मों का लाभ नहीं होसक्ता, क्योंकि ऋचा का यजुर्वेद में तथा यजु का ऋग्वेद में पाठ है, इस प्रकार पाठ का व्यतिक्रम होजाने के कारण "ऋचा" में यजुर्वेद का धर्म "उपांशुत्व" तथा यजु में ऋग्वेद का धर्म "उच्चैस्त्व" मानना पड़ता है और यदि "ऋचा" आदि शब्दों को मन्त्र का वाचक मानें तो पाठ का व्यतिक्रम होनेपर भी धर्म का व्यतिक्रम नहीं होता किन्तु यथाश्रुत धर्म का लाभ होता है, इसलिये उक्त शब्दों को वेद का वाचक मानना ठीक नहीं किन्तु मन्त्र का वाचक मानकर उसके धर्म "उच्चैस्त्व" आदि का विधान मानना ठीक है ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न सर्वस्मिन् निवेशात् । ७ ।

पद०-न । सर्वस्मिन् । निवेशात् ।

पदा०-(न) "ऋचा" के पाठ का व्यतिक्रम होने से उसके धर्म का व्यतिक्रम होने में कोई दोष नहीं, क्योंकि (सर्वस्मिन्)सम्पूर्ण ऋग्वेद तथा सम्पूर्ण यजुर्वेद में (निवेशात्) उक्त धर्मों के निवेश का स्वीकार है।

भाष्य-"ऋचा" अथवा "यजु" का जिस वेद में पाठ है उसमें सर्वत्र उस वेद के धर्म का स्वीकार है, इसलिये पाठ के व्यतिक्रम होने से उच्चैस्त्व "आदि" धर्मों के व्यतिक्रम होने में कोई दोष नहीं, अतएव उक्त वाक्य में "ऋचा" आदि पदों के वाच्य ऋग्वेद आदि का उक्त धर्म विधान किया है मन्त्र का नहीं, यही मानना ठीक है।

सं०-अब उक्तार्थ को दृढ़ करते हुए उपसंहार करते हैं:-

वेदसंयोगान्न प्रकरणेन बाध्यते । ८ ।

पद०-वेदसंयोगात् । न । प्रकरणेन । बाध्यते ।

पदा०(वेदसंयोगात्) वेद के सम्बन्ध से "उच्चैस्त्व" आदि धर्मों का नियम है और उसका (प्रकरणेन) प्रकरण से (न, बाध्यते बाध नहीं होता।

भाष्य-यदि "ऋचा" का यजुर्वेद में और "यजु" का ऋग्वेद में पाठ है तो उनके उच्चैस्त्व आदि धर्मों का नियम वेद के सम्बन्ध से ही निश्चय करना चाहिये, ऋचा अथवा यजु की कुछ पर्वाह नहीं, जिस वेद में उसका पाठ है उसी वेद का धर्म उसका धर्म दृढ़ करना चाहिये, ऋग्वेद का "उच्चैस्त्व" यजुर्वेद का "उपांशुत्व" तथा सामवेद का "उच्चैस्त्व" धर्म है, यह उदाहरण वाक्य में निरूपण किया गया है और वेद के सम्बन्ध से होने वाले मन्त्रों के धर्म का प्रकरण से भी बाध नहीं होसक्ता

अर्थात् जिस वेदविहित कर्म के प्रकरण में मन्त्रों का विनियोगार्थ पाठ किया गया है उस प्रकरण से उक्त धर्मों का नियम नहीं होता किन्तु वेद के सम्बन्ध से होता है और प्रकरण उसका बाध नहीं कर सक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि कर्म यदि यजुर्वेद विहित है और वाक्य के बल से उस कर्म में पाठ के लिये ऋग्वेदस्थ मन्त्रों का विनियोग प्राप्त है तो कर्म के अनुष्ठान काल में उक्त मन्त्रों का पाठ उच्चस्वर से ही किया जायगा, उपांशु स्वर से नहीं, वेद के सम्बन्ध से उच्चस्वर तथा प्रकरण के सम्बन्ध से उपांशु स्वर प्राप्त है परन्तु प्रकरण स्वर सन्निहित होने पर भी वाक्य प्राप्त वेदस्वर का बाधक नहीं होसक्ता, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रबल होता है इसलिये सम्पूर्ण अधिकरण का निर्णीत अर्थ यह है कि उक्त उदाहरण वाक्य में "ऋचा" आदि पद ऋग्वेदादि के वाचक तथा उच्चैस्त्व आदि उसके धर्म विधान किये गये हैं मन्त्रों के नहीं।

सं०-अब "अग्न्याधान" कर्म में साम का उपांशु गान कथन करते हैं:-

गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः। ९।

पद०-गुणमुख्यव्यतिक्रमे। तदर्थत्वात्। मुख्येन। वेदसंयोगः।

पदा०-(गुणमुख्यव्यतिक्रमे) गुण तथा मुख्य में वेद के धर्म उच्चैस्त्व आदि के सम्बन्ध का सन्देह होने पर (मुख्येन) मुख्य में ही (वेदसंयोगः) उक्त वेद के धर्म का सम्बन्ध होना चाहिये, क्योंकि (तदर्थत्वात्) गुण तथा धर्म सब मुख्य के लिये हैं गुण के लिये नहीं।

भाष्य—यजुर्वेद के "शतपथ" तथा "तैत्तिरीय" यह दो ब्राह्मण हैं, इनके मध्य "शतपथ" ब्राह्मण के ११वें काण्ड में "अग्निमन्नादमन्नाद्यायादधे" यजु० ३। ५ के आधार पर "वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत, ग्रीष्मे राजन्यः, शरदि वैश्यः"=वसन्त ऋतु में ब्राह्मण, ग्रीष्म में क्षत्रिय तथा शरद् ऋतु में वैश्य "अग्न्याधान"*करे, इत्यादि वाक्यों से अग्न्याधान का विधान करके उसमें अङ्गरूप से "वामदेव्य" आदि नामक सामों का गान विधान किया है, वह गान सामवेद के धर्म "उच्चैः" स्वर से किंवा यजुर्वेद के धर्म उपांशु स्वर से करना चाहिये? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि सामवेद में उत्पन्न होने के कारण उक्त वेद के धर्म उच्चैःस्वर से उक्त सामों का गान होना उचित है, क्योंकि उसकी शीघ्र उपस्थिति होती है तथापि अङ्ग रूप से विधान होने के कारण उक्त साम गुण=गौण तथा अङ्गी होने से "अग्न्याधान" कर्म मुख्य=प्रधान है और जो गौण होता है वह सर्वदा मुख्य का अनुसारी हुआ करता है यह नियम है, और मुख्य उक्त कर्म यजुर्वेदविहित होने के कारण याजुर्वैदिक है और यजुर्वेद का धर्म "उपांशुत्व" है, और वह प्रधान कर्म का धर्म होने से उच्चैस्त्व धर्म की अपेक्षा प्रबल है और प्रबल के आगे शीघ्र उपस्थित हुआ भी निर्बल कार्यकारी नहीं होसक्ता, इसलिये जैसे आधान के अङ्गभूत मन्त्रों का उपांशु पाठ होता है वैसे ही उक्त सामों का भी उपांशु गान होना ठीक है उच्चैः नहीं।

---

* वेद तथा ब्राह्मणोक्त विधि अनुसार उत्पन्न कीगई अग्नि के "गार्हपत्य" आदि रूप से स्थापन करने को "अग्न्याधान" कहते हैं।

सं०-अब "ज्योतिष्टोम" याग को याजुर्वेदिक कथन करते हुए उसका उपांशु अनुष्ठान निरूपण करते हैं :-

भूयस्त्वेनोभयश्रुति । १० ।

पद०-भूयस्त्वेन । उभयश्रुति ।

पदा०-(उभयश्रुति) दो वेदों में श्रूयमाण कर्म का प्रधान रूप से विधान (भूयस्त्वेन) अङ्गों की अधिकता से निर्णय होता है ।

भाष्य-"ज्योतिष्टोम" नामक याग का विधान यजुर्वेद तथा सामवेद दोनों वेदों में समान रूप से पाया जाता है उसका अनुष्ठान सामवेद के "उच्चैस्त्व" धर्म किंवा यजुर्वेद के उपांशुत्व धर्म से होना चाहिये ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि उक्त याग का विधान दोनों वेदों में समान रूप से है तथापि यजुर्वेद में अधिक अङ्गों सहित और सामवेद में न्यून अङ्गों सहित उसका विधान पाया जाता है, इससे स्पष्ट होता है कि यजुर्वेद में उसका प्रधान रूप से विधान और सामवेद में शेषगुण विधान करने के लिये उसका अनुवाद है और अनुवाद की अपेक्षा विधान सर्वदा प्रबल होता है यह नियम है, इसलिये जैसे परिवार की अधिकता के देखने से "यह कोई प्रधान पुरुष है" इस प्रकार प्रधान पुरुष का ज्ञान होता है वैसे ही अङ्ग रूप परिवार की अधिकता देखने से निश्चित होता है कि ज्योतिष्टोम याग याजुर्वेदिक है और याजुर्वेदिक होने से उसका अनुष्ठान भी यजुर्वेद के उपांशुत्व धर्म से ही होना ठीक है सामवेद के उच्चैस्त्व धर्म से नहीं ।

सं०-इससे पूर्व श्रुति, लिङ्ग तथा वाक्य इन तीनों को विनियोजक कथन किया, अब प्रकरण को विनियोजक कथन करते हैं :-

असंयुक्तं प्रकरणादितिकर्तव्य-तार्थित्वात् । ११ ।

पद०-असंयुक्तं । प्रकरणात् । इतिकर्तव्यतार्थित्वात् ।

पदा०-(असंयुक्तं) श्रुति, लिङ्ग तथा वाक्य इन तीनों से जिसका विनियोग नहीं होता उसका (प्रकरणात्) प्रकरण से विनियोग जानना चाहिये, क्योंकि (इतिकर्तव्यतार्थित्वात्) प्रधान में अङ्ग के विनियोग की आकांक्षा पाई जाती है ।

भाष्य-" दर्शपूर्णमास " याग के प्रकरण में " **समिधोयजति** " " **इड़ोयजति** " इत्यादि वाक्यों से " प्रयाज " नामक पांच घृताहुतियें विधान की हैं वह पांचों अग्निहोत्र ज्योतिष्टोम आदि सर्व कर्मों का अङ्ग हैं किंवा "दर्शपूर्णमास" का ही अङ्ग हैं ? यह सन्देह है, इसकी निवृति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध के बोधक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, क्रम तथा समाख्या यह छः प्रमाण हैं, इनके मध्य पूर्व२ प्रमाण के न होने पर उत्तर २ प्रमाण से विनियोग होता है, यह नियम है, यद्यपि यहां "श्रुति" "लिङ्ग" तथा "वाक्य" इन तीनों के मध्य कोई प्रमाण विद्यमान नहीं, तथापि प्रकरण रूप प्रमाण स्पष्ट है, क्योंकि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उक्त प्रयाजों का पाठ किया गया है और जिसका पाठ जिसके प्रकरण में है वह " श्रुति " आदि उक्त तीनों प्रमाणों के न मिलने पर नियम से उसी का अङ्ग होता है और " समिध् " आदि प्रयाजों के अग्निहोत्र आदि का अङ्ग होने में कोई श्रुति आदि प्रमाण नहीं मिलता इसलिये वह प्रकरण के बल से दर्शपूर्णमास याग का अङ्ग है अग्निहोत्र आदि का नहीं ।

सं०-अब " क्रम " प्रमाण से विनियोग कथन करते हैं :-

क्रमश्च देशसामान्यात् । १२ ।

पद०-क्रमः । च । देशसामान्यात् ।

पदा०-(च) और (क्रमः) अनुमन्त्रणमन्त्र तथा "उपांशुयाज", इन दोनों के परस्पर अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध का बोधक स्थान है, क्योंकि (देशसामान्यात्) वह स्थान दोनों का एक है ।

भाष्य-क्रम, स्थान तथा समानदेश यह तीनों पर्याय शब्द हैं, दर्शपूर्णमास याग के आध्वर्यवकाण्ड में आग्नेय, उपांशुयाज तथा अग्नीषोमीय यह तीन याग विधान करके पुनः याजमानकाण्ड में "अग्नेरहं" "दब्धिरस्यदब्धोभूयासं" तथा "अग्नीषोमयोरहं" इस क्रम से अनुमन्त्रण संज्ञक तीन मन्त्र पढ़े हैं, इनके मध्य प्रथम तथा तृतीय मन्त्र का विनियोग प्रथम तथा तृतीय याग में लिङ्ग के बल से स्पष्ट है, क्योंकि उक्त दोनों मन्त्रों में अग्नि तथा अग्नीषोमीय देवता के प्रकाशन की सामर्थ्य पाई जाती है परन्तु "दब्धिरसि" मन्त्र में उपांशु याज सम्बन्धी देवता के प्रकाशन की सामर्थ्य प्रतीत नहीं होती, अतएव उसमें सन्देह है कि उक्त मन्त्र उपांशु याज का अङ्ग है किंवा नहीं है? इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि जैसे आध्वर्यव काण्ड में उपांशुयाज का द्वितीय स्थान है वैसे ही याजमानकाण्ड में उक्त मन्त्र का भी द्वितीय स्थान है, और जिसके साथ जिसका स्थान समान है या यों कहिये कि जिनका पाठ यथासंख्य किया गया है उनके साथ उसका सम्बन्ध "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" अष्टा० १।३।१० के अनुसार सिद्ध है, उसमें सन्देह का कोई अवकाश नहीं, इसलिये उक्त मन्त्र उपांशुयाज का अङ्ग है यह निश्चय जानना चाहिये ।

सं०-अब "समाख्या" से विनियोग कथन करते हैं :-

आख्याचैवं तदर्थत्वात् । १३ ।

पद०-आख्या । च । एवं । तदर्थत्वात् ।

पदा०-(च) और (एवं) क्रम की भांति (आख्या) समाख्या भी विनियोजक जाननी चाहिये, क्योंकि (तदर्थत्वात्) उससे कर्ता तथा क्रिया का सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य-यौगिक संज्ञा का नाम "समाख्या" है, आख्या तथा समाख्या यह दोनों पर्याय शब्द हैं "दर्शपूर्णमास" आदि के प्रकरण में याज्यापुरोऽनुवाक्यापाठ आदि कर्म "हौत्र" दोहन निर्वाप आदि कर्म "आध्वर्यव" तथा आज्यस्तोत्र पृष्ठस्तोत्र आदि कर्म "औद्गात्र" समाख्या से उपदेश किये हैं, इनके मध्य कौन कर्म "होता" को कौन "अध्वर्यु" को तथा कौन "उद्गाता" को करना चाहिये, कौन न करना चाहिये ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि होता के कर्म को "हौत्र" अध्वर्यु के कर्म को "आध्वर्यव" तथा उद्गाता के कर्म को "औद्गात्र" कहते हैं, और याज्यापुरोऽनुवाक्यापाठ आदि का हौत्र आदि समाख्या से उपदेश किया है, जिससे होता रूप कर्ता का सम्बन्ध याज्यापुरोऽनुवाक्यापाठ आदि कर्म के साथ, अध्वर्यु रूप कर्ता का दोहन आदि कर्म के साथ तथा उद्गातारूप कर्ता का आज्यस्तोत्र आदि कर्म के साथ स्पष्ट ज्ञात होता है सन्देह का कोई अवकाश नहीं, इसलिये उक्त समाख्या के बल से जिस कर्म के साथ जिस ऋत्विक् का सम्बन्ध ज्ञात होता है वह कर्म उसी को करना चाहिये दूसरे को नहीं ।

सं०—अब श्रुति आदि प्रमाणों को अकस्मात एक स्थान में इकट्ठे होजाने पर किसके अनुसार विनियोग होना चाहिये इसके निर्णयार्थ उनकी प्रबलता तथा दुर्बलता कथन करते हैं :—

श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। १४।

पद०—श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां। समवाये। पारदौर्बल्यम्। अर्थविप्रकर्षात्।

पदा०—(श्रुतिलिङ्ग०) श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान तथा समाख्या, इन छः के मध्य (समवाये) श्रुतिलिङ्ग, लिङ्गवाक्य, वाक्य प्रकरण, प्रकरणक्रम तथा क्रमसमाख्या, इस प्रकार दो २ प्रमाणों के एक स्थल में इकट्ठे होजाने पर (पारदौर्बल्यं) पूर्व प्रबल तथा उत्तर निर्बल जानना चाहिये, क्योंकि (अर्थविप्रकर्षात्) पूर्व की अपेक्षा उत्तर द्वारा विलम्ब से विनियोग होता है।

भाष्य—अङ्गाङ्गिभावरूप सम्बन्ध के बोधक श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्या, यह छः प्रमाण हैं, इनके द्वारा जिस प्रकार उक्त सम्बन्ध का बोध होता है उसका निरूपण पीछे किया गया है, इनके मध्य यदि श्रुति, लिङ्ग, लिङ्गवाक्य अथवा वाक्य-प्रकरण किंवा प्रकरणस्थान यद्वा स्थानसमाख्या यह दो २ एक स्थल में इकट्ठे होजायं तो पूर्व २ अर्थात् श्रुतिलिङ्ग के मध्य श्रुति से, लिङ्ग वाक्य के मध्य लिङ्ग से, वाक्य प्रकरण के मध्य वाक्य से, प्रकरण स्थान के मध्य प्रकरण से तथा स्थान समाख्या के मध्य स्थान से, विनियोग होना चाहिये, क्योंकि पूर्व २ की अपेक्षा उत्तर निर्बल होता है।

तात्पर्य्य यह है कि लिङ्ग आदि पांचो प्रमाण श्रुति की भांति साक्षात्

विनियोजक नहीं किन्तु श्रुति कल्पना द्वारा लिङ्ग, लिङ्ग तथा श्रुति इन दोनों की कल्पना द्वारा वाक्य, वाक्य, लिङ्ग, श्रुति इन तीनों की, कल्पनाद्वारा प्रकरण, प्रकरण, वाक्य, लिङ्ग, श्रुति इन चारों की कल्पना द्वारा स्थान तथा स्थान, प्रकरण, वाक्य, लिङ्ग, श्रुति इन पांचों की कल्पना द्वारा समाख्या रूप छठा प्रमाण विनियोजक होता है और इस प्रकार अपने २ से पूर्व २ की कल्पना द्वारा विनियोजक होने के कारण विनियोग में अत्यन्त विलम्ब होजाता है अर्थात् 'श्रुति' की कल्पना द्वारा लिङ्ग के विनियोजक होने में जितना विलम्ब होता है उतना श्रुति के विनियोजक होने में नहीं, क्योंकि श्रुति स्वयं साक्षात् विनियोजिका है, उसको मध्य में किसी अन्य की कल्पना की अपेक्षा नहीं, एवं श्रुति तथा लिङ्ग की कल्पना द्वारा वाक्य को विनियोजक होने में जितना विलम्ब होता है उतना श्रुति की कल्पना द्वारा लिङ्ग के विनियोजक होने में नहीं होता, इसी प्रकार आगे के प्रमाणों में भी विनियोग के विलम्ब की कल्पना कर लेना चाहिये, और जिसकी अपेक्षा जिसके विनियोजक होने में विलम्ब होता है उसकी अपेक्षा वह निर्बल होता है और निर्बल तथा प्रबल के मध्य प्रबल सर्वदा आदरणीय होता है यह नियम है, इसलिये श्रुति, लिङ्ग अथवा लिङ्गवाक्य इस प्रकार दो २ प्रमाणों के एक स्थल में इकट्ठे होजाने पर पूर्व के अनुसार ही विनियोग होना चाहिये उत्तर के अनुसार नहीं।

निरपेक्ष शब्द का नाम "श्रुति" है अर्थात् जिस पद को विधान अविधान तथा विनियोग करने में दूसरे की अपेक्षा नहीं होती किन्तु वह स्वयं स्वतन्त्रता पूर्वक विधायक, अभिधायक तथा विनियोजक है उसको "**श्रुति**" कहते हैं या यों कहिये कि रूढ़ सुवन्त तथा तिङन्त पद का नाम "श्रुति" है, यह श्रुति विधात्री, अभिधात्री तथा

विनियोक्त्री भेद से तीन प्रकार की होती है। जिस के श्रवणमात्र से कर्म का विधान पाया जाय उसका नाम "**विधात्री**" जैसाकि "यजेत" "जहुयात्" "दद्यात्" इत्यादि, जिस के श्रवणमात्र से पदार्थ का अभिधान=कथन पाया जाय उसका नाम "**अभिधात्री**" जैसाकि "ब्रीहीनवहन्ति" आदि में "ब्रीहीन्" इत्यादि, जिसके श्रवणमात्र से अङ्ग अङ्गी का विनियोग = सम्बन्ध पायाजाय उसका नाम "**विनियोक्त्री**" है, यह भी विभक्तिरूपा, एकवचनरूपा तथा एकपदरूपा, इस भेद से तीन प्रकार की होती है, ब्रीहीन्प्रोक्षति, ब्रीहिभिर्यजेत, आहवनीये जुहोति आदि में ब्रीहिपदोत्तरवर्त्ती द्वितीया, तृतीया तथा आहवनीयपदोत्तरवर्त्ती सप्तमी विभक्ति का नाम "**विभक्तिरूपा**" है, क्योंकि उसके श्रवणमात्र से "ब्रीहि" रूप-द्रव्य-प्रोक्षण तथा याग का और "आहवनीय" रूप द्रव्य होम का अङ्ग प्रतीत होता है, सोमेनयजेत आदि में श्रूयमाण एकवचन का नाम "**एकवचनरूपा**" है, क्योंकि इस के श्रवणमात्र से एकत्व संख्या का याग के साधन सोम में सम्बन्ध पाया जाता है, और "**एकपदरूपा**" श्रुति "सोमेन" इत्यादि प्रसिद्ध है, क्योंकि उसके श्रवणमात्र से सोम का याग के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध स्पष्ट-रूप से पाया जाता है, श्रुति के उक्त विभाग का सङ्ग्रह श्लोक इस प्रकार लिखा है :-

> "तत्र श्रुतिस्त्रिधा भिन्ना विध्युक्तिविनियोगकृत्
> विनियोक्त्री त्रिधा भिन्ना विभक्त्यादिस्वरूपतः"

(तत्र) श्रुत्यादिषट् प्रमाणों के मध्य (विधिः) विधात्री (उक्तिः) अभिधात्री (विनियोगकृत्) विनियोक्त्री (विभक्त्यादि-

स्वरूपतः) विभक्तिरूपा, एकवचनरूपा तथा एकपदरूपा, यह उक्त सङ्ग्रह श्लोक के पदों का संक्षिप्त अर्थ है।

"सामर्थ्य" का नाम "लिङ्ग" है, जैसाकि कहा है कि "सामर्थ्यं सर्वभावानां लिङ्गमित्यभिधीयते" = शब्द तथा अर्थ रूप सम्पूर्ण पदार्थों की सामर्थ्य का नाम "लिङ्ग" है, यह दो प्रकार का होता है एक शब्दगत, दूसरा अर्थगत, अर्थप्रकाशनसामर्थ्य का नाम "शब्दगत" तथा कार्य्यकरणसामर्थ्य का नाम "अर्थगत" है अर्थात् वस्तु में जो कार्य्य के करने की योग्यता है जैसाकि "स्रुवा" में घृत आदि के अवदान की, उसी योग्यता रूप सामर्थ्य को "अर्थगत" कहते हैं।

आकांक्षा आदि के वश पदों के परस्पर सम्बन्ध का नाम "वाक्य" है अर्थात् अकांक्षा, योग्यता तथा आसत्ति वाले पद समूह का नाम "वाक्य" है "आकांक्षा" आदि का स्वरूप प्रथमाध्याय प्रथमपाद २६वें सूत्र के भाष्य की टिप्पणी में दिखलाया गया है।

उभयाकांक्षा का नाम "प्रकरण" है अर्थात् प्रधान याग को अपनी सिद्धि के लिये अङ्गों की और अङ्गों को फलवाला होने के लिये प्रधान याग की जो आकांक्षा है उस आकांक्षा वाले वाक्य समुदाय का नाम "प्रकरण" है, यह महाप्रकरण तथा अवान्तर प्रकरण भेद से दो प्रकार का होता है, प्रधान कर्म सम्बन्धी प्रकरण का नाम "महाप्रकरण" और अङ्ग सम्बन्धी प्रकरण का नाम

"**अवान्तरप्रकरण**" है, प्रधान कर्म का अङ्ग होने पर भी अपने अङ्गों की अपेक्षा अङ्गकर्म भी प्रधान होता है उसके प्रकरण को ही "**अवान्तरप्रकरण**" कहते हैं।

समान देशता का नाम "**स्थान**" है, स्थान, क्रम यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, पाठसादेश्य तथा अनुष्ठानसादेश्य भेद से उक्त स्थान दो प्रकार का होता है, पाठकृत समानदेशता का नाम "**पाठसादेश्य**" तथा अनुष्ठानकृत समानदेशता का नाम "**अनुष्ठानसादेश्य**" है, "पाठसादेश्य" भी दो प्रकार का है, एक "यथासंख्यपाठ" दूसरा "सन्निधिपाठ" प्रथम दो वा तीन प्रधानों को लिखकर पुनः प्रधानसंख्या के अनुसार उस के अङ्गों के पाठ का नाम "**यथासंख्यपाठ**" और समीप पाठ का नाम "**सन्निधिपाठ**" है।

यौगिक पद का नाम "**समाख्या**" है, यह लौकिक वैदिक भेद से दो प्रकार की होती है. लोकसिद्ध का नाम "**लौकिकी**" वेद तथा वेदव्याख्यान भूत ऐतरेय आदि ब्राह्मण सिद्ध का नाम "**वैदिकी**" है।

उक्त श्रुति आदि षट् प्रमाण जिस प्रकार विनियोजक होते हैं वह प्रकार पीछे निरूपण किया गया है,परन्तु इनके मध्य दो२ के एक स्थल में इकठे होनेपर निर्बल का बाध करके प्रबल के अनुसार जिस प्रकार विनियोग होता है वह प्रकार विस्तार के भय से यहां नहीं दिखाया गया, उक्त विनियोग का प्रकार "**मीमांसासूत्रवैदिकवृत्तिः**"

में स्पष्ट है, उस के अभिलाषियों को उक्त वृत्ति का अवलोकन करना चाहिये।

सं०-अब द्वादश "उपसद्" नामक होमों को "अहीन" नामक याग का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

अहीनो वा प्रकरणाद्गौणः ।१५।

पद०-अहीनः । वा । प्रकरणात् । गौणः ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (अहीनः) अहीन (गौणः) ज्योतिष्टोम याग का गौण नाम है, क्योंकि (प्रकरणात्) उसके प्रकरण में उसका पाठ है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "**तिस्र एव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य**" "साह्न*" (ज्योतिष्टोम) याग में तीन तथा "अहीन" में द्वादश "उपसद्" नामक होम होते हैं, यह वाक्य पढ़ा है। इस वाक्य में जो प्रथम ज्योतिष्टोम याग के तीन "उपसद्†" होम विधान करके पुनः "अहीन" याग के द्वादश "उपसद्" होम विधान किये हैं, क्या वह द्वादश "उपसद्" होम "अहीन" नाम से "ज्योतिष्टोम" याग का अनुवाद करके उक्त याग में ही विकल्प के अभिप्राय से विधान किये हैं, किंवा उक्त याग से भिन्न "अहीन" नामक यागान्तर में विधान किये हैं अर्थात् उक्त वाक्य में जो द्वादश होम विधान किये हैं वह भी प्रथम विहित तीन होम

---

* एक दिन में सिद्ध होने के कारण ज्योतिष्टोम याग का नाम "**साह्न**" है।

† दीक्षादिन तथा सोमाभिषव दिन के भीतर २ जो होम किया जाता है उसका नाम "**उपसद्**" है यद्यपि प्रथमाध्याय ४र्थ पाद के सातवें सूत्र के भाष्य में "उपसद्" शब्द का अर्थ कर आये हैं तथापि यहां स्मरणार्थ पुनः किया गया है।

की भांति ज्योतिष्टोम का अङ्ग है, अथवा " अहीन " नामक यागान्तर का अङ्ग है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिसके प्रकरण में जिसका विधान किया गया है उसी प्रकरणी के अङ्ग का वह विधान समझना उचित है दूसरे के अङ्ग का नहीं, प्रकरण ज्योतिष्टोम याग का है, और जैसे "**एकेनाह्ना साध्यत्वात्साह्नो ज्योतिष्टोमः**"=एक दिन में सिद्ध होने के कारण ज्योतिष्टोम याग का "**साह्न**" यह गौण नाम है वैसे ही "**न हीनः अहीनः**" जो अङ्ग तथा फल से हीन नहीं किन्तु सर्वाङ्ग पूर्ण तथा फल से युक्त है उसको "**अहीन**" कहते हैं, इस व्युत्पत्ति से " अहीन " भी उक्त याग का गौण नाम होसक्ता है और उसके होसकने से उक्त याग में द्वादश " उपसद् " होमों का विधान मान लेने में कोई दोष नहीं, क्योंकि विकल्प के अभिप्राय से एक ही याग में तीन तथा द्वादश होमों का विधान होसक्ता है अर्थात् किसी ज्योतिष्टोम में तीन और किसी में द्वादश इस प्रकार विकल्प मानकर उक्त याग में दो विषमसंख्यावाले होमों के विधान का स्वीकार करने में कोई दोष नहीं, इसलिये उक्त वाक्य में जो तीन "उपसद्" होम विधान करके पुनः द्वादश " उपसद्" होम विधान किये हैं, वह द्वादश भी " अहीन " नाम से " ज्योतिष्टोम " याग का अनुवाद करके उक्त याग का अङ्ग ही विधान किये हैं "अहीन" नामक किसी यागान्तर का नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

असंयोगात्तुमुख्यस्य तस्मादपकृष्येत । १६ ।

पद०—असंयोगात् । तु । मुख्यस्य । तस्मात् । अपकृष्येत ।

पदा०—" तु " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (तस्मात्) "ज्योतिष्टोम" याग से अनेक दिनों में समाप्त होने वाले " अहीन " नामक यागान्तर में (अपकृष्येत) द्वादश " उपसद् " होमों का अपकर्ष = सम्बन्ध होना चाहिये, क्योंकि (मुख्यस्य) मुख्य वृत्ति से अहीन शब्द का (असंयोगात्) ज्योतिष्टोम के साथ वाच्य वाचकभाव सम्बन्ध नहीं होसक्ता ।

भाष्य—उक्त वाक्य में "द्वादशाहीनस्य" इस प्रकार सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति कथन करने से " अहीन " के साथ द्वादश होमों का सम्बन्ध साक्षात् श्रवण होता है, ज्योतिष्टोम के साथ नहीं, और "ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल्" अष्टा० ४ । २ । ४३ इस सूत्र की " अन्हः खः क्रतौ " अहर्गणसाध्य=कई दिनों में सिद्ध होने वाले क्रतु=याग अर्थ में "अहन्" शब्द से " ख " प्रत्यय होता है, इस वार्तिक के अनुसार "अहन्" शब्द से अहर्गण साध्य यागरूप अर्थ में " ख " प्रत्यय करने से " अहीन " शब्द सिद्ध होता है उसका मुख्य वृत्ति से अहर्गण साध्य " अहीन " नामक यागान्तर के साथ वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध होने पर भी ज्योतिष्टोम के साथ उक्त सम्बन्ध नहीं होसक्ता, और उसके न होने से वह उसका मुख्यार्थ नहीं कह सक्ते और गौणार्थ की कल्पना करने में कोई कारण उपलब्ध नहीं होता और बिना कारण के कल्पना करना ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि मुख्य वृत्ति से मुख्य अर्थ का लाभ होते गौणी वृत्ति से गौण अर्थ की कल्पना करना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि मुख्य अर्थ की असंभव दशा में ही गौण अर्थ की कल्पना

की जाती है, और प्रकृत में " अहीन " शब्द का अहर्गणसाध्य " अहीन " नामक यागान्तर मुख्य अर्थ बन सक्ता है उसको छोड़ कर गौणी वृत्ति द्वारा ज्योतिष्टोम रूप गौण अर्थ की क्लिष्ट कल्पना करना उचित नहीं, और प्रसङ्ग वश एक याग के प्रकरण में दूसरे याग के अङ्गों का उपदेश होने में कोई दोष नहीं, इसलिये उक्त वाक्य में जो द्वादश "उपसद्" होम विधान किये हैं वह अहीन शब्द से ज्योतिष्टोम याग का अनुवाद करके उक्त याग का अङ्ग विधान नहीं किये किन्तु "अहीन" संज्ञक यागान्तर का अङ्ग विधान किये हैं यही मानना ठीक है।

सार यह निकला कि यद्यपि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उक्त द्वादश होम विधान किये गये हैं तथापि उनका उक्त प्रकरण से (अपकर्ष) विच्छेद करके अहर्गण साध्य " अहीन " नामक यागान्तर के साथ सम्बन्ध करना उचित है, क्योंकि " अहीन "शब्द को ज्योतिष्टोम याग का वाचक न होने से उस के साथ उक्त होमों का सम्बन्ध होना असंभव है, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त द्वादश होम " अहीन " का अङ्ग हैं ज्योतिष्टोम का नहीं।

सं०—अब " कुलाय " आदि नामक यागों में " प्रतिपत् " संज्ञक मन्त्रों का उत्कर्ष* कथन करते हैं :—

द्वित्वबहुत्वयुक्तं वाऽचोदनात्तस्य । १७ ।

पद०—द्वित्वबहुत्वयुक्तं । वा । अचोदनात् । तस्य ।

---

* जिस के प्रकरण में पाठ है उसके प्रकरण से विच्छेद करके उससे ऊपर के किसी दूसरे प्रकरणी के साथ सम्बन्ध करने का नाम " उत्कर्ष " तथा उससे नीचे के किसी दूसरे प्रकरणी के साथ सम्बन्ध करने का नाम " **अपकर्ष** " है इस प्रकार अवान्तर यत्किञ्चित् भेद होने पर भी स्वरूप से भेद न होने के कारण सर्वत्र विच्छेदपूर्वक सम्बन्ध अर्थ किया गया है।

पदा०—"वा" शब्द सिद्धान्त की सूचना के लिये आया है (द्वित्वबहुत्वयुक्तं) दो तथा बहुत यजमान के वाची द्विवचन तथा बहुवचनान्त पद युक्त दोनों मन्त्रों का "ज्योतिष्टोम" से विच्छेद करके "कुलाय" आदि यागों में सम्बन्ध करना चाहिये, क्योंकि (तस्य) ज्योतिष्टोम में दो अथवा बहुत यजमान की (अचोदनात्) विधि नहीं है।

भाष्य—"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "युवं हि स्थः स्वर्पती इति द्वयोर्यजमानयोः प्रतिपदं कुर्यात्, एते असृग्रमिन्दवः इति बहुभ्यो यजमानेभ्यः" यदि दो यजमान हों तो "युवं हि स्थः स्वर्पती" ऋ० ६।८।९।२ इस मन्त्र को, यदि बहुत यजमान हों तो "एतेअसृग्रमिन्दवः" ऋ०७। १।२४।१ इस मन्त्र को "प्रतिपत्" करे, इस प्रकार "युवं" तथा "एते" यह दो "प्रतिपत्" संज्ञक मन्त्र कथन किये हैं, स्तोत्र के आदि में पठनीय ऋचा का नाम "प्रतिपत्" है, उक्त "प्रतिपत्" संज्ञक दोनों मन्त्रों का "ज्योतिष्टोम" याग से विच्छेद करके दो यजमान वाले "कुलाय" नामक याग में "युवं" मन्त्र का तथा बहुत यजमान वाले "सत्र" में "एते" मन्त्र का उत्कर्ष करना किंवा "ज्योतिष्टोम" याग में ही उक्त दोनों मन्त्रों का अनुष्ठान करना? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन अगले सूत्र में स्पष्ट करेंगे, सिद्धान्ती का कथन यह है कि यद्यपि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उक्त दोनों मन्त्रों का "प्रतिपत्" करना कथन किया है तथापि उक्त याग में उनका अनुष्ठान नहीं होसक्ता, क्योंकि दो यजमान के होने पर

" युवं " मन्त्र का तथा बहुत यजमान के होने पर " एते " मन्त्र का " प्रतिपत्‌ " करना विधान किया है, और " ज्योतिष्टोम " में एक ही यजमान की विधि है, एक से अधिक यजमान कदापि नहीं होसक्ते, और यजमान के दो अथवा बहुत हुए बिना उक्त मन्त्रों का सम्बन्ध होना असंभव है,और उससे पूर्व "कुलाय" नामक याग में "एतेन राजपुरोहितौ सायुज्यकामौ यजेयाताम्" इत्यादि वाक्यों से सायुज्य की कामना वाले राजा तथा पुरोहित दो यजमान का और " चतुर्विंशतिपरमाः सत्रमासीरन् " इत्यादि वाक्यों से " सत्र " में बहुत यजमान का श्रवण पाया जाता हैं, इसलिये द्विशब्द तथा बहुशब्द रूप श्रुतियों के बल से प्रकरण का बाध करके " युवं " मन्त्र का " कुलाय " नामक याग में और " एते " मन्त्र का " सत्र " में उत्कर्ष करना उचित है ज्योतिष्टोम में अनुष्ठान ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

पक्षेणार्थकृतस्येतिचेत् । १८ ।

पद०—पक्षेण । अर्थकृतस्य । इति । चेत् ।

पदा०—(पक्षेण) यजमान के सामर्थ्यहीन होने पर ज्योतिष्टोम याग में भी (अर्थकृतस्य) अर्थ से दो अथवा बहुत यजमानों का सम्भव है (चेत्) यदि (इति) ऐसे कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ।

भाष्य—यद्यपि ज्योतिष्टोम याग में एक ही यजमान की विधि है तथापि किसी कारण वश उस एक यजमान के सामर्थ्यहीन होजाने पर यजमानों के दो अथवा बहुत होजाने का सम्भव है

अर्थात् प्रथम यजमान यदि रुग्न होजाय किंवा किसी अन्य कारण से स्वयं अनुष्ठान न कर सके तो वह अपना प्रतिनिधि यजमानान्तर बनाकर उक्त याग को समाप्त कर सक्ता है, ऐसी अवस्था में दो अथवा बहुत यजमानों के होजाने का सम्भव है, क्योंकि एक के अशक्त होने पर दूसरा और दूसरे के अशक्त होने पर तीसरा इस प्रकार उक्त याग में अनेक यजमान होसक्ते हैं, और एक की अशक्ति दशा में दूसरे तथा तीसरे की अर्थ से प्राप्ति होने के कारण उनका विधान नहीं किया गया, और दो तथा बहुत यजमानों का सम्भव होने से उक्त "प्रतिपत्" संज्ञक दोनों मन्त्र ज्योतिष्टोम याग में सङ्गत होसक्ते हैं, इसलिये प्रकरण का बाध करके "कुलाय" आदि नामक यागों में उक्त मन्त्रों के उत्कर्ष की कोई आवश्यकता नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

न प्रकृतेरेकसंयोगात् । १९ ।

पद०-न । प्रकृतेः । एकसंयोगात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (प्रकृतेः) ज्योतिष्टोम याग में (एकसंयोगात्) एक ही यजमान का विधान है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में एक यजमान विधिप्राप्त और दो अथवा बहुत यजमान अर्थप्राप्त हैं, विधिप्राप्त तथा अर्थप्राप्त के मध्य विधिप्राप्त बली होता है, उसका अर्थप्राप्त से कदापि बाध नहीं होसक्ता, और प्रथम यजमान के अशक्त होजाने पर यजमानान्तर की अर्थ से प्राप्ति भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक तो प्रतिनिधि यजमान नहीं होसक्ता, दूसरे यजमान के प्रतिनिधि का निषेध किया है कि यजमान का प्रतिनिधि नहीं होता, इसका निरूपण षष्ठाध्याय में किया

जाएगा अर्थात् प्रथम यजमान की अशक्तावस्था में जो दूसरा प्रतिनिधि किया गया है, उस में यजमानत्व धर्म नहीं है क्योंकि वह "भृति" आदि के द्वारा केवल कार्य्य करने के लिये नियुक्त हुआ है, और "भृति" आदि के बिना स्वयं प्रवृत्त हुआ पुरुष अशक्त का सहायक नहीं होसक्ता, इस प्रकार ज्योतिष्टोम याग में एक यजमान के अतिरिक्त दो अथवा बहुत यजमानों का असम्भव होने से उक्त दोनों मन्त्रों का सङ्गत होना अशक्य है, इसलिये उन का ज्योतिष्टोम याग से विच्छेद करके "कुलाय" आदि नामक यागों में (उत्कर्ष) सम्बन्ध करना उचित है अनुचित नहीं ।

सं०—अब "जाघनी" का पशुयाग में उत्कर्ष कथन करते हैं :-

जाघनीचैकदेशत्वात् । २० ।

पद०—जाघनी । च । एकदेशत्वात् ।

पदा०—(च) और (जाघनी) जाघनी का भी पशुयाग में उत्कर्ष होना चाहिये, क्योंकि (एकदेशत्वात्) वह पशु का (एकदेश) अवयव हैं ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "**जाघन्या पत्नीः संयाजयन्ति**" प्रदेय पशु की पुच्छ को हाथ में पकड़ कर "पत्नीसंयाज" नामक चार घृताहुतियों को दे, इस प्रकार "जाघनी" के उद्देश से "पत्नीसंयाज" नामक संस्कार का विधान किया है उसका उक्त याग के प्रकरण से विच्छेद होकर पशु याग में (उत्कर्ष) सम्बन्ध होना चाहिये किंवा येन केन प्रकारेण संस्कार्य्य "जाघनी" का सम्पादन करके प्रकृतयाग में ही निवेश ठीक है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती और द्वितीयपक्ष

पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन आगे के पूर्वपक्षसूत्र में स्पष्ट करेंगे, सिद्धान्ती का कथन यह है कि उक्त वाक्य में " जाघनी " द्वारा उसके अवयवी पशु का "पत्नीसंयाज" नामक संस्कार विधान किया है और " जाघनी " पशु की पुच्छ का नाम है, और प्रकृत याग में प्रदेय पशु के न होने से उसका अवयव " जाघनी " विद्यमान नहीं है, क्योंकि अवयवी में ही अवयव के समवाय का नियम होने से वह अपने अवयवी पशु को छोड़कर नहीं रह सक्ता, और उसके न रहने से उक्त संस्कार का होना असंभव है।

तात्पर्य्य यह है कि संस्कार्य्य पदार्थ के विद्यमान होने पर ही संस्कार होसक्ता है और संस्कार्य्य पुच्छ अपने अवयवी पशु में नित्य समवेत है उसको छोड़कर स्वतन्त्र नहीं रह सक्ती, और उसका अवयवी पशु प्रकृतयाग से यागान्तर अर्थात् पशुयाग में विद्यमान है प्रकृतयाग में नहीं, और जिस याग में जिस अवयव का अवयवी प्रदेय पशु विद्यमान नहीं है उस याग में उसके संस्कार का विधान मानना निष्फल है, इसलिये उक्त विधान का दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण से विच्छेद होकर पशुयाग में उत्कर्ष होना ठीक है प्रकृतयाग में ही निवेश ठीक नहीं।

सार यह है कि उक्त वाक्य में " जाघनी " द्वारा प्रदेय पशु का संस्कार अभिप्रेत है जिस से उक्त वाक्य का यह अर्थ होजाता है कि जाघनी द्वारा प्रदेय पशु का " पत्नीसंयाज " नामक संस्कार करे, परन्तु उक्त संस्कार विद्यमान " जाघनी " द्वारा ही होसक्ता है छिन्न जाघनी के हाथ में पकड़कर आहुति देने से नहीं, और प्रदेय पशु प्रकृतयाग में नहीं किन्तु पशुयाग में है, इसलिये उक्त विधान का उत्कर्ष होना चाहिये प्रकृत याग में ही निवेश युक्त नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :—

चोदनावाऽपूर्वत्वादेकदेशइतिचेत् । २१ ।

पद०—चोदना । वा । अपूर्वत्वात् । एकदेश । इति । चेत् ।

पदा०—"वा" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (चोदना) उक्त वाक्य में "पत्नीसंयाज" के अङ्ग रूप से "जाघनी" का विधान है क्योंकि (अपूर्वत्वात) ऐसा होने से अपूर्व अर्थ का लाभ होता है और (एकदेशः) पशु की हिंसा करने से उसके अवयव "जाघनी" की प्राप्ति होसक्ती है (चेत) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है ।

भाष्य—उक्त वाक्य में "जाघनी" द्वारा प्रदेय पशु के "पत्नीसंयाज" नामक संस्कार का विधान अभिमेत नहीं किन्तु उक्त संस्कार कर्म के लिये साधन रूप से "जाघनी" का विधान अभिमेत है अर्थात् "पत्नीसंयाज" नामक संस्कारकर्म प्रथम प्राप्त होने पर भी उसका साधन "जाघनी" प्रथम प्राप्त नहीं है उसी का साधन रूप से विधान उक्त वाक्य में विवक्षित है क्योंकि प्रथम प्राप्त न होने के कारण वह अपूर्व है और अपूर्व अर्थ का विधान सर्व सम्मत है, और यद्यपि प्रकृत "दर्शपूर्णमास" याग में प्रदेय पशु नहीं है तथापि उसका अवयव जाघनी दुष्प्राप नहीं है वह पशु-हिंसा के द्वारा मनुष्य मात्र को प्राप्त होसक्ती है, और शास्त्रविहित कर्म की सिद्धि के लिये "हिंसा" का करना कोई दोष नहीं है इसलिये पशु याग में जाघनी का उत्कर्ष युक्त नहीं किन्तु प्रकृत याग में निवेश ही युक्त है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः । २२ ।

पद०—न— प्रकृते :— अशास्त्रानिष्पत्ते :—

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं क्योंकि (प्रकृतेः) प्रकृत याग में जाघनी का निवेश मानने में (अशास्त्रनिष्पत्तेः) सर्वशास्त्र-प्रतिषिद्ध हिंसा करनी पड़ती है।

भाष्य—यदि उक्त वाक्य में "जाघनी" का साधन रूप से विधान मानें तो उसके सम्पादनार्थ पशु की हिंसा करनी पड़ती है और वह सर्वशास्त्रप्रतिषिद्ध होने के कारण त्याज्य है उपादेय नहीं, और अन्य कोई उपाय उसकी प्राप्ति का नहीं है, और उपाय के न होने से जिसका प्राप्त होना असम्भव है उसका साधन रूप से विधान शास्त्र कदापि नहीं कर सक्ता, इसलिये जाघनी का प्रकृत-याग से पशुयाग में उत्कर्ष ही उचित है प्रकृतयाग में निवेश उचित नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि शास्त्र उसी पदार्थ का साधन रूप से उपदेश करता है जो प्राप्त होसक्ता है और जो कदापि प्राप्त होने के योग्य नहीं उसका साधन रूप से उपदेश नहीं करता, यदि पशुसंस्कार के लिये जाघनी के उद्देश से "पत्नीसंयाज" नामक संस्कारकर्म का विधान न माने किन्तु उक्त कर्म की सिद्धि के लिये "जाघनी" का साधन रूप से विधान स्वीकार करें तो उसके सम्पादन करने के लिये हिंसा अवश्य करनी पड़ती है और वह सर्वशास्त्रप्रतिषिद्ध है जैसा कि "यजुर्वेद" के १. ले तथा १३ वें अध्याय में कथन किया है कि "पशून्पाहि" "गांमाहिंसीः" "अजांमा-हिंसीः" अविंमाहिंसीः "इमंमाहिंसी द्विपादं पशुं" "माहिंसीरेकशफं पशुम्" हे मनुष्य तू सब पशुओं की

रक्षा कर, किसी की भी हिंसा मत कर अर्थात् गौ, बकरी भेड़ी, द्विपाद तथा एक शफ वाले सम्पर्ण पशु और उष्ट्र आदि की हिंसा मत कर, और "माहिंस्यात्सर्वाभूतानि" किसी जीव की हिंसा मत कर, इस प्रकार "ब्राह्मण" ग्रन्थों में भी हिंसा का निषेध किया है, निषेध तथा प्रतिषेध यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं पूर्व मीमांसा के भाष्य कार "शबर" स्वामी ने भी "चोदना" सूत्र के भाष्य में कहा है कि "हिंसाच प्रतिषिद्धा इति" = हिंसा का सब वेदों में निषेध किया है, उक्त निषेध का उल्लङ्घन करके "जाघनी" सम्पादनार्थ हिंसा करने से महान् अनर्थ के बिना और कोई लाभ नहीं होसक्ता क्योंकि वेदाज्ञा के भङ्ग करने का फल अनर्थ की प्राप्ति निर्णीत है, जैसाकि "योगभाष्य" के साधन पाद में हिंसा को ऐहिक तथा आमुष्मिक अनर्थ का हेतु कथन करते हुए "महर्षिव्यास" ने कहा है कि "हिंसकः प्रथमन्तावद् बध्यस्य वीर्य्यमाक्षिपति ततःशस्त्रादिनिपातेन दुःखयति ततोजीवितादपि मोचयति, तत्र वीर्य्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं क्षीणवीर्य्यं भवति दुःखोत्पादनान्नरकतिर्य्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति जीवितव्यपरोपणात् प्रतिक्षणञ्च जीवितात्यये वर्तमानो मरणमिच्छन्नपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात्कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति यदि च कथञ्चित्पुण्यादपगता हिंसा भवेत् तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति"

हिंसक पुरुष प्रथम पशु को बान्धकर उसके बल का नाश करता है, बल के नष्ट होजाने से दीन दशा में पड़े हुए पशु पर "शस्त्र" आदि का प्रहार कर उसको दुःख देता है, पश्चात् उसको प्राणों से रहित कर देता है, पशु के बल का नाश करने से हिंसक पुरुष का चेतन तथा अचेतन सम्पूर्ण बल नष्ट होजाता है दुःख के देने से यह नाना प्रकार की दुःखमय योनियों में पुनः २ जन्म तथा मरण को प्राप्त होता है और प्राण रहित करने से प्राणान्त दशा को प्राप्त हुआ मरने की तीव्र इच्छा होने पर भी मरण को प्राप्त नहीं होता और पाप के फल का अवश्य भोग होने से बड़े लम्बे २ ऊर्द्ध श्वास को लेता है और अत्यन्त कष्ट से मृत्यु को प्राप्त होता है, यदि किसी पुण्य विशेष के बल से मरणसमय उक्त दुःख प्राप्त न हो तो दूसरे जन्म में अल्पायु तथा जन्म से राजरोगग्रस्त अवश्य होता है, ऐसे ही भगवान् मनु ने भी कहा है कि

"योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया
स जीवँश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते" अ० ५। श्लो० ४५।

जो पुरुष अपने सुख के लिये अहिंसक जीवों की हिंसा करता है वह इस जन्म तथा परजन्म अर्थात् कहीं भी सुख को प्राप्त नहीं होता। इस प्रकार अनर्थ का हेतु होने से हिंसा के करने में किसी बुद्धिमान् की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती और न वह भावी अनर्थ का अनुसन्धान करता हुआ वैदिक आज्ञा के उल्लंघन में उत्साहित होसक्ता है अर्थात् जिस "पत्नीसंयाज" रूप संस्कार कर्म की सिद्धि के लिये महान् अनर्थ के हेतु हिंसाप्रतिषेध का उल्लङ्घन करके पशुहिंसा द्वारा "जाघनी" सम्पादन की जाती है उस संस्कार कर्म से जो पुण्य उत्पन्न होता है उसकी अपेक्षा सहस्रगुणा अधिक हिंसा के

करने से पाप उत्पन्न होता है, उसका अनुसन्धान करने वाला कोई आर्य्य पुरुष हिंसा रूपी कुत्सित कर्म में प्रवृत्त नहीं होसक्ता, और उसमें प्रवृत्त न होने से "जाघनी" की प्राप्ति होना असंभव है, और उसकी प्राप्ति न होने से उक्त संस्कारकर्म की सिद्धि भी नहीं होसक्ती और जिसकी सिद्धि नहीं होसक्ती उसका उपदेश शास्त्र कदापि नहीं कर सक्ता, अतएव उक्त वाक्य में जाघनी को उक्त संस्कारकर्म का साधन मानना ठीक नहीं किन्तु जाघनी के उद्देश से उक्त संस्कारकर्म का विधान मानना ठीक है, अर्थात् उक्त वाक्य में जाघनी द्वारा प्रदेयपशु के संस्कारार्थ उक्त कर्म का विधान किया गया है, और जाघनी अवयव होने से प्रदेयपशु में विद्यमान हुई उसके संस्कार का प्रयोजक होसक्ती है छिन्न हुई नहीं, और प्रदेयपशु प्रकृत "दर्शपूर्णमास" याग में नहीं है, इसलिये प्रकृत याग से पशुयाग में उसका उत्कर्ष मानना उचित है प्रकृत याग में निवेश उचित नहीं।

सार यह है कि उक्त वाक्य में "जाघनी" को हाथ में पकड़कर "पत्नीसंयाज" नामक संस्कारकर्म का विधान किया है उसका उपयोग पशुयाग में है प्रकृत दर्शपूर्णमास याग में नहीं क्योंकि उसमें पशु का प्रदान नहीं किया जाता, इसलिये "जाघनी" का पशुयाग में उत्कर्ष होना ठीक है प्रकृतयाग में निवेश ठीक नहीं।

और जो आधुनिक टीकाकारों ने इस अधिकरण के उक्त तीन सूत्रों को तोड़ फोड़ "जाघनीचैकदेशत्वात्" १ "चोदना वाऽपूर्वत्वात्" २ "एकदेश इतिचेत्" ३ "न प्रकृतेरशास्त्रनिष्पत्तेः" ४ इस प्रकार चार सूत्र बना प्रथम को पूर्वपक्ष

दूसरे को सिद्धान्त पुनः तीसरे को पूर्वपक्ष तथा चौथे को सिद्धान्त सूत्र कल्पना करके "जाघनी" को उक्त संस्कारकर्म का साधन सिद्ध किया है, और उक्त साधन के सम्पादनार्थ लिखा है कि "सा सम्भवति दर्शपूर्णमासयोः क्रीत्याऽप्यानीयमाना" वह "जाघनी" प्रकृत दर्शपूर्णमास याग में मूल्य से भी लाई जासक्ती है, तथा "जाघनीशब्देन पशोर्भागोऽभिधीयते सच दर्शपूर्णमासयोः पशुयागत्वाभावेऽपि क्रयादिना सम्पादयितुं शक्यते" "जाघनी" शब्द पशु के पुच्छ रूप भाग (अवयव) विशेष का वाचक है और वह भाग विशेष "दर्शपूर्णमास" में पशु के न होने पर भी मूल्य किंवा पशुहिंसा से सम्पादन किया जासक्ता है। यह सब सूत्रकार के आशय से सर्वथा विपरीत है क्योंकि सूत्रों के पूर्वापर का पर्य्यालोचन करने से उक्तार्थ का गन्धमात्र भी प्रतीत नहीं होता, सूत्रकार "उत्कर्ष" का निरूपण करते हुए अकस्मात् मध्य में "जाघनी" का अनुत्कर्ष निरूपण नहीं कर सक्ते क्योंकि ऐसा करने से प्रकरण अत्यन्त असम्बद्ध होजाता है, परन्तु आधुनिक टीकाकारों ने जाघनी के अनुत्कर्ष का बड़े समारोह के साथ समर्थन किया है और अपना मनोरथ सिद्ध करने के लिये वेदाज्ञा के उल्लङ्घन की कुछ प्रवाह नहीं की, इस से स्पष्ट होता है कि वह वेदविरुद्ध हिंसा के प्रचार में अत्यन्त रत तथा जिह्वास्वाद में नितान्त आसक्त थे और अर्थ का अनर्थ करने में कुछ सङ्कोच न था, इसका यत्किञ्चित् भी विचार नहीं किया कि जाघनी होम का साधन कैसे होसक्ती है? क्या वह स्रुवा के कार्य्य में उपयुक्त होसक्ती है किंवा लकड़ी का काम देसक्ती है, और उससे "वायुशुद्धि" आदि होम के प्रयोजन सिद्ध

होसक्ते हैं कि नहीं। "जाघनी" पशु की पुच्छ का नाम है वह गोल लम्बी तथा लोमश होने से स्रुवा नहीं होसक्ती और न जालाई जासक्ती है, और उसके जलाने से दुर्गन्ध फैलकर वायु की अशुद्धि होना सम्भव है शुद्धि नहीं, फिर न जाने इन आधुनिक टीकाकारों ने क्या विचार कर "जाघनी" को उक्त संस्कारकर्म का साधन सिद्ध किया है, सत्य तो यह है कि सब टीकाकार वाममार्गी थे मांस का खाना मदिरा का पीना आदि शास्त्रनिषिद्ध इनका आचार था, केवल लोकापवाद से बचने के लिये वेद तथा आर्षग्रन्थों की ओट में सर्वथा स्वार्थ सिद्ध करने में तत्पर थे, अतएव इन्हों ने जैमिनि जैसे महर्षियों के कलङ्कित करने में भी कोई त्रुटी शेष नहीं रखी। महाशय गण? यह वही जैमिनि महर्षि हैं जो महर्षिव्यास के शिष्य तथा चारों वेदों के पारङ्गत प्रसिद्ध हैं, भला कहिये उनके बनाये "वेदमीमांसा" शास्त्र में हिंसा का उल्लेख किंवा आशय कैसे निकल सक्ता है, वेदों का तो उपदेश यह है कि:-

दृते दृꣳह मा, मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्तां, मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे, मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे। यजु० ३६। मं० १८

हे जगत्पिता परमात्मन्? आप मुझ को धनबल कायबल तथा बुद्धिबल से युक्त करें, जिससे सम्पूर्णजीव मित्र की दृष्टि से मुझे देखें और मैं उनको मित्रदृष्टि से देखूं और इसी प्रकार हम सब मित्रदृष्टि से एक दूसरे को सर्वदा देखते रहें। जिस वेद का ऐसा सदुपदेश है उसकी मीमांसा करने में प्रवृत्त हुए महर्षि जैमिनि कदापि वेदविरुद्ध अर्थ का अभिधान नहीं करसक्ते, इसलिये आधु-

निक टीकाकारों का यह कपोल कल्पित अर्थ आदरणीय नहीं प्रत्युत तिरस्करणीय है ।

सं—अब "सन्तर्दन" का "ज्योतिष्टोम" याग की संस्थाभूत "उक्थ्य" आदि यागों में उत्कर्ष कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

सन्तर्दनं प्रकृतौ क्रयणवदनर्थ लोपात् स्यात् । २३ ।

पद०—सन्तर्दनं । प्रकृतौ । क्रयणवत् । अनर्थलोपात् । स्यात् ।

पदा०—(सन्तर्दनं) सन्तर्दन का (प्रकृतौ) अग्निष्टोम में (स्यात्) निवेश है क्योंकि (अनर्थलोपात्) उसमें निवेश मानने में वाक्यार्थ का लोप नहीं होता और (क्रयणवत्) सोमक्रय के साधन हिरण्य तथा गौ आदि की भांति उसका प्रकृति में विधान बन सक्ता है ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "दीर्घसोमे सन्तृद्यात् धृत्यै" सोम धारण करने के लिये "दीर्घसोम" नामक याग में सोम पीसने की दोनों सिलों को किसी पदार्थविशेष से सम्यक् जोड़ले । यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो "सन्तर्दन"=(सोम-पीसने की दोनों सिलोंका सम्यक् जोड़ना) कथन किया है उसका ज्योतिष्टोम याग की संस्थाभूत "उक्थ्य" आदि यागों में उत्कर्ष है किंवा "उक्थ्य" आदि संस्था की प्रकृतिभूत "अग्निष्टोम" याग में ही निवेश है ? अर्थात् ज्योतिष्टोम याग की अग्निष्टोम १ उक्थ्य २ षोडशी ३ अतिरात्र ४ अत्यग्निष्टोम ५ आप्तोर्याम ६ वाजपेय ७ यह सप्त संस्था है, इन सातों संस्था के मध्य "अग्निष्टोम" प्रकृति तथा "उक्थ्य" आदि छः६ विकृति हैं, और "ज्योतिष्टोम" नाम सातों

का समान है, उक्त सन्तर्दन का "उक्थ्य" आदि नामक विकृति-भूत संस्थाओं में उत्कर्ष होता है किंवा प्रकृति भूत "अग्निष्टोम" नामक प्रथम संस्था में ही निवेश है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वीतीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उक्त वाक्य पढ़ा है और उक्त सातों संस्था के मध्य अग्निष्टोम का ही मुख्य नाम "ज्योतिष्टोम," है क्योंकि वह प्रकृति तथा और सब उसकी विकृति हैं, और "**दीर्घस्य सोमः = ज्योतिष्टोमः = दीर्घसोमः**" जिस ज्योतिष्टोम याग का यजमान लम्बा है उसको "दीर्घसोम" कहते हैं-इस समास के बल से "दीर्घसोम" शब्द का अग्निष्टोम अर्थ करने में कोई बाधक नहीं है, और जो "अग्निष्टोम" में "**हनू वा एते यज्ञस्य यदाधि-षवणे न सन्तृणत्ति असन्तृण्णे हि हनू**" यह सोम पीसने की दोनों सिलें अग्निष्टोम याग की दो हनू हैं और हनू आपस में जुड़ी नहीं होतीं इसलिये उक्त याग में इनका भी "सन्तर्दन" नहीं किया जाता, इत्यादि वाक्यों से सन्तर्दन का निषेध किया है, उसका तात्पर्य्य सन्तर्दन के सर्वथा निषेध में नहीं किन्तु विकल्प में तात्पर्य्य है अर्थात् जैसे सोम मूल्य लेने में "**हिरण्येन क्रीणाति गवा क्रीणाति**" सुवर्ण अथवा गौ आदि से सोम को मूल्य ले, इत्यादि वाक्यों से "हिरण्य" आदि का विकल्प सर्व सम्मत है, और उसके होने से कदाचित् हिरण्य से कदाचित् गौ से तथा कदाचित् वस्त्रादि से सोम मूल्य लिया जाता है, वैसे ही अग्निष्टोम में भी उक्त निषेध के होने से कदाचित् सन्तर्दन तथा कदाचित् असन्तर्दन की कल्पना की जासक्ती है सर्वथा सन्तर्दन के निषेध का स्वीकार युक्त नहीं, इसलिये उक्त वाक्य में जो सन्तर्दन कथन किया है उसका अग्निष्टोम रूप

प्रकृति में ही निवेश है "उक्थ्य" आदि विकृति में उत्कर्ष नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

उत्कर्षो वा ग्रहणाद् विशेषस्य । २४ ।

पद०-उत्कर्षः । वा । ग्रहणात् । विशेषस्य ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (उत्कर्षः) अग्निष्टोम प्रकृति में सन्तर्दन का उत्कर्ष होता है क्योंकि (विशेषस्य) उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम का दीर्घसोम रूप विशेषण (ग्रहणात्) ग्रहणकिया है।

भाष्य-उक्त वाक्य में जो दीर्घसोम पद है उसमें "षष्ठीतत्पुरुष" समास नहीं किन्तु "दीर्घश्चासौ सोमः=ज्योतिष्टोमश्चेति दीर्घसोमस्तस्मिन् दीर्घसोमे" जो दीर्घ तथा ज्योतिष्टोम है उसका नाम "दीर्घसोम" है, इस प्रकार "कर्मधारय" समास है, और वह षष्ठीसमास की अपेक्षा बली होता है यह छठे अध्याय के "निषादस्थपत्यधिकरण" में निरूपण किया जायगा, उक्त पद में कर्मधारय समास करने से "दीर्घत्व" सोम का धर्म सिद्ध होता है यजमान का नहीं, और यजमान का धर्म सिद्ध न होने से सन्तर्दन का प्रकृति याग अर्थात् "अग्निष्टोम" में निवेश नहीं होसक्ता क्योंकि अब "दीर्घसोम" पद का "लम्बे यजमान का ज्योतिष्टोम याग" यह अर्थ नहीं है किन्तु "ग्रहों की अधिकता तथा पुनः २ आवृत्ति के कारण जो दीर्घ काल में होने से दीर्घ तथा ज्योतिष्टोम है उसको "दीर्घसोम" कहते हैं" यह उक्त पद का अर्थ होता है, और अग्निष्टोम याग में ग्रहों की अधिकता तथा आवृत्ति के न होने से उक्तार्थ सङ्गत नहीं होसक्ता और "उक्थ्य" आदि

विकृति यागों में ग्रहों की अधिकता तथा "द्विरात्र" आदि में आवृत्ति का सद्भाव होने से उक्तअर्थ भले प्रकार घट जाता है जिस से स्पष्ट होता है कि "दीर्घसोम" उक्थ्य आदि का ही नाम है अग्निष्टोम का नहीं, इसलिये "सन्तर्दन" का उक्थ्य आदि में उत्कर्ष मानना ठीक है अग्निष्टोम में ही निवेश मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में पुनः पूर्वपक्ष करते हैं :-

कर्तृतो वा विशेषस्य तन्निमित्तत्वात्।२५।

पद०-कर्तृतः। वा। विशेषस्य। तन्निमित्तत्वात्।

पदा०-"वा" शब्द पुनः पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (कर्तृतः) यजमान के सम्बन्ध से उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम याग का "दीर्घसोम" विशेषण जानना चाहिये क्योंकि (विशेषस्य) उसका उक्त विशेषण (तन्निमित्तत्वात्) यजमान के निमित्त से भी होसक्ता है।

भाष्य-जिस याग का यजमान दीर्घ अर्थात् लम्बा है उसको "दीर्घसोम" कह सक्ते हैं, उक्त वाक्य में जो ज्योतिष्टोम को "दीर्घसोम" कथन किया है वह भी यजमान के अभिप्राय से किया है और यजमान का दीर्घ होना अग्निष्टोम में भी सम्भव है इसलिये अग्निष्टोम में ही "सन्तर्दन" का निवेश युक्त है "उक्थ्य" आदि में उत्कर्ष युक्त नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

क्रतुतो वाऽर्थवादानुपपत्तेः स्यात्।२६।

पद०-क्रतुतः। वा। अर्थवादानुपपत्तेः। स्यात्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है

(क्रतुतः) याग के सम्बन्ध से "दीर्घसोम" विशेषण मानना उचित (स्यात्) है क्योंकि ऐसा न मानने से (अर्थवादानुपपत्तेः) "धृत्यै" शब्द से जो सन्तर्दन का सोम धारण करना रूप फल कथन किया है वह नहीं बन सक्ता ।

भाष्य–उक्त वाक्य में सन्तर्दन का फल "धृत्यै" शब्द से सोम को धारण करना कथन किया है वह तब ही बन सक्ता है यदि "दीर्घसोम" रूप विशेषण की प्रवृत्ति क्रतु के सम्बन्ध से मानी जाय ।

तात्पर्य्य यह है कि दीर्घ काल में पूर्ण होने के कारण यदि "उक्थ्य" आदि का नाम "दीर्घसोम" मानें तो इतने लम्बे काल में लोहड़े द्वारा सोम के पुनः २ पीसने से सिलों का हिलकर जुदा २ होजाना तथा किसी एक का फूट जाना सम्भव है और पुनः उनसे सोम का धारण होना असम्भव है, यह शङ्का उत्पन्न होसक्ती है, और इसके उत्पन्न होने से "सन्तर्दन" का विधान तथा उसके फल का कीर्तन बन सक्ता है, और यदि यजमान के दीर्घ होने से ज्योतिष्टोम का नाम "दीर्घसोम" मानें तो उक्त शङ्का कदापि उत्पन्न नहीं होसक्ती क्योंकि लोक में दीर्घ काल पर्य्यन्त होने वाले कर्म में ही किसी पदार्थ के पुनः पीसने से सिलों का हिलकर जुदा २ होना तथा फूटना देखा जाता है यजमान के दीर्घ होने से नहीं, और उक्त शङ्का के उत्पन्न न होने से उसकी निवृत्ति के लिये "सन्तर्दन" का विधान तथा उसके फल का कथन भी नहीं होसक्ता, परन्तु सन्तर्दन का विधान तथा उसके फल का कथन किया है इससे ज्ञात होता है कि "दीर्घसोम" यह ज्योतिष्टोम का विशेषण यजमान के सम्बन्ध से नहीं किन्तु दीर्घ काल में होने वाले याग के सम्बन्ध से है, और दीर्घ काल में "उक्थ्य"

आदि का ही अनुष्ठान होता है अग्निष्टोम का नहीं, इसलिये सन्तर्दन का उक्थ्य आदि में उत्कर्ष होना ठीक है अग्निष्टोम में निवेश ठीक नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

संस्थाश्चकर्तृवद्धारणाविशेषात् । २७ ।

पद०-संस्थाः । च । कर्तृवत् । धारणाविशेषात् ।

पदा०-"च" शब्द "तु" शब्द के अर्थ में आने से शङ्का का सूचक है (कर्तृवत्) जैसे ज्योतिष्टोम के कर्ता का सब संस्थाओं में निवेश है वैसे ही (संस्थाः) सन्तर्दन का भी सब संस्थाओं में निवेश होना चाहिये, क्योंकि (धारणाविशेषात्) सोम का धारण सब में समान है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग की सात संस्था हैं जिनका नाम पीछे लिख आए हैं उन सब में सोम कूटा जाता है और कूटना धारण करने के बिना नही होसक्ता और धारण करना सन्तर्दन के अधीन है इसलिये ज्योतिष्टोम के कर्ता की भांति सन्तर्दन का भी अग्निष्टोम आदि सब संस्थाओं में निवेश होना चाहिये "उक्थ्य" आदि में ही नहीं ।

सं०-अब उक्ताशङ्का का समाधान करते हैं :-

उक्थ्यादिषु वाऽर्थस्य विद्यमानत्वात् । २८ ।

पद०-उक्थ्यादिषु । वा । अर्थस्य । विद्यमानत्वात् ।

पदा०--" वा " शब्द उक्ताशङ्का के समाधानार्थ आया है (उक्थ्यादिषु) उक्थ्य आदि में ही सन्तर्दन का निवेश मानना ठीक है, क्योंकि (अर्थस्य) उसमें सन्तर्दन का फल (विद्यमानत्वात्) विद्यमान है ।

भाष्य–यद्यपि ज्योतिष्टोम की सब संस्था समान हैं और सब में समानभाव से सोम कूटा जाता है तथापि "अग्निष्टोम" की अपेक्षा "उक्थ्य" आदि में पुनः २ अभ्यास के कारण काल का व्यय अधिक होता है और पुनः २ के अभ्यास तथा ग्रहों की अधिकता के कारण सोम भी अधिक कूटा जाता है उसके अधिक कूटे जाने से पूर्वोक्त शङ्का की निवृत्ति के लिये "सन्तर्दन" का निवेश आवश्यक है, सन्तर्दन का निवेश होने से उसके फल सोम धारण का होना भी उचित है, इस प्रकार "उक्थ्य" आदि में जैसे सन्तर्दन का फल देखा जाता है वैसे "अग्निष्टोम" में नहीं, क्योंकि उसमें सोम के परिमित होने से सन्तर्दन की आवश्यकता नहीं है इसलिये उसका "उक्थ्य" आदि में ही निवेश होता है अग्निष्टोम में नहीं।

सं०–अब उक्तार्थ में पुनः आशङ्का करते हैं :–

अविशेषात्स्तुतिर्व्यर्थेतिचेत् । २९ ।

पद०–अविशेषात् । स्तुतिः । व्यर्था । इति । चेत् ।

पदा०–(स्तुतिः) "उक्थ्य" आदि की "दीर्घसोम" रूप से स्तुति (व्यर्था) व्यर्थ है, क्योंकि (अविशेषात्) ज्योतिष्टोम की सब संस्थाओं में सोम समान है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है–

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग की उक्त सप्त संस्थाओं के मध्य "अग्निष्टोम" संस्था प्रकृति तथा "उक्थ्य" आदि सम्पूर्ण संस्था विकृति हैं और "**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**" के अनुसार प्रकृति में स्थित सोम का ही विकृति में अतिदेश होता है और प्रकृति में केवल दशमुष्टिपरिमित सोम है अधिक नहीं, इसलिये "उक्थ्य" आदि विकृति में अधिक सोम का होना असंभव है

और उसके न होने से "अग्निष्टोम" की अपेक्षा "उक्थ्य" आदि की उक्त स्तुति करना निरर्थक है।

तात्पर्य्य यह है कि ज्योतिष्टोम की सब संस्था समान हैं उनके मध्य किसी में सोम न्यून तथा किसी में अधिक नहीं कहसक्ते और सबमें सोम के समान होने से "सन्तर्दन" का उपयोग भी समान है इसलिये उसका केवल "उक्थ्य" आदि में ही निवेश मानना ठीक नहीं किन्तु "उक्थ्य" आदि की भांति अग्निष्टोम में भी निवेश मानना उचित है।

सं०-अब उक्ताशङ्का का समाधान करते हैं :-

स्यादनित्यत्वात् । ३० ।

पद०-स्यात् । अनित्यत्वात् ।

पदा०-(स्यात्) उक्थ्य आदि में सोम अधिक होसक्ता है, क्योंकि (अनित्यत्वात्) दशमुष्टिपरिमाण का विधायक शास्त्र अनित्य है।

भाष्य-यद्यपि प्रकृति में स्थित सोम का ही विकृति में अतिदेश होता है तथापि "उक्थ्य" आदि में सोम का अधिक होना सम्भव है, क्योंकि दशमुष्टिपरिमाण के विधायक शास्त्र का अपवाद देखने से उसके अनित्य होने का निश्चय होता है इससे "उक्थ्य" आदि में सोम का अधिक होना भी निश्चित है इसलिये स्तुति व्यर्थ नहीं, अतएव यही मानना ठीक है कि "सन्तर्दन" का "उक्थ्य" आदि में उत्कर्ष होता है अग्निष्टोम में निवेश नहीं।

सं०-अब "प्रवर्ग्य" नामक कर्म के निषेध का प्रथम प्रयोग में निवेश कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

संख्यायुक्तं क्रतोः प्रकरणात्स्यात् । ३१ ।

पद०—संख्यायुक्तं । क्रतोः । प्रकरणात् । स्यात् ।

पदा०—(संख्यायुक्तं) संख्यावाचीप्रथमपद वाला वाक्य (क्रतोः) ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी "प्रवर्ग्य" नामक कर्म का निषेधक (स्यात्) है क्योंकि (प्रकरणात्) उसके प्रकरण में उक्त वाक्य का पाठ है ।

भाष्य—"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "**न प्रथमयज्ञे प्रवृञ्ज्यात्**"=प्रथम यज्ञ* में "प्रवर्ग्य" नामक कर्म न करे, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें "प्रथमयज्ञ" पद "ज्योतिष्टोम" का वाचक है किंवा प्रथम प्रयोग† का वाचक है अर्थात् उक्त वाक्य में जो "प्रवर्ग्य" नामक कर्म का निषेध किया गया है उसका "ज्योतिष्टोम" याग मात्र में निवेश है कि किसी "ज्योतिष्टोम" याग में "प्रवर्ग्य" संज्ञक कर्म न करे अथवा उक्त याग के अग्निष्टोम सम्बन्धी प्रथम प्रयोग में निवेश है कि ज्योतिष्टोम के प्रथम प्रयोग में "प्रवर्ग्य" कर्म न करे दूसरे, तीसरे प्रयोग में करे? यह सन्देह है,इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पढ़ा है और "**एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः**"=सब यज्ञों के मध्य "ज्योतिष्टोम" प्रथमयज्ञ है, इस वाक्य से ज्योतिष्टोम याग का नाम "प्रथमयज्ञ" पाया जाता है इसलिये उक्त निषेध का

---

* यज्ञ, याग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ।

† प्रयोग तथा अनुष्ठान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, एक ही कर्म के कई बार अनुष्ठान पक्ष में जो पहला अनुष्ठान है उसका नाम "प्रथम प्रयोग" है ।

"प्रथमयज्ञ" पद के वाची "ज्योतिष्टोम" मात्र में निवेश होना उचित है ज्योतिष्टोम के अग्निष्टोमसम्बन्धी प्रथम प्रयोग में नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

नैमित्तिकं वा कर्तृसंयोगाल्लिङ्गस्यतन्निमित्तत्वात्। ३२।

पद०-नैमित्तिकं। वा। कर्तृसंयोगात्। लिङ्गस्य। तन्निमित्तत्वात्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (कर्तृसंयोगात्) कर्त्ता की प्रथम प्रवृत्ति के निमित्त से (नैमित्तिकं) उक्त वाक्य में ज्योतिष्टोम का "प्रथमयज्ञ" नाम कथन किया है, क्योंकि (लिङ्गस्य) लोक में प्रथम, द्वितीय इस प्रकार का व्यवहार (तन्निमित्तत्वात्) कर्ता की प्रथम प्रवृत्ति आदि के निमित्त से देखा जाता है।

भाष्य-उक्त वाक्य में जो ज्योतिष्टोम का "प्रथमयज्ञ" के नाम से कथन किया है वह रूढ़ि के अभिप्राय से नहीं किया किन्तु कर्ता की प्रवृत्ति के अभिप्राय से किया है अर्थात् जैसे लोक में कर्ता की प्रथम प्रवृत्ति से सिद्ध हुए कर्म को प्रथम, द्वितीय प्रवृत्ति से सिद्ध हुए कर्म को द्वितीय तथा तृतीय प्रवृत्ति से सिद्ध हुए कर्म को तृतीय कर्म कहते हैं वैसे ही उक्त वाक्य में भी ज्योतिष्टोम याग सम्बन्धी प्रयोगों की आवृत्तिपक्ष का अनुसन्धान करके कर्ता की प्रथम प्रवृत्ति से सिद्ध हुई प्रथम आवृत्ति को प्रथम यज्ञ कथन किया है "प्रथम यज्ञ" ज्योतिष्टोम का रूढ़ि नाम है इस अभिप्राय से कथन नही किया, और "एष वाव" वाक्य में जो ज्योतिष्टोम याग को

प्रथम यज्ञ कहा है वह भी उक्त याग सब यागों के मध्य प्रथम अनुष्ठेय है इस अभिप्राय से कहा है ।

तात्पर्य्य यह है कि प्रथम द्वितीय आदि शब्द वस्तुतः कर्म की आवृत्ति में मुख्य हैं और कर्मसाध्य वस्तु में उनका उपचार से प्रयोग होता है जैसाकि वेद तथा लोक में प्रथम अध्ययन के योग्य होने से "प्रथमकाण्ड" द्वितीय अध्ययन के योग्य होने से "द्वितीयकाण्ड" और प्रथम उत्पन्न होने से प्रथम पुत्र तथा द्वितीय बार उत्पन्न होने से द्वितीय पुत्र, यह उपचार से व्यवहार होता है, इसी प्रकार ज्योतिष्टोम याग के आवृत्ति पक्ष में भी प्रत्यावृत्ति प्रथम आदि संख्या का सम्बन्ध होसक्ता है और उसके होने से आवृत्ति भेद के कारण प्रथम आवृत्ति का नाम प्रथमयज्ञ तथा द्वितीय आवृति का नाम द्वितीययज्ञ आदि कथन बन सक्ता है आवृति तथा प्रयोग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और उक्त कथन के बनजाने से स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम याग की प्रथम आवृति में ही "प्रवर्ग्य" संज्ञक कर्म का निषेध किया है प्रत्यावृत्ति अर्थात् ज्योतिष्टोम के प्रयोग मात्र में नहीं, इसलिये उक्त निषेध का निवेश ज्योतिष्टोम याग के प्रथम प्रयोग में है सर्वत्र नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि ज्योतिष्टोम याग की सात संस्था हैं उनके मध्य प्रति संस्था प्रथम प्रयोग में उक्त निषेध का निवेश नहीं किन्तु प्रथम संस्थारूप अग्निष्टोम के प्रथम प्रयोग में ही उक्त निषेध का निवेश है उसमें भी प्रत्येक कर्ता के अग्निष्टोमसम्बन्धी प्रथम प्रयोग में निवेश नहीं कहसक्ते, क्योंकि अन्य संस्था की भांति उसमें भी "प्रवर्ग्य" संज्ञक कर्म का विधान पाया जाता है जैसाकि "**पुरस्तादुपसदां प्रवर्ग्यं प्रवृणक्ति**" = "उपसद्" होमों से पूर्व "प्रवर्ग्य"

संज्ञक कर्म करे, इत्यादि वाक्यों से ज्योतिष्टोम की संस्थामात्र में "प्रवर्ग्य" नामक कर्म का विधान करके पश्चात् कहा है कि **"अग्निष्टोमे प्रवृणक्ति"** = अग्निष्टोम में "प्रवर्ग्य" कर्म करे, इसलिये **"कामं तु योऽनूचानः स्यात्, तस्य प्रवृञ्ज्यात्"** = अग्निष्टोम का यदि वेदवित् यजमान हो तो "प्रवर्ग्य" कर्म अवश्य करे, इस वाक्यविशेष के आधार से जिस अग्निष्टोम याग का वेदवित् यजमान नहीं है उसके प्रथम प्रयोग में "प्रवर्ग्य" कर्म के निषेध का निवेश है अग्निष्टोम के सब प्रथम प्रयागों में नहीं।

सं०—अब "पौष्ण पेषण" का विकृति याग में विनियोग कथन करते हैं:—

पौष्णं पेषणं विकृतौ प्रतीयेता-चोदनात्प्रकृतौ । ३३ ।

पद०—पौष्णं। पेषणं। विकृतौ। प्रतीयेत। अचोदनात्। प्रकृतौ।

पदा०—(पौष्णं) सब पदार्थों को बढ़ाने तथा पुष्ट करने वाले परमात्मा के उद्देश से प्रदेय पदार्थ का जो (पेषणं) पीसकर प्रदान विधान किया है उसका (विकृतौ) पूषदेवताक विकृति याग में विनियोग (प्रतीयेत) जानना चाहिये, क्योंकि (प्रकृतौ) "दर्शपूर्णमास" याग में (अचोदनात्) पूषा देवता की विधि नहीं पाई जाती।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में **"तस्मात्पूषा-प्रपिष्टभागः"** = पूषा परमात्मा के उद्देश से पदार्थ को पीसकर देना चाहिये, यह वाक्य पढ़ा है, उक्त वाक्य में जो पूषा परमात्मा के उद्देश से पिसान के प्रदान का विधान किया है उसका "दर्शपूर्णमास" रूप प्रकृति याग में निवेश है किंवा **"पौष्णं चरुम्"**

इत्यादि वाक्य विहित विकृति याग में निवेश है? यह सन्देह है, निवेश तथा विनियोग यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इस सन्देह की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि उक्त प्रकृति याग में पूषा-परमात्मा के उद्देश से किसी पदार्थ के प्रदान का विधान नहीं पाया जाता और उक्त वाक्य में पूषा के उद्देश से दातव्य पदार्थ का पेषण करके देना कथन किया है और "पौष्णंचरुम्" इत्यादि वाक्य विहित पूषदेवताक विकृति याग में चरु आदि का प्रदान स्पष्ट है, इसलिये पेषण का उक्त विकृति याग में ही निवेश है प्रकृति में नहीं।

सं०—अब उक्त "पेषण" का केवल "चरु" में निवेश कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तत्सर्वार्थमविशेषात् ॥ ३४ ॥

पद०—तत्। सर्वार्थम्। अविशेषात्।

पदा०—(तत्) उक्त "पेषण" का (सर्वार्थ) पूषा परमात्मा के उद्देश से सब प्रदेय पदार्थों में निवेश होना चाहिये, क्योंकि (अविशेषात्) उसका विधान समान रूप से पाया जाता है।

भाष्य—पूर्वाधिकरण में यह सिद्ध किया कि "पेषण" का विकृति याग में निवेश है परन्तु विकृति याग तीन हैं और उनके मध्य एक में "चरु" दूसरे में श्याम "पशु" तथा तीसरे में 'पुरोडाश' प्रदेय द्रव्य हैं जैसाकि कहा है कि "पौष्णंचरुमनुनिर्वपेत्" "पौष्णं श्याममालभेतान्नकामः" "पशुमालभ्य पुरोडाशं निर्वपति" ३ = सब पदार्थों को बढ़ाने तथा पुष्ट करने वाले पूषा परमात्मा के उद्देश से "चरु" का प्रदान करे १. अन्न की कामना वाला श्याम पशु का प्रदान करे २ और उक्तपशु का

प्रदान करके पश्चात् पुरोडाश का प्रदान करे ३, "पेषण" का उक्त तीनों द्रव्यों में निवेश है किंवा केवल चरु में ही निवेश है? अब यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि पूषा परमात्मा के उद्देश से जिन पदार्थों का प्रदान किया जाता है उन सब के पेषण का "तस्मात्पूषाप्रपिष्टभागः" इस वाक्य से विधान पाया जाता है किसी एक प्रदेय पदार्थ के पेषण का नहीं, क्योंकि पेषण के विधायक उक्त वाक्य में जो "प्रपिष्टभागः" पद है जिससे प्रदेय द्रव्य के पेषण का ग्रहण होता है वह सामान्य अर्थ का वाचक है अर्थात् उससे पिष्ट द्रव्यमात्र पूषा का भाग ज्ञात होता है पिष्ट चरु किंवा पिष्ट पशु अथवा पिष्ट पुरोडाश ज्ञात नहीं होता और इस प्रकार विशेष द्रव्य के ज्ञात न होने से किसी एक द्रव्य विशेष में पेषण का नियम भी नहीं कर सक्ते।

तात्पर्य्य यह है कि विशेष नियम के लिये विशेष नियामक की आवश्यकता है और पेषण विधायक वाक्य से इस प्रकार की कोई विशेषता नहीं पाई जाती जिससे प्रदेय द्रव्यों के मध्य किसी एक द्रव्य में पेषण के विनियोग का नियम किया जाय इसलिये पूर्वाधिकरण के अनुसार विकृति याग में विनियुक्त हुए "पेषण" का पूषा परमात्मा के उद्देश से प्रदेय चरु, पशु तथा पुरोडाश इन तीनों द्रव्यों में विनियोग है केवल "चरु" में नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

चरौवाऽर्थोक्तं पुरोडाशेऽर्थविप्रतिषेधात् पशौ न स्यात्। ३५।

पद०—चरौ। वा। अर्थोक्तं। पुरोडाशे। अर्थविप्रतिषेधात्। पशौ। न। स्यात्।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (चरौ) केवल चरु में उक्त पेषण का निवेश है सर्वत्र नहीं, क्योंकि (पुरोडाशे) पुरोडाश में (अर्थोक्तं) वह प्रथम ही अर्थ से प्राप्त है और (अर्थविप्रतिषेधात्) पेषण रूप अर्थ का असम्भव होने से (पशौ) पशु में (न, स्यात्) वह स्वयं नहीं होसक्ता।

भाष्य—यद्यपि "पेषण" के विधायक उक्त वाक्य में सामान्य रूप से पेषण का विधान किया है तथापि उसका "चरु" में ही निवेश मानना उचित है पुरोडाश तथा पशु में नहीं, क्योंकि पुरोडाश सर्वदा पिसान का ही बनाया जाता है और पेषण के बिना पिसान नहीं होसक्ता इससे उसमें पेषण प्रथम ही अर्थ से प्राप्त है और जिसमें जो प्रथम ही प्राप्त है उसमें उसके निवेश की कोई आवश्यकता नहीं, और पशु का पेषण नहीं होसक्ता क्योंकि वह अन्नादि नहीं है और पेषण अन्नादि का ही देखा जाता है पशु का नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि पशु पेषण = पीसने के योग्य नहीं है और जो जिस योग्य नहीं है उसमें उसका निवेश मानना अनुचित है, दूसरे शास्त्र पशु के प्रदान का विधान करता है पिष्ट पशु के प्रदान का नहीं इसलिये उक्त पेषण का चरु में ही निवेश है चरु, पशु तथा पुरोडाश तीनों में नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं:—

चरावपीतिचेत्। ३६।

पद०—चरौ। अपि। इति। चेत्।

पदा०—(चरौ, अपि) चरु में भी पेषण का असम्भव है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य-पके हुए विशद भात का नाम "चरु" है अर्थात् मिट्टी की छोटी सी हांडी में चार मुट्ठी चावल डालकर पकाने से विशद अर्थात् जुदा २ जिस में चावल हों ऐसा जो भात बन जाता है उसको "चरु" कहते हैं, यदि उसमें पेषण का निवेश मानें अथवा प्रथम ही चावलों को पीसकर पकाया जाय तो "चरु" नहीं बनेगा किन्तु यवागू = लापसी बनजायगी और शास्त्र से "चरु" के प्रदान का विधान पाया जाता है लापसी का नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे पशु में पेषण का निवेश असम्भव है वैसे ही चरु में भी पेषण के निवेश का असंभव है इसलिये "चरु" में भी पेषण का निवेश मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न पक्तिनामत्वात्। ३७।

पद०-न। पक्तिनामत्वात्।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (पक्तिनामत्वात्) पके हुए भात विशेष का नाम "चरु" है।

भाष्य-जिसमें से पानी = मांड़ निकाला नहीं जाता ऐसे मिट्टी की हांडी में पके हुए भात विशेष का नाम "चरु" है उसमें विशद तथा अविशद का कोई नियम नहीं और उसका नियम न होने से उसमें पेषण का निवेश मानना भी अनुचित नहीं है, क्योंकि उसमें उसका निवेश होसक्ता है पशु में पेषण के निवेश की भांति उसके निवेश का असम्भव नहीं इसलिये "चरु" में ही पेषण का निवेश मानना ठीक है पशु तथा पुरोडाश में नहीं।

सं०-अब उक्त पेषण का एकदेवताक अर्थात् पौष्णचरु में ही निवेश है द्विदेवताक अर्थात् सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण चरु में

नहीं, यह कथन करते हैं :-

एकस्मिन्नेकसंयोगात् । ३८ ।

पद०–एकस्मिन् । एकसंयोगात् ।

पदा०–(एकस्मिन्) एकदेवताक चरु में ही पेषण का निवेश है द्विदेवताक चरु में नहीं, क्योंकि (एकसंयोगात्) पेषणविधायक वाक्य से एकदेवताक चरु के साथ ही उसका सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य—" राजसूय " याग के प्रकरण में " **सौमापौष्णं चरुं निर्वपति** [१] **ऐन्द्रापौष्णं चरुं** "[२] = सोम्य तथा पुष्टिकर्ता परमात्मा के उद्देश से "चरु" का प्रदान करे? निरतिशय ऐश्वर्य्य-वान् जगत्पोषक परमात्मा के उद्देश से चरु का प्रदान करे २ इत्यादि वाक्यों से द्विदेवताक अर्थात् " सौमापौष्ण " तथा " ऐन्द्रापौष्ण " दो चरुओं के प्रदान का विधान किया है, उक्त पेषण का इन दोनों चरुओं में निवेश होता है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन आगे के पूर्वपक्ष सूत्र में निरूपण करेंगे, सिद्धान्ती का कथन यह है कि पेषणविधायक वाक्य में केवल एकपूषदेवताक अर्थात् पौष्ण चरु के साथ ही पेषण का सम्बन्ध पाया जाता है सोम, पूष किंवा इन्द्र, पूष द्विदेवताक अर्थात् " सौमापौष्ण " तथा " ऐन्द्रा-पौष्ण " चरु के साथ नहीं और राजसूय याग में सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण चरु के प्रदान का विधान किया है पौष्ण चरु का नहीं, सोम तथा पूषा के उद्देश से जिस चरु का प्रदान किया जाता है उसको "**सौमापौष्ण**" इन्द्र तथा पूषा के उद्देश से

जिस चरु का प्रदान किया जाता है उसको "ऐन्द्रापौष्ण" और केवल पूषा के उद्देश से जिस चरु का प्रदान किया जाता है उसको "पौष्ण" कहते हैं, और उक्त वाक्य से जिस चरु के साथ पेषण का सम्बन्ध नहीं पाया जाता उसमें उसका निवेश नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि पेषण के विधायक वाक्य में केवल पूषा का ही प्रपिष्टभाग कथन किया है सोम पूषा किंवा इन्द्र पूषा दोनों का नहीं इससे स्पष्ट है कि उक्त वाक्य में जिसका प्रपिष्टभाग कथन किया है उसीके उद्देश से प्रदेय चरु में पेषण का निवेश होना उचित है दूसरे के उद्देश से प्रदेय चरु में नहीं, सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण यह दोनों चरु दूसरे के उद्देश से प्रदेय हैं पूषा के उद्देश से नहीं, क्योंकि यह द्विदेवताक हैं इसलिये इनमें पेषण का निवेश नहीं होसक्ता ।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

धर्मविप्रतिषेधाच्च । ३९ ।

पद०-धर्मविप्रतिषेधात् । च ।

पदा०-(च) और (धर्मविप्रतिषेधात्) दोनों के धर्मों का परस्पर विरोध होने से भी द्विदेवताक चरु में पेषण का निवेश नहीं होसक्ता ।

भाष्य-पेषणविधायक वाक्य में केवल पूषा का भाग पिष्ट कथन किया है इससे ज्ञात होता है कि सोम तथा इन्द्र दोनों का भाग पिष्ट नहीं किन्तु अपिष्ट है । पेषण किये हुए अर्थात् पीसे हुए को "पिष्ट" और उससे विपरीत को "अपिष्ट"

कहते हैं, पेषण तथा अपेषण यह दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म हैं एक पदार्थ में कदापि इकट्ठे नहीं रह सक्ते, और "सौमापौष्ण" तथा "ऐन्द्रापौष्ण" यह दोनों चरु केवल पूषा का भाग नहीं किन्तु सोम पूषा तथा इन्द्र पूषा दोनों का भाग हैं, इससे इनमें पेषण तथा अपेषण दोनों धर्मों का निवेश अवश्य मानना पड़ता है परन्तु वह परस्पर विरोध के कारण नहीं होसक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे अन्धकार और प्रकाश यह दोनों परस्पर विरुद्ध होने के कारण एक स्थान में नहीं रह सक्ते वैसेही पूषा के भाग का धर्म पेषण और सोम आदि के भाग का धर्म अपेषण भी परस्पर विरुद्ध हैं इससे यह दोनों भी "सौमा पौष्ण" तथा "ऐन्द्रा पौष्ण" चरु रूप एक स्थान में इकट्ठे नहीं रह सक्ते और जो एक स्थान में इकट्ठे नहीं रह सक्ते उनके निवेश की कल्पना करना व्यर्थ है इसलिये पेषण का एकदेवताक पौष्ण चरु में निवेश होने पर भी "द्विदेवताक सौमापौष्ण" तथा "ऐन्द्रा पौष्ण" चरु में नहीं होसक्ता।

सं०—अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

अपि वा सद्वितीये स्याद् देवतानिमित्तत्वात् ।४०।

पद०—अपि। वा। सद्वितीये। स्यात्। देवतानिमित्तत्वात्।

पदा०—"अपि" "वा" यह दोनों शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आये हैं (सद्वितीये) द्विदेवताक चरु में भी (स्यात्) पेषण का निवेश होना चाहिये, क्योंकि (देवतानिमित्तत्वात्) उसके निवेश का निमित्त देवता उसमें विद्यमान है।

भाष्य-पेषण के निवेश का निमित्त "पूषा" देवता जैसे पौष्ण चरु में विद्यमान है वैसे ही सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण चरु में भी विद्यमान है और निमित्त के विद्यमान होने से नैमित्तिक का विद्यमान होना आवश्यक है।

तात्पर्य्य यह है कि निमित्त का सद्भाव होने पर नैमित्तिक के सद्भाव का वर्जन नहीं होसक्ता और पेषण के निमित्त पूषा देवता का उक्त दोनों चरुओं में सद्भाव स्पष्ट है इसलिये पौष्ण चरु की भांति "सौमापौष्ण" तथा "ऐन्द्रापौष्ण" चरु में भी "पेषण" निवेश होना चाहिये।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं:-

लिङ्गदर्शनाच्च ।४१।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"सौमापौष्णंचरुंनिर्वपेन्नेमपिष्टं पशुकामः"= पशु की कामना वाला पुरुष सौम्य तथा पुष्टिकारक परमात्मा के उद्देश से अर्द्धपिष्ट चरु का निर्वाप करे, इस वाक्य में जो "सौमापौष्ण" चरु का "नेमपिष्ट" विशेषण कथन किया है वह उक्त द्विदेवताक "सौमापौष्ण" तथा "ऐन्द्रापौष्ण" चरुओं में पेषण के निवेश का साधक "लिङ्ग" है, इससे सिद्ध होता है कि उक्त दोनों चरुओं में पेषण का निवेश होता है, यदि निवेश न होता तो उक्त विशेषण का उपन्यास न किया जाता अर्थात् "नेमपिष्ट" शब्द का अर्थ "अर्द्धपिष्ट" है और सौमापौष्ण चरु अर्द्धपिष्ट तभी होसक्ता है जब उसके आधे भाग में पेषण का निवेश माना जाय

और सौमापौष्ण चरु में आधा भाग पूषा का और आधा भाग सोम का है इससे स्पष्ट होजाता है कि पूषा के अर्धभाग में पेषण का निवेश होने से ही उसको अर्द्धपिष्ट कहा गया है।

और जो यह कथन किया है कि पेषण तथा अपेषण का परस्पर विरोध होने के कारण एक चरु में निवेश नहीं होसक्ता, सो ठीक नहीं, क्योंकि दोनों का युगपत् एक धर्मी में निवेश मानने पर ही उक्त दोष आसक्ता है अन्यथा नहीं और उक्त चरुओं में तो अपेषण प्रथम से सिद्ध है उसके निवेश की कोई आवश्यकता नहीं केवल उसके पौष्णभाग में पेषण का निवेश किया जाता है इससे दोनों का विरोध नहीं होसकता।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे अवच्छेदक भेद से एक ही वृक्षरूपधर्मी में शाखावच्छेदेन कपिसंयोग और मूलावच्छेदेन कपिसंयोगाभाव दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म रहसक्ते हैं वैसे ही उक्त दोनों चरुरूपधर्मियों में भाग के भेद से पेषण तथा अपेषण दोनों विरुद्ध धर्मों का निवेश होसक्ता है इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये उक्त लिङ्ग से सिद्ध हुआ कि "पौष्ण" की भांति "सौमापौष्ण" तथा "ऐन्द्रापौष्ण" दोनों द्विदेवताक चरुओं में भी "पेषण" का निवेश है।

सं०—ननु, **"सौमापौष्णां चरुं निर्वपेन्नेमापिष्टं पशुकामः"** यह अर्द्ध पिष्ट का विधायक वाक्य है लिङ्ग नहीं, इसलिये इससे उक्त अर्थ की सिद्धि नहीं होसक्ती ? उत्तर :—

वचनात्सर्वपेषणं तं प्रति शास्त्रवत्त्वादर्थाभा-वाद् द्विचरावपेषणं भवति । ४२ ।

पद०—वचनात् । सर्वपेषणं । तं । प्रति । शास्त्रवत्त्वात् । अर्थाभावात् । द्विचरौ । अपेषणं । भवति ।

पदा०-(वचनात्) यदि उक्त वाक्य को नेमपिष्ट का विधायक मानें तो उससे (सर्वपेषणं) पशु, पुरोडाश तथा चरु सबमें पेषण मानना पड़ता है, क्योंकि (तं, प्रति) उसके मानने से ही (शास्त्र-वत्त्वात्) उक्त वाक्य अर्थ वाला होसक्ता है और (अर्थाभावात्) यदि असम्भव तथा फलाभाव के कारण पशु और पुरोडाश में न मानें तो (द्विचरौ) सौमापौष्ण चरु में भी (अपेषणं, भवति) वह (पेषण) नहीं बन सक्ता ।

भाष्य-यदि उक्त वाक्य को विधायक मानें तो यह प्रश्न अवश्य उत्पन्न होता है कि उक्त वाक्य चरु मात्र के उद्देश से "अर्द्धपेषण" का विधान करता है किंवा "सौमापौष्ण" के उद्देश से अथवा "सौमापौष्ण" तथा "चरु" दोनों के उद्देश से उसका विधान करता है ? प्रथमपक्ष में "सौमापौष्ण" चरु के अतिरिक्त ऐन्द्र, सौर्य्य आदि जितने चरु हैं सब का और द्वितीय-पक्ष में पशु तथा पुरोडाश का भी अर्द्धपेषण होना उचित है क्योंकि वह दोनों भी "सौमापौष्ण" हैं, और "ऐन्द्रापौष्ण" चरु में उसका होना अनुचित है, क्योंकि वह ऐन्द्रापौष्ण होने के कारण सौमापौष्ण नहीं है, यदि पशु में असम्भव तथा पुरोडाश में व्यर्थ होने के कारण अर्द्ध पेषण न मानें तो चरु में भी व्यर्थ होने के कारण वह न होना चाहिये, यदि तृतीयपक्ष स्वीकार करें तो उस के स्वीकार करने में एक तो वाक्य भेद दोष है, क्योंकि एक ही वाक्य युगपत् दो अर्थ का विधान नहीं कर सक्ता, दूसरे द्वितीय-पक्ष की भांति "ऐन्द्रापौष्ण" चरु का भी अर्द्ध पेषण नहीं होसक्ता और उसका होना आवश्यक है, इस प्रकार उक्त वाक्य के विधा-यक मानने में अनेक दोष हैं जिनका परिहार होना कठिन है, इसलिये उसको विधि मानना ठीक नहीं, किन्तु लिङ्ग मानना ही ठीक है ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य पशु रूप फल के उद्देश से याग मात्र का विधान करता है अर्द्ध पेषण का नहीं, क्योंकि पूषा के सम्बन्ध से वह प्रथम ही प्राप्त है और जो प्रथम प्राप्त है उसका विधान नहीं होसक्ता, इसलिये उसका अनुवाद मानकर " लिङ्ग " मानना ही उचित है ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

एकस्मिन् वाऽर्थधर्मत्वादैन्द्राग्नवदुभयो-र्नस्यादचोदितत्वात् । ४३ ।

पद०–एकस्मिन् । वा । अर्थधर्मत्वात् । ऐन्द्राग्नवत् । उभयोः । न । स्यात् । अचोदितत्वात् ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (ऐन्द्राग्नवत्) जैसे चतुर्द्धाकरण का एकदेवताक आग्नेय पुरोडाश में ही निवेश है द्विदेवताक ऐन्द्राग्न पुरोडाश में नहीं वैसे ही (एकस्मिन्) एकदेवताक पौष्ण चरु में ही (स्यात्) पेषण का निवेश होता है (उभयोः) द्विदेवताक " सौमापौष्ण " तथा " ऐन्द्रा-पौष्ण " चरु में (न) नहीं, क्योंकि (अर्थधर्मत्वात्) पिष्टभाग याग का धर्म अभिप्रेत है और उसका (अचोदितत्वात्) सौमापौष्ण आदि में विधान नहीं ।

भाष्य–" तस्मात्पूषा प्रपिष्टभागः " वाक्य में पूषा का भाग प्रपिष्ट है यह कथन अभिप्रेत नहीं किन्तु पुष्टिकारक पूषा परमात्मा के उद्देश से जिस याग में चरु का प्रदान किया जाता है वह प्रपिष्ट होना चाहिये यह कथन अभिप्रेत है, और ऐसा कथन अभिप्रेत होने से प्रपिष्टभाग पूषदेवताक याग का धर्म सिद्ध होता है पूषा देवता का नहीं, यदि देवता का धर्म सिद्ध होता तो जहां २

सौमापौष्ण तथा ऐन्द्रापौष्ण आदि यागों में पूषा देवता का सम्ब-न्ध है वहां २ सर्वत्र पेषण का निवेश माना जाता परन्तु याग का धर्म सिद्ध होने से सौमापौष्ण आदि में पेषण का निवेश नहीं मान सक्के, क्योंकि पूषदेवताक याग से सोम, पूष तथा इन्द्र पूष द्विदेवताक दोनों याग भिन्न हैं और एक याग के धर्म का दूसरे भिन्न यागों में निवेश नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे चतुर्द्धाकरण केवल आग्नेय पुरोडाश का ही धर्म है ऐन्द्राग्न पुरोडाश का नहीं वैसे ही पेषण भी केवल पौष्ण चरु का ही धर्म है "सौमापौष्ण" तथा "ऐन्द्रापौष्ण" चरु का नहीं, इसलिये पेषण का उक्त द्विदेवताक दोनों चरुओं में निवेश मानना ठीक नहीं ।

सं०-ननु, "तस्मात्पूषा" वाक्य के अन्त में "अदन्तको हि सः"=वह दन्त हीन है, यह वाक्यशेष पढ़ा है, इसमें पूषा को "दन्तहीन" कथन करने से प्रपिष्टभाग उसका धर्म प्रतीत होता है याग का नहीं ? उत्तर :-

हेतुमात्रमदन्तत्वम् । ४४ ।

पद०-हेतुमात्रम् । अदन्तत्वम् ।

पदा०-(अदन्तत्वं) उक्त वाक्य के शेष में जो अदन्तत्व कथन किया है वह (हेतुमात्रं) देवतामात्र के शरीर रहित होने में हेतु जानना चाहिये ।

भाष्य-उक्त वाक्य के शेष में जो "अदन्तको हि सः" से अदन्तता कथन की है उसका तात्पर्य्य पूषा के अदन्त होने में नहीं किन्तु देवतामात्र के शरीर रहित होने में तात्पर्य्य है, इसलिये

उससे दन्तहीन होना पूषा का धर्म सिद्ध नहीं होसक्ता और उसके सिद्ध न होने से प्रपिष्टभाग को उसका धर्म मानना भी ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य के शेष में जो "अदन्तक" पद है वह "न, दन्त" इन दो पदों के मिलने से बना है इसमें "न" पद का अर्थ "नहीं" और "दन्त" पद का अर्थ दन्त सम्बन्धी* शरीर है केवल दन्त नहीं, और "बहुब्रीहि" समास द्वारा उक्तार्थक दोनों पदों के मिलने से "अदन्तक" पद सिद्ध होता है, और "स" पद से बुद्धिस्थ देवता मात्र का परामर्श है, इससे उक्त वाक्यशेष का यह अर्थ होता है कि जो वैदिक सिद्धान्त में देवता शब्द का अर्थ विवक्षित है वह शरीरधारी नहीं किन्तु शरीररहित है, इस प्रकार उक्त वाक्य शेष का अर्थ होने से यह स्पष्ट होजाता है कि "अदन्तत्व" पूषा का धर्म नहीं, और उसके न होने से प्रपिष्टभाग को भी उसका धर्म नहीं कह सक्ते ।

सार यह निकला कि जैसे "अदन्तत्व" पूषा का धर्म नहीं वैसे ही प्रपिष्टभाग भी उसका धर्म नहीं किन्तु पूषदेवताक याग का धर्म है, और याग का धर्म होने से एकदेवताक "पौष्ण" चरु में ही पेषण का निवेश होसक्ता है द्विदेवताक "सौमापौष्ण" तथा "एन्द्रापौष्ण" चरु में नहीं, इसलिये उसका उनमें निवेश मानना अनुचित है ।

सं०—ननु, पूर्वोक्त लिङ्ग से निवेश सिद्ध है वह अनुचित कैसे होसक्ता है ? उत्तर :—

---

* जैसे "अप्राणोह्यमनाःशुभ्र" इस औपनिषद श्रुति में मन तथा प्राण दोनों पद मन, प्राण सम्बन्धी शरीर के वाचक हैं और उनके निषेध से शरीर का निषेध अभिप्रेत है वैसे ही "अदन्तक" पद में दन्त पद दन्तसम्बन्धी शरीर का वाचक है और उसके निषेध से शरीर का निषेध अभिप्रेत है ।

वचनंपरम् । ४५ ।

पद०—वचनं । परम् ।

पदा०—(वचनं) वह विधि वाक्य है (परं) लिङ्ग नहीं ।

भाष्य—पेषण के निवेश का साधक जो **"सौमापौष्णंचरुं"** इत्यादि लिङ्ग कथन किया है वह अपूर्व कर्म का विधायक होने से "विधिवाक्य" है लिङ्ग नहीं, इसलिये उससे उक्त अर्थ की सिद्धि नहीं होसक्ती ।

तात्पर्य्य यह है कि "सौमापौष्ण" वाक्य "नेमपिष्ट" पद से प्रथम प्राप्त का अनुवाद नहीं करता किन्तु "सौमापौष्ण" चरु में नेमपिष्टता का विधान करता है, क्योंकि वह प्रथम अप्राप्त होने से अपूर्व है और अपूर्व अर्थ का विधान सर्वसम्मत है और उक्त विधान का "सौमापौष्ण" चरु में ही पर्य्यवसान होने से पूर्वोक्त कोई दोष भी नहीं आता और जो विधिवाक्य होता है वह लिङ्ग कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये उसके बल से "सौमापौष्ण" आदि द्विदेवताक चरुओं में पेषण का निवेश मानना ठीक नहीं ।

इति मीमांसार्य्यभाषा
भाष्ये तृतीयाध्याये
तृतीय पादः

ओ३म्

अथ तृतीयाध्याये चतुर्थःपादः प्रारभ्यते

सङ्गति—अब "निवीतं मनुष्याणां" को अर्थवाद कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

निवीतमितिमनुष्यधर्मः शब्दस्यतत्प्रधानत्वात् । १ ।

पद०—निवीतमितिमनुष्यधर्मः । शब्दस्य । तत्प्रधानत्वात् ।

पदा०—(निवीतमितिमनुष्यधर्मः) "निवीत" यह मनुष्यकर्म का अङ्ग विधान किया है क्योंकि (शब्दस्य) "निवीतंमनुष्याणां" शब्द से (तत्प्रधानत्वात्) मनुष्यकर्म की प्रधानता पाई जाती है ।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "निवीतंमनुष्याणां प्राचीनावीतं पितृणामुपवीतं देवानामुपव्ययते देवलक्ष्ममेवतत्कुरुते" यह वाक्य पढ़ा है इसका अर्थ मी० ३ । १ । २१ के भाष्य पृ० २०६ में किया गया है उसके देखने से वाक्यार्थ तथा निवीत आदि का परिज्ञान भले प्रकार होजायगा, यहां उसके लिखने की कोई आवश्यकता नहीं, इस वाक्य में "उपवीतं देवानां उपव्ययते देवलक्ष्ममेवतत्कुरुते" यह विधिवाक्य निर्णीत है इसका विचार इस अधिकरण में अपेक्षित नहीं है केवल "निवीतं मनुष्याणां" इतना वाक्य विचारणीय है, उक्त वाक्य विधि है किंवा अर्थवाद है अर्थात् इस

में मनुष्यकर्म के अङ्ग निवीत का विधान है अथवा (उपव्ययते) उपवीत विधि की स्तुति है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे "**दध्ना इन्द्रियकामस्य**"=इन्द्रियकाम पुरुष का (अग्निहोत्र) कर्म दधि से करे, इस वाक्य में इन्द्रियकाम पुरुष सम्बन्धी कर्म की प्रधानता से उसके साधन दधि का विधान है वैसे ही "निवीतं मनुष्याणां" में भी मनुष्य सम्बन्धी कर्म की प्रधानता से उसके अङ्ग "निवीत" का विधान किया गया है अर्थात् जिस प्रकार षष्ठ्यन्त "इन्द्रियकाम" पद से पुरुषसम्बन्धी कर्म की प्रधानता पाई जाती है उसी प्रकार षष्ठ्यन्त "मनुष्याणां" पद से भी उक्त कर्म की प्रधानता पाई जाती है और वह प्रधानता निवीत का विधान मानें विना नहीं बन सक्ती, इसलिये उक्त वाक्य मनुष्यसम्बन्धी कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक है अर्थवाद नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में जो षष्ठ्यन्त पद से मनुष्यों का निर्देश किया है उससे उनके साथ निवीत का शेषशेषिभाव सम्बन्ध पाया जाता है और वह निवीत का विधान माने बिना नहीं होसक्ता, क्योंकि अविहित का शेष होना किसी शास्त्र से सिद्ध नहीं है, यदि उसका विधान न मानकर उक्त वाक्य को केवल अर्थवाद माना जाय तो वह सर्वथा निरर्थक होजाता है सो ठीक नहीं, और विधिपक्ष में उक्त दोष नहीं आता प्रत्युत उसके मानने से अपूर्व अर्थ का लाभ, होता है, इसलिये उक्त वाक्य मनुष्यसम्बन्धी कर्म के धर्म निवीत का विधायक है उपवीतविधि का स्तावक अर्थवाद नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

अपदेशो वा अर्थस्य विद्यमानत्वात् । २ ।

पद०-अपदेशः । वा । अर्थस्य । विद्यमानत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द आशङ्का का सूचक है (अपदेशः) उक्त वाक्य अनुवाद है विधि नहीं, क्योंकि (अर्थस्य) निवीत (विद्यमान-त्वात्) प्रथम से लोक सिद्ध है ।

भाष्य-जो अर्थ प्रथम से लोक सिद्ध नहीं अर्थात् अपूर्व है उसी की विधि मानी जासक्ती है दूसरे की नहीं, और निवीत प्रथम से लोक सिद्ध है क्योंकि मनुष्य सम्बन्धी कर्म के अनुष्ठान काल में प्रायः मनुष्य निवीत को ही धारण करते देखे जाते हैं और जो लोक में प्रायः देखा जाता है उसका ब्राह्मण वाक्य में अनुवाद होना संभव है, इसलिये उक्त वाक्य विधि नहीं किन्तु प्रथम लोकसिद्ध का अनुवाद है ।

सं०-अब उक्ताशङ्का का समाधान करते हैं :-

विधिस्त्वपूर्वत्वात् स्यात् । ३ ।

पद०-विधिः । तु । अपूर्वत्वात् । स्यात् ।

पदा-०"तु" शब्द उक्ताशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (विधिः) उक्त वाक्य विधि (स्यात्) है, क्योंकि (अपूर्वत्वात्) निवीतरूप अर्थ अपूर्व है ।

भाष्य-यद्यपि निवीत लोकसिद्ध है तथापि मनुष्यकर्म में वह नियम से प्रथम लोक सिद्ध नहीं और जो प्रथम से लोक सिद्ध नहीं है उसका अनुवाद कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त वाक्य लोक-सिद्ध निवीत का अनुवादक नहीं किन्तु मनुष्यकर्म में नियम से निवीत का विधायक है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष में दूसरा पूर्वपक्ष करते हैं :-

स प्रायात्कर्मधर्मः स्यात् । ४ ।

पद०-स । प्रायात् । कर्मधर्मः । स्यात् ।

पदा०-(स) निवीत (कर्मधर्मः) प्रकृत कर्म का अङ्ग (स्यात्) है क्योंकि (प्रायात्) उसका उसके प्रकरण में पाठ है ।

भाष्य-जिस विधिवाक्य का जिस कर्म के प्रकरण में पाठ है वह उसी कर्म के अङ्ग का विधायक होसक्ता है दूसरे के अङ्ग का नहीं और उक्त वाक्य का पाठ दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में किया गया है, इसलिये वह उक्त कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक है, मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का नहीं अर्थात् अतिथि आदि मनुष्य के उद्देश से जो कर्म किया जाता है उसको "मानुषकर्म" कहते हैं, मानुषकर्म तथा मनुष्यकर्म यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं । उक्त वाक्य इस मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का कदापि विधान नहीं कर सक्ता, क्योंकि उसका उक्त कर्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, और सम्बन्ध के बिना अङ्ग का विधान मानने से अव्यवस्था होजाती है जिससे प्रत्येक विधिवाक्य प्रत्येक कर्म के अङ्ग का विधायक कहा जासक्ता है और दर्शपूर्णमास कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक मानने में उक्त अव्यवस्था दोष नहीं आता, क्योंकि उक्त कर्म के प्रकरण में पठित होने के कारण उक्त वाक्य का उसके साथ सम्बन्ध निःसन्दिग्ध तथा स्पष्ट है और जिसका जिसके साथ सम्बन्ध निःसन्दिग्ध तथा स्पष्ट है वह उसके अङ्ग का विधायक होसक्ता है, इसमें कुछ कथनीय नहीं, इसलिये उक्त वाक्य विधायक होने पर भी मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का

विधायक नहीं किन्तु प्रकृत दर्शपूर्णमास कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक है ।

तात्पर्य्य यह है कि जब मनुष्य दर्शपूर्णमास कर्म करे तब निवीती होकर करे, यह उक्त वाक्य विधान करता है, मानुषकर्म के करने समय निवीती होने का विधान नहीं करता, इसलिये उसको प्रकृत कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक मानना ठीक है मानुष कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष में और विशेषता कथन करते हैं :—

वाक्यस्य शेषवत्त्वात् । ५ ।

पद०—वाक्यस्य । शेषवत्त्वात् ।

पदा०—(वाक्यस्य) उक्त वाक्य (शेषवत्त्वात्) शेष में पठित समाख्या के बल से अध्वर्युकर्तृक प्रकृत कर्म के अङ्ग निवीत का विधायक है सर्वत्र नहीं ।

भाष्य—उक्त वाक्य का शेष "आध्वर्यवं" यह समाख्या है, जिसका अर्थ अध्वर्यु सम्बन्धी कर्म है, उक्त समाख्या तथा प्रकरण दोनों के बल से यह स्पष्ट होजाता है कि उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास संज्ञक कर्म मात्र का अङ्ग निवीत विधान नहीं करता किन्तु उक्त कर्म के मध्य जो २ कर्म अध्वर्यु नामक ऋत्विक् का है उस कर्म का अङ्ग निवीत विधान करता है अर्थात् दर्शपूर्णमास कर्म के अनुष्ठान काल में अध्वर्यु निवीती होकर कर्म करे यह उक्त वाक्य का आशय है इसलिये प्रकृत कर्म के अङ्ग का विधायक होने पर भी वह सम्पूर्ण कर्म का अङ्ग "निवीत" विधान नहीं करता किन्तु अध्वर्युकर्तृक कर्म का अङ्ग विधान करता है यह मन्तव्य है ।

सं०—प्रथम पूर्वपक्षी का एक देशी अब उक्त दूसरे पूर्वपक्ष का समाधान करता है :-

तत्प्रकरणे यत्तत्संयुक्तमविप्रतिषेधात् । ६ ।

पद०—तत् । प्रकरणे । यत् । तत्संयुक्तम् । अविप्रतिषेधात् ।

पदा०—(तत्) उक्त वाक्य (प्रकरणे) दर्शपूर्णमास कर्म के प्रकरण में (यत्) जो मानुष कर्म है (तत्संयुक्तं) उसका अङ्ग निवीत विधान करता है, क्योंकि (अविप्रतिषेधात्) ऐसा करने से षष्ठ्यन्त पद सङ्गत होजाता है ।

भाष्य—यद्यपि उक्त वाक्य दर्शपूर्णमास कर्म के प्रकरण में पढ़ा गया है तथापि वह उसका अङ्ग निवीत विधान नहीं कर सक्ता और न वह उक्त समाख्या के बल से अध्वर्युकर्तृक उक्त कर्म के अङ्ग का ही विधायक होसक्ता है, क्योंकि उसके विधायक होने से "मनुष्याणां" यह षष्ठ्यन्त पद सर्वथा असङ्गत होजाता है अर्थात् उक्त पद का अर्थ मनुष्यसम्बन्धी कर्म है दर्शपूर्णमाससम्बन्धी कर्म नहीं, यदि प्रकरण तथा उक्त समाख्या के बल से प्रकृत कर्म के अङ्ग का विधान माना जाय तो उक्त षष्ठ्यन्त पद के सङ्गत न होने से विधिवाक्य का बाध होजाता है सो ठीक नहीं, क्योंकि वाक्य प्रबल और प्रकरण समाख्या दोनों निर्बल हैं और निर्बल से प्रबल का बाध नहीं होता किन्तु प्रबल से ही निर्बल का सर्वदा बाध होता है यह नियम है, मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का विधान मानने में षष्ठ्यन्त पद भले प्रकार सङ्गत होजाता है और पूर्वोक्त बाध्यबाधकभावरूप कोई दोष भी नहीं आता, उक्त कर्म के प्रकरण में अन्वाहार्य्य * दक्षिणा दान आदि अनेक मानुषकर्म विद्यमान हैं उनका ग्रहण करने से प्रकरण

* प्रतिपर्वकरणीय श्राद्ध का नाम "अन्वाहार्य" कर्म है ।

भी अनुकूल होजाता है और अध्वर्युकर्तृक मानुषकर्म के विद्यमान होने से समाख्या भी अनुकूल होजाती है इसलिये उक्त वाक्य को सम्पूर्ण किंवा अध्वर्युकर्तृक मात्र प्रकृत कर्म के अङ्ग का विधायक मानना ठीक नहीं किन्तु प्रकृत कर्म के अन्तर्गत अन्वाहार्य्य आदि मानुषकर्म क अङ्ग निवीत का विधायक मानना ठीक है।

सं०-अब उक्त एकदेशी के समाधान का खण्डन करके प्रथम पूर्वपक्षी अपने पक्ष का समर्थन करता है :-

तत्प्रधाने वा तुल्यवत्प्रसंख्यानादितरस्य-तदर्थत्वात् । ७ ।

पद०-तत्प्रधाने। वा। तुल्यवत्प्रसंख्यानात्। इतरस्य। तदर्थत्वात्।

पदा०-"वा" शब्द एक देशी समाधान के खण्डनार्थ आया है (तत्प्रधाने) उक्त वाक्य मनुष्यप्रधान निखिल कर्मों में निवीत रूप अङ्ग का विधायक है, क्योंकि (तुल्यवत्प्रसंख्यानात्) उपवीत वाक्य की भांति उससे उक्त कर्म मात्र के अङ्ग का बोध होता है और (इतरस्य) षष्ठ्यन्त "मनुष्याणां" पद (तदर्थत्वात्) उक्त अर्थ में सङ्गत होजाता है।

भाष्य-"**निवीतं मनुष्याणां**" यह उक्त वाक्य का पाठ है, इसमें जो षष्ठ्यन्त "मनुष्याणां" पद है उससे मनुष्य सम्बन्धी कर्म का बोध होता है प्रकृत कर्म सम्बद्ध मनुष्य सम्बन्धी कर्म का नहीं, क्योंकि "मनुष्य" प्रातिपदिक का अर्थ मनुष्य तथा "षष्ठी" विभक्ति का अर्थ सम्बन्ध होने से अन्य अर्थ का बोध होना असंभव है और षष्ठ्यन्त "मनुष्याणां" पद का प्रथमान्त

"निवीतं" पद के साथ सम्बन्ध करने से उक्त वाक्य का यह अर्थ स्पष्ट प्रतीत होता है कि निवीत मनुष्यसम्बन्धी कर्म का अङ्ग है और जो अर्थ जिस वाक्य से स्पष्ट प्रतीत होता है उसको छोड़कर अन्य अर्थ की कल्पना नहीं कीजासक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में उक्त वाक्य पढ़ा है तथापि प्रकरण के बल से उक्त वाक्य के अर्थ का सङ्कोच नहीं होसक्ता, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रबल होता है और जो प्रबल होता है वह निर्बल का कदापि अनुसरण नहीं करता, यह नियम है, इसलिये "मनुष्यसम्बन्धी कर्म का अङ्ग निवीत है" इस उक्त वाक्य के अर्थ का प्रकरण तथा समाख्या के बल से "प्रकृत कर्म सम्बन्धी मनुष्य कर्म का अङ्ग निवीत है" इस प्रकार सङ्कोच करना ठीक नहीं।

सार यह निकला कि उक्त वाक्य यावत् मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का विधान करता है प्रकृत कर्म सम्बन्धी मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का नहीं, क्योंकि वाक्यस्वारस्य से प्रतीत हुए अर्थ का निर्बल होने के कारण प्रकरण तथा समाख्या के अनुसार सङ्कोच नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य विधि है और वह आतिथ्य आदि मनुष्यप्रधान कर्म के अङ्ग निवीत का विधान करता है मनुष्य के अङ्ग किंवा प्रकृत दर्शपूर्णमास सम्बन्धी अन्वाहार्य्य आदि मनुष्यप्रधान कर्म के अङ्ग निवीत का नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अर्थवादो वा प्रकरणात्। ८।

पद०—अर्थवादः। वा। प्रकरणात्।

पदा० "वा" शब्द सिद्धान्त सूचना के लिये आया है (अर्थवादः) उक्त वाक्य उपवीत विधि का स्तावक अर्थवाद है, क्योंकि (प्रकरणात्) प्रकरण से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य–दर्शपूर्णमास देवकर्म है उसके प्रकरण में पठित होने से उक्त वाक्य मानुषकर्म के अङ्ग निवीत का विधान नहीं कर सक्ता, क्योंकि इसमें प्रकृत का परित्याग तथा अप्रकृत का ग्रहण रूप दोष है जिसका अनुसरण ठीक नहीं, उपवीत वाक्य में जैसे "उपव्ययते" यह विधि पद विद्यमान है वैसे उक्त वाक्य में कोई विधि पद उपलब्ध नहीं होता, जिसके बल से निवीत के विधान की कल्पना कीजाय और विधि पद के विना उक्त वाक्य को विधायक मानना ठीक नहीं, और अध्याहार से विधि पद के लाभ की कल्पना करने की अपेक्षा अर्थवाद की कल्पना करना अत्यन्त श्रेय है, क्योंकि इसमें किसी पदान्तर का निवेश नहीं करना पड़ता केवल विद्यमान वाक्य में ही अर्थवादता मात्र की कल्पना करनी पड़ती है और वह युक्तियुक्त होने से उपादेय है ।

तात्पर्य्य यह है कि निवीत मनुष्यकर्म के तथा प्राचीनावीत पितृकर्म के योग्य होने से देवकर्म के अयोग्य है, केवल उपवीत ही उसके योग्य है, इस प्रकार व्यतिरेक द्वारा उपवीत का स्तावक होने से "निवीत" वाक्य अर्थवाद होसक्ता है, इसलिये उसको विधि मानना ठीक नहीं ।

सार यह निकला कि उक्त वाक्य अर्थवाद है विधि नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :–

विधिनाचैकवाक्यत्वात् । ९ ।

पद०–विधिना । च । एकवाक्यत्वात् ।

पदा०-(च) और (विधिना) उपवीत विधिवाक्य के साथ (एकवाक्यत्वात्) उक्त वाक्य की एकवाक्यता उपलब्ध होने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-उपवीत के विधायक "उपव्ययते देवलक्ष्ममेव-तत्कुरुते" वाक्य का नाम यहां "विधि" किंवा "विधिवाक्य" है, इसके साथ "निवीतं मनुष्याणां" वाक्य की एकवाक्यता उपलब्ध होती है, उसके उपलब्ध होने से ज्ञात होता है कि निवीत वाक्य उक्त विधिवाक्य का अर्थवाद है, क्योंकि अर्थवाद माने बिना उक्त एकवाक्यता नहीं होसक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि जो वाक्य परस्पर साकांक्ष होते हैं उन्हीं की एकवाक्यता होती है निराकांक्ष वाक्यों की नहीं, विधिवाक्य को विधेयस्तुति की तथा अर्थवाद वाक्य को फल की आकांक्षा होने से उक्त दोनों वाक्य साकांक्ष हैं और साकांक्ष होने से एक वाक्यता का होना आवश्यक है, जैसाकि प्रथमपाद के "विधिना त्वेकवाक्यत्वात्" सूत्र में निरूपण किया गया है, परन्तु विधि पक्ष में निराकांक्ष होजाने के कारण उक्त एकवाक्यता का बाध होजाता है वह बिना प्रयोजन मानना अनुचित है, इसलिये सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य विधि नहीं किन्तु अर्थवाद है।

सं०-अब "दिग्विभाग" को अर्थवाद कथन करते हैं:-

दिग्विभागश्च तद्वत्सम्बन्धस्यार्थ हेतुत्वात्। १०।

पद०-दिग्विभागः। च। तद्वत्। सम्बन्धस्य। अर्थहेतुत्वात्।

पदा०-(च) और (तद्वत्) निवीत की भांति दिग्विभाग भी अर्थवाद है, क्योंकि(सम्बन्धस्य)उक्तदिक् सम्बन्ध (अर्थहेतुत्वात्) अर्थ का हेतु प्रसिद्ध है।

भाष्य-"ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में "प्राचीन वंशं करोति"= "प्राचीनवंश" नामक मण्डप को बनावे, इस प्रकार "प्राचीनवंश*" नामक मण्डप के बनाने का विधान करके उसके अनन्तर "देवमनुष्याः दिशो व्यभजन्त प्राचीं देवाः दक्षिणां पितरः प्रतीचीं मनुष्याः उदीचीं-रुद्राः"= देव तथा मनुष्यों ने मिलकर उक्त मण्डप की दिशाओं का विभाग किया, देवों ने पूर्वदिशा, पितरों ने दक्षिण दिशा, मनुष्यों ने पश्चिम दिशा तथा रुद्रों ने उत्तरदिशा का विभाग स्वीकार किया, यह वाक्य शेष पढ़ा है,इसमें जो भूत अर्थ के वाची "व्यभजन्त" क्रिया पद का प्रयोग किया है, इससे सन्देह होता है कि उक्त वाक्य-शेष "प्राचीनवंश" नामक मण्डप की स्तुति के लिये भूतपूर्व देव, पितर, मनुष्यें तथा रुद्रों के आचरण का अनुवाद करता है किंवा उक्त मण्डप में बैठने के समय व्यवस्थार्थ दिग्विभाग का विधान करता है अर्थात् "प्राचीनवंश" नामक मण्डप ऐसा है कि

---

* निश्चय कीगई यज्ञभूमी के पश्चिम भाग में जो दश अथवा द्वादश अरत्नि का चौकोन मण्डप बनाया जाता है और जिसके मध्य "वला" रूप बांस का सिरा पूर्व दिशा की ओर रखाजाता है उस मण्डप का नाम "प्राचीनवंश" है, और "प्रागग्रो वंशः= मध्य वलो यस्य स प्राचीनवंशः" यह उसकी व्युत्पत्ति है, इस मण्डप के चार द्वार होते हैं, और इसी मण्डप में यजमान को यज्ञ की दीक्षा दी जाती है।

जिसकी पूर्वदिशा में देव, दक्षिण दिशा में पितर, पश्चिम दिशा में मनुष्य तथा उत्तर दिशा में रुद्र बैठा करते थे, इस प्रकार उक्त मण्डप का स्तावक अर्थवाद है अथवा उक्त मण्डप के चारों ओर पहले जिस प्रकार देव, पितर, मनुष्य तथा रुद्र नियम से बैठा करते थे उसी प्रकार अब भी बैठना चाहिये, इस प्रकार उक्त मण्डप की दिशाओं के विभाग का विधायक है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि जैसे निवीतवाक्य स्वसन्निहित उपवीतविधिवाक्य का स्तावक अर्थवाद है, वैसेही दिग्विभाग वाक्य भी स्वसन्निहित "प्राचीनवंश" विधि का स्तावक अर्थवाद है, क्योंकि निवीत की भांति दिग्विभाग भी प्रथम से लोक सिद्ध है और ज्ञात होने के कारण लोक सिद्ध का विधान नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में जो "व्यभजन्त" क्रिया पद है, उससे केवल वैदिकों के पूर्वाचरण का बोध होता है कि वह "प्राचीनवंश" नामक मण्डप में यजमान की दीक्षा समय दिशा के विभाग पूर्वक बैठा करते थे, वर्तमान काल में उसका अनुकरण शिष्टाचार तथा युक्तियुक्त होने के कारण स्वयमेव होसक्ता है उसके विधान की कोई आवश्यकता नहीं, दूसरे "प्राचीनवंश" मण्डप की विधि को अर्थवाद की आकांक्षा है, क्योंकि उसके बिना उसमें निःशङ्क प्रवृत्ति नहीं होसक्ती और "व्यभजन्त" पद के आधार से विधि की कल्पना करने में गौरव दोष है जिसका मानना ठीक नहीं, इसलिये निवीतवाक्य की भांति उक्त वाक्य भी अर्थवाद है विधि नहीं ।

सार यह निकला कि "प्राचनिवंश" नामक मण्डप के चार दरवाजे होते हैं और दीक्षा के लिये पूर्व के दरवाजे से जब

यजमान का उक्त मण्डप में वेदमन्त्रों के उच्चारणपूर्वक बड़े समारोह के साथ प्रवेश कराया जाता है तब यजमान, यजमानपत्नी तथा ऋत्विकों के अतिरिक्त सब मनुष्यों के बैठने की यह व्यवस्था कीजाती है कि पूर्वदिशा की ओर देव=वेदादिशास्त्रों के सम्यक् जानने वाले तपस्वी विद्वान्, दक्षणदिशा की ओर पितर= वेदोक्त अग्निहोत्रादि अश्वमेध पर्य्यन्त कर्मों का सम्यक् अनुष्ठान करने वाले पिता पितामह के सदृश सब वृद्ध पुरुष, पश्चिम दिशा की ओर मनुष्य=सम्पूर्ण आर्य्यगण तथा उत्तरदिशा की ओर रुद्र=यज्ञ रक्षक सम्पूर्ण भृत्यवर्ग बैठें और खड़े रहें, इसी व्यवस्था का अनुवाद "व्यभजन्त" पद से उक्त वाक्य में सूचन किया गया है जिसका प्रयोजन शिष्ट परम्परागत व्यवस्था का यथावत् पालन करना है, जो विधि माने बिना भी होसक्ता है और जो विधि माने बिना भी होसक्ता है उसके लिये विधि मानने की कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध होता है कि उक्त वाक्य "प्राचीनवंश" विधि का स्तावक अर्थवाद है विधि नहीं ।

सं०—अब "परुषिदित" आदि को अर्थवाद कथन करते हैं:—

परुषिदितपूर्णघृतविदग्धञ्च तद्वत् । ११ ।

पद०—परुषिदितपूर्णघृतविदग्धं । च । तद्वत् ।

पदा०—(च) और (तद्वत्) निवीत की भांति (परुषिदितपूर्णघृतविदग्धं) परुषिदित, पूर्ण, घृत तथा विदग्ध यह चारों भी अर्थ वाद हैं।

भाष्य—"दर्शपूर्णमास" याग के अन्तर्गत "पिण्डपितृयज्ञ"

के प्रकरण में "यत्परुषिदितं तद्देवानां, यदन्तरा तन्मनुष्याणां, यत्समूलंतत्पितृणां" = जो बर्हिः=कुशा, पर्व = गाठ से काटी जाती है वह देवों के लिये, जो मध्य में काटी जाती है वह मनुष्यों के लिये तथा जो समूल काटी जाती है वह पितरों के लिये है, इस वाक्य को पढ़कर अन्त में "समूलं बर्हिर्भवति" = समूल बर्हि काटनी चाहिये, यह विधि वाक्य पढ़ा है, तथा "पितृभ्योऽग्निष्वात्तेभ्योऽभिवान्याःगोर्दुग्धे मन्थम्"=अग्नि विद्या में निपुण पितरों के लिये (अभिवाणी) वत्सरहित गौ के दुग्ध में पिसान डालकर मन्थन किया जाता है, इसप्रकार मन्थन का उपक्रम कर "यत्पूर्णं तन्मनुष्याणामुपर्य्यर्धो देवानाम् अर्धःपितृणाम्" = जो पूर्ण अर्थात् दुग्ध से भरे पात्र में मन्थन किया जाता है वह मनुष्यों के लिये, जो आधे से कुछ ऊपर में मन्थन किया जाता है वह देवों के लिये तथा जो आधे में मन्थन किया जाता है वह पितरों के लिये होता है, यह वाक्य पढ़कर "अर्धउपमन्थति,अर्धो हि पितृणां" = आधे में मन्थन करे,क्योंकि वही पितरों के लिये है, इस प्रकार अर्धमन्थन का विधान किया है, और ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा समय स्नान के प्रकरण में घृतंदेवानां, मस्तु पितृणां, निष्पक्कं मनुष्याणां, तद्वा एतत्सर्वदेवत्यंयन्नवनीतम्" = देवों के लिये घृत, पितरों के लिये दधि का मट्ठा, मनुष्यों के लिये थोड़ा उष्ण तक्र तथा नवनीत = मक्खन सब विद्वानों के लिये है, इस प्रकार घृत आदि का कथन करके "यन्नवनीतेनाभ्यङ्क्ते सर्वा एव देवताः

प्रीणाति "=जो नवनीत से अभ्यञ्जन=सिर से पाओं तक मर्दन किया जाता है, उससे सब विद्वान् प्रसन्न होते हैं, इसलिये नवनीत से मर्दन करे, यह विधि वाक्य पढ़ा है, तथा दर्शपूर्णमास के प्रकरण में पुरोडाश के पकाने समय "यो विदग्धःस नैर्ऋतः, योऽश्रृतःस रौद्रः, यः श्रृतः स दैवः"=जला हुआ पुरोडाश राक्षसों के लिये, कच्चा रुद्रों के लिये और पक्का देवों के लिये होता है, यह वाक्य पढ़कर "तस्मादविदहता श्रपयितव्यःसदेवत्याय"=इसलिये विनाजला पकाना चाहिये, क्योंकि वही सब विद्वानों को देने के योग्य होता है, इस प्रकार विनाजला पकाने का विधान किया है! गांठ से काटी हुई कुशा का नाम "परुषिदित" तथा मूल (जड़) सहित काटी हुई का नाम "समूलदित" है, परुष्, पर्व, ग्रन्थि, गांठ यह चारो और दित, छेदन, काटना, यह तीनों पर्याय शब्द हैं "परुषि" यह सप्तमी विभक्ति का रूप है। "परुषिदित" वाक्य समूलछेदनविधि का, "पूर्ण" वाक्य अर्ध उपमन्थन विधि का, "घृत" वाक्य नवनीताभ्यञ्जन विधि का तथा "विदग्ध" वाक्य अविदग्धश्रपयितव्य विधि का स्तावक अर्थवाद है किंवा "परुषिदित" वाक्य पर्वदित तथा अन्तरादित का, "पूर्ण" वाक्य पूर्ण तथा उपर्य्यर्ध के मन्थन का, "घृत" वाक्य घृत, मट्ठा तथा तक्र से अभ्यञ्जन का और "विदग्ध" वाक्य विदग्ध तथा अश्रृत पुरोडाश का स्वयं विधायक है? यह इन चारों उदाहृत वाक्यों में सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि जैसे निवीतवाक्य स्वसन्निहित उपवीत विधि का स्तावक अर्थवाद है और उपवीत के करने में उसका

तात्पर्य्य है वैसे ही "परुषिदित" आदि वाक्य भी स्वसन्निहित समूलदित आदि विधियों के स्तावक अर्थवाद हैं अर्थात् समूल छेदनविधियों को अपने में पुरुषप्रवृत्ति के लिये स्तुति की अकांक्षा है वह वाक्यशेष को अर्थवाद माने बिना नहीं बन सक्ती और उक्त वाक्यों को स्वतन्त्र विधायक मानने में वाक्यभेद रूप दोष आजाता है जिससे उनको विधायक नहीं मान सक्ते और न उन में कोई विधि पद उपलब्ध होता है जिसके सहारे वाक्यभेद रूप दोष की परवाह न करके उनको विधायक मानने का उत्साह किया जाय और कल्पना करने की अपेक्षा साक्षात् श्रूयमाण स्वसन्निहित विधियों का स्तावक अर्थवाद मान लेना श्रेष्ठ है, क्योंकि ऐसा मानने में कोई दोष नहीं आता, इसलिये उक्त "परुषिदित" आदि वाक्य अर्थवाद हैं, विधि नहीं।

सं०—अब प्राकरणिक "अनृतनिषेध" को विधि कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् । १२ ।

पद०—अकर्म । क्रतुसंयुक्तं । संयोगात् । नित्यानुवादः । स्यात् ।

पदा०—(क्रतुसंयुक्तं) दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में कथन किया (अकर्म) "नानृतंवदेत्" यह अनृत निषेध (नित्यानुवादः) नित्य प्राप्त का अनुवाद (स्यात्) है, क्योंकि (संयोगात्) उक्त निषेध का वाक्यान्तर से विधान पाया जाता है।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "नानृतं वदेत्" =

अनृतभाषण न करे, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें अनृतभाषण के निषेध का अनुवाद किया गया है किंवा प्रकृत याग के अङ्ग अनृतभाषणनिषेध का विधान किया गया है ? अर्थात् वाक्यान्तर से प्रथम प्राप्त पुरुषमात्र का धर्म जो अनृतभाषणनिषेध उसका उक्त वाक्य में अनुवाद किया गया है अथवा प्रकृत याग की अविगुणता के लिये उसके अङ्ग अनृतभाषणनिषेध का विधान किया गया है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में कर्ता के वाचक "वदेत्" रूप आख्यात पद का प्रयोग किया है इसके साथ "न" तथा "अनृतं" पद का सम्बन्ध करने से अनृतभाषणनिषेध कर्ता का धर्म स्पष्ट प्रतीत होता है और वह उपनयन काल से ही **"सत्यं वद, धर्मंचर"** तै० त्ति० १।१।११= सर्वदा सत्य भाषण तथा "अग्निहोत्र" आदि कर्मों का अनुष्ठान कर, इत्यादि वाक्यों से विहित होने के कारण प्रथम ही प्राप्त है, और जो कर्ता का धर्म प्रथम ही प्राप्त है उसका प्रकृत याग के अनुष्ठान काल में पुनः विधान नहीं होसक्ता, क्योंकि वह प्राप्त होने से अप्राप्त नहीं है और विधान अप्राप्त का ही होता है प्राप्त का नहीं, यह नियम है, परन्तु विशेष रूप से स्मरणार्थ अनुवाद प्राप्त का भी होसक्ता है, इसलिये उक्त वाक्य नित्यप्राप्त पुरुष के धर्म अनृतभाषणनिषेध का अनुवादक है प्रकृत याग के अङ्ग उक्त निषेध का विधायक नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

विधिर्वा संयोगान्तरात्। १३।

पद०—विधिः। वा। संयोगान्तरात्।

पदा०-"वा"शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है(विधिः) उक्त निषेधवाक्य विधि है अनुवाद नहीं, क्योंकि (संयोगान्तरात्) उद्देश्य के भेद से दोनों वाक्यों का भेद है ।

भाष्य-"सत्यंवद" वाक्य में सत्य भाषण का विधान पुरुष के उद्देश से और "नानृतंवदेत्" में मिथ्याभाषणनिषेध का विधान प्रकृत याग के उद्देश से किया गया है और जिसका विधान जिसके उद्देश से किया जाता है वह उसी का अङ्ग होता है दूसरे का नहीं, यह नियम है । अङ्ग, धर्म, यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं । सत्यभाषण का विधान पुरुषमात्र के उद्देश से होने के कारण सत्यभाषण पुरुष मात्र का और याग के उद्देश से विधेय होने के कारग अनृतभाषणनिषेध प्रकृत याग का ही धर्म होसक्ता है, यागमात्र किंवा पुरुषमात्र का नहीं, इस प्रकार जिन धर्मों के आश्रय धर्मियों का परस्पर भेद है या यों कहो कि जो धर्म भिन्न २ उद्देश से विधान किये गये हैं उनमें कोई किसी का अनुवाद नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि पूर्व वाक्य द्वारा पुरुष के अङ्ग रूप से सत्य भाषण प्रथम प्राप्त होने पर भी याग के अङ्ग रूप से प्रथम प्राप्त नहीं है और जो जिस रूप से प्रथम प्राप्त नहीं है उसका वाक्यान्तर से विधान होसक्ता है अनुवाद नहीं, क्योंकि प्रथम प्राप्त स्थल में ही वाक्यों के परस्पर अनुवाद्यानुवादकभाव का नियम है, इसलिये "नानृतं वदेत्" वाक्य प्रकृत याग के अङ्ग अनृतभाषण निषेध का विधायक है, प्रथम प्राप्त सत्यभाषण का अनुवादक नहीं ।

सार यह निकला कि "सत्यंवद" वाक्य सत्य भाषण को

पुरुष का धर्म कथन करता है कि पुरुष को सर्वदा सत्य भाषण करना चाहिये और "नानृतं वदेत्" वाक्य अनृतभाषण के निषेध को प्रकृत याग का धर्म विधान करता है कि उक्त याग के अनुष्ठान काल में अनृतभाषण न करना चाहिये, प्रथम विधि वाक्य के उल्लङ्घन करने से पुरुष प्रत्यवायी और द्वितीय के उल्लङ्घन से याग विगुण होजाता है, प्रत्यवायी होने का फल भावी अनिष्ट की प्राप्ति और विगुण होने का यागफल की अप्राप्ति फल है, इस प्रकार दोनों वाक्यों का बहुत भेद होने से प्रथम वाक्य को द्वितीय वाक्य का अनुवाद मानना ठीक नहीं किन्तु प्रकृत याग की विगुणता के निरासार्थ विधि मानना ठीक है, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य अनुवाद नहीं किन्तु विधि है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि उक्त अधिकरण में जो "**नानृतं वदेत्**" वाक्य का उदाहरण देकर विचार किया है वह शावरभाष्य के अनुरोध से किया है वस्तुतः उसका अतिथि यज्ञ के प्रकरण में पठित "**एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्**" अथर्व ९।३।६।९ = यह जो प्राकृत पुरुषों को अत्यन्त स्वादु अधिगव = शुद्धि से पूर्व२सूतक अवस्था में होने वाला गौ का क्षीर = दूध तथा सब प्रकार का मांस है वह कदापि न खाय, यह उदाहरण वाक्य है। इसमें "**नाश्नीयात्**" पद से पूर्व विहित अशननिषेध का अनुवाद किया है किंवा मनुष्य मात्र को अधिगव क्षीर तथा मांस मात्र के अशन का निषेध विधान किया है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि :-

अकर्म क्रतुसंयुक्तं संयोगान्नित्यानुवादः स्यात् ॥ १२ ॥

(क्रतुसंयुक्तं) अतिथि यज्ञ के प्रकरण में जो (अकर्म) अधिगव क्षीर तथा मांस मात्र के अशन का निषेध किया है वह (नित्यानुवादः) नित्य प्राप्त का अनुवाद है, क्योंकि (संयोगात्) उक्त निषेध का पूर्व वाक्य से विधान पाया जाता है अर्थात् तृतीय अनुवाक के द्वितीय तथा तृतीय सूक्त में **"यो विद्याद् ब्रह्म"** इत्यादि मन्त्रों से अतिथि तथा अतिथि को अन्न आदि देने की प्रशंसा करके चतुर्थ सूक्त में अतिथि से प्रथम भोजन करने के दोषों का वर्णन कर **"एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो-नाश्नीयात्"** अथर्व० ९।३।६।७ **अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद्व्रतं"** ।८। = जो साङ्गोपाङ्ग वेदों को जानता तथा वेदोक्त धर्म का प्रचार करता है उसको अतिथि कहते हैं, उससे पहले न खाय, उसके खालेने पर आप सकुटुम्ब खाय, क्योंकि ऐसा करने से अतिथियज्ञ सप्राण तथा पूर्ण होजाता है यह गृहस्थ का धर्म है, इत्यादि मन्त्रों से प्रथम भोजन का निषेध किया है । भोजन, अशन, खाना, यह सब पर्य्याय शब्द हैं । इसी पूर्वोक्त निषेध का अशीय पदार्थों के मध्य अधिगव क्षीर तथा मांस का उपन्यास करके **"नाश्नीयात्"** पद से अनुवाद किया है जिससे उनके प्रथम अशन का निषेध पाया जाता है सर्वदा अशन का नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे अन्य पदार्थ अशन के लिये प्रथम प्राप्त हैं वैसे ही अधिगव क्षीर तथा मांस भी प्राप्त है, अतिथि से पूर्व अन्य पदार्थों के अशन का निषेध करने पर भी उक्त दोनों के

प्रथम अशन के निषेध का परिज्ञान नहीं होसक्ता और अतिथि से पूर्व सर्व पदार्थों के अशन का निषेध अभिप्रेत है, इसी अभिप्राय के स्पष्टार्थ "नाश्नीयात्" पद से पूर्वविहित निषेध का अनुवाद करके अधिगत क्षीर तथा मांस का उपन्यास किया गया है। इस लिये उक्त वाक्य पूर्वविहित निषेध का अनुवाद है अपूर्वविधि नहीं।

अब पूर्वपक्षी के उक्त पूर्वपक्ष का सिद्धान्ती यह समाधान करता है कि :-

"विधिर्वा संयोगान्तरात्" । १३ ।

(वा) उक्त वाक्य अनुवाद नहीं किन्तु (विधिः) विधि है, क्योंकि (संयोगान्तरात्) पूर्व प्रकरण का विच्छेद करके उक्त वाक्य पढ़ा गया है अर्थात् अतिथि से पूर्व भोजन के निषेध का प्रकरण "तद्व्रतं" पर्य्यन्त ही समाप्त होजाता है और समाप्त होजाने के कारण उसका उक्त वाक्य के साथ सम्बन्ध नहीं रहता और सम्बन्ध के न रहने से उसको प्रकृत निषेध का अनुवाद भी नहीं कह सक्ते, क्योंकि एक प्रकरण में पठित वाक्यों का ही परस्पर अनुवाद्यानुवादकभाव नियत है, भिन्न प्रकरण पठित का नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि यदि पूर्वविहित निषेध का अनुवाद उक्त वाक्य में अभिप्रेत होता तो "तद्व्रतं" से प्रकरण का विच्छेद करके उक्त वाक्य का पाठ न किया जाता और "तद्व्रतं" से प्रकरण का विच्छेद स्पष्ट है, क्योंकि एक विषय की समाप्ति होने पर ही उसके नियम पूर्वक अनुष्ठानार्थ उपसंहार में प्रायः "तद्व्रतं" इस प्रकार का प्रयोग पाया जाता है, जैसाकि छान्दोग्योपनिषत् द्वितीयाध्याय के एकादश, द्वादश आदि खण्डों में कहा है कि "महामनाः स्यात् तदव्रतम्" = मनुष्य को सर्वदा महामन

अर्थात् गम्भीर होना चाहिये, यह उसका व्रत = नियत कर्तव्य है, जैसे इस प्रकरण के अन्त में "तद्व्रतं" का उच्चारण करके प्रकरण का विच्छेद किया है और इसके अनन्तर पुनः प्रकरणान्तर का उपक्रम किया गया है वैसे ही अतिथियज्ञ के प्रकरण का भी "तद्व्रतं" से विच्छेद समझना चाहिये, और उसके अनन्तर प्रसङ्ग सङ्गति से सब मनुष्यों को सर्वदा पालनीय अधिगव क्षीर तथा मांस के अशन का निषेध विधान किया है, यदि अधिगव क्षीर तथा मांस के अशन का निषेध अतिथि से प्रथम ही विवक्षित होता तो अवश्यमेव "**तदेवनाश्नीयात्**" के अनन्तर "**तद्व्रतं**" का प्रयोग किया जाता परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे ज्ञात होता है कि अतिथि से प्रथम प्राप्त अन्य भक्ष्य पदार्थों के निषेध की भांति अधिगव क्षीर तथा मांस का निषेध नहीं किन्तु उससे विलक्षण है अर्थात् अन्य पदार्थों के अशन का निषेध केवल अतिथि अशन से पूर्वकाल में ही नियम से पालनीय है और अधिगव क्षीर तथा मांस का निषेध सर्वदा पालनीय है।

सार यह है कि जैसे अन्य भक्ष्य पदार्थों के अशन का विधान वेद में पाया जाता है वैसे अधिगव क्षीर तथा मांस का नहीं, यदि वह भी अतिथि से प्रथम अभक्ष्य तथा अन्न आदि की भांति सर्वदा भक्ष्य होते तो उनके अशन का विधान भी अवश्य पाया जाता, उसके न पाये जाने से सिद्ध होता है कि वह सर्वदा अभक्ष्य हैं। अतएव ऋ० ८।४।८।१६ में कहा है कि

यः पौरुषेयेण क्रविषा समङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः। यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापिवृश्च॥ = हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन्! जो मूढ़मति

प्राकृत पुरुष मनुष्य, घोड़ा, गौ, बैल, बकरा, बकरी, भेड़, भेड़ी, मृग, मृगी, शश, शल्की, आदि जीवों का मांस खाता है तथा भूल से भी हनन के अयोग्य अर्थात् सर्वदा रक्षणीय गौ के अधिगव-क्षीर को खाता है उसका और उसके अनुमन्ता आदि का सिर शस्त्र से काट दे ।

उक्त मन्त्र में जो एक बचन "शीर्ष" पद को छोड़कर बहु बचन "शीर्षाणि" पद का प्रयोग किया है वह अनुमन्ता आदि के अभिप्राय से जानना चाहिये, क्योंकि वह भी खादक के समान ही माने जाते हैं जैसाकि मनु० ५ । ५१ में कहा है कि :-

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेतिघातकः ॥

"हां मार" इसप्रकार की अनुमति देने वाला, अङ्गों के काटने वाला, हनन करने वाला, मूल्य लेने तथा देने वाला, पकाने वाला, लाकर देने वाला और खाने वाला, यह आठो समान हिंसक हैं केवल इतना ही नहीं अपितु अथर्व० ६।७१ में "यथामांसं यथा सुरा यथाक्षा परिदेवने, यथा पुंसो वृषण्यते स्त्रियां निहन्यतेमनः" = जैसे मदिरा, जुआ तथा परस्त्रीगमन महापाप कर्म हैं और उनमें प्राकृत पुरुषों के मन आसक्त होजाते हैं वैसे ही मांस में भी प्राकृत पुरुषों के मन आसक्त होते हैं और मदिरा आदि की भांति उसका भक्षण भी महान् पाप कर्म है, इस प्रकार लोक वेद उभय निषिद्ध सुरा आदि के साथ मांस का कथन करने से स्पष्ट होजाता है कि मांस किसी अवस्था में भी मनुष्य का भक्ष्य नहीं । और सुरा पान करने, जुआ खेलने तथा परस्त्रीगमन करने से जो पाप

होता है, मांस भक्षण से भी वही पाप होता है । आर्ष ग्रन्थों में सुरापान आदि के पाप का निरूपण इस प्रकार किया है कि :-

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबँश्च गुरोस्तल्पमावसन् ।
ब्रह्महाचैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरँस्तैः ॥ छा०

५ । १० । ९ = सुवर्ण की चोरी करने वाला, सुरा पान तथा परस्त्रीगमन करने वाला, वैदिकोपदेशकों की हिंसा करने वाला, और इन चारों का सङ्ग करने वाला, यह पांचों पतित अर्थात् महापापी होते हैं । भगवान् मनु ने भी कहा है कि :-

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वाङ्गनागमः ।
महान्ति पातकन्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ मनु०

११ । ५४ = वैदिकोपदेशकों का हनन, सुरा का पान, चोरी, परस्त्रीगमन तथा ऐसे कुकर्मियों का सङ्ग, यह पाञ्च महापाप हैं, ऐसा निरूपण करने से निःसन्देह सिद्ध होता है कि सुरापान आदि की भांति मांस का खाना भी निषिद्ध कर्म है, और जो निषिद्ध कर्म होता है उसके करने से पुरुष प्रायश्चित्त के योग्य होजाता है जैसाकि मनु० ४ । ९ में कहा है कि :-

अकुर्वन्विहितं कर्म निषिद्धन्तु समाचरन् ।
प्रसजँश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः ॥

वेद विहित कर्मों के न करने, निषिद्ध कर्मों के करने तथा विषयों में अत्यन्त आसक्त होने से मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होजाता है, और जिसके करने से मनुष्य प्रायश्चित्त के योग्य होजाता है उसको कदापि भक्ष्य नहीं मान सक्के, और भक्ष्य न होने

के कारण उसका निषेध अन्नादि निषेध की भांति अतिथि से पूर्व मात्र के लिये भी नहीं होसक्ता और उसके न होने से वह प्रथम विहित निषेध का अनुवाद भी नहीं होसक्ता ।

तत्त्व यह है कि मांस यक्ष, राक्षस तथा पिशाच आदि म्लेच्छ जातियों का अन्न है आर्य्यों का नहीं, उसके भक्षण का उनके प्रति सर्वदा के लिये निषेध होना आवश्यक है, अतएव भगवान् मनु ने अ० ११ । ९५ में कहा है कि :-

यक्षरक्षः पिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम् ।
तद्ब्राह्मणेन नात्तव्यं देवानामश्नता हविः ॥

मद्य, मांस, सुरा तथा आसव यह चारो यक्ष, राक्षस तथा पिशाचों का अन्न है, वेद विहित हविः=दुग्धपाक, लापसी आदि के खाने वाले वैदिकों को उसका भक्षण कदापि न करना चाहिये । अतएव अथर्व वेद में भी कहा है कि :-

"य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः । गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि" अथर्व० ८ । ३ । ५ । २३=हे परमात्मन् जो लोग पशु, पक्षी, सरिसृप तथा मनुष्यों का कच्चा मांस खाते और भ्रूणहत्या करते हैं उनको तु नष्ट कर । इस मन्त्र में जो मांस का "आम" विशेषण दिया गया है उसका यह तात्पर्य्य कदापि नहीं कि उक्त मन्त्र में केवल कच्चा मांस खाने वालों के नाश की प्रार्थना कीगई है, पका हुआ मांस खाने वालों के नाश की नहीं, इसलिये पका हुआ मांस सर्वदा अभक्ष्य नहीं किन्तु अतिथि के अशन से पूर्व २ ही अभक्ष्य है, क्योंकि कच्चे मांस के निषेध से पके का निषेध स्वयमेव अर्थ से

पायाजाता है उसकी उक्त विशेषण से व्यावृत्ति मानना ठीक नहीं, अतएव उक्त मन्त्र में आममांस से मांस मात्र विवक्षित है, कच्चा किंवा पका नहीं, और मांस मात्र विवक्षित होने से निषेध भी मांस मात्र का होना उचित है, परन्तु वह "तदेवनाऽश्नीयात्" को विधि माने विना नहीं होसक्ता और प्रकरण का विच्छेद होजाने से इसका अनुवादक होना असंभव है, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य पूर्वनिषेध का अनुवाद नहीं किन्तु अपूर्व निषेध की विधि है।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि उदाहरण दिये गये उक्त मन्त्र के आगे के सूक्त में स्थित "सय एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति यावद्द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदनेनावरुन्द्धे" = जो सद्ग्रहस्थी पूर्वोक्त नियम "अतिथि से प्रथम कोई पदार्थ न खाना चाहिये" को भले प्रकार जानता हुआ "मांस" को उपसिच्य = संस्कृत्य = देखभालकर अतिथि की भेट करे, उसके भेट करने से वह पुण्य होता है जो "द्वादशाह" नामक ज्योतिष्टोम याग के अनुष्ठान से होता है। इस मन्त्र का प्रमाण देकर जो लोग यह कथन करते हैं कि पूर्व सूक्त में अतिथि से पूर्व भक्ष्य पदार्थों के अशन का निषेध करके इस सूक्त में उसको उक्त पदार्थों के देख भालकर देने का विधान किया है और देय पदार्थों के मध्य प्रथम (क्षीर) दुग्ध पश्चात् घृत तदनन्तर (मधु) शहद का यथाक्रम देना विधान करके उसके पीछे "मांस" का देना विधान किया है, यदि "मांस" सर्वदा अभक्ष्य होता तो उसका संस्कार

पूर्वक देना विधान न किया जाता, परन्तु विधान किया है, इसलिये सिद्ध होता है कि मांस सर्वदा अभक्ष्य पदार्थ नहीं किन्तु अतिथि से पूर्व काल में ही अभक्ष्य है, सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त मन्त्र में "मांस" शब्द का अर्थ मांस नहीं किन्तु "मांसल" है जिसको आर्यभाषा में "माष" अथवा "उड़द" कहते हैं, और मांस तथा मांसल दोनों में गुणों की समता होने से मांस शब्द का प्रयोग होसक्ता है, और यहां मांस अपने सहचारी ओदनादि काभी उपलक्षण है, इससे सम्पूर्ण सूक्त का यह अर्थ होता है कि जब कोई वैदिकधर्म का उपदेशक अथवा अन्य कोई योग्य पुरुष गृह में आजाय तो गृहस्थ को उचित है कि वह मङ्गल शब्दों का उच्चारण करता हुआ सत्कारपूर्वक उसको आसन आदि दे, और भोजन कराकर पश्चात् आप भोजन करे, उससे पूर्व कोई पदार्थ न खाय और भोजन के समय दूध, घृत, मधु, उड़द कीदाल, भात तथा पानीआदि यह सब भक्ष्य पदार्थ उसके आगे रख कर प्रार्थना करे कि आप भोजन करें यह आप की भेट है, इस अर्थ का अनुसन्धान करने से यह बुद्धि कदापि उत्पन्न नहीं होसक्ती कि उक्त मन्त्र में मांस शब्द मांस का वाचक है, क्योंकि उससे पूर्व दूध, घृत तथा मधु जिन देय पदार्थों के देने का कथन किया है उनका मांस के साथ कोई मेल नहीं और न होसक्ता है। मांसाशी जातियों में यह प्रसिद्ध तथा प्रत्यहं अनुष्ठेय बात है कि मांस के साथ दूध खाया नहीं जाता और वैद्यक ग्रन्थों में भी दूध मांस का इकट्ठा खाना वर्जन तथा नाना प्रकार के रोगों का उत्पादक कथन किया है, अब ध्यान देने की बात है कि जिनका मेल लोक तथा वैद्यक शास्त्र उभय विरुद्ध है उनका अतिथि को देना वेद किस प्रकार विधान करसक्ता है, वेद

कोई अनाप-शनाप पुस्तक नहीं, वह जगत्पालक परमपिता परमात्मा की पुस्तक है उसमें ऐसे बेजोड़ तोड़ उपदेश नहीं होसक्ते, और न सम्भव हैं, फिर न जाने ऐसे अण्ड बण्ड अर्थ क्यों किये जाते हैं और सरल, शब्दशक्तिलभ्य, परस्पर सङ्गत तथा सर्वसम्मत अर्थ का परित्याग क्यों किया जाता है, और उसके ग्रहण में क्यों सिर धुना जाता है। दूध, घृत, मधु, दाल, चावल आदि यह पञ्च ऐसे मेल जोल के पदार्थ हैं कि जिनके अङ्गीकार करने में कोई बुद्धिमान् पीछे नहीं हट सक्ता और न उसको ऐसे सङ्गत अर्थ के प्राप्त होजाने पर पुनः लोक, शास्त्र विरुद्ध अर्थ में रुचि होसक्ती है, हां जो पुरुष मांस का खाना उचित समझते हैं वह यदि उक्त मन्त्र में मांस शब्द का अर्थ मांस करें और परस्पर असङ्गत होने पर भी स्वार्थ सिद्धि के लिये सङ्गत बुद्धि से मन्त्रार्थ का आदर करें तो वह स्वतन्त्र हैं, हम उनको रोकते नहीं परन्तु इतना अवश्य कह देते हैं कि उक्त मन्त्र में मांस शब्द के मांस अर्थ करना वैदिक सम्प्रदाय से विरुद्ध है, और न ऐसे असङ्गत अर्थ करके वेद को कलङ्कित करना वैदिकों का कर्तव्य है, वैदिक सम्प्रदाय में तो यह निश्चित है कि "तदेवनाश्नीयात्" वाक्य में प्रसङ्ग सङ्गति से अधिगवक्षीर तथा मांस मात्र के अशन का सर्वदा निषेध विधान किया गया है जिसकी पुष्टि ऋग्वेद का उदाहृत मन्त्र करता है, और इससे अगले सूक्त में उन भक्ष्य पदार्थों के देने का विधान किया है जो वेद शास्त्रानुकूल तथा सनातन से आर्य्यों में प्रचलित और जिनका खाना पीना धर्म समझा जाता है, इसलिये उक्त मन्त्र में "मांस" शब्द का अर्थ "मांस" करके "तदेवनाश्नीयात्" मन्त्र का अनुवाद सिद्ध करना नितान्त साहस मात्र है।

सं०—अब "जंभाईनिमित्तक" मन्त्र के उच्चारण को प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

अहीनवत्पुरुषधर्मस्तदर्थत्वात् । १४ ।

पद०—अहीनवत् । पुरुषधर्मः । तदर्थत्वात् ।

पदा०—(अहीनवत्) जैसे "उपसद्" नामक होम अहीन का धर्म हैं वैसे ही (पुरुषधर्मः) जंभाईनिमित्तक मन्त्र का उच्चारण भी पुरुष मात्र का धर्म है, क्योंकि (तदर्थत्वात्) उसके उद्देश से विधान किया गया है ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "प्राणो वै दक्षः, अपानः क्रतुः, तस्मात् जञ्जभ्यमानो ब्रूयात् "मयि दक्षक्रतू इति, प्राणापानावेवात्मन्यधत्त" = प्राण का मान "दक्ष" तथा अपान का नाम "क्रतु" है, इसलिये पुरुष जंभाई आने पर "मयिदक्षक्रतू" इस मन्त्र का उच्चारण करे, इसके उच्चारण करने से प्राण तथा अपान दोनों शरीर में स्थिर होजाते हैं, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो जञ्जभ्यमान पुरुष के संस्कारार्थ "मयिदक्षक्रतू" मन्त्र का उच्चारण करना विधान किया है वह जञ्जभ्यमान पुरुष मात्र का धर्म है किंवा प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म है ? यह सन्देह हैं, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में जञ्जभ्यमान के उद्देश से उसके संस्कारार्थ उक्त मन्त्र का उच्चारण करना विधान किया है और जञ्जभ्यमान नाम जंभाई लेने वाले पुरुष मात्र का है, प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष का नहीं, यदि प्रकरण के बल से उसका ग्रहण किया जाय तो वाक्य का

बाध होजाता है परन्तु प्रकरण से वाक्य का बाध मानना ठीक नहीं, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रबल होता है और निर्बल से प्रबल का बाध कदापि नहीं होसक्ता, यह नियम है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित होने पर भी जैसे "उपसद्" संज्ञक होम "अहीन" नामक याग का धर्म है वैसेही दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित होने पर भी उक्त मन्त्र का उच्चारण करना जंभाई लेने वाले पुरुष मात्र का धर्म है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उपसद् होमों का अपकर्ष होकर "तिस्रएव साह्नस्योपसदो द्वादशाहीनस्य"* वाक्य द्वारा "अहीन" नामक याग के साथ सम्बन्ध होता है वैसे ही उक्त मन्त्र के उच्चारण का भी "तस्माज्जृम्भमाणः" वाक्य द्वारा दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण से अपकर्ष होकर जंभाई लेने वाले पुरुष मात्र के साथ सम्बन्ध होना चाहिये, क्योंकि सम्बन्ध का हेतु वाक्य उभयत्र समान है। इसलिये उक्त मन्त्र का उच्चारण करना पुरुष मात्र का धर्म है याग सम्बन्धी पुरुष का नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

प्रकरणविशेषाद्वा तद्युक्तस्य संस्कारो द्रव्यवत् । १५ ।

पद०-प्रकरणविशेषात् । वा । तद्युक्तस्य । संस्कारः । द्रव्यवत् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की व्यावृत्ति के लिये आया है

* इसका अर्थ तथा विशेषविचार मी० ३ । ३ । १५ में किया गया है।

(द्रव्यवत्) जैसे याग सम्बन्धी व्रीहिरूप द्रव्य का प्रोक्षण संस्कार है वैसे ही (तद्युक्तस्य) याग सम्बन्धी पुरुष का (संस्कारः) मन्त्र उच्चारण करना संस्कार है, क्योंकि (प्रकरणविशेषात्) प्रकरण से पुरुष मात्र की व्यावृत्ति पाई जाती है।

भाष्य—यद्यपि उक्त वाक्य में जञ्भ्यमान के उद्देश से मन्त्र का उच्चारण करना विधान किया गया है और जञ्भ्यमान नाम जंभाई लेने वाले पुरुष मात्र का है तथापि यहां पुरुष मात्र का ग्रहण करना अनुचित है, क्योंकि उसके ग्रहण करने से प्रकरण का सर्वथा बाध होजाता है सो ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकरण विशेष में जो उक्त वाक्य का पाठ किया गया है उसका कोई असाधारण प्रयोजन है, यदि उक्त वाक्य में पुरुष मात्र का ग्रहण इष्ट होता तो उसका प्रकरण विशेष में पाठ न किया जाता परन्तु पाठ किया है, इससे स्पष्ट होता है कि प्रकरण के अनुरोध से वाक्यार्थ होना ठीक है स्वतन्त्र नहीं, और उसके अनुरोध से अर्थ करने में उक्त वाक्य का यह अर्थ होता है कि प्रकृत याग के अनुष्ठान समय जंभाई आने पर अपनी शुद्धि के लिये याग सम्बन्धी पुरुष उक्त मन्त्र का उच्चारण करे, और इस अर्थ के होने से प्रकरण तथा वाक्य दोनों चरितार्थ होजाते हैं किसी का भी बाध नहीं होता और जिस अर्थ के करने से किसी का भी बाध नहीं होता किन्तु दोनों चरितार्थ होजाते हैं वही अर्थ करना ठीक है।

सार यह निकला कि जैसे "व्रीहीन् प्रोक्षति" वाक्य से दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पाठ होने के कारण व्रीहिमात्र की व्यावृत्ति होकर याग सम्बन्धी व्रीहि के प्रोक्षण का ग्रहण होता है

वैसे ही उक्त वाक्य में भी प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष के धर्म मन्त्र उच्चारण का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि प्रकरण से पुरुष मात्र की व्यावृत्ति यहां भी स्पष्ट है, और जिसकी व्यावृत्ति प्रकरण से स्पष्ट है उसका ग्रहण कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त मन्त्र का उच्चारण करना जञ्जभ्यमान पुरुष मात्र का धर्म नहीं किन्तु प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म है।

सं०—अब पूर्वपक्ष सूत्र में कथन किये "अहीनवत्" दृष्टान्त का समाधान करते हैं :—

व्यपदेशादपकृष्यते । १६ ।

पद०—व्यपदेशात् । अपकृष्यते ।

पदा०—(व्यपदेशात्) विशेष कथन पाये जाने से (अपकृष्यते) उपसद् होमों का अपकर्ष होता है।

भाष्य—पूर्वपक्ष सूत्र के भाष्य में जो यह कथन किया गया है कि जैसे ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित होने पर भी उपसद् होमों का अपकर्ष होकर "अहीन" नामक याग के साथ सम्बन्ध होता है वैसेही उक्त मन्त्र के उच्चारण का भी दर्श पूर्ण-मास याग के प्रकरण से अपकर्ष होकर जञ्जभ्यमान पुरुष मात्र के साथ सम्बन्ध होना चाहिये, सो ठीक नहीं, क्योंकि उपसद् वाक्य में विशेष रूप से कथन किया है कि "उपसद्" होम "अहीन" नामक याग का अङ्ग हैं, इसलिये उनका अपकर्ष हो-कर अहीन के साथ सम्बन्ध होना ठीक है, परन्तु यहां सामान्य रूप से कहा है कि मन्त्र का उच्चारण करना जञ्जभ्यमान का धर्म है, "जञ्जभ्यमान" यह सामान्य वचन है अहीन की भांति विशेष वचन नहीं, क्योंकि जंभाई लेने वाले पुरुष मात्र को तथा

प्रकृत याग सम्बन्धी पुरुष को भी जञ्जभ्यमान कह सक्ते हैं, प्रकृत वाक्य में दोनों के मध्य किसका ग्रहण है, इस संशय की निवृत्ति के लिये प्रकरण का अनुरोध अवश्य करना पड़ता है, क्योंकि उसका अनुरोध किये बिना विशेष अर्थ की उपलब्धि नहीं होसक्ती और जहां वाक्य से स्वतः ही विशेष अर्थ की उपलब्धि होती है वहां प्रकरण के अनुरोध की कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये विशेष वाक्य के सहारे ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण से अपकर्ष होकर उपसद् होमों का अहीन के साथ सम्बन्ध होना ठीक है मन्त्र के उच्चारण का प्रकृत याग से अपकर्ष होकर पुरुष मात्र के साथ सम्बन्ध होना ठीक नहीं।

सार यह निकला कि उक्त दृष्टान्त विषम है उसमें विशेष वचन के विद्यमान होने से संशय उत्पन्न नहीं होता और संशय के उत्पन्न न होने मे उसकी निवृत्ति के लिये प्रकरण के अनुसरण की आवश्यकता भी नहीं होती, परन्तु प्रकृत में ऐसा नहीं, यहां सामान्य वचन होने के कारण संशय उत्पन्न होता है और उसकी निवृत्ति के लिये प्रकरण का अनुसरण किया जाता है और उसका अनुसरण करने से पुरुष मात्र की व्यावृत्ति स्वयं होजाती है जिससे उक्त मन्त्र का उच्चारण करना पुरुष मात्र का धर्म सिद्ध नहीं होता और धर्म के सिद्ध न होने से उसका मानना उचित नहीं, इसलिये "ममिदक्षक्रतू" मन्त्र का उच्चारण करना याग सम्बन्धी पुरुष का धर्म है, पुरुष मात्र का नहीं।

सं०—अब "अवगोरण" आदि निषेध को ब्राह्मण मात्र के लिये होना कथन करते हैं :—

शंयौ च सर्वपरिदानात्। १७।

पद०-शंयौ । च । सर्वपरिदानात् ।

पदा०-(च) और (शंयौ) महाराज "शंयु" के उपदेश में जो ब्राह्मण के "अवगोरण" आदि का निषेध किया है वह ब्राह्मण मात्र के लिये समझना चाहिये, क्योंकि (सर्वपरिदानात्) उससे उसका ग्रहण पाया जाता है ।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "देवा वै शंयुं वार्हस्पत्यमब्रुवन् हव्यं नो वह"=सब विद्वानों ने मिलकर बृहस्पति के पुत्र महाराज शंयु से कहा कि हमको खाने के लिये कुछ दो, इसके उत्तर में महाराज ने कहा कि "किं मे-प्रजायाः"=मैं आपको दूंगा, परन्तु आप मुझको कुछ सदुपदेश करें और यह कहें कि प्रजारक्षा के लिये सुखकारी उपाय क्या है, इस पर "तेऽब्रुवन् यो ब्राह्मणायावगुरेत् तं शतेन यातयात्, यो निहनत् तं सहस्रेण यातयात्, यो लोहितं करवत् यावत्प्रस्कन्द्यपांसून् सङ्ग्रह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानीयात्"=उन विद्वानों ने महाराज से कहा कि हे महाराजाधिराज ! जिस देश में (ब्राह्मण) वैदिक धर्म के उपदेशकों की रक्षा होती और वह स्वच्छन्दतापूर्वक उपदेश कर सक्ते हैं वह देश समृद्धि को प्राप्त होता है, जो ब्राह्मण को दण्ड आदि से डरावे वह एकसौ रुपये से, जो मारे वह एक हजार रुपये से दण्डनीय होता है, और जो लहूलोहान करता है वह जितने धूड़ी के कनका मुट्ठी में समाते हैं उतने वर्ष तक पितृ पदवी से वञ्चित रहता है, यह वाक्य पढ़कर इसके अनन्तर यह वाक्यशेष

पढ़ा है कि "तस्माद् न ब्राह्मणयावगुरेत् न हन्यात् न लोहितंकुर्यात" = इसलिये ब्राह्मण को अवगोरण न करे, न मारे और न लहूलोहान करे। दण्ड आदि से डराने का नाम "अवगोरन" तथा वैदिक धर्म के उपदेशक का नाम "ब्राह्मण" है, इस वाक्यशेष में जो ब्राह्मण के अवगोरन आदि का निषेध किया है वह ब्राह्मण मात्र के लिये है किंवा प्रकृत याग सम्बन्धी ब्राह्मण के लिये है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में महाराज शंयु के प्रति उक्त उपदेश किया है तथापि वह साधारण उपदेश है, उससे ब्राह्मण मात्र का ग्रहण स्पष्ट रूप से होसक्ता है अर्थात् प्रजामात्र की रक्षा का उपाय पूछने पर विद्वानों ने महाराज शंयु के प्रति उक्त उपदेश किया है, याग की रक्षा का उपाय पूछने पर नहीं, यदि महाराज की उपायप्रार्थना याग रक्षा के लिये होती तो अवश्य प्रकृत याग सम्बन्धी ब्राह्मणों के अवगोरण आदि का निषेध समझा जाता परन्तु उपायप्रार्थना इसके विपरीत हुई है इससे सिद्ध होता है कि यहां याग सम्बन्धी ब्राह्मणों के अवगोरण आदि का निषेध ही विवक्षित नहीं किन्तु ब्राह्मण मात्र के अवगोरण आदि का निषेध विवक्षित है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे याग सम्बन्धी ब्राह्मणों के अवगोरण आदि का नहोना याग रक्षा का उपाय है वैसे ही ब्राह्मण मात्र के अवगोरण आदि का न होना प्रजा की रक्षा का उपाय है और महाराज शंयु की प्रार्थना भी प्रजारक्षण के उपाय

विषयक ही पाई जाती है जिसका सङ्कोच कदापि नहीं होसक्ता, और दूसरे वैदिक सम्प्रदाय में सब ब्राह्मण समान हैं याग के सम्बन्ध होने से उनमें कोई विशेषता नहीं होती अर्थात् जिन का सम्बन्ध याग के साथ नहीं वह उपदेश द्वारा प्रजा का रक्षण करते हैं और जिनका याग के साथ सम्बन्ध है वह याग की रक्षा तथा सिद्धि में तत्पर हैं, इस प्रकार दोनों अपने २ अधिकार में समान भाव से कटिबद्ध हैं, जब ऐसा है तो फिर कैसे होसक्ता है कि एक के लिये अवगोरण आदि का निषेध समझा जाय और दूसरे के लिये नहीं।

आर्य्यमहाशय क्या छोटा क्या बड़ा प्रत्येक उपदेशक को आदरणीय समझते हैं उनके यहां कोई भी अनादरणीय नहीं है, वह भले प्रकार समझते हैं कि धर्मोपदेशकों का सत्कार करना अभ्युदय तथा निःश्रेयस का साधन है, जिस सम्प्रदाय में उनका यथाविधि सत्कार नहीं किया जाता और न उनको अपनी उन्नति का अगुआ समझा जाता है वह सम्प्रदाय उन्नति के शिखर पर कदापि नहीं पहुंच सक्ती और न लोक तथा परलोक में गौरव प्राप्त करसक्ती है, जिनका यह उच्च विचार तथा नितान्त गहरीली समझ है उनको विषम बुद्धि का होना असंभव है और न उनके वैदिक शास्त्रों में ऐसे निकम्मे उपदेश का होना सम्भव है, इस-लिये उक्त वाक्यशेष में जो ब्राह्मण के अवगोरण आदि के निषेध का उपदेश किया है, वह ब्राह्मण मात्र के लिये समझना उचित है प्रकृत याग सम्बन्धी ब्राह्मणों के लिये नहीं।

सं०-अब रजस्वला स्त्री के साथ सम्भाषण मात्र का निषेध कथन करते हैं:-

प्रागपरोधान्मलवद्वाससः । १८ ।

पद०—प्राग् । अपरोधात् । मलवद्वाससः ।

पदा०—(मलवद्वाससः) रजस्वला स्त्री के साथ सर्व प्रकार के संभाषण का निषेध जानना चाहिये, क्योंकि (प्राग्) यज्ञारम्भ से प्रथम ही (अपरोधात्) उसका यज्ञ भूमि से बाहर निकाल कर यज्ञ का करना विधान किया है।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "**मलवद्वाससा न संवदेत**" = रजस्वला स्त्री के साथ संभाषण न करे, यह वाक्य पढ़ा है, इस में जो सम्भाषण का निषेध किया है वह प्रकृत याग सम्बन्धी सम्भाषण का निषेध है किंवा सम्भाषण मात्र का निषेध है ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यदि उक्त वाक्य में रजस्वला स्त्री के साथ याग सम्बन्धी सम्भाषण का ही निषेध अभिप्रेत होता तो "**यस्य व्रत्येऽहनि पत्न्यनालम्भुका भवति तामुपरुध्य यजेत**" = जिसकी स्त्री दीक्षादिन में ही रजस्वला होजाय वह उसको यज्ञ भूमि से बाहर निकालकर याग करे, इस प्रकार उसको यज्ञ भूमि से बाहर निकाल कर याग करने का विधान न किया जाता, क्योंकि यज्ञ सम्बन्धी सम्भाषण के निषेधार्थ यज्ञ भूमि से उसके बाहर निकालने की कोई आवश्यकता नहीं है, परन्तु बाहर निकाल कर याग करने का विधान किया है, इससे यज्ञ अयज्ञ उभय सम्बन्धी संभाषण का निषेध स्पष्ट रूप से पाया जाता है, इसलिये उक्त वाक्य में जो रजस्वला के साथ सम्भाषण का निषेध किया है

वह याग सम्बन्धी सम्भाषण का ही नहीं किन्तु सम्भाषण मात्र का है।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

अन्नप्रतिषेधाच्च । १९ ।

पद०-अन्नप्रतिषेधात् । च ।

पदा०-(च) और (अन्नप्रतिषेधात्) रजस्वला स्त्री के संभोग का निषेध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-जैसे रजस्वला स्त्री के सम्भाषण का निषेध किया है वैसे ही "**नास्या अन्नमद्यात् अभ्यंजनं वै स्त्रिया अन्नम्**"=रजस्वला स्त्री के अन्न को न खाय, स्त्री के सम्भोग का नाम "अन्न" है, इस प्रकार उसके सम्भोग का भी निषेध किया है और निषेध प्राप्त का ही होता है अप्राप्त का नहीं, यह नियम है, रजस्वला स्त्री का सम्भोग केवल लोक में ही प्रमाद वश प्राप्त हो सक्ता है यज्ञ भूमि में नहीं, क्योंकि उसके अनुष्ठान में एक तो ब्रह्मचर्य्य का नियम है जिसका उल्लङ्घन भावी अनिष्ट की प्राप्ति तथा व्यर्थ द्रव्य व्यय के भय से कदापि नहीं होसक्ता, दूसरे प्रतिक्षण ऋत्विजों से घिरे रहने के कारण अवसर का मिलना भी दुर्लभ है परन्तु लोक में उसकी प्राप्ति के अनन्त उपाय हैं जिससे उसका प्राप्त होना संभव है और जहां उसका संभव है उसका निषेध भी वहां ही लग सक्ता है, इस प्रकार लोक सिद्ध रजस्वला स्त्री के सम्भोग का निषेध करने से अनुमान होता है कि सम्भोग के सहचारी सम्भाषण का निषेध भी यज्ञ सम्बन्धी सम्भाषण का निषेध नहीं किन्तु लोक यज्ञ उभय सम्बन्धी सम्भाषण मात्र का निषेध है।

तात्पर्य्य यह है कि रजस्वला स्त्री का सम्भोग जैसे वर्जित है वैसे ही उसका सम्भाषण भी वर्जित है, इसलिये शुद्धि न होने से प्रथम उसके साथ सम्भोग की भांति संभाषण भी न करना चाहिये। इसका विशेष रूप से निरूपण उपनिषद् तथा मनुस्मृति आदि आर्षग्रन्थों में वहुत आया है, यहां विस्तार के भय से निरूपण नहीं किया गया।

सं०—अब सुवर्ण आदि के धारण को मनुष्य मात्र का धर्म कथन करते हैं :—

अप्रकरणे तु तद्धर्मस्ततो विशेषात्। २०।

पद०—अप्रकरणे। तु। तद्धर्मः। ततः। विशेषात्।

पदा०—"तु" शब्द सिद्धान्त सूचना के लिये आया है (अप्रकरणे) किसी याग विशेष के प्रकरण में अपठित सुवर्ण धारणादि (तद्धर्मः) मनुष्य मात्र का धर्म है, क्योंकि (ततः) प्रकरण पठित से (विशेषात्) वह विलक्षण है।

भाष्य—किसी याग विशेष का प्रकरण न चला कर "**सुवर्णं हिरण्यं भार्य्यं, सुवर्ण एव भवति दुर्वर्णोऽस्य भ्रातृव्यो भवति, सुवाससा भवितव्यं रूपमेव बिभर्त्ति**" = सुन्दर वर्ण का सुवर्ण धारण करना चाहिये, उसके धारण करने से मनुष्य स्वयं सुन्दर और उसके शत्रु असुन्दर होजाते हैं, अच्छे २ वस्त्र पहरने चाहियें, उनके पहरने से मनुष्य सुरूप होजाता है, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो सुवर्ण आदि के धारण का विधान किया है वह किसी याग सम्बन्धी मनुष्य विशेष का धर्म है किंवा मनुष्य मात्र का धर्म है

अर्थात् उक्त वाक्य में याज्ञिक पुरुषों को ही सुवर्ण आदि के धारण करने की आज्ञा है अथवा मनुष्य मात्र को ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन अगले पूर्वपक्ष सूत्र में स्पष्ट करेंगे, सिद्धान्ती का कथन यह है कि जो वाक्य किसी याग विशेष के प्रकरण में अथवा किसी मनुष्य विशेष के उद्देश से पढ़े गये हैं उनमें मनुष्यविशेष आदि की कल्पना कीजासक्ती है, परंतु उक्त वाक्य उन वाक्यों की अपेक्षा विलक्षण है क्योंकि वह किसी याग विशेष के प्रकरण में अथवा किसी मनुष्य विशेष के उद्देश से नहीं पढा गया, इसके देखने से यह स्वयमेव बुद्धिस्थ होजाता है कि मनुष्य मात्र के उद्देश से उक्त वाक्य की प्रवृत्ति हुई है और यह बात अनुभव सिद्ध है कि सुवर्ण आदि के धारण करने से मनुष्य मात्र सुन्दर प्रतीत होता है, वह जिसके सन्मुख जाखड़ा होता है सब उसका आओ भाओ भले प्रकार करते हैं, जैसाकि भर्तृहरि ने भी कहा है कि "सर्वे गुणाःकाञ्चनमाश्रयन्ति"= सब गुण काञ्चन के आश्रित रहते हैं, अधिक क्या जिस जाति में सुवर्ण आदि के उपार्जनार्थ सदुपायों का अनुष्ठान किया जाता है वह जाति प्रत्येक मनुष्य की दृष्टि में सुन्दर तथा प्रतिष्ठित प्रतीत होती है मनुष्य की तो कथा ही क्या, और जो अनुभव सिद्ध है उसका किसी प्रमाणविशेष के बिना सङ्कोच करना भी ठीक नहीं, इसलिये सुवर्ण आदि को धारण करना मनुष्य मात्र का धर्म है, याज्ञिक मनुष्यों का ही धर्म नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में पूर्वपक्ष करते हैं :-

अद्रव्यत्वात्तु शेषःस्यात् । २१ ।

पद०-अद्रव्यत्वात् । तु । शेषः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (शेषः) सुवर्ण आदि का धारण करना याग का शेष (स्यात्) है, क्योंकि (अद्रव्यत्वात्) वह एक क्रिया है।

भाष्य-प्रत्येक्क क्रिया फल की कामना से कीजाती है, जिस क्रिया का कोई फल नहीं उसके अनुष्ठान में किसी बुद्धिमान् की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती, क्रिया का फलवती होना दो प्रकार से होसक्ता है, एक अपने फल से, दूसरा फलवती क्रियान्तर के सम्बन्ध से, जो क्रिया अपने फल से फलवती होती है उसको "प्रधानक्रिया" और जो फलवती क्रियान्तर के सम्बन्ध से फलवाली होती है उसको "अङ्गक्रिया" कहते हैं, सुवर्ण आदि का धारण रूप क्रिया भी स्वतः फल वाली नहीं, क्योंकि "स्वर्गकामोदर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" वाक्य में दर्शपूर्णमास याग के स्वर्ग फल की भांति उक्त वाक्य में कोई फल नहीं सुना जाता और क्रिया का फलवती होना नियम है, जो क्रिया स्वतः फलवती नहीं है वह याग आदि रूप क्रियान्तर के सम्बन्ध से अवश्यमेव फलवती है और अफल क्रिया का फलवती क्रियान्तर के साथ अङ्गाङ्गिभाव सम्बन्ध होसक्ता है, दूसरा नहीं,इसलिये सिद्ध हुआ कि अप्रकरण पठित होने पर भी उक्त क्रिया प्रधान नहीं किन्तु याग क्रिया का शेष = अङ्ग है।

सार यह निकला कि उक्त वाक्य में पुरुष मात्र के लिये सुवर्ण आदि का धारण करना विधान नहीं किया किन्तु यज्ञ सम्बन्धी पुरुषों के लिये विधान किया है।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

वेदसंयोगात् । २२ ।

पद०-वेदसंयोगात् ।

पदा०-(वेदसंयोगात्)उक्त वाक्य का यजुर्वेद के साथ सम्बन्ध होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-जिस काण्ड में उक्त वाक्य का पाठ है उसकी समाख्या "आध्वर्यव" है, यजुर्वेदी ऋत्विक् को "अध्वर्यु" और अध्वर्यु सम्बन्धी को "आध्वर्यव" कहते हैं "आध्वर्यव" काण्ड में उक्त वाक्य का पाठ होने से धारण के साथ अध्वर्यु का सम्बन्ध स्पष्ट सिद्ध होजाता है अर्थात् यदि सुवर्ण आदि का धारण करना मनुष्य मात्र का धर्म होता तो उसका उक्त काण्ड में पाठ न किया जाता परन्तु किया है,इसलिये सिद्ध होता है कि वह अध्वर्यु आदि याग सम्बन्धी मनुष्यों का ही धर्म है मनुष्य मात्र का नहीं ।

सं०-अब और युक्ति कहते हैं :-

द्रव्यपरत्वाच्च । २३ ।

पद०-द्रव्यपरत्वात् । च ।

पदा०-(च) और (द्रव्यपरत्वात्) उक्त वाक्यस्थ "हिरण्य" पद को याग सम्बन्धी हिरण्य का स्मारक होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-उक्त वाक्य में जो सुवर्ण आदि का धारण करना विधान किया है वह दक्षिणा में दिये गये सुवर्ण आदि के धारण का है सब सुवर्ण आदि के धारण का नहीं और दक्षिणा में सुवर्ण आदि का देना "आत्रेयाय हिरण्यं ददाति"=अत्रिगोत्रो-

त्पश्च ऋत्विजों को हिरण्य की दक्षिणा दे, इत्यादि वाक्यों से सिद्ध है, और दक्षिणा याग सम्बन्धी पुरुषों को ही दीजाती है, इसलिये उक्त वाक्य में जो सुवर्ण आदि का धारण करना विधान किया है वह याग सम्बन्धी मनुष्यों का धर्म हैं मनुष्य मात्र का धर्म नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

स्याद् वा संयोगवत् फलेन सम्बन्धः तस्मात्कर्मैतिशायनः । २४ ।

पद०-स्यात् । वा । संयोगवत् । फलेन । सम्बन्धः । तस्मात् । कर्म । ऐतिशायनः ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (संयोगवत्) जैसे वाक्यशेष से प्राजापत्यव्रतों का फल के साथ सम्बन्ध होता है वैसे ही (फलेन, सम्बन्धः) सुवर्ण आदि धारण रूप कर्म का भी वाक्यशेष से फल के साथ सम्बन्ध (स्यात्) होता है (तस्मात्) इसलिये (कर्म) वह प्रधान कर्म है (ऐतिशायनः) यह ऐतिशायन ऋषि का मत है ।

भाष्य-प्रजापति परमात्मा के उद्देश से जो व्रत किये जाते हैं उनका नाम "प्राजापत्य" व्रत है, जैसे उक्त व्रतों के विधायक वाक्यों में "स्वर्ग कामो दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" की भांति फल का कथन न होने पर भी " एतावताहैनसाऽवियुक्तो भवति"=इतने पापों से छूट जाता है, इस वाक्यशेष से पाप निवृत्तिरूप फल के साथ उनका सम्बन्ध होता है और फल

का सम्बन्ध होने से वह प्रधान कर्म माने जाते हैं, वैसे ही सुवर्ण आदि धारण के विधायक वाक्य में फल का कथन न होने पर भी "सुवर्णएव भवति दुर्वर्णोऽस्यभ्रातृव्यो भवति" = सुवर्ण के धारण करने से आप सुन्दर और उसका शत्रु असुन्दर होजाता है, इस वाक्यशेष से अपनी सुन्दरता तथा शत्रु की असुन्दरता रूप फल के साथ धारण रूप क्रिया का सम्बन्ध होसक्ता है और फल का सम्बन्ध होने से वह प्रधान कर्म भी होसक्ता है, और प्रधान कर्म होने से उसको मनुष्य मात्र का धर्म मानने में कोई दोष नहीं।

और जो यह कथन किया है कि उक्त वाक्य का "आध्वर्यव" काण्ड में पाठ होने से धारण क्रिया याग सम्बन्धी मनुष्य का धर्म सिद्ध होती है, सो ठीक नहीं, क्योंकि मनुष्य मात्र का धर्म होने पर भी वह याग सम्बन्धी मनुष्य का धर्म होसक्ती है और उसके होने से उक्त काण्डसमाख्या भी सङ्गत होजाती है, क्योंकि वाक्य की अपेक्षा समाख्या दुर्बल होती है, सुवर्ण आदि का धारण करना मनुष्य मात्र का धर्म वाक्य सिद्ध है,उसका समाख्या के बल से सङ्कोच नहीं होसक्ता, और जो यह कथन किया है कि उक्त वाक्य से दक्षिणा में दिये गये सुवर्ण का धारण करना विधान किया है, सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्य में इस अर्थ का साधक कोई पद उपलब्ध नहीं होता, और उसकी उपलब्धि के बिना इस प्रकार की कल्पना निर्मूल होने के कारण आदरणीय नहीं होसक्ती, इसलिये सिद्ध हुआ कि सुवर्ण आदि का धारण करना मनुष्य मात्र का धर्म है केवल याग सम्बन्धी मनुष्य का नहीं।

सार यह निकला कि उक्त वाक्य में सुवर्ण का धारण करना साफ सुथरे वस्त्रों का पहरना, मनुष्य मात्र का धर्म विधान किया है, भेद केवल इतना है कि जो पुरुष श्रीमान् है वह दोनों का यथा शक्ति धारण करे और जो सुवर्ण के धारण करने में असमर्थ है वह अपनी शक्ति के अनुसार साफ सुथरे वस्त्र अवश्य पहरा करे, साफ सुथरे वस्त्रों के पहरने से नीरोगता तथा दीर्घायु की प्राप्ति और सुख की श्री प्रतिदिन बढ़ती है परन्तु इसके साथ स्नान का नियम भी स्मरण रखने योग्य है, क्योंकि इसके बिना यह सब व्यर्थ है। इसलिये मनुष्य मात्र का कर्तव्य है कि वह यथाशक्ति शास्त्र के अनुसार चले और अपनी सन्तान को चलाने का प्रयत्न करे।

सं०-अब "जय" आदि संज्ञक होमों को वैदिक कर्म का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

शेषोऽप्रकरणेऽविशेषात् सर्वकर्मणाम्। २५।

पद०-शेषः। अप्रकरणे। अविशेषात्। सर्वकर्मणाम्।

पदा०-(अप्रकरणे) अप्रकरण पठित "जय" आदि होम (सर्वकर्मणां) लौकिक वैदिक सम्पूर्ण कर्मों का (शेषः) अङ्ग हैं, क्योंकि (अविशेषात्) समान रूप से उनका पाठ किया गया है।

भाष्य-जो किसी याग के प्रकरण में पठित नहीं है उसको "अप्रकरणपठित" तथा "अनारभ्याधीत" कहते हैं, "येन कर्मणेर्त्सेत तत्र जयान् जुहुयात्, राष्ट्रभृतो जुहोति, अभ्यातानान् जुहोति"=जिस कर्म से अधिक फल की इच्छा करे उसमें "जय" "राष्ट्रभृत्" तथा "अभ्यातान"

नामक होम करे, यह अनारभ्याधीत वाक्य इस अधिकरण का विषय है, "चित्तं च स्वाहा" इत्यादि मन्त्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम "जय" तथा "ऋताषाड़" इत्यादि मन्त्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम "राष्ट्रभृत्" और "अग्निर्भूतानां" इत्यादि मन्त्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम "अभ्यातान" है। उक्त वाक्य में जो अधिक फल प्राप्ति के लिये कर्म का अङ्ग "जय" आदि नामक होम विधान किये हैं वह कृषि आदि लौकिक तथा अग्निहोत्र आदि वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों का अङ्ग हैं किंवा अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों का ही अङ्ग हैं अर्थात् उक्त होम लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों में करे अथवा वैदिक कर्मों में ही करे? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे वैदिक कर्म अधिक फल की इच्छा से किये जाते हैं वैसे ही कृषि आदि लौकिक कर्म भी उक्त इच्छा से किये जाते हैं फल समृद्धि की इच्छा लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों में समान है, इस लिये उक्त होम लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों का अङ्ग हैं, केवल वैदिक कर्मों का ही नहीं।

सार यह निकला कि "जय" आदि होम लौकिक तथा वैदिक दोनों कर्मों में कर्तव्य हैं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

होमास्तु व्यवतिष्ठेरन्नाहवनीय संयोगात्। २६।

पद०–होमाः । तु । व्यवतिष्ठेरन् । आहवनीयसंयोगात् ।

पदा०–"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (होमाः) उक्त होम (व्यवतिष्ठेरन्) वैदिक कर्मों में ही व्यवस्थित हैं, क्योंकि (आहवनीयसंयोगात्) वैदिक कर्म तथा होम दोनों को "आहवनीय" अग्नि का सम्बन्ध समान है ।

भाष्य–यद्यपि लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के कर्मों में फल वृद्धि की इच्छा समान रूप से कीजाती है तथापि उक्त होम कृषि आदि लौकिक कर्मों में नहीं होसक्ते, क्योंकि उक्त लौकिक कर्म खेत में और होम अहवनीय अग्नि में किये जाते हैं, इस प्रकार दोनों का देश भेद होने से परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होसक्ता, यदि होम भी खेत में किये जायं तो उनमे उक्त फल का प्राप्त होना असंभव है, क्योंकि "यदाहवनीये जुहोति तेनसोऽस्याभीष्टःप्रीतोभवति" = आहवनीय अग्नि में होम करने से यथेष्ट फल की प्राप्ति होती है, इत्यादि वाक्यों से यथेष्ट फलप्राप्ति के लिये आहवनीय अग्नि में ही सम्पूर्ण होमों का होना कथन किया है और अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म तथा उक्त होमों का "आहवनीय" रूप अग्नि एक ही देश है, क्योंकि वह दोनों उक्त अग्नि में ही किये जाते हैं और देश के समान होने से उनका परस्पर अङ्गाङ्गभावरूप सम्बन्ध भी होसक्ता है । इसलिये उक्त होम वैदिक कर्मों का ही अङ्ग है लौकिक वैदिक दोनों का नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :–

शेषश्चसमाख्यानात् । २७ ।

पद०–शेषः । च । समाख्यानात् ।

पदा०–(च) और (शेषः) उक्त होम वैदिक कर्मों का अङ्ग हैं

क्योंकि (समाख्यानात्) "आध्वर्यव" काण्ड में उनका पाठ है।

भाष्य-जिस काण्ड में उक्त होमों का विधायक वाक्य पढ़ा गया है उसकी समाख्या "अध्वर्यव" है, इस काण्ड में पाठ होने से उक्त होमों का वैदिक कर्म के साथ सम्बन्ध स्पष्ट प्रतीत होता है यदि वह लौकिक कर्म का भी अङ्ग होते तो उक्त वेद सम्बन्धी समाख्या वाले काण्ड में उनका पाठ न किया जाता, जिस प्रकार "आध्वर्यव" वेदसम्बन्धी समाख्या है, उसका निरूपण पीछे किया गया है, उक्त समाख्या वाले काण्ड में पाठ होने से सिद्ध होता है कि "जय" आदि होम वैदिक कर्मों का ही अङ्ग हैं लौकिकों का नहीं।

सार यह निकला कि उक्त होम वैदिक कर्मों में ही कर्तव्य हैं लौकिक कर्मों में नहीं।

सं०-अब अश्वप्रतिग्रहनिमित्तक वारुणी इष्टि की अङ्गरूपता से कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

दोषात्त्विष्टिर्लौकिके स्याच्छास्त्राद्धि वैदिके न दोषः स्यात्। २८।

पद०-दोषात्। तु। इष्टिः। लौकिके। स्यात्। शास्त्रात्। हि। वैदिके। न। दोषः। स्यात्।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (इष्टिः) अश्वप्रतिग्रहनिमित्तक जो इष्टि विधान की है वह (लौकिके) लौकिक अश्वप्रतिग्रह में ही (स्यात्) होनी चाहिये, क्योंकि (दोषात्) उक्त प्रतिग्रह में दोष कथन किया है (हि)और (वैदिके) वैदिक अश्वप्रतिग्रह

में (शास्त्रात्) शास्त्र सिद्ध होने के कारण (न, दोषः, स्यात्) वह दोष नहीं है।

भाष्य–इष्टि तथा याग यह दोनों पर्याय शब्द हैं, विना मांगे किंवा मांगने से अश्व के लाभ का नाम "लौकिक अश्वप्रतिग्रह" और वेदविहित याग में दक्षिणा से अश्व के लाभ का नाम "वैदिक अश्वप्रतिग्रह" है, "यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्"= जितने अश्वों का प्रतिग्रह करे उतने चार कपालों में पकाये हुए पुरोडाशों का विश्ववरणीय परमपिता वरुण परमात्मा के उद्देश से प्रदान करे, इस प्रकार वारुणी इष्टि का विधान किया है, वह लौकिक अश्वप्रतिग्रह में कर्तव्य है किंवा वैदिक अश्वप्रतिग्रह में ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति"=अश्व का प्रतिग्रही जलोदर रोग से ग्रसित होजाता है, इस वाक्य में अश्व के प्रतिग्रह से जलोदर रोग का होना रूप दोष कथन किया है वह लौकिक अश्व प्रतिग्रह में ही होसक्ता है वैदिक अश्वप्रतिग्रह में नहीं, क्योंकि वैदिक कर्म में अश्व की दक्षिणा देने का विधान पाया जाता है, जैसाकि कहा है कि "ज्योतिष्टोमे गौर्वाऽश्वो वा दक्षिणा"=ज्योतिष्टोम याग में गौ अथवा अश्व दक्षिणा है, यदि वैदिक अश्वप्रतिग्रह में दोष होता तो ज्योतिष्टोम याग में अश्व की दक्षिणा का विधान न पाया जाता, उसके पाये जाने से सिद्ध होता है कि वैदिक अश्वप्रतिग्रह में दोष नहीं किन्तु लौकिक अश्वप्रतिग्रह में ही

दोष है, इसलिये उक्त दोष की निवृत्ति के लिये जो वारुणी इष्टि विधान की है वह लौकिक अश्वप्रतिग्रह में ही कर्तव्य है वैदिक अश्वप्रतिग्रह में नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अर्थवादो वाऽनुपपातात् तस्माद् यज्ञे प्रतीयेत् । २९ ।

पद०-अर्थवादः । वा । अनुपपातात् । तस्मात् । यज्ञे । प्रतीयेत् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (अर्थवादः) अश्व के प्रतिग्रह से जलोदर रोग होता है और उसकी निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि का विधान है, यह सब अर्थवाद है, क्योंकि (अनुपपातात्) अश्व के प्रतिग्रह से कोई पाप नहीं होता, इसलिये (यज्ञे) जिस यज्ञ में अश्व की दक्षिणा विधान कीगई है उसमें (प्रतीयेत्) अङ्ग रूप से उक्त इष्टि की कर्तव्यता जाननी चाहिये ।

भाष्य-"वरुणो वा एतं गृह्णाति योऽश्वं प्रतिगृह्णाति" इस प्रकार अश्वप्रतिग्रह को जलोदर रोग का हेतु कथन करके उसकी निवृत्ति के लिये जो "यावतोऽश्वान् प्रतिगृह्णीयात् तावतो वारुणान् चतुष्कपालान् निर्वपेत्" इस वाक्य से वारुणी इष्टि का विधान किया है वह अर्थवाद है, उसका स्वार्थ में तात्पर्य नहीं कि सचमुच अश्व के प्रतिग्रह से जलोदर रोग होजाता है और उक्त वारुणी इष्टि के करने से उसकी निवृत्ति होजाती है किन्तु अश्वारोहण विद्या से अनभिज्ञ शौर्य्य, क्रौर्य्य आदि गुणों

से शून्य देशोन्नति की बातों से सर्वदा उदासीन तथा दूर भागने वाले महादरिद्री मनुष्याभास पुरुषों को अश्व का प्रतिग्रह उक्त रोग का हेतु है, उनको भूलकर भी उसका प्रतिग्रह न करना चाहिये और दाता को भी उचित है कि वह भी अश्व का दान ऐसे कुपात्रों को छोड़कर "गुरुगोविन्दसिंह" "बाबा बन्दा" तथा "शिवाजी" जैसे सच्चे देश भक्त, शूरबीर, क्षात्रधर्मावलम्बी परमपवित्र पात्रों को दे और उक्तविधि पात्र में दान की सफलता के उत्साह में वारुणी इष्टि करे, इस प्रकार अश्व की दक्षिणा वाले यज्ञ की पूर्णता के लिये अङ्ग रूप से उक्त इष्टि की कर्तव्यता में तात्पर्य्य है, इस प्रकरण के पूर्वापर का पर्य्यायलोचन करने से यह स्पष्ट होजाता है कि अश्वप्रतिग्रह किसी प्रकार के दोष का जनक नहीं। कौन बुद्धिमान् इस प्रकार की विचित्र कल्पना कर सक्ता है कि देश के सच्चे प्रेमियों शूरबीरों आर्यकुलभूपणों को उत्तमोत्तम अश्वों के प्रतिग्रह से कुछ दोष होता है अथवा ऐसे पात्रों में अश्व का दान देने वाले उदारचरितों को कोई रोग होसक्ता है, जो उदार पुरुष देश के सच्चेहितैषी उक्त प्रकार के पात्रों में लौकिक अथवा वैदिक कर्म के व्याज से अच्छे २ अश्वों का प्रदान करते हैं वह सर्वदा के लिये अचला कीर्ति तथा असीम सुख के भाजन और प्रतिग्रहीता पुरुष भी उक्त प्रतिग्रह को यथेष्ट उपयोग में लाकर सर्वदा के लिये अमर होजाते हैं, जिसके प्रतिग्रह तथा दान का यह महत्व है उससे दोष के होने की संभावना भी नहीं होसक्ती और अर्थवाद का यह स्वभाव है कि वह स्वार्थ को न कहता हुआ प्रकृत विधि के साथ मिलके चरितार्थ होता है, प्रकृत अश्व

की दक्षिणा वाला वैदिक यज्ञ है और उक्त वाक्य में जो अश्व-प्रतिग्रहनिमित्तक इष्टि की कर्तव्यता विधान की है वह इसी यज्ञ की पूर्णता के लिये की है, इसलिये उक्त इष्टि वैदिक अश्वप्रतिग्रह में कर्तव्य है, लौकिक अश्वप्रतिग्रह में नहीं।

सं०-अब अश्व के दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

अचोदितश्च कर्मभेदात्। ३०।

पद०-अचोदितं। च। कर्मभेदात्।

पदा०-(च) और उक्त इष्टि प्रतिगृहीता को कर्तव्य है, क्योंकि वह (अचोदितं) "प्रतिग्रह के निमित्त से विधान की गई है, दान के निमित्त से नहीं, और (कर्मभेदात्) प्रतिग्रह तथा दान दोनों क्रियाओं का परस्पर भेद है।

भाष्य-उक्त वारुणी इष्टि प्रतिगृहीता को कर्तव्य है किंवा दाता को अर्थात् अश्व का दान लेने वाले ऋत्विक् उक्त इष्टि करें अथवा देने वाला यजमान? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त इष्टि के विधायक वाक्य में "प्रतिगृह्णीयात्" पद का प्रयोग किया है जिसका "प्रतिग्रहण करे" यह अर्थ होता है, "दान करे" यह अर्थ नहीं। यदि दाता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो उक्त वाक्य में "दद्यात्" पद का प्रयोग होना चाहिये था "प्रतिगृह्णीयात्" का नहीं, और "प्रतिगृह्णीयात्" तथा "दद्यात्" इन दोनों पदों के अर्थ का परस्पर भेद है होने के कारण "प्रतिगृह्णीयात्" से "दद्यात्" का ग्रहण

भी नहीं होसक्ता और उसके न होने से दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता कदापि सिद्ध नहीं होसक्ती और असिद्ध का ग्रहण अनुचित है, इसलिये उक्त इष्टि प्रतिगृहीता को कर्तव्य है दाता को नहीं ।

सार यह निकला कि अश्व का दान लेने वाले ऋत्विक् उक्त इष्टि करें देने वाला यजमान नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सा लिङ्गादार्त्विजे स्यात् । ३१ ।

पद०-सा । लिङ्गात् । आर्त्विजे । स्यात् ।

पदा०-(सा) उक्त इष्टि (आर्त्विजे) यजमान को (स्यात्) कर्तव्य है, क्योंकि (लिङ्गात्) लिङ्ग से यही पाया जाता है ।

भाष्य-"प्रजापतिर्वरुणायाश्वमनयत्, स स्वां देवतामार्च्छत् स पर्यदीर्यत, स एतं वारुणं चतुष्कपाल मपश्यत्, तं निरवपत्, ततो वै स वरुणपाशादमुच्यत"=प्रजापति ने वरुण को अश्व का दान दिया, उसके देने से उसको जलोदर रोग होगया, उसकी निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि को उचित समझा और उसके करने पर वह उक्त रोग से छूट गया, इस प्रकार उपक्रम करके उक्त इष्टि का विधान किया है, उपक्रम वाक्य में जो प्रजापति का अश्वदान से रोगी होना तथा उक्त इष्टि के करने पर पुनः रोग से मुक्त होजाना कथन किया है वह दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता में लिङ्ग है, यदि प्रतिगृहीता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो उपक्रम वाक्य में अश्व के दाता प्रजापति का रोगी होना तथा इष्टि करने पर रोग से छूटना

निरूपण न किया जाता, किन्तु प्रतिगृहीता वरुण का रोगी होना तथा इष्टि करने पर रोग से छूटना निरूपण किया जाता, परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे सिद्ध होता है कि प्रतिगृहीता को उक्त इष्टि कर्तव्य नहीं। और जो यह कथन किया है कि इष्टि के विधायक वाक्य में "प्रतिगृह्णीयात्" पद का प्रयोग किया है यदि दाता को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो उसके स्थान में "दद्यात्" पद का प्रयोग किया जाता, सो ठीक नहीं, क्योंकि उपक्रम से विरुद्ध उपसंहार कदापि नहीं होसक्ता और उपक्रम वाक्य से दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध है जिसका अन्यथाभाव होना असंभव है, यदि उपसंहारस्थ "प्रतिगृह्णीयात्" पद का "प्रतिग्रहण करे" यह अर्थ किया जाय तो उपक्रम उपसंहार का विरोध होना संभव है, सो ठीक नहीं, इसलिये प्रतिगृह्णीयात् पद का उक्त अर्थ नहीं किन्तु "**प्रतिगृह्णीयात् = प्रतिग्राहयेत्**" = प्रतिग्रहण करावे, यह अर्थ है, और यह अर्थ हेतुवाची "णि" प्रत्यय का उक्त पद में अन्तर्भाव मानने से होसक्ता है, इसमें कोई दोष नहीं, और इसके होने से उपक्रम तथा उपसंहार दोनों का विरोध भी नहीं होता, जिस अर्थ के ग्रहण होने में कोई दोष नहीं तथा जिसके होने से उपक्रम उपसंहार दोनों का विरोध भी नहीं होता वही अर्थ समीचीन तथा ग्रहणीय है, इसलिये उपसंहार वाक्य में "प्रतिगृह्णीयात्" पद का प्रयोग होने पर भी प्रतिगृहीता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध नहीं होती, अतएव उसका मानना भी अनुचित है।

तात्पर्य्य यह है कि "**सञ्ज्ञातासञ्ज्ञातविरोधिनोर-**

सञ्जातविरोधी बलीयान् " = सञ्जात विरोधी = उत्पन्न हो गया है विरोधी जिसका तथा असञ्जातविरोधी = नहीं उत्पन्न हुआ है विरोधी जिसका इन दोनों के मध्य असञ्जातविरोधी प्रबल होता है, इस न्याय के अनुसार उपक्रम वाक्य प्रबल है, क्योंकि उसका विरोधी उपसंहार वाक्य उसके समय में अनुत्पन्न है, और उपसंहार वाक्य सञ्जातविरोधी होने के कारण उपक्रम वाक्य से निर्बल है और प्रबल तथा निर्बल वाक्यों के मध्य निर्बल वाक्य का ही प्रबल के अनुसार सर्वदा लापन किया जाता है उपक्रम वाक्य से दाता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध है जिसका अनुसरण उपसंहारस्थ प्रतिगृह्णीयात् पद का "प्रतिग्राहयेत्" अर्थ किये बिना नहीं होसक्ता, परन्तु अनुसरण होना आवश्यक है और उसके होने से "प्रतिगृह्णीयात्" पद का "प्रतिग्रहयेत्" अर्थ करें तो प्रतिगृहीता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध नहीं होसक्ती, इसलिये अश्व के प्रतिगृहीता ऋत्विजों को उक्त इष्ट कर्तव्य नहीं किन्तु उसके दाता यजमान को ही याग की पूर्णता के लिये कर्तव्य है ।

सं०—अब वैदिक सोमपान के वमन होजाने से सोमेन्द्री इष्टि की कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

पानव्यापच्च तद्वत् । ३२ ।

पद०—पानव्यापत् । च । तद्वत् ।

पदा०—(च) और (तद्वत्) जैसे अश्व का दान इष्टि का निमित्त है वैसे ही (पानव्यापत्) सोमपान का वमन भी इष्टि का निमित्त है ।

भाष्य-किसी याग विशेष का प्रकरण न चलाकर "सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेत् श्यामाकं सोमवामिनः"=जो सोम पीकर वमन करदे वह सोम्यस्वभाव तथा परम ऐश्वर्य्य युक्त परमात्मा के उद्देश से सांवां के चरु का निर्वाप करे, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो सोमवमननिमित्तक सौमेन्द्र चरु का निर्वाप रूप इष्टि विधान की है वह लौकिक सोमपान के वमन होजाने पर कर्तव्य है किंवा वैदिक सोमपान के वमन होजाने पर अर्थात् किसी रोग विशेष की निवृत्ति के लिये पान किये सोम का वमन होजाने से उक्त इष्टि कर्तव्य है अथवा ज्योतिष्टोम याग में पान किये शेष-सोम का वमन होजाने से कर्तव्य है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "वि वा एष इन्द्रियेण वीर्य्येण व्यृध्यते यःसोमं वमति"=उस पुरुष के चक्षु इन्द्रिय शक्तिहीन होजाते हैं जो सोम पीकर वमन कर देता है, इस उपक्रमवाक्य में सोमवमन के लोक सिद्ध दोष का उपन्यास करके पश्चात् उसकी शान्ति के लिये उक्त इष्टि विधान की है, यदि वैदिक सोमपान का वमन दोष का जनक होता तो उपक्रमवाक्य में किसी अलौकिक दोष का उपन्यास करके उसकी शान्ति के लिये उक्त इष्टि विधान की जाती, लौकिक दोष का कथन करके उक्त इष्टि विधान करने से ज्ञात होता है कि वैदिक सोमपान के वमन होजाने पर उक्त इष्टि कर्तव्य नहीं किन्तु लौकिक सोमपान के वमन होजाने पर कर्तव्य है ।

सार यह निकला कि उक्त वाक्य में जो इष्टि विधान कीगई है वह किसी रोग विशेष की निवृत्ति के लिये पान किये सोम का

वमन होजाने पर कर्तव्य है वैदिक सोमपान के वमन होजाने पर नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

दोषात्तु वैदिके स्यादर्थाद्धि लौकिके न दोषः स्यात् । ३३ ।

पद०—दोषात् । तु । वैदिके । स्यात् । अर्थात् । हि । लौकिके । न । दोषः । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (वैदिके) वैदिक सोमपान के वमन होजाने पर (स्यात्) उक्त इष्टि कर्तव्य है, क्योंकि (दोषात्) उसके वमन का उपक्रमवाक्य में दोष कथन किया है और (लौकिके) लौकिक सोमपान में (दोषः) वमन होजाना कोई दोष (न, स्यात्) नहीं होसक्ता (हि) क्योंकि (अर्थात्) वह वमन के लिये ही किया जाता है ।

भाष्य—उपक्रमवाक्य में जो चक्षु इन्द्रिय का बलहीन होना दोष कथन किया है वह वैदिक सोमपान के वमन का नहीं, क्योंकि वमन के लिये ही लोक में सोमपान किया जाता है और जिसके लिये जो किया जाता है उसके होने से कोई दोष नहीं होसक्ता और दोष के न होने से उसकी निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि का विधान भी नहीं होसक्ता, और वैदिक सोमपान का अर्थ पाक पर्य्यन्त निर्णीत है जैसाकि मी० ३। २ । २४-२५ के भाष्य में निरूपण किया गया है, उसके वमन होजाने से दोष तथा उसकी निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि का विधान होसक्ता है, इसलिये

"सौमेन्द्रं चरुं निर्वपेत्" वाक्य में जो इष्टि विधान की है वह वैदिक सोमपान के वमन होजाने पर कर्तव्य है लौकिक सोमपान के वमन होजाने पर नहीं।

सं०-अब यजमान को उक्त इष्टि की कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तत्सर्वत्राविशेषात्। ३४।

पद०-तत्। सर्वत्र। अविशेषात्।

पदा०-(तत्) उक्त सोम का वमन (सर्वत्र) ऋत्विक् तथा यजमान सब को उक्त इष्टि की कर्तव्यता में निमित्त है, क्योंकि (अविशेषात्) वह समान रूप से सुना गया है।

भाष्य-सोम वमन निमित्तक जो इष्टि विधान की है वह ऋत्विक् तथा यजमान सब को कर्तव्य है किंवा यजमान को ही कर्तव्य है अर्थात् ऋत्विक् तथा यजमान इन सब के मध्य जो सोम पान करके वमन करदे उसको उक्त इष्टि करनी चाहिये अथवा केवल यजमान को ही वमन करने पर उक्त इष्टि करनी चाहिये? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त इष्टि के विधायक वाक्य में "सोमवामिनः" पद का प्रयोग किया है जिसका "सोम पीकर वमन करने वाला" अर्थ है इससे ऋत्विक् अथवा यजमान किसी व्यक्ति विशेष का लाभ नहीं होता अर्थात् "सोमवामिनः" यह सामान्य शब्द है ऋत्विक् हो अथवा यजमान कोई सोम पीकर वमन करदे उसको उक्त शब्द कहसक्ता है, यदि यजमान मात्र को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो "सोमवामिनः" पद के साथ

"यजमानस्य" का अवश्यमेव प्रयोग किया जाता, क्योंकि उसके बिना यजमान को उक्त इष्टि की कर्तव्यता सिद्ध नहीं होसक्ती और सामान्य वाची शब्द से विशेष का ग्रहण होना सर्वथा असम्भव है, इसलिये उक्त इष्टि ऋत्विक्, यजमान सबको कर्तव्य है केवल यजमान को ही नहीं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

स्वामिनो वा तदर्थत्वात्। ३५।

पद०–स्वामिनः। वा। तदर्थत्वात्।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (स्वामिनः) यजमान को उक्त इष्टि कर्तव्य है, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह कर्मफल का भोक्ता है।

भाष्य–जिस "ज्योतिष्टोम" याग में शेष सोम का पान किया जाता है उसके फल का भोक्ता यजमान है ऋत्विक् नहीं, और जो जिसके फल का भोक्ता नहीं उनके सोम वमन से वह विगुण नहीं होसक्ता, और यागविगुणता की निवृत्ति के लिये ही उक्त इष्टि विधान कीगई है, इससे स्पष्ट होता है कि यजमान का सोम वमन ही उक्त याग की विगुणता का कारण है और जिसका सोम वमन उक्त याग की विगुणता का कारण है, उसी को उसकी निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि कर्तव्य होसक्ती है।

तात्पर्य्य यह है कि ऋत्विज केवल याग के कर्ता हैं उसके फल के भोक्ता नहीं, अतएव उनके वमन से याग के विगुण होने का सम्भव नहीं और यजमान उक्त याग के फल का भोक्ता है और अन्य अङ्गों की भांति सोमपान भी उक्त याग का अङ्ग है

परन्तु यहां पान केवल पीने का ही नाम नहीं किन्तु पीकर पचाना अर्थ है, यदि यजमान सोम को पीकर न पचासके और वमन करदे तो उक्त पान रूप अङ्ग के भङ्ग होजाने से याग का विगुण होना स्पष्ट है और यथेष्ट फल की प्राप्ति के लिये साङ्गोपाङ्ग याग का पूर्ण करना भी आवश्यक है, इसलिये उसकी विगुणता निवृत्ति के लिये जो इष्टि विधान की है वह यजमान का ही कर्तव्य है ऋत्विजों का नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं:-

लिङ्गदर्शनाच्च । ३६ ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"**सोमपीयेन व्यृध्यते यः सोमं वमति**"= सोम पान करने से उसका कर्म विगुण होजाता है जो पीकर वमन कर देता है। इस वाक्यशेष में जो सोम के वमन से कर्म का विगुण होना कथन किया है वह यजमान को उक्त इष्टि की कर्तव्यता में लिङ्ग है, यदि ऋत्विजों को उक्त इष्टि कर्तव्य होती तो सोम पान करना याग का एक संस्कार विशेष और उसको पीकर वमन करने से उसका विगुण अर्थात् असंस्कृत होना कथन न किया जाता, क्योंकि यजमान क्रीत होने के कारण ऋत्विजों का याग के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध नहीं है और जिनका जिसके साथ उक्त सम्बन्ध नहीं है उनके वमन से वह विगुण नहीं होसक्ता और विगुण न होने से उसके पुनः संस्कारार्थ उक्त इष्टि का विधान भी

नहीं बन सक्ता, परन्तु "यो वमति स निर्वपति"=जो वमन करे वह चरु निर्वाप रूप उक्त इष्टि करे, इस प्रकार वमनकर्त्ता को उक्त इष्टि की कर्तव्यता कथन की है, इससे स्पष्ट होता है कि जिसका याग के साथ स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है उसीके सोम वमन से याग विगुण होता और उसीको विगुणता निवृत्ति के लिये उक्त इष्टि कर्तव्य है, याग के साथ केवल यजमान का ही स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है, इसिलिये सिद्ध हुआ कि सोमवमन निमित्तक उक्त इष्टि भी यजमान को कर्तव्य है ऋत्विजों को नहीं।

सं०-अब आग्नेय पुरोडाश आदि के द्व्यवदान अर्थात् अङ्गुष्ठ परिमाण दो टुकड़ों की अग्नि में होतव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

सर्वप्रदानं हविषस्तदर्थत्वात् । ३७ ।

पद०-सर्वप्रदानं । हविषः । तदर्थत्वात् ।

पदा०-(हविषः) हवि का (सर्वप्रदानं) अग्नि में निःशेष प्रदान होना चाहिये, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह उसके लिये ही है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "आग्नेयोऽष्टाकपालः"=प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से आठ कपालों में पकाये हुए पुरोडाश का प्रदान करे, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो पुरोडाश का प्रदान अर्थात् परमात्मा के उद्देश से अग्नि में त्याग कथन किया है वह कृत्स्नपुरोडाश का होना चाहिये किंवा उसके किसी भाग विशेष का ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि

उक्त वाक्य में परमात्मा के उद्देश से पुरोडाश का प्रदान कथन किया है उसके किसी भाग विशेष का नहीं, और जिसका कथन नहीं किया उसका अनुष्ठान में लाना अनुचित है और परमात्मा के उद्देश से प्रदान भी तभी समझा जासकृता है जब कृत्स्नपुरोडाश का अग्नि में हवन कर दिया जाय अन्यथा नहीं, इसलिये कृत्स्न-पुरोडाश का हवन होना चाहिये भागविशेष का नहीं ।

तात्पर्य्य है यह कि उक्त वाक्य से पुरोडाश का अग्नि में त्याग पाया जाता है उसके भागविशेष का नहीं, और जिसका उक्त वाक्य से त्याग नहीं पाया जाता उसका प्रमाणिक न होने के कारण अनुष्ठान भी नहीं होसकृता, इसलिये पुरोडाश में से कुछ भाग काटकर हवन करना ठीक नहीं किन्तु कृत्स्नपुरोडाश का हवन करना ठीक है ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

निरवदानात्तुशेषः स्यात् । ३८ ।

पद०-निरवदानात् । तु । शेषः । स्यात् ।

पदा०-" तु " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (शेषः) कृत्स्नपुरोडाश का हवन नहीं होना चाहिये किन्तु स्विष्ट-कृदादि अन्य कार्य्यों के लिये शेष भी (स्यात्) रखना चाहिये क्योंकि (निरवदानात्) कृत्स्नपुरोडाशरूप हवि में से अंगुष्ठपर्व परिमाण दो टुकड़े काटकर हवन करना विधान किया है ।

भाष्य-यद्यपि उक्त वाक्य से पुरोडाश का ही अग्नि में त्याग पाया जाता है उसके भाग विशेष का नहीं तथापि उक्त वाक्य से पुरोडाश के साथ कृत्स्नशब्द का प्रयोग न होने के कारण सम्पूर्ण

पुरोडाश के त्याग की कल्पना नहीं कर सकते और एक देश के त्याग मे भी पुरोडाश का त्याग कहा जासकता है और "**द्विर्हविषोऽवद्यति**" = हवि में से त्याग के लिये अंगुष्ठपर्व परिमाण दो टुकड़े काटे, इस वाक्य विशेष से पुरोडाश के भाग विशेष का त्याग पाया जाता है जिसका उल्लङ्घन नहीं होसकता अर्थात् "**आग्नेयोऽष्टाकपालः**" ये सामान्य वाक्य और "**द्विर्हविषोऽवद्यति**" यह विशेष वाक्य है, विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का सङ्कोच होजाता है, सामान्य वाक्य से विशेष वाक्य का नहीं, यह नियम है, विशेष वाक्य से सामान्य वाक्य का सङ्कोच करने से कृत्स्नपुरोडाश का त्याग नहीं पाया जाता। इसलिये प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से प्रदेय पुरोडाश के अंगुष्ठपर्व परिमाण दो टुकड़ों का अग्नि में त्याग करना चाहिये, कृत्स्न का नहीं।

सार यह निकला कि "द्विर्हविषोऽवद्यति" वाक्यानुसार अग्नि में हवनार्थ पुरोडाश के दो अवदान करे, अंगूठे के पर्व समान काटने का नाम "**एकअवदान**" है अर्थात् अंगुष्ठ के पर्व समान पुरोडाश के दो टुकड़े काट कर हवन करना चाहिये और शेष स्विष्टकृत् आदि कार्य्यों के लिये रखना चाहिये, कृत्स्न का हवन करना ठीक नहीं।

सं०—अब उक्तार्थ में आशङ्का करते हैं :—

उपायो वा तदर्थत्वात्। ३९।

पद०—उपायः। वा। तदर्थत्वात्।

पदा०-"वा" शब्द आशङ्का की सूचना के लिये आया है (उपायः) "द्विर्हविषः" वाक्य से हवन का उपाय कथन किया है "द्विरवदान" का हवन नहीं, क्योंकि (तदर्थत्वात्) कृत्स्नपुरोडाश हवन के लिये है।

भाष्य--"द्विर्हविषोऽवद्यति" वाक्य से जो अंगुष्ठपर्व परिमाण दो टुकड़े काटने विधान किये हैं, उसका यह तात्पर्य्य नहीं कि कृत्स्नपुरोडाश में से केवल अंगुष्ठपर्व परिमाण दो टुकड़े काट कर हवन करने तथा शेष पुरोडाश अन्य कार्य्यों के लिये रखना किन्तु उक्त परिमाण के दो २ टुकड़े करके हवन करना चाहिये यह तात्पर्य्य है अर्थात् उक्त वाक्य हवन का उपाय कथन करता है पुरोडाश के भाग विशेष हवन का नहीं, अतएव उसको विशेष वाक्य मानकर "आग्नेयः" वाक्य का सङ्कोच भी नहीं होसक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि "आग्नेयः" वाक्य से कृत्स्नपुरोडाश का हवन पाया जाता है उसके भागविशेष का हवन करने से वह चरितार्थ नहीं होसक्ता, और "द्विर्हविषः" वाक्य को उपाय का विधायक होने से उसका सङ्कोच भी नहीं मान होसक्ते, क्योंकि सामान्य विशेष भाव के होने पर ही परस्पर सङ्कोच्यसङ्कोचकभाव होसक्ता है और उक्त वाक्य को उपाय का विधायक होने से यावत्पर्य्यन्त पुरोडाश विद्यमान है, तावत्पर्य्यन्त होने में कोई बाधक नहीं, क्योंकि वह हवन क्रिया का प्रयोजक है, इस प्रकार कृत्स्नपुरोडाश का हवन होने से उसका विधायक वाक्य भी चरितार्थ होजाता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि कृत्स्नपुरोडाश का हवन होना चाहिये भागविशेष का नहीं।

सं०-अब उक्त शङ्का का समाधान करते हैं:-

कृतत्वात्तुकर्मणः सकृत्स्याद् द्रव्यस्य गुणभूतत्वात् । ४० ।

पद०—कृतत्वात् । तु । कर्मणः । सकृत् । स्यात् । द्रव्यस्य । गुणभूतत्वात् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (सकृत्) एक बार (कर्मणः) हवन के (कृतत्वात्) कर देने से (स्यात्) हवन विधायक वाक्य चरितार्थ होजाता है और (द्रव्यस्य) शेष पुरोडाश हवन क्रिया की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं होसक्ता, क्योंकि (गुणभूतत्वात्) वह उक्त क्रिया के प्रति गौण है ।

भाष्य—"आग्नेयः" वाक्य से पुरोडाश का हवन पाया जाता है, कृत्स्न पुरोडाश का नहीं, और जो वाक्य से पाया नहीं जाता उसकी बिना किसी प्रमाण के कल्पना करना अनुचित है, और "द्विर्हविषः" वाक्य को उपाय का निरूपक होने पर भी पुरोडाश की स्थिति पर्य्यन्त हवन क्रिया की आवृत्ति भी नहीं होसक्ती, क्योंकि एकतो आग्नेय वाक्य से अनेक बार हवन का होना नहीं पाया जाता और एक बार के हवन से ही चरितार्थ होजाने के कारण वह अनेक बार हवन की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं होसक्ता और पुरोडाश द्रव्य हवन क्रिया का साधन होने से गौण है उसका उक्त क्रिया की आवृत्ति में प्रयोजक होना असंभव है अर्थात् प्रधान के अनुसार गौण की आवृत्ति होसक्ती है गौण के अनुसार प्रधान की नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि "द्विर्हविषः" वाक्य के अनुसार अंगुष्ठपर्व समान पुरोडाश के दो टुकड़ों का हवन कर देने से "आग्नेयः" वाक्य चरितार्थ होजाता है और शेष पुरोडाश गुणभूत होने के कारण हवन क्रिया की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध हुआ कि कृत्स्नपुरोडाश का हवन कर्तव्य नहीं किन्तु उसके भाग विशेष का कर्तव्य है।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:-

शेषदर्शनाच्च । ४१ ।

पद०-शेषदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (शेषदर्शनात्) शेष पुरोडाश से अन्य कार्य्यों के करने का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"**शेषात् स्विष्टकृते समवद्यति**"=शेष पुरोडाश से "स्विष्टकृत्" कर्म के लिये अंगुष्ट के पर्व सामन काटे, इस वाक्य में स्विष्टकृत् कर्म के लिये शेष पुरोडाश से अंगुष्ट पर्व समान काटने का विधान किया है, यदि कृत्स्न पुरोडाश का हवन होता तो उक्त वाक्य में शेष से स्विष्टकृत् के लिये अवदान का विधान न किया जाता, क्योंकि कृत्स्न का हवन होजाने से शेष का रहना असंभव है और शेष न रहने के कारण स्विष्टकृत् कर्म के लिये अवदान का विधान भी नहीं होसक्ता, परन्तु विधान किया है इससे स्पष्ट होता है कि कृत्स्न पुरोडाश का हवन कर्तव्य नहीं किन्तु उसके भाग विशेष का कर्तव्य है।

तात्पर्य्य यह है कि "**शेषात्स्विष्टकृते**" वाक्य से पुरोडाश

का शेष रहना सिद्ध है और शेष तब ही रह सक्ता है जब कृत्स्न पुरोडाश का हवन न मानाजाय, क्योंकि इसके बिना उसका रहना कदापि सम्भव नहीं, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि केवल अंगुष्ठपर्व समान पुरोडाश के दो टुकड़े हवन करने चाहिये, और शेष स्विष्टकृदादि कार्य्यों के लिये रखना चाहिये ।

सं०—अब आग्नेय आदि तीनों हवियों से "स्विष्टकृत" आदि शेष कर्मों की कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

अप्रयोजकत्वादेकस्मात् क्रियेरन् शेषस्य गुणभूतत्वात् । ४२ ।

पद०—अप्रयोजकत्वात् । एकस्मात् । क्रियेरन् । शेषस्य । गुणभूतत्वात् ।

पदा०—(एकस्मात्) एक हवि से (क्रियेरन्) "स्विष्टकृत" आदि सब शेष कर्म करने चाहियें, तीनों हवि में से नहीं, क्योंकि (शेषस्य) उक्त शेष कर्मों के प्रति (गुणभूतत्वात्) गुणभूत होने के कारण (अप्रयोजकत्वात्) वह उनकी पुनः २ कर्तव्यता का प्रयोजक नहीं ।

भाष्य—आग्नेय आदि तीन २ यागों का नाम "**दर्श**" तथा "**पूर्णमास**" है, इसका विशेष निरूपण मी० २ । २ । ३ के भाष्य में किया गया है, उक्त दर्शपूर्णमास याग में जो तीन २ हवियें होती हैं उन तीनों हवियों के मध्य किसी एक हवि से "स्विष्टकृत" आदि सम्पूर्ण शेष कर्म कर्तव्य हैं किंवा तीनों हवियों से अर्थात् प्रधान हवन के अनन्तर जो शेष हवियें विद्यमान हैं, उनके मध्य किसी एक शेषहवि से उक्त कर्म करने

चाहिये अथवा तीनों शेष हवियों से ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम-पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "शेषात् स्विष्टकृते समवद्यति" वाक्य "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों के लिये शेषहविः से अवदान कथन करता है और वह उक्त तीनों शेषहवियों के मध्य किसी एक शेषहविः से अवदान करने पर भी चरितार्थ होसक्ता है उसकी चरितार्थता के लिये तीनों शेषहवियों से अवदान की कल्पना करना ठीक नहीं, और एक शेषहविः से अवदान करने पर बाकी दोनों शेषहवियें स्विष्टकृत् आदि कर्मों के लिये अवदान का प्रयोजक भी नहीं होसक्तीं।

तात्पर्य्य यह है कि शेषहवियें साधन होने के कारण कर्म का अङ्ग हैं और जो अङ्ग होता है वह गौण होने के कारण कर्म की आवृत्ति का प्रयोजक नहीं होसक्ता अर्थात् उसके कारण कर्म का पुनः अनुष्ठान न होने से "शेषात्स्विष्टकृते" वाक्य के साथ भी कोई विरोध नहीं आता, क्योंकि वह शेषहविः से "स्वि-ष्टकृत्" आदि कर्मों के लिये अवदान विधान करता है और वह एक शेषहविः से करने पर भी उपपन्न होसक्ता है, इसलिये तीनों शेषहवियों से स्विष्टकृत आदि कर्म कर्तव्य नहीं किन्तु तीनों के मध्य किसी एक से कर्तव्य हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

संस्कृतत्वाच्च । ४३ ।

पद०-संस्कृतत्वात् । च ।

पदा०-(च) और (संस्कृतत्वात्) एकबार उक्त कर्म होने से भी प्रधानहविः संस्कृत होजाती है ।

भाष्य-"स्विष्टकृत्" आदि कर्म प्रधानहविः के संस्कारार्थ

किये जाते हैं वह संस्कार उनके एक बार होने से भी होसक्ता है पुनः२ अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं ।

तात्पर्य्य यह हैं कि "स्विष्टकृत्" आदि संस्कार कर्म हैं वह असंस्कृत हविः को संस्कृत कर सक्ते हैं, संस्कृत को नहीं, और न संस्कृत का पुनःसंस्कार अनुपयुक्त होने के कारण अपेक्षित है और एक बार संस्कार तीनों हवियों के मध्य किसी एक शेषहविः के अवदान से भी होसक्ता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि प्रत्येक शेषहविः से उक्त कर्म कर्तव्य नहीं किन्तु उक्त तीनों के मध्य किसी एक से कर्तव्य हैं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सर्वस्माद्वा कारणाविशेषात्संस्कारस्य तदर्थत्वात् । ४४ ।

पद०-सर्वस्मात् । वा । कारणाविशेषात् । संस्कारस्य । तदर्थत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (सर्वस्मात्) सब शेषहवियों से उक्त कर्म होने चाहियें, क्योंकि (कारणाविशेषात्) उनके होने में संस्कार रूप कारण समान है, और (संस्कारस्य) वह संस्कार (तदर्थत्वात्) हविः मात्र के लिये होने से प्रतिहविः होसक्ता है ।

भाष्य-"स्विष्टकृत्" आदि संस्कारकर्म होने से गौण और हविः प्रधान हैं और प्रति प्रधान गौण की आवृत्ति सर्वसम्मत है उसमें अधिक वक्तव्य की आवश्यक्ता नहीं । और एकहविः की भांति सब हवियों का संस्कार भी अपेक्षित है और वह हवियों के परस्पर भिन्न होने के कारण एक हविः से उक्त कर्मों के होने पर

अन्य हवियों में नहीं होसक्ता, इसलिये तीनों हवियों से उक्त कर्म कर्तव्य हैं किसी एक से नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ का साधक लिङ्ग कथन करते हैं:-

लिङ्गदर्शनाच्च। ४५।

पद०-लिङ्गदर्शनात्। च।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"सकृत्सकृदवद्यात्"=एक २ हविः से एक २ बार अवदान करे, इस वाक्य में जो एक२ हविः से एक२ बार अवदान करना कथन किया है अर्थात् दोबार "सकृत्" शब्द का प्रयोग किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि आग्नेय आदि तीनों हवियों के मध्य किसी एक हविः से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य अभिप्रेत होते तो दोबार सकृत् शब्द का प्रयोग न किया जाता, क्योंकि एक "सकृत्" शब्द के प्रयोग से भी उक्त अर्थ का लाभ होसक्ता है, परन्तु ऐसा न करके "सकृत्, सकृत्" इस प्रकार दोबार प्रयोग किया है, इससे सिद्ध होता है कि एक हविः से ही उक्त कर्म कर्तव्य नहीं किन्तु उक्त तीनों हवियों से कर्तव्य हैं।

सं०-४२वें सूत्र के पूर्वपक्ष में जो यह कथन किया था कि आग्नेय आदि तीन हवियों के मध्य किसी एक हविः से "स्विष्टकृत्" आदि कर्म कर्तव्य हैं प्रत्येक हवि से नहीं, अब उक्त तीनों हवियों के मध्य वह एकहविः कौन है, इसके निर्णयार्थ पूर्वपक्ष करते हैं:-

एकस्माच्चेद् यथाकाम्यविशेषात्। ४६।

पद०-एकस्मात्। चेत्। यथाकामी। अविशेषात्।

पदा०-(चेत्) यदि (एकस्मात्) एकहविः पक्ष है तो

(यथाकामी) अपनी इच्छा के अनुसार जिस किसी एकहवि से उक्त कर्मों के लिये अवदान करे, क्योंकि (अविशेषात्) उक्त तीनों हवियें परस्पर समान हैं ।

भाष्य–आग्नेय आदि तीनों हवियें प्रधान होने के कारण परस्पर समान हैं उनके मध्य किसी को प्रशस्त तथा किसी को निःकृष्ट अथवा किसी को संस्कर्तव्य तथा किसी को असंस्कर्तव्य नहीं कहसक्ते और " स्विष्टकृत् " आदि कर्मों के लिये अवदान के विधायक "शेषात् स्विष्टकृतेऽवद्याति" वाक्य से भी किसी एक विशेष हविः का निश्चय नहीं होसक्ता कि उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ जिसका अवदान किया जाय, क्योंकि उसमें " शेषात् " एक ऐसे पद का प्रयोग किया है जिसका सब हवियों के साथ सम्बन्ध होसक्त है, और ऐसी अवस्था में किसी दृढ़ नियामक के बिना एक का निर्धारण नहीं कर सक्ते और निर्धारण न होने से नियम होना भी असंभव है इसलिये उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ अपनी इच्छा के अनुसार जिस किसी एकहविः से अवदान करना उचित है, उसमें नियम की आवश्यकता नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

मुख्याद्वा पूर्वकालत्वात् । ४७ ।

पद०–मुख्यात् । वा । पूर्वकालत्वात् ।

पदा०–" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (मुख्यात्) जिस हविः का परमात्मा के उद्देश से प्रथम त्याग किया जाता है, उस मुख्य हविः से उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ अवदान होना चाहिये क्योंकि (पूर्वकालत्वात्) वह सब से प्रथम त्याज्य होने के कारण उपस्थित है ।

भाष्य—यद्यपि उक्त तीनों हवियें प्रधान होने के कारण परस्पर समान हैं तथापि परमात्मा के उद्देश से जो उनका त्याग होता है उसके यथाक्रम होने से उनमें परस्पर उपस्थितिकृत भेद अवश्य है अर्थात् जिस हविः का प्रथम परमात्मा के उद्देश से त्याग होता है उसकी प्रथम, जिसका पश्चात् होता है उसकी पश्चात् उपस्थिति होती है, और पूर्वोत्तर उपस्थिति के भेद से हवियों का परस्पर भेद होना भी आवश्यक है और भिन्न २ काल में उपस्थित हवियों के मध्य प्रथमोपस्थित का त्याग करके पश्चात् उपस्थित का ग्रहण भी नहीं होसक्ता जैसाकि कहा है कि "**प्रथमत्यागे-मानाभावः**" = प्रथम उपस्थित के त्याग में कोई प्रमाण नहीं, और उक्त तीनों हवियों के मध्य प्रथम प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश्य से त्याग होने के कारण आग्नेय पुरोडाशरूप हविः प्रथम उपस्थित है, इसलिये उनके मध्य उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ प्रथम उपस्थित एक आग्नेय हविः से ही अवदान होना चाहिये, किसी एक से नहीं ।

सं०—अब चतुर्द्धाकृत आग्नेय पुरोडाश का भक्षणार्थ ऋत्विजों को दियाजाना कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

भक्षाश्रवणाद्दानशब्दः परिक्रये । ४८ ।

पद०—भक्षाश्रवणात् । दानशब्दः । परिक्रये ।

पदा०—(दानशब्दः) चतुर्द्धाकृत पुरोडाश का जो विभाग पूर्वक ऋत्विजों को देना कथन किया है (परिक्रये) वह उनके परिक्रयार्थ जानना चाहिये भक्षणार्थ नहीं, क्योंकि (भक्षाश्रवणात्) दान के विधायक वाक्य में भक्षण शब्द का श्रवण नहीं होता ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "इदं ब्रह्मणः, इदं होतुः, इदमध्वर्योः, इदमग्नीधः"=यह ब्रह्मा का, यह होता का, यह अध्वर्यु का तथा यह अग्नीध् का भाग है, इस प्रकार चतुर्द्धा कृत पुरोडाश का जो यजमानकर्तृक ऋत्विजों को देना कथन किया है वह परिक्रयार्थ है किंवा भक्षणार्थ है अर्थात् हवन के अनन्तर शेष बचे पुरोडाश के चार टुकड़े करके जो एक २ टुकड़ा एक २ ऋत्विक् को देना कथन किया है वह भृती के अभिप्राय से समझना चाहिये अथवा भक्षण के अभिप्राय से? या यों कहो कि वह उनको नौकरी में दिया गया है यद्वा जल पान के लिये? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में "इदं ब्रह्मणो भक्षणाय" इस प्रकार निर्देश न करके "इदं ब्रह्मणः" इस प्रकार समान रूप से निर्देश किया है, यदि भक्षणार्थ पुरोडाश का देना अभिप्रेत होता तो अवश्यमेव उक्त प्रकार "इदं ब्रह्मणः" के साथ "भक्षणाय" का प्रयोग किया जाता, परन्तु प्रयोग नहीं किया है और समान निर्देश से "भक्षणार्थ" रूप विशेष अर्थ की कल्पना में अन्य कोई निमित्त उपलब्ध नहीं होता और याग की समाप्ति पर्य्यन्त यजमान के नौकर होने के कारण याग की समाप्ति से पूर्व२ जो कुछ उक्त ऋत्विजों को दिया जाता है वह उनकी नौकरी में दिया समझा जासक्ता है, इसलिये उक्त वाक्य में जो यजमानकर्तृक पुरोडाश का विभाग पूर्वक ऋत्विजों को देना कथन किया है वह भक्षण के लिये नहीं किन्तु क्रय के लिये है।

सार यह निकला कि ऋत्विजों की नौकरी में पुरोडाश दिया गया है जलपान के लिये नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

तत्संस्तवाच्च । ४९ ।

पद०—तत्संस्तवात् । च ।

पदा०—(च) और (तत्संस्तवात्) पुरोडाश दान की दक्षिणा के नाम से स्तुति करने के कारण उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य—"एषा वै दर्शपूर्णमासयोर्दक्षिणा"=पुरोडाश का देना दर्शपूर्णमास याग की दक्षिणा है, इस प्रकार पुरोडाश के दान की दक्षिणा नाम से स्तुति की है, इससे स्पष्ट होता है कि जैसे याग की समाप्ति पर नियत दक्षिणा नौकरी में दी जाती है वैसे ही पुरोडाश का देना भी नौकरी में ही समझना चाहिये, यदि पुरोडाश का देना भक्षणार्थ होता तो उसकी दक्षिणा के नाम से स्तुति न की जाती, दक्षिणा का परिक्रयार्थ होना सर्वसिद्ध है इसलिये दक्षिणा की भांति पुरोडाश का दान भी क्रयार्थ है भक्षणार्थ नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

भक्षार्थो वा द्रव्ये समत्वात् । ५० ।

पद०—भक्षार्थः । वा । द्रव्ये । समत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (भक्षार्थः) पुरोडाश का देना भक्षण के लिये है परिक्रय के लिये नहीं, क्योंकि (द्रव्ये) उक्त पुरोडाश द्रव्य में (समत्वात्) यजमान तथा ऋत्विजों का स्वत्व समान है।

भाष्य—जिस वस्तु में यजमान का स्वत्व है उसी वस्तु को वह ऋत्विजों के परिक्रयार्थ देसक्ता है दूसरी को नहीं, जिस पुरोडाश के चार भाग करके ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को देना उक्त वाक्य

में कथन किया है उसमें प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से प्रथम ही त्याग कर देने के कारण यजमान का स्वत्व नहीं, और स्वत्व के न होने से वह ऋत्विजों तथा यजमान दोनों के लिये समान है, केवल यजमान का उसको विभागपूर्वक देना विवाद निवृत्ति के अभिप्राय से कथन किया है अर्थात् जैसे लोक में कोई पदार्थ पांच सात उपदेशकों को इकट्ठा दान करके पश्चात् स्वत्व के न होने पर भी दाता पंच की भांति विवाद निवृत्ति के लिये विभाग करके प्रत्येक उपदेशक को बांट देता है वैसे ही उक्त वाक्य में भी यजमान के स्वत्व से रहित पुरोडाश का चार भाग करके ब्रह्मादि ऋत्विजों को यजमानकर्तृक देना कथन किया है ऐसा कथन करने से यह बात स्पष्ट होजाती है कि वह ऋत्विजों को परिक्रयार्थ नहीं दिया गया किन्तु भक्षणार्थ दिया गया है।

सार यह निकला कि उक्त वाक्य में जलपान के लिये पुरोडाश का देना कथन किया है परिक्रयार्थ नहीं।

सं०-अब पुरोडाश दान की दक्षिणा के नाम से कीगई स्तुति का समाधान करते हैं :-

व्यादेशाद्दानसंस्तुतिः । ५१ ।

पद०-व्यादेशात् । दानसंस्तुतिः ।

पदा०-(दानसंस्तुतिः) पुरोडाश दान की जो दक्षिणारूप से स्तुति की है (व्यादेशात्) वह दान पात्र की एकता के अभिप्राय से की है।

भाष्य-जिन ब्रह्मा आदि ऋत्विजों को दक्षिणा दी जाती है उन्हीं को पुरोडाश देना कथन किया है, इस प्रकार दक्षिणा तथा पुरोडाशदान के पात्र की एकता होने के कारण पुरोडाशदान की

दक्षिणा के नाम से स्तुति बनसक्ती है परन्तु इससे यह कल्पना कदापि नहीं होसक्ती कि जैसे दक्षिणा ऋत्विजों को परिक्रयार्थ दीजाती है वैसेही पुरोडाश भी परिक्रयार्थ दिया गया है, क्योंकि दक्षिणा-द्रव्य में ऋत्विजों को देने से प्रथम यजमान का स्वत्व ज्यों का त्यों है और पुरोडाश में नहीं है, स्वत्व के होने तथा न होने के कारण दक्षिणादान की भांति पुरोडाश का दान कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य में जो पुरोडाश का विभाग पूर्वक देना कथन किया है वह परिक्रयार्थ नहीं किन्तु भक्षणार्थ है ।

इति मीमांसार्य्य भाष्ये
तृतीयाध्याये
चतुर्थपादः

ओ३म्

अथ मीमांसार्य्यभाष्ये तृतीयाध्याये पंचमःपादः प्रारभ्यते

सं०-अब "उपांशुयाज" के अनन्तर "ध्रुवा" नामक पात्र में स्थित शेष आज्य से "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों की अकर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

आज्याच्च सर्वसंयोगात्। १।

पद०-आज्यात्। च। सर्वसंयोगात्।

पदा०-(आज्यात्) उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौव* आज्य से (च) भी "स्विष्टकृत्" आदि कर्म करने चाहियें, क्योंकि (सर्वसंयोगात्) उक्त कर्मों के लिये सब हवियों के अवदान का विधान पाया जाता है।

भाष्य-दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो शेष हवियों से "स्विष्टकृत्" आदि कर्म करने कथन किये हैं वह "उपांशुयाज" के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से कर्तव्य हैं किंवा नहीं अर्थात् "पूर्णमास" याग के अन्तर्गत "उपांशुयाज" नामक याग के लिये "ध्रुवा" पात्रस्थ घृत का अवदान करके शेष बचे उक्त घृत से "स्विष्टकृत्" आदि शेष कर्म कर्तव्य हैं अथवा नहीं? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय-

---

*"ध्रुवा" नामक पात्र में स्थित का नाम "ध्रौव" तथा घृत का नाम "आज्य" है॥

पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "**सर्वेभ्यो हविर्भ्यःसमवद्यति**"="स्विष्टकृत्" आदि कर्म के लिये सब हवियों से काटे, इस "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों के लिये अव-दान विधायक वाक्य में सब हवियों से काटना कथन किया है अवदान, काटना यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, आग्नेय पुरोडाश आदि की भांति उपांशुयाज के अनन्तर शेष बचा ध्रौव घृत भी सब हवियों के अन्तर्गत है इसलिये पुरोडाश आदि की भांति उससे भी "स्विष्टकृत्" आदि कर्म कर्तव्य हैं अकर्तव्य नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :—

कारणाच्च । २ ।

पद०—कारणात् । च ।

पदा०—(च) और (कारणात्) "स्विष्टकृत्" आदि कर्म सब शेषहवियों के संस्कार का कारण होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"स्विष्टकृत्" आदि कर्म शेषहवियों के संस्कारार्थ किये जाते हैं, उपांशुयाज के अनन्तर ध्रौव आज्य रूप हविः का संस्कार भी आवश्यक है, इसलिये आग्नेयपुरोडाश आदि की भांति उक्त घृत से भी "स्विष्टकृत्" आदि कर्म कर्तव्य हैं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :—

एकस्मिन् समवत्तशब्दात् । ३ ।

पद०—एकस्मिन् । समवत्तशब्दात् ।

पदा०—(एकस्मिन्) आदित्य चरु रूप एक हविः में (सम-

वत्तशब्दात्) "समवद्यति" शब्द का प्रयोग पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"उपांशुयाज" की विकृति प्रायणीय" नामक इष्टि में प्रकाशस्वरूप परमात्मा के उद्देश से जिस चरु का निर्वाप किया जाता है उसका नाम "आदित्यचरु" है, उसके समीप "अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति" यह वाक्य पढ़ा है, यदि "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों के लिये आज्य से अवदान अभिप्रेत न होता किन्तु एक चरु रूप हविः से ही अभिप्रेत होता तो उक्त चरु के समीप में "अवद्यति" शब्द का प्रयोग किया जाता, "समवद्यति" शब्द का नहीं, क्योंकि एक हविः से अवदान के लिये "अवद्यति" तथा सब हवियों से अवदान के लिये "समवद्यति" शब्द का प्रयोग होता है, जैसाकि "अग्नये स्विष्टकृते समवद्यति" "आज्यादेकस्माच्च हविषोऽवद्यति" "मिश्रस्यान्येन हविषा समवद्यति" इत्यादि वाक्यों में देखा जाता है, प्रायणीय इष्टि में जो आदित्य चरु रूप हविः संस्कर्तव्य विद्यमान है वैसेही आज्य रूप हविः भी विद्यमान है । उक्त चरु के समीप "समवद्यति" शब्द का प्रयोग पाये जानेसे अनुमान होता है कि चरु की भांति आज्य से "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों के लिये अवदान अभिप्रेत है, इसलिये सिद्ध हुआ कि उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से भी उक्त कर्म कर्तव्य हैं अकर्तव्य नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ की सिद्धि में और हेतु कथन करते हैं :-

आज्येचदर्शनात् स्विष्टकृदर्थवादस्य । ४ ।

पद०-आज्ये । च । दर्शनात् । स्विष्टकृत् । अर्थवादस्य ।

पदा०-(च) और (आज्ये) ध्रौव आज्य से भी (स्विष्टकृत्) स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य हैं, क्योंकि (अर्थवादस्य) उसका साधक अर्थवाद वाक्य (दर्शनात्) पाया जाता है ।

भाष्य—"अवदायावदाय ध्रुवां प्रत्यभिघारयाति, स्विष्टकृतेऽवदाय न ध्रुवां प्रत्यभिघारयति, नहि ततः परामाहुतिं यक्ष्यन् भवति"=आहुति के लिये काट२ कर घृत लेते समय "जुहु" पात्र से "ध्रुवा" पात्र में कुछ वापिस डालताजाय परन्तु "स्विष्टकृत्" के लिये लेते समय पुनः "जुहु" से "ध्रुवा" में वापिस न डाले, क्योंकि उसके पीछे कोई आहुति नहीं दीजाती, इस अर्थवाद वाक्य में जो प्रत्येक आहुति के लिये ध्रुवा पात्र से जुहु द्वारा घृत लेते समय प्रत्यभिघारण=पुनः जुहु से ध्रुवा पात्र में कुछ वापिस डालना कथन किया है वह उपांशुयाज के अनन्तर ध्रुवा पात्रस्थ शेष आज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता का साधक है, यदि उक्त घृत से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य अभिप्रेत न होते तो प्रधान आहुति के लिये जुहु द्वारा ध्रुवा पात्र से घृत लेकर पुनः प्रत्यभिघारण कथन न किया जाता, उसके कथन करने से स्पष्ट होता है कि स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता के अभिप्राय से ही प्रत्यभिघारण कथन किया है ।

तात्पर्य्य यह है कि प्रधान आहुति के अनन्तर स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य होने पर प्रत्यभिघारण की आवश्यकता है, न होने पर नहीं, परन्तु प्रत्यभिघारण कथन किया है, इसलिये सिद्ध होता है कि ध्रौव आज्य से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य हैं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अशेषत्वात्तु नैवंस्यात् सर्वदानादशेषता।५।

पद०-अशेषत्वात्। तु। न। एवं। स्यात्। सर्वदानात्। अशेषता।

पदा०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (न, एवं, स्यात्) स्विष्टकृत आदि कर्मों के लिये ध्रौव आज्य से अवदान नहीं होसक्ता, क्योंकि (अशेषत्वात्) वह उपांशुयाज का शेष नहीं (सर्वदानात्) और उपांशुयाज के लिये ध्रुवा पात्र से जितना घृत ग्रहणीय था उस सब का हवन होजाने से (अशेषता) उपांशुयाज के घृत का शेष न रहना सिद्ध है।

भाष्य-प्रधान हविः के शेष से उसके संस्कारार्थ ही स्विष्टकृत् आदि कर्म किये जाते हैं, उपांशु याज के लिये "ध्रुवा" पात्र से जितना घृत लेना कथन किया है उस सब का हवन होजाने से शेष कुछ नहीं रहता और शेष के न रहने से उक्त कर्मों का होना असंभव है।

तात्पर्य्य यह है कि "**चतुरवत्तंजुहोति**"=उपांशु याज में ध्रुवा पात्र से चार अवदान घृत लेकर हवन करे, इस वाक्य से ध्रौव आज्य में उपांशुयाज के केवल चार अवदान हैं और उन चारों का उपांशुयाज में हवन होजाता है शेष कुछ घृत नहीं है जिसके संस्कारार्थ "स्विष्टकृत्" आदि कर्म किये जायें, इसलिये सिद्ध हुआ कि उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से उक्त कर्म कर्तव्य नहीं।

सं०-ननु, उपांशुयाज के अनन्तर जो ध्रुवा पात्र में घृत है वही उपांशुयाज का शेष क्यों न समझा जाय? उत्तर:-

साधारण्यान्न ध्रुवायां स्यात् । ६ ।

पद०-साधारण्यात् । न । ध्रुवायां । स्यात् ।

पदा०-(ध्रुवायां) उपांशुयाज के अनन्तर जो ध्रुवा पात्र में घृत है वह (न, स्यात्) उपांशु याज का शेष नहीं होसक्ता, क्योंकि वह (साधारण्यात्) सब कर्मों के लिये है ।

भाष्य-ध्रुवा पात्र में जो आज्य रखा जाता है वह सब कर्मों के लिये होता है जैसाकि कहा है कि " **सर्वस्मै वा एतत् यज्ञाय गृह्यतेयत् ध्रुवायामाज्यम्** "=ध्रुवा पात्र में जो आज्य है वह सब कर्मों के लिये है, जो सब कर्मों के लिये है वह उपांशु याज के लिये ही नहीं होसक्ता, और उसके लिये न होने से उक्त याग के अनन्तर शेष पात्रस्थ घृत को उसका शेष भी नहीं कह सक्ते अर्थात् ध्रुवा पात्र में जितना घृत है वह सब का सब यदि उपांशुयाज के लिये ही होता तो उक्त पात्रस्थ घृत उसका शेष कहा जासक्ता परन्तु उक्त पात्रस्थ घृत उसके लिये ही नहीं किन्तु सब कर्मों के लिये है ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त पात्रस्थ घृत में केवल चार अवदान उपांशुयाज के हैं और उनका यथाविधि हवन होजाने पर पीछे जो पात्र में घृत है उसके साथ उपांशुयाज का कोई सम्बन्ध नहीं है, और जिसके साथ जिसका कोई सम्बन्ध नहीं वह उसका शेष कदापि नहीं होसक्ता और शेष के न होने से "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों का होना भी असंभव है, इसलिये उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं, यही मानना उचित है ।

सं०—ननु, उपांशुयाज के लिये जो ध्रुवा पात्र से जुहु में आज्य लिया गया है उसके शेष से उक्त कर्म क्यों न किये जायं? उत्तर :—

अवत्तत्वाज्जुह्वां तस्य च होमसंयोगात्।७।

पद०—अवत्तत्वात्। जुह्वां। तस्य। च। होमसंयोगात्।

पदा०—(जुह्वां) जुहु में जितना घृत है (अवत्तत्वात्) वह सब हवन के लिये अवदान किया गया है (च) और (तस्य) उसका (होमसंयोगात्) प्रधान हवन के साथ सम्बन्ध है।

भाष्य—उपांशुयाज के उद्देश से जितना घृत जुहु में लिया गया है वह सब "चतुरवत्तंजुहोति"=चार अवदान करके हवन करे, इस विधिवाक्य के अनुसार चार भाग करके उपांशुयाज में हवन किया जाता है और सबका हवन किये जाने से पीछे कुछ शेष नहीं रहता और शेष न रहने से स्विष्टकृत् आदि कर्मों का होना असंभव है, इसलिये सिद्ध हुआ कि उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से उक्त कर्म कर्तव्य नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :—

चमसवदितिचेत्।८।

पद०—चमसवत्। इति। चेत्।

पदा०—(चमसवत्) जैसे इन्द्रवायु के उद्देश से ऐन्द्रवायव चमस में ग्रहण किये सोम का अग्नि के उद्देश से हवन होता है वैसेही विष्णु के उद्देश से जुहु में ग्रहण किये घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म होने चाहियें (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं। इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य-जैसे "ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" इत्यादि वाक्यों के अनुसार ऐश्वर्य्यशाली प्रजापालक परमात्मा के उद्देश से चमस में ग्रहण किया सोम अनुवषट्कार के देवता अग्नि परमात्मा के लिये हवन कियाजाता है वैसेही उपांशुयाज के देवता सर्वव्यापक विष्णु परमात्मा के उद्देश से जो जुहु में घृत लिया गया है उससे "स्विष्टकृत्" आदि कर्म क्यों न किये जायं अर्थात् जैसे अन्य के उद्देश से ग्रहण किये सोम का अन्य के उद्देश से हवन होता है वैसेही उपांशुयाज के उद्देश से ग्रहण होने पर भी जुहुस्थ घृत से स्विष्टकृत् आदि कर्म होने चाहियें।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न चोदनाविरोधाद्धविःप्रकल्पनाच्च । ९ ।

पद०-न । चोदनाविरोधात् । हविःप्रकल्पनात् । च ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (चोदनाविरोधात्) ऐसा मानने से "चतुरवत्तंजुहोति" विधि वाक्य के साथ विरोध होजाता है (च) और (हविःप्रकल्पनात्) "ऐन्द्रवायवंगृह्णाति" वाक्य से केवल हवि की कल्पना पाई जाती है हवन संयोग नहीं।

भाष्य-"ऐन्द्रवायवं गृह्णाति" आदि वाक्यों से यह अर्थ तो अवश्य पाया जाता है कि "ऐन्द्रवायव" नाम के पात्र में जो सोम है वह इन्द्र तथा वायु परमात्मा के उद्देश से होतव्य है, परन्तु वह उनके उद्देश से सब का सब होतव्य है यह अर्थ कदापि नहीं पाया जाता और इसके विपरीत "चतुरवत्तंजुहोति" वाक्य से स्पष्ट पाया जाता है कि जितना घृत "जुहु" पात्र में ध्रुवापात्र से लिया गया है वह सब का सब उपांशुयाज में होतव्य है, यदि सम्पूर्ण जुहुस्थ घृत का उपांशु-

याज में हवन न करके शेष से "स्विष्टकृत्" आदि कर्म किये जायं तो "चतुरवत्तं" वाक्य के साथ विरोध आता है और उक्त वाक्य से जुहुस्थ सम्पूर्ण घृत का उपांशुयाज में होने वाले हवन के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है, परन्तु चमसस्थ सम्पूर्ण सोम का ऐन्द्र-वायव के उद्देश से होनेवाले हवन के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता, इस प्रकार दृष्टान्त दार्ष्टान्त का वैषम्य होने से सिद्ध होता है कि चमसस्थ सोम की भांति जुहुस्थ घृत से भी स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं।

सं०-अब "स्विष्टकृत्" आदि कर्मों के लिये जो "**सर्वेभ्यो हविर्भ्यः**" वाक्य में सब हवियों से अवदान कथन किया है उसका समाधान करते हैं:-

उत्पन्नाधिकारात्सति सर्ववचनम्। १०।

पद०-उत्पन्नाधिकारात्। सति। सर्ववचनम्।

पदा०-(सति) शेष के रहने पर (सर्ववचनं) "सर्वेभ्यो हविर्भ्यः" वाक्य की प्रवृत्ति जाननी चाहिये, क्योंकि (उत्पन्नाधिकारात्) उसके अधिकार में उक्त वाक्य का पाठ है।

भाष्य-"**सर्वेभ्यो हविर्भ्यः**" इस वाक्य की प्रवृत्ति सर्वत्र नहीं होती किन्तु जहां जिसके उद्देश से जितनी हविः होतव्य है उसमें से उसके उद्देश से हवन करदेने के अनन्तर जो हविः शेष बच जाती है वहां उसकी प्रवृत्ति होती है, जैसाकि अग्नि परमात्मा के उद्देश से पुरोडाश होतव्य है, उसमें से उसके उद्देश से हवन करने के अनन्तर जो पुरोडाश शेष बचजाता है उसमें उक्त वाक्य की प्रवृत्ति होती है ऐसेही अन्यत्र भी जहां २ हविः

शेष बच जाय वहां भी उसकी प्रवृत्ति जाननी चाहिये, परन्तु उपांशुयाज के लिये जो ध्रुवा पात्र से घृत लिया जाता है वह केवल चार अवदान परिमाण है अधिक नहीं, और बाकी जो उक्त पात्र में घृत है वह कार्य्यान्तर के लिये है उपांशुयाज में उसकी होतव्यता का सङ्कल्प नहीं हुआ और होतव्यता के सङ्कल्प बिना उक्त पात्रस्थ घृत उपांशुयाज का नहीं कहा जासक्ता और जो चार अवदान परिमाण उपांशुयाज का घृत है उसका हवन होजाने से शेष कुछ बचता नहीं और उसके न बचने से उक्त वाक्य की प्रवृत्ति होना असंभव है ।

तात्पर्य्य यह है कि "सति कुड्ये चित्रं" = आश्रय के बिना चित्र खेंचा नहीं जासक्ता, इस न्याय के अनुसार जहां होतव्य हविः का प्रधान आहुति के अनन्तर कुछ शेष रह जाता है वहां ही उसके संस्करार्थ "सर्वेभ्योहविर्भ्यः" इस वाक्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों के लिये अवदान किया जाता है, सर्वत्र नहीं, इस लिये सिद्ध हुआ कि उपांशुयाज के अनन्तर जो ध्रौव आज्य है उससे उक्त वाक्य की प्रवृत्ति न होने के कारण "स्विष्टकृत्" आदि कर्म कर्तव्य नहीं ।

सं०-अब तीसरे सूत्र में कथन किये हेतु का खण्डन करते हैं:-

जातिविशेषात् परम् ॥ ११ ॥

पद०-जातिविशेषात् । परम् ।

पदा०-(परं) "प्रायणीय" नामक इष्टि में आदित्यचरु के समीप जो "समवद्यति" शब्द का प्रयोग किया है वह (जातिविशेषात्) ओदनत्व तथा आज्यत्व जाति विशेष के अभिप्राय से किया है।

भाष्य—नायणीय इष्टि दर्शपूर्णमास याग की विकृति तथा दर्श पूर्णमास याग उसकी प्रकृति है, और प्रकृति में जो कार्य्य होता है उसका "**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**" के अनुसार विकृति में अतिदेश होता है उक्त प्रकृतियाग में अनेक हवियें प्रधान-आहुति के अनन्तर स्विष्टकृत् आदि कर्मों से संस्करणीय हैं उनके लिये "समवद्यति" क्रिया का प्रयोग होना आवश्यक है, और प्रकृति में प्रयुक्त क्रिया का विकृति में अतिदेश के अभिप्राय से प्रयोग कियागया है वह ध्रौव आज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता में लिङ्ग नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त लिङ्ग के आधार पर उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से उक्त कर्मों को कर्तव्य मानना ठीक नहीं ।

सं०—अब चौथे सूत्र में कथन किये हेतु का समाधान करते हैं:—

अन्त्यमरेकार्थे । १२ ।

पद०—अन्त्यम् । अरेकार्थे ।

पदा०—(अन्त्यं) ध्रौवआज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता का साधक जो प्रत्यभिघारण कथन किया है वह (अरेकार्थे) ध्रुवा पात्र के खाली न होजाने के अभिप्राय से है ।

भाष्य—यदि ध्रुवा पात्र से घृत लेकर पुनः प्रत्यभिघारण न किया जाय तो वह खाली होजायगा और उसके खाली होजाने से जो उपस्तरण आदि शेष कर्म कर्तव्य हैं वह न होसकेंगे और उनका होना आवश्यक है इसी अभिप्राय से "**अवदायावदाय**" इत्यादि से प्रत्यभिघारण विधान किया है उपांशुयाज के अनन्तर ध्रौवआज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की कर्तव्यता के अभिप्राय से नहीं ।

सम्पूर्ण अधिकरण का सार यह निकला कि उपांशुयाज के अनन्तर शेष ध्रौव आज्य से स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं ।

सं०–अब " साकंप्रस्थायीय " नामक याग में स्विष्टकृत् आदि कर्मों की अकर्तव्यता कथन करते हैं :—

साकंप्रस्थायीये स्विष्टकृदिडश्चतद्वत् । १३ ।

पद०–साकंप्रस्थायीये । स्विष्टकृदिडं । च । तद्वत् ।

पदा०–(च) और (तद्वत्) उपांशुयाज की भांति (साकंप्रस्थायीये) " साकंप्रस्थायीय " नामक याग में भी (स्विष्टकृदिडं) स्विष्टकृत् तथा इडावदान कर्म नहीं होता ।

भाष्य–" **साकंप्रस्थायीयेन यजेत पशुकामः** " = पशु की कामना वाला पुरुष "**साकंप्रस्थायीय**" नामक याग करे, इस वाक्य से जो दर्शपूर्णमास याग की विकृति " साकंप्रस्थायीय " नामक याग विधान किया है, इसमें " स्विष्टकृत् " तथा "इडावदान" कर्म कर्तव्य है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त याग में दधि तथा दूध की घड़ियें हवन कीजाती हैं और उनके हवन करने के लिये यह कथन किया है कि "**अग्नीधे स्रुचौ प्रदाय सह कुम्भीभिरभिक्रामं जुहोति**" = " जुहु " तथा "उपभृत्" नाम के दोनों स्रुवा " अग्नीध् " नामक ऋत्विक् को देकर आहवनीय अग्नि के चारों ओर घूमता हुआ उक्त चारों घड़ियों से हवन करे, इस कथन से स्पष्ट पाया जाता है कि उक्त याग में स्रुवों को छोड़कर जो घड़ियों से हवन करना कथन किया है वह सम्पूर्ण दधि तथा दूध के

हवन करने के अभिप्राय से किया है, यदि सम्पूर्ण दधि तथा दूध का हवन इष्ट न होता तो स्रुवों को छोड़कर घड़ियों से ही हवन करना कथन न करते। उक्त कथन करने से कुम्भियों के शेष रहने पर भी दधि दूध का शेष रहना सिद्ध नहीं होता और उसके सिद्ध न होने से स्विष्टकृत् तथा इडावदान का होना असम्भव है, भक्षण के लिये जो हविः शेष का भाग विशेष काटा जाता है उसको "इडावदान" कहते हैं। सार यह निकला कि जैसे स्रुवा से हवन करने पर केवल स्रुवा ही शेष रहजाता है हविः नहीं, क्योंकि उसका आहवनीय अग्नि में प्रक्षेप कियागया है वैसे ही स्रुवास्थानापन्न घड़ियों से हवन होने पर भी घड़ियें ही शेष रह जाती हैं दधि तथा दूध रूप हविः नहीं, क्योंकि उसका अग्नि में प्रक्षेप होजाता है और स्विष्टकृत् आदि कर्म शेषहविः के संस्कारार्थ ही किये जाते हैं पात्रों के संस्कारार्थ नहीं और नाही शिष्टपात्रों से उक्त कर्म हो सक्ते हैं, इसलिये सिद्ध हुआ कि "उपांशुयाज" की भांति **"साकंप्रस्थायीय"** नामक याग में भी उक्त कर्म कर्तव्य नहीं।

सं०-अब "सौत्रामणी" नामक याग में उक्त कर्मों की अकर्तव्यता कथन करते हैं:-

सौत्रामण्याञ्च ग्रहेषु । १४ ।

पद०-सौत्रामण्यां । च । ग्रहेषु ।

पदा०-(च) और (सौत्रामण्यां) "सौत्रामणी" नामक याग में (ग्रहेषु) ग्रहों से ही हवन विधान करने के कारण उक्त कर्मों की अकर्तव्यता सिद्ध है।

भाष्य—दर्शपूर्णमास तथा सोमयाग की विकृति "**सौत्रामणी**" नामक याग में "**स्विष्टकृत्**" आदि कर्म कर्तव्य हैं किंवा नहीं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जैसे "साकंप्रस्थायीय" नामक याग में स्रुवों को छोड़कर कुम्भियों (घड़ियों) से हवन करना विधान किया है वैसेही "सौत्रामणी" याग में भी "**उत्तरेऽग्नौ पयोग्रहान् जुहृति**" "**दक्षिणेऽग्नौ सोमग्रहान् जुहृति**" = उत्तराग्नि में पयोग्रहों का तथा दक्षिणाग्नि में सोमग्रहों का हवन करे इत्यादि वाक्यों से स्रुवों को छोड़कर केवल ग्रहों द्वारा हवन करना विधान किया है और उनके द्वारा हवन विधान करने से यह स्पष्ट होजाता है कि "साकंप्रस्थायीय" की भांति सौत्रामणी में भी केवल ग्रह ही शेष रहजाते हैं पय तथा सोम नहीं, दूध का नाम "**पय**" पात्र का नाम "**ग्रह**" तथा दूध भरे पात्रों का नाम "**पयोग्रह**" और सोम से भरे पात्रों का नाम "**सोमग्रह**" है। इस प्रकार पात्रों के शेष रहने पर भी पय तथा सोम के शेष न रहने से स्विष्टकृत् आदि कर्मों का होना असंभव है।

तात्पर्य्य यह है कि सौत्रामणी याग में दो प्रकार के ग्रह होते हैं, एक "पयोग्रह" दूसरे "सोमग्रह" इन दोनों प्रकार के ग्रहों का उक्त याग में इन्द्र परमात्मा के उद्देश से हवन कियाजाता है, परन्तु हवन उक्त ग्रहों से ही होता है स्रुवों से नहीं, यदि स्रुवों से होता तो पय तथा सोमरूप हविः के शेष का रहना होसक्ता परन्तु ग्रहों से ही होने के कारण

उक्त हविः का शेष नहीं रहसक्ता और शेष के न रहने से स्विष्ट-कृत् आदि कर्म भी नहीं होसक्ते, क्योंकि वह शेष हविः के संस्कारार्थ ही किये जाते हैं अन्य किसी प्रयोजन के लिये नहीं और असम्भव होने के कारण केवल ग्रहों का संस्कार अनपेक्षित है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उक्त याग में स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं:-

तद्वच्च शेषवचनम् । १५ ।

पद०-तद्वत् । च । शेषवचनम् ।

पदा०-(च) और (शेषवचनं) ग्रहों द्वारा हवन के विधायक वाक्य का जो शेष वाक्य है वह (तद्वत्) " साकंमस्थायीय " की भांति उक्त याग में स्विष्टकृत् आदि कर्मों की अकर्तव्यता का लिङ्ग है।

भाष्य-ग्रहों द्वारा होम के विधायक "उत्तरेऽग्नौ" इत्यादि वाक्यों के "उच्छिनष्टि न सर्वं जुहोति" = कुछ शेष रखे सब का हवन न करे, इस वाक्यशेष में जो सम्पूर्ण हविः के हवन का निषेध किया है वह " सौत्रामणी " याग में सम्पूर्ण हविः के हवन का ज्ञापक होने से स्विष्टकृत् आदि कर्मों की अकर्तव्यता में लिङ्ग है, यदि सौत्रामणीयाग में सम्पूर्ण हविः का हवन न होता तो उक्त वाक्यशेष में उसका निषेध न किया जाता, निषेध करने से यह बात सिद्ध होती है कि उक्त याग में सब हवियों का हवन होता है और सबका हवन होने के कारण यह स्पष्ट होजाता है कि शेषहविः के न रहने से उक्त याग में स्विष्टकृत् आदि कर्म नहीं होते।

तात्पर्य्य यह है कि शेष हविः के साथही उक्त कर्मों का सम्बन्ध है, जिस याग में सम्पूर्ण हविः का हवन होजाता है और शेष में

पात्रों के बिना कुछ हविः शेष नहीं रहती उसमें हविः शेष के सम्बन्धी उक्त कर्म कैसे होसक्ते हैं और "सौत्रामणि" याग में जो हविः का कुछ शेष रखना विधान किया है वह प्रयोजनान्तर के लिये होने से उक्त कर्मों की कर्तव्यता का प्रयोजक नहीं होसक्ता।

सार यह है कि जो उक्त याग में पय तथा सोम दोनों प्रकार की हवियों में से कुछ शेष रखना कथन किया है वह स्विष्टकृत् आदि के लिये नहीं किन्तु कार्य्यान्तर के लिये है जैसाकि कहा है कि :-

"ब्राह्मणं परिक्रीणी यादुच्छेषणस्य पातारं, शततृणायां वा विक्षारयन्ति" = जो सौत्रामणीयाग में शेष हविः रखीगई है वह किसी ब्राह्मणको दक्षिणा देकर पिलावे यदि ब्राह्मण न मिले तो सौ छिद्रों वाली हांड़ी में अथवा किसी बिल में डाल दे. इस प्रकार उक्त शेष हविः का कार्यान्तर में उपयोग कथन करने से सिद्ध होता है कि उक्तयाग में स्विष्टकृत् आदि कर्म कर्तव्य नहीं।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि इस "सौत्रामणी" अधिकरण में जो आधुनिक टीकाकारों ने लीला की है वह अत्यन्त ही आश्चर्य्यजनक है या यों कहो कि स्वार्थसिद्धि इसी का नाम है, परन्तु सत्य को कौन छिपा सक्ता है और असत्य का कौन संरक्षण करसक्ता है, चाहें कितने ही पण्डिताई के लेख हों. और चाहें कितनेही गदकेबाजीके रङ्गढ़ङ्ग दिखाये गये हों परन्तु अन्तमें सत्यके आगे सब फीके पड़जाते हैं और वैदिक टङ्कार के आगे सब हिल जाते हैं, यह वही सौत्रामणी याग है जिसको प्रायः सभी सम्प्रदायी पौराणिक बड़े हुंकार के साथ कहते तथा जिसके सहारे अपने वेदविरुद्ध आचरण का मण्डन किया करते हैं, इसमें उन लोगों ने यह लीला की है कि जहां उक्त याग में एक पयोग्रह तथा दूसरे सोमग्रह हैं उनके

मध्य सोमग्रह के स्थान में सुराग्रह की नितान्त मिथ्या कल्पना करके सुरापान का बड़े आडम्बर के साथ समर्थन किया है और विचित्रता यह की है कि वह सुरा ब्राह्मणों को ही पेय है, क्षत्रिय तथा वैश्य को नहीं, और अपनी इस लीला के समर्थनार्थ उक्त याग के विधायक ब्राह्मण वाक्य में भी "सोमग्रह" के स्थान में "सुराग्रह" पद का निर्माण किया है जो आजकल के छपे पुस्तकों में प्रायः पाया जाता है केवल यही नहीं प्रत्युत उसपर लम्बे चौड़े भाष्य भी लिखमारे हैं जिनको देखकर विज्ञ पुरुषों के हृदय भी चलायमान होजाते हैं, यह विषय अत्यन्त विचारणीय है कि ऐसा गोलमाल क्यों कियागया, चाहे अन्य मनुष्यों के इस विषय में कैसे ही विचार हों परन्तु वैदिकों के विचार में स्वार्थसिद्धि ही इसका प्रयोजन है, यदि स्वार्थसिद्धि प्रयोजन न होता तो ऐसी निन्दित कल्पना क्यों की जाती जिसके करने से वैदिकधर्म में ग्लानि तथा महर्षि जैमिनि के मत की हानि स्पष्ट पाई जाय, किसको विश्वास होसक्ता है कि वेदों में सुरा के हवन का विधान है, जिसके स्पर्शमात्र से मनुष्य पतित हो जाता है उसके हवन का विधान होना असंभव है, हवन का लाभ वायु की शुद्धि सर्वसम्मत है, सुरा का हवन करने से वायु की शुद्धि होती है यह कौन बुद्धिमान् मान सक्ता है, सुरा जैसी दुर्गन्धित वस्तु एकतो अहवनीय रूप वैदिक अग्नि में डालना ही महापाप है दूसरे वेदों में सुरा का निषेध होने से हवन सर्वथा वर्जनीय है वायु शुद्धि की आशा तो सर्वतः दुराशा ही है, वेदों में सुरापान आदि का निषेध जिस प्रकार विस्तार पूर्वक किया है उसका निरूपण मी० ३।४।१२–१३ सूत्रों के भाष्य में कियागया है, यहां उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं ।

अब विचारणीय यह है कि "पयोग्रहों" के साथ जो सोमग्रहों को छोड़कर सुराग्रहों की कल्पना की है वह कहां तक यथार्थ है, इसमें प्रथम यह विचारणीय है कि "सौत्रामणी" विकृतियाग है किंवा प्रकृतियाग है जिसका सम्पूर्ण अङ्गों सहित विधान कियागया है उसको "**प्रकृतियाग**" और जिसका विधान सम्पूर्ण अङ्गों सहित नहीं किया उसको "**विकृतियाग**" कहते हैं, सौत्रामणी याग के प्रकरणमें समग्र अङ्गों का उपदेश नहीं पाया जाता और उसके न पाये जाने से उसको "प्रकृतियाग" नहीं मान सक्ते और न किसी ने माना है। यदि वह "विकृतियाग" है तो अब विचारना यह है कि वह किस याग की विकृति है अर्थात् उक्त याग का कौन याग "प्रकृति" है, दर्शपूर्णमास, ज्योतिष्टोम तथा अश्वमेध यह तीन ही याग "प्रकृति" और अन्य सब याग इनकी "विकृति" हैं, प्रतिपर्व यथाविधि अन्न, दधि, पय तथा घृत आदि की आहुतियें जिस याग में दी जाती हैं उसका नाम "**दर्शपूर्णमास**" साम प्रधान औषधियों के रसों की आहुतियें जिस याग में दी जाती हैं उसका नाम "**ज्योतिष्टोम**" और अश्व आदि पशुओं के दान जिस याग में दिये जाते हैं उसका नाम "**अश्वमेध**" है। यह अन्तिम याग केवल राजकर्तृक है अन्यकर्तृक नहीं, इन तीनों यागों के मध्य जिस याग की जिस याग के साथ हविः तथा अङ्गों की समानता पाई जाती है वह उसकी विकृती मानी जाती है यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है। यदि आधुनिक टीकाकारों के अनुरोध से "सौत्रामणी" याग में सोमग्रहों के स्थान में सुराग्रह मान लिये जायं तो वह किसी याग का भी विकृति याग सिद्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि उक्त तीनों प्रकृति यागों के मध्य किसी याग में भी "सुरा" नहीं पाई

जाती और "सौत्रामणी" विकृति याग सर्वसम्मत है, अब आधुनिक टीकाकारों से प्रष्टव्य है कि आपके कथनानुसार "सौत्रामणी" को किस याग की विकृति माना जाय और आपकी मानी सुरा का किस प्रकृति याग में प्रथम निवेश अङ्गीकार किया जाय और आपके जिह्वारस के अनुरोध से किस वैदिक कर्म को वाममार्ग के कलङ्क से कलङ्कित किया जाय, और यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि इनकी कल्पित "सुरा" का दूध के साथ कितना मेल मिलाप है, कौन बुद्धिमान् कह सक्ता है कि जहां एक ओर दूध अग्नि में डाला जाता है वहां दूसरी ओर सुरा डाली जाय, क्या! ब्राह्मण और चाण्डाल का कोई सम्बन्ध वन सक्ता है? सत्य कहा है कि "**स्वार्थी भद्रं न पश्यति**" = स्वार्थान्ध को शुभ अशुभ का विचार नहीं होता, यही एक भारी कारण है कि जिससे वैदिक सिद्धान्तों का अत्यन्त विप्लव होगया और वह आधुनिक टीकाकार रूपी दुर्मद गजों के पांव से नितान्त कुचले गये, कहां परमपवित्र जगत्पति परमपिता परमात्मा के वेदोक्त धर्मों की मीमांसा जिसके मीमांसक महामुनि भगवान् जैमिनि जैसे वैदिकधर्म के सच्चे प्रचारक तथा अनुष्ठाता, इस पर भी महर्षि व्यास के शिरोमणि शिष्य, और कहां इन आधुनिक टीकाकारों का साहस तथा स्तब्धपन, मीमांसा ही नहीं ब्राह्मण ग्रन्थों तक भी हाथ मार डाला, सोमग्रह के स्थान में सुराग्रह बना ही दिया और बड़े ज़ोर शोर से अपने माने हुए वाममार्गीय मत का समर्थन कर दिखलाया परन्तु वैदिकों के चित्त में यह बात कदापि श्रद्धेय नहीं होसक्ती और न होनी चाहिये, वह सौत्रायणीयाग में सनातन से पय तथा सोम का हवन मानते चले आये हैं और ऐसे ही मानते चले जायंगे, अतएव वह इसको दर्शपूर्णमास तथा सोमयाग दोनों की विकृतियाग कहते तथा समर्थन

करते हैं, इसका विस्तार पूर्वक निरूपण आगे स्वयमेव आचार्य्य करेंगे, यहां इसके विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं, केवल दिक् प्रदर्शन ही बहुत है ।

सं०-अब "सर्वपृष्ठ" नामक इष्टि में स्विष्टकृत् आदि कर्मों का सकृत् = एक बार अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

द्रव्यैकत्वे कर्मभेदात्प्रतिकर्म क्रियेरन् । १६ ।

पद०-द्रव्यैकत्वे । कर्मभेदात् । प्रतिकर्म । क्रियेरन् ।

पदा०-(द्रव्यैकत्वे) पुरोडाशरूप द्रव्य के एक होने पर भी (कर्मभेदात्) प्रधान कर्म का भेद होने से (प्रतिकर्म) प्रति प्रधान कर्म (क्रियेरन्) स्विष्टकृत् आदि कर्म करने चाहियें ।

भाष्य-"**य इन्द्रियकामो वीर्य्यकामःस्यात्, तमेतया सर्वपृष्ठया याजयेत्**" = जिसको इन्द्रियबल तथा शारीरक बल की कामना हो वह सर्वपृष्ठा नामक इष्टि करे, इस वाक्य में जो "सर्वपृष्ठा" नामक इष्टि विधान की है उसमें इन्द्र परमात्मा के उद्देश से छःप्रधान हविः दीजाती हैं जिनका विधान इस प्रकार किया है कि "**इन्द्राय राथन्तराय, इन्द्राय बार्हताय, इन्द्राय वैरूपाय, इन्द्राय वैराजाय, इन्द्राय शाक्कराय**" = पृष्ठ नामक स्तोत्र का रथन्तर आदि सोमों से गान करता हुआ छःआहुतियें दे । यद्यपि इन्द्र परमात्मा तथा पृष्ठनामक स्तोत्र भी एक ही है तथापि रथन्तरादि सामों का भेद होने से छः इन्द्र मानकर छः प्रधान आहुतियों का विधान जानना

चाहिये, उक्त इष्टि में छः आहुतियों के लिये चार २ मुष्टि आटे के छः भाग डालकर द्वादश कपालों में एक पुरोडाश पकाया जाता है और उसके पकजाने पर पीछे बराबर छः टुकड़े करके एक २ टुकड़े से अङ्गुष्ठपर्व समान एक२ इन्द्र के उद्देश से हवन किया जाता है, उक्त हवन के अनन्तर जो अवशिष्ट छः ६ टुकड़े हैं उनके मध्य प्रत्येक टुकड़े सें "स्विष्टकृत्" आदि कर्म कर्तव्य हैं किंवा किसी एक पुरोडाश के टुकड़े से अर्थात् प्रधान आहुतिरूप जो छः प्रधान कर्म हैं उनके मध्य प्रत्येक कर्म में अवशिष्ट पुरोडाश से छःबार उक्त कर्म करने चाहियें अथवा उक्त छः आहुतियों को एक कर्म मानकर अवशिष्ट यावत् पुरोडाश से एक ही बार उक्त कर्म करने चाहियें? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि अवशिष्ट हविः के संस्कारार्थ स्विष्टकृत् आदि कर्म किये जाते हैं और इन्द्र रूप परमात्मा का भेद होने के कारण उसके उद्देश से दीगई हविः के छः अवशिष्ट भाग भिन्न २ हैं और अवशिष्ट भागों का भेद होने से उनके मध्य प्रत्येक भाग के संस्कारार्थ उक्त कर्म भी अवश्य कर्तव्य हैं, क्योंकि यावत् शेष हवियों के साथ उनका नियत सम्बन्ध है।

तात्पर्य्य यह है कि रथन्तर आदि सामों के भेद से स्तोत्र का भेद और उसके भेद से स्तोतव्य इन्द्र परमात्मा का भेद और उसका भेद होने से प्रति इन्द्र हविः त्याग रूप कर्म का भेद और कर्म का भेद होने से पुरोडाश रूप अवशिष्ट हविः का भेद है, इस प्रकार प्रतिकर्म हविः का भेद होने से उसके उक्त संस्कार कर्म भी प्रतिशेष हविः आवश्यक हैं इसलिये सिद्ध हुआ कि प्रति कर्म अवशिष्टहविः से अनेक बार उक्त कर्म कर्तव्य हैं, सकृत् नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अविभागात्तु शेषस्य सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात् ।१७।

पद०-अविभागात्।तु।शेषस्य।सर्वान्।प्रति।अविशिष्टत्वात्।

पदा०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (शेषस्य) हविः त्याग के अनन्तर जो शेष भाग बच गया है उसका (अविभागात्) परस्पर कुछ भेद नहीं, क्योंकि (सर्वान्, प्रति) उक्त सब प्रधान कर्मों में (अविशिष्टत्वात्) पुरोडाश रूप हविः एक है ।

भाष्य-यद्यपि रथन्तर आदि सामों के भेद से स्तोत्र का भेद होने के कारण स्तोतव्य इन्द्र परमात्मा का भेद मानकर प्रधान आहुतिरूप छः ६ प्रधान कर्म कल्पना किये गये हैं, वस्तुतः विचार किया जाय तो आहुतियों का भेद होने पर भी कर्म का भेद नहीं होसक्ता, क्योंकि इन्द्र परमात्मा रूप देवता तथा पुरोडाश रूप हविः सब आहुतियों में समान है और उक्त दोनों के समान होने से जो हविःत्याग के अनन्तर उसका शेषभाग बच गया है वह भी परस्पर भिन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि एक पुरोडाश के छः टुकड़े करके एक २ से छः आहुति दीगई हैं, यदि हविरूप द्रव्य का भेद होता तो अवश्य उसके शेषभाग का भी भेद होता, परन्तु उसके एक होने से शेष का भेद होना असंभव है क्योंकि भेद का कोई प्रयोजक उपलब्ध नहीं होता और भेद के न होने से अनेक बार स्विष्टकृत् आदि कर्मों का होना भी असंभव है, इसलिये उक्त इष्टि में सम्पूर्ण शेषभाग से सकृत् = एक ही बार उक्त कर्म कर्तव्य हैं, असकृत् = अनेक बार नहीं ।

सं०-अब "ऐन्द्रवायव" ग्रह में आहुति देने के अनन्तर शेष बचे सोम का असकृत् भक्षण कथन करते हैं :-

ऐन्द्रवायवे तु वचनात्प्रतिकर्म भक्षःस्यात् ॥ १८ ॥

पद०-ऐन्द्रवायवे । तु । वचनात् । प्रतिकर्म । भक्षः । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वाधिकरण से इस अधिकरण में विलक्षणता सूचन करने के लिये आया है (ऐन्द्रवायवे) ऐन्द्रवायव नामक ग्रह में (प्रतिकर्म) प्रति आहुतिरूप कर्म (भक्षः) भक्षण (स्यात्) होना चाहिये,क्योंकि (वचनात्) वाक्य विशेष से ऐसा ही पायाजाता है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में "ऐन्द्रवायव" नाम का एक सोम पात्र है, पात्र, ग्रह यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, उसमें से इन्द्र तथा वायु रूप परमात्मा के लिये दोबार आहुति दी जाती हैं आहुति देने के अनन्तर जो उक्त पात्रस्थ शेष सोम रस है उसका भक्षण एक बार होना चाहिये किंवा दो बार अर्थात् दोनों आहुतियों के अनन्तर सकृत् भक्षण कर्तव्य है किंवा असकृत् ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि हवन के अनन्तर शेष बचा सोमरस एक है और एक होने के कारण उसका पूर्वाधिकरणानुसार एकही बार भक्षण होना चाहिये तथापि "**द्विरैन्द्रवायवस्य भक्षयाति**"="ऐन्द्रवायव" ग्रह का दोबार भक्षण करे, इस वाक्यविशेष से उसका दोबार भक्षण सिद्ध है और आहुति का भेद होने से भक्षण का भेद होना भी उचित है और वाक्यसिद्ध का बिना किसी प्रबल प्रमाण के बाध नहीं होसक्ता,इसलिये उक्त वाक्य

विशेष के बल से ऐन्द्रवायव नामक ग्रह में सकृत् भक्षण कर्तव्य नहीं किन्तु असकृत् कर्तव्य है।

सं०-अब पुरोडाश की भांति सम्पूर्ण शेष सोमों का भक्षण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

सोमेऽवचनाद्भक्षो न विद्यते । १६ ।

पद०-सोमे । अवचनात् । भक्षः । न । विद्यते ।

पदा०-(सोमे) ज्योतिष्टोमयाग में (भक्षः) शेष सोमों का भक्षण (न, विद्यते) नहीं होता, क्योंकि (अवचनात्) उसका विधायक कोई वाक्य नहीं ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में अनेक सोमग्रह हैं उनका शेष अभक्ष्य है किंवा भक्ष्य है अर्थात् ज्योतिष्टोम में होतव्य सोमों के शेष का भक्षण नहीं होता अथवा होता है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिस हविःशेष के भक्षण का विधायक वाक्य पाया जाता है उसका भक्षण होसक्ता है दूसरे का नहीं, उक्त याग में जो सोम है उसके शेष के भक्षण का विधायक कोई वाक्य नहीं पाया जाता इसलिये उक्त याग में होतव्य सोमों का शेष भक्ष्य नहीं; किन्तु अभक्ष्य है।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

स्याद्वाऽन्यार्थ दर्शनात् । २० ।

पद०-स्यात् । वा । अन्यार्थदर्शनात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (स्यात्) उक्त सोमों के शेष का भक्षण होना चाहिये, क्योंकि

(अन्यार्थदर्शनात्)उसके सम्बन्धीभ्रमणआदिका विधानपायाजाताहै।

भाष्य-"सर्वतःपरिहारमाश्विनं भक्षयति, भक्षिताप्यायितांश्चमसान् दक्षिणास्यानसोऽवलम्बे सादयति = चारों ओर भ्रमण करके "आश्विन" सोम का भक्षण तथा भक्षण से तृप्त होकर महावेदि के मध्यवर्ती पृष्ठ्या नामक रेखा की दक्षिण दिशा में स्थित शकट पर "चमसों" को स्थापन करे, इत्यादि वाक्यों में जो सोम भक्षण के अङ्ग भ्रमण तथा भक्षण के अनन्तर चमस पात्रों का शकट पर रखना विधान किया है वह उक्त याग सम्बन्धी सब सोमों के भक्षण में लिङ्ग है, यदि ज्योतिष्टोम याग में सब शेषसोमों का भक्षण न होता तो भ्रमण आदि के विधान पूर्वक पात्र विशेष के भक्षण का विधान न किया जाता उसके विधान करने से ज्ञात होता है कि उक्त याग में शेष सोमों का भक्षण अवश्य होता है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग में सब शेष सोम भक्ष्य हैं अभक्ष्य नहीं।

सं०-ननु "सर्वतःपरिहारं" वाक्यों में केवल भ्रमण आदि का विधान है भक्षण का नहीं ? उत्तर :—

वचनानि तु अपूर्वत्वात्तस्माद् यथोपदेशं स्युः । २१ ।

पद०—वचनानि । तु । अपूर्वत्वात् । तस्मात् । यथोपदेशं । स्युः।

पदा०—"तु" शब्द उक्त आशङ्का की निवृति के लिये आया है (वचनानि) "सर्वतःपरिहारं" आदि वाक्य भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण के विधायक होसक्ते हैं क्योंकि (अपूर्वत्वात्) वह अपूर्व अर्थ है (तस्मात्) इसलिये (यथोपदेशं) उक्त वाक्यों के अनुसार (स्युः) सम्पूर्ण शेष सोमों का भक्षण होना चाहिये।

भाष्य--"सर्वतःपरिहारं" आदि वाक्य भ्रमण आदि का ही विधान नहीं करते प्रत्युत भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण का विधान करते हैं, यदि उनको विशिष्ट का विधायक न माना जाय तो भक्षण के अङ्ग भ्रमण आदि का विधायक भी नहीं होसक्ते, क्योंकि भक्षण के लिये ही भ्रमण आदि किया जाता है और भ्रमण आदि विशिष्ट भक्षण अपूर्व होने के कारण विधेय होसक्ता है, अतएव उक्त वाक्य में केवल भ्रमण आदि का ही विधान मानना उचित नहीं किन्तु विशिष्ट का मानना उचित है, और विशिष्ट का विधान होने से भक्षण का विधान अर्थतः सिद्ध होसक्ता है उसमें कुछ विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग में शेष सोमों के भक्षण का विधान पाये जाने से वह सर्वथा कर्तव्य है अकर्तव्य नहीं अर्थात् पुरोडाश शेष की भांति उक्त सम्पूर्ण सोमों का शेष भी भक्ष्य है अभक्ष्य नहीं।

सं०-अब "चमस" नामक सोम पात्रों में होता आदि ऋत्विज-कर्तृक शेष सोम का भक्षण कथन करते हैं:--

चमसेषु समाख्यानात्संयोगस्यतन्नि-मित्तत्वात्। २२।

पद०--चमसेषु। समाख्यानात्। संयोगस्य। तन्निमित्तत्वात्।

पदा०-(चमसेषु) "चमस" नामक सोम पात्रों में (समाख्यानात्) "होतृचमसः" इत्यादि समाख्या के बल से ऋत्विजकर्तृक शेष सोम का भक्षण सिद्ध है, क्योंकि (संयोगस्य) उक्त समाख्या के सम्बन्ध का (तन्निमित्तत्वात्) भक्षण निमित्तक होना स्पष्ट है।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग में "**होतृचमसः**" आदि दश सोम पात्र हैं, इनमें होता आदि चमसीकर्तृक शेष सोम का भक्षण होता है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि उक्त पात्रों में शेष सोम के भक्षण का विधायक कोई वाक्य विशेष नहीं पाया जाता तथापि "होतृचमसः" आदि समाख्या के बल से "होता" आदि ऋत्विजकर्तृक शेष सोम का भक्षण सिद्ध होता है अर्थात् "**चम्यते = भक्ष्यते सोमोऽस्मिन् पात्रविशेषे स चमसः = होतुश्चमसः = होतृचमसः, एवं ब्रह्मणश्चमसः = ब्रह्मचमसः, उद्गातॄणां चमसः = उद्गातृचमसः**" = होता जिस पात्रविशेष में शेषसोम का भक्षण करे उसका नाम "**होतृचमस**" ब्रह्मा जिस पात्र में भक्षण करें उसका नाम "**ब्रह्मचमस**" उद्गाता जिस पात्र में भक्षण करे उसका नाम "**उद्गातृचमस**" एवं "**यजमान चमस**" इत्यादि यौगिक संज्ञा उक्त पात्रों की तभी होसक्ती है जब उनमें होता आदि ऋत्विजकर्तृक शेषसोम का भक्षण माना जाय, क्योंकि उक्त पात्रों में इस प्रकार की यौगिक संज्ञा का सम्बन्ध शेष सोम का भक्षण स्वीकार किये बिना नहीं होसक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त पात्रों की जो "होतृचमसः" इत्यादि समाख्या = यौगिकसंज्ञा है वह केवल होता आदि ऋत्विजकर्तृक शेष सोम के भक्षण के निमित्त से है, यदि उक्त पात्रों में शेप सोम का भक्षण न माना जाय तो "**निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः**" = निमित्त के न रहने से नैमित्तिक भी नहीं रहता, इस न्याय के अनुसार उनकी उक्त

संज्ञा भी नहीं हो सकती, और उनकी उक्त संज्ञा के न होने से सिद्ध है कि "चमस" पात्रों में "होता" आदि ऋत्विज-कर्तृक शेषसोम का भक्षण होता है अभक्षण नहीं।

सं०-अब "होतृचमस" आदि दश पात्रों के मध्य "उद्गातृचमस" नामक पात्र विशेष में सुब्रह्मण्य सहित उद्गाता आदि चार ऋत्विजकर्तृक शेष सोम का भक्षण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

उद्गातृचमसमेकः श्रुतिसंयोगात् । २३ ।

पद०-उद्गातृचमसम् । एकः । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०-(उद्गातृचमसम्) "उद्गातृचमस" नामक पात्रस्थ शेष सोम का (एकः) एक उद्गाता को ही भक्षण करना चाहिये, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) उक्त चमस के साथ "उद्गातृ" शब्द का ही सम्बन्ध है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में "होतृचमस" आदि दश सोम पात्रों के मध्य जो "उद्गातृचमस" संज्ञक पात्र है उसमें केवल एक उद्गाता को ही शेष सोम का भक्षण करना चाहिये किंवा होता आदि सब ऋत्विजों को अथवा उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य इन चार ऋत्विजों को ही भक्षण करना चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथम तथा द्वितीय यह दोनों पक्ष पूर्वपक्षी और अन्तिम पक्ष सिद्धान्ती का है, प्रथम पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यद्यपि "**प्रैतुहोतुश्चमसः प्रब्रह्मणः प्रोद्गातृणां प्रयजमानस्य प्रयन्तु सदस्यानां**"=होता, ब्रह्मा, उद्गाता, यजमान तथा सदस्य लोगों को चमस प्राप्त हों, इस वाक्य में "**उद्गातृणां चमसःप्रैतु**" इस प्रकार बहुवचनान्त उद्गातृ

शब्द से "उद्गातृचमस" पात्र की व्युत्पत्ति बोधन की है जिससे अनेक उद्गाताओं का उक्त पात्र में सोम भक्षण करना सिद्ध होता है वह अनेक प्रयोगों के अभिप्राय से जानना उचित है एक प्रयोग के अभिप्राय से नहीं, क्योंकि "उद्गाता" शब्द उद्गीथ नामक द्वितीय "सामभक्ति" के उद्गाता=ऊंचा गान करने वाले ऋत्विक् विशेष में रूढ़ है और वह प्रति प्रयोग एकही होता है उसका उक्त चमस के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है, इसलिये उक्त पात्र में केवल एक उद्गाता ही भक्षण कर सक्ता है अन्य नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में जो बहुवचन "उद्गातृणां" पद का प्रयोग किया है वह अनुष्ठान भेद के अभिप्राय से किया है और उद्गीथ के गान कर्ता ऋत्विक् विशेष में "उद्गातृ" शब्द रूढ़ि होने के कारण अन्य सब ऋत्विजों में भक्षण करना ठीक नहीं क्योंकि मुख्यार्थ के लाभ होने पर लक्षणावृत्ति का स्वीकार अनुचित है, इसलिये उक्त पात्र में शेष सोम का भक्षण केवल एक उद्गाता को ही कर्तव्य है अन्य को नहीं, यही पक्ष समीचीन है।

सं०-अब दूसरा पूर्वपक्षी उक्त पूर्वपक्ष का खण्डन करके अपना द्वितीय पूर्वपक्ष करता है :—

सर्वे वा सर्वसंयोगात् । २४ ।

पद०-सर्वे । वा । सर्वसंयोगात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वे) उक्त पात्र में सब ऋत्विजों को शेष सोम का भक्षण करना चाहिये, क्योंकि (सर्वसंयोगात्) सबके वाची बहुवचन का उक्त पात्र के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

भाष्य–यदि उक्त पात्र में केवल एक उद्गाता को ही सोम भक्षण अभिप्रेत होता तो उक्त वाक्य में "उद्गातॄणां चमसः प्रैतु" इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग न किया जाता, क्योंकि एक उद्गाता में बहुवचन का प्रयोग किसी प्रकार से भी सङ्गत नहीं होसक्ता और अनुष्ठान भेद की कल्पना करके उक्त बहुवचन के समर्थन में क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है जिसका आश्रयण अनुचित है, परन्तु बहुवचन का प्रयोग किया है इससे सिद्ध होता है कि यहां उद्गातृ शब्द रूढ़ि नहीं किन्तु लाक्षणिक है और लाक्षणिक होने से वह स्वसम्बन्धी सब ऋत्विजों को कहसक्ता है अर्थात् "काकेभ्यो दधि रक्ष्यतां" = कौओं से दधि की रक्षा करनी चाहिये, इस वाक्य में काक पद का काक तथा काक सम्बन्धी अन्य बिडाल आदि सब दधि विघातक जीवों को कथन करता है, वैसे ही "उद्गातृ" पद भी उद्गाता तथा उद्गाता सम्बन्धी सब ऋत्विजों को कथन करता है केवल उद्गाता को ही नहीं, इसलिये उक्त पात्र में सब ऋत्विजों को शेष सोम का भक्षण करना चाहिये यही पक्ष समीचीन है।

सं०–अब उक्त द्वितीय पूर्वपक्ष का खण्डन करके तृतीय पूर्वपक्ष करते हैं:–

स्तोत्रकारिणो वा तत्संयोगाद् बहुत्वश्रुतेः । २५ ।

पद०–स्तोत्रकारिणः । वा । तत्संयोगात् । बहुत्वश्रुतेः ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त द्वितीयपक्ष के खण्डनार्थ आया है (स्तोत्रकारिणः) उक्त पात्र में उद्गाता, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता, इन तीनों को भक्षण करना चाहिये क्योंकि (तत्संयोगात्) उनके

सम्बन्ध से ही (बहुत्वश्रुतेः) बहुवचन का प्रयोग कियागया है ।

भाष्य-"उद्गातृ" शब्द जैसे रूढ़ नहीं वैसे ही "लाक्षणिक" भी नहीं किन्तु "उत्" उपसर्ग पूर्वक "गायति" धातु से निष्पन्न होने के कारण यौगिक है, जिसका अर्थ "उच्चस्वर से गान करने वाला" होता है, सब ऋत्विजों के मध्य साम का गान करने वाले उद्गाता, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता यह तीन ऋत्विज हैं इनको छोड़कर "उद्गाता" शब्द अन्य ऋत्विजों को कदापि नहीं कहसक्ता और बहुवचन काश्रवण इन तीनों के सम्बन्ध से भी होसक्ता है उसके लिये लक्षणा करने की आवश्यकता नहीं और लाक्षणिक तथा यौगिक के मध्य यौगिक अर्थ का उपादान श्रेष्ठ है, क्योंकि उसमें शब्दशक्तिलभ्य अर्थ प्राप्त होता है और लक्षण पद में परम्परा सम्बन्ध का आश्रयण करना पड़ता है, जिसमें गौरव दोष है और निर्दोष अर्थ की प्राप्ति दशा में सदोष अर्थ का ग्रहण ठीक नहीं, इसलिये उक्त पात्र में "उद्गातृ" शब्द के वाच्य उद्गाता आदि तीनों ऋत्विजों को ही भक्षण करना चाहिये सबको नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :--

सर्वे तु वेदसंयोगात्करणादेकदेशे स्यात् । २६ ।

पद०—सर्वे । तु । वेदसंयोगात् । कारणात् । एकदेशे । स्यात् ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त तृतीय पूर्वपक्ष के निराकारण तथा सिद्धान्त सूचनार्थ आया है (सर्वे) यज्ञ में सामगान करनेवाले

उक्त तीनों तथा सुब्रह्मण्य इन चारों ऋत्विजों को उक्त पात्र में सोम भक्षण करना चाहिये, क्योंकि (वेदसंयोगात्) उक्त चारों का सामवेद गान के साथ सम्बन्ध है और (एकदेशे) केवल उद्गाता नामक ऋत्विक् में जो उद्गातृ शब्द का प्रयोग होता है वह (कारणात्) "उद्गीथ" नामक सामविशेष गान के कारण (स्यात्) है ।

भाष्य–यद्यपि "उद्गातृ" शब्द यौगिक है तथापि वह उद्गाता आदि तीनों ऋत्विजों को नहीं कहता किन्तु सब ऋत्विजों के मध्य जितने ऋत्विज साम गान करने वाले हैं उन सब को कहता है, सब ऋत्विजों के मध्य जैसे उद्गाता, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता यह तीनों ऋत्विज साम गान करते हैं वैसे ही सुब्रह्मण्य नामक ऋत्विक् भी करता है, क्योंकि इन चारों का सामवेद के साथ सम्बन्ध है और उच्चस्वर से साम का गान बराबर करने पर भी जो प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य नामक तीन ऋत्विजों को छोड़कर केवल "उद्गाता" नामक ऋत्विक् में ही उद्गातृ शब्द का प्रयोग होता है उसका कारण "उद्गीथ" नामक साम भक्ति का गान है अर्थात् उसके गाने का अधिकार केवल "उद्गाता" नामक ऋत्विक् को ही है दूसरे को नहीं, अतएव प्रस्तोता आदि को छोड़कर केवल उद्गाता में ही मुख्यरूप से उद्गातृ शब्द का प्रयोग किया जाता है और उसमें प्रयोग किये जाने पर भी यौगिक वृत्ति से सम्पूर्ण साम के गान करने वालों का उद्गातृ शब्द से ग्रहण होसक्ता है लक्षण आदि की आवश्यकता नहीं, और साम गायकों में जैसे उद्गाता, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता यह तीनों ऋत्विज हैं वैसेही चौथा सुब्रह्मण्य नामक ऋत्विक् भी है, क्योंकि उद्गाता आदि की भांति वह सामवेदी और औद्गात्र समाख्या वाला है, इसलिये "उद्गातृचमस" नामक

पात्र में उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता तथा सुब्रह्मण्य इन चारों ऋत्विजों को शेष सोम का भक्षण करना चाहिये यह सिद्धान्त है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि उक्त अधिकरण में जो "उद्गातृचमस" नामक पात्र में उद्गाता आदि चार ऋत्विजों का सोम भक्षण करना सिद्धान्त किया है वह शबर स्वामी के मत से किया है वार्तिककार के मतमें तृतीय पूर्वपक्ष ही सिद्धान्त है, उनका कथन यह है कि "सदो" नामक मण्डप में शेष सोम का भक्षण किया जाता है और "सुब्रह्मण्य" नामक ऋत्विक् का उक्त मण्डप में प्रवेश प्रतिषिद्ध है, और जिसका प्रवेश ही प्रतिषिद्ध है उसका होता आदि के साथ शेष सोम का भक्षण नहीं बन सक्ता, इसलिये उक्त पात्र में सुब्रह्मण्य को शेष सोम के भक्षण का अधिकार नहीं किन्तु होता, प्रस्तोता तथा प्रतिहर्ता इन तीनों को ही भक्षण का अधिकार है, अतएव उक्त तीनों भक्षण करें यह वार्तिककार कुमारिल भट्ट का मत है ।

सं०—अब "हारियोजन" नामक पात्र में "ग्रावस्तुत्" नामक ऋत्विक्कर्तृक शेष सोम भक्षण का कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

ग्रावस्तुतो भक्षो न विद्यतेऽनाम्नानात् ।२७।

पद०—ग्रावस्तुतः । भक्षः । न । विद्यते । अनाम्नानात् ।

पदा०—(ग्रावस्तुतः) "ग्रावस्तुत्" नामक ऋत्विक्कर्तृक (भक्षः) "हारियोजन" नामक पात्र में शेष सोम का भक्षण (न, विद्यते) नहीं होता, क्योंकि (अनाम्नानात्) उक्त पात्र में उसके भक्षण का विधान नहीं पाया जाता ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में "हरिरसिहारियोजन" इस मन्त्र के उच्चारण पूर्वक आहुति देने के लिये जिस "ग्रह" पात्र विशेष का ग्रहण किया जाता है उसका नाम "हारियोजन" तथा "होता" के सहकारी ऋत्विक् विशेष का नाम "ग्रावस्तुत्" है ग्रावस्तुत् ब्रह्मा आदि की भांति चमसी नहीं, इसलिये यह सन्देह हुआ कि "हारियोजन" ग्रह में "ग्रावस्तुत्" को शेष सोम का भक्षण करना चाहिये किंवा नहीं अर्थात् उक्त पात्र में स्थित शेषसोम ग्रावस्तुत् का अभक्ष्य है अथवा भक्ष्य है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे ब्रह्मादि चमसियों का उक्त पात्र में शेष सोम का भक्षण विधान किया है कि "यथाचमसमन्यांश्चमसान् चमसिनोभक्षयन्ति" = जैसे ब्रह्मा आदि चमसी क्रम से अन्य सब चमसों का भक्षण करें वैसे ग्रावस्तु को भक्षण विधान नहीं किया, उसके भक्षण का विधान न करने से सिद्ध होता है कि उक्त पात्र में "ग्रावस्तुत्" को शेष सोम का भक्षण कर्तव्य नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि "ग्रावस्तुत्" चमसी नहीं और उक्त वाक्य में चमसियों के भक्षण का विधान किया है, इससे स्वयमेव स्पष्ट होजाता है कि अचमसी होने के कारण ग्रावस्तुत् के भक्षण का उक्त वाक्य में विधान नहीं, और जिसके भक्षण का विधान नहीं उसका उक्त पात्रस्थ शेष सोम कदापि भक्ष्य नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध हुआ कि वह उसको सर्वदा अभक्ष्य है भक्ष्य नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

हारियोजने वा सर्वसंयोगात् । २८ ।

पद०—हारियोजने । वा । सर्वसंयोगात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (हारियोजने) "हारियोजन" नामक पात्र में ग्रावस्तुत् को भी शेष सोम का भक्षण कर्तव्य है, क्योंकि (सर्वसंयोगात्) उक्त पात्र के भक्षण में सबका सम्बन्ध पाया जाता है ।

भाष्य—यद्यपि उक्त पात्र में ग्रावस्तुत् को शेष सोम का भक्षण करना चाहिये, इस प्रकार भक्षण का विधायक कोई वाक्य विशेष नहीं मिलता तथापि "**अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वएव लिप्सन्ते**"=हारियोजन पात्रस्थ शेष सोम के लाभ की सब इच्छा करते हैं, इस वाक्य में जो सब को उक्त पात्रस्थ सोम का लिप्सु कथन किया है, इससे ज्ञात होता है कि ग्रावस्तुत् को भी उक्त पात्रस्थ सोम का भक्षण कर्तव्य है अर्थात् जैसे ब्रह्मा आदि ऋत्विक् उक्त पात्र के लिप्सु हैं वैसे ही ग्रावस्तुत् भी लिप्सु है, क्योंकि सर्व शब्द के प्रयोग से ब्रह्मा आदि की भांति उसका भी ग्रहण होसक्ता है और यदि सर्व शब्द से सब चमसियों का ग्रहण करके "ग्रावस्तुत्" का उक्त पात्र अभक्ष्य सिद्ध करें तो ठीक नहीं, क्योंकि "अथ" शब्द से चमसियों के सम्बन्ध का विच्छेद होजाने के कारण उनका ग्रहण नहीं होसक्ता और विना किसी प्रबल प्रमाण के "सर्व" शब्द का चमसी मात्र में सङ्कोच करके "ग्रावस्तुत्" का अभक्षण सिद्ध करना उचित नहीं, इसलिये उक्त पात्र में होता आदि चमसियों की भांति "ग्रावस्तुत्" को शेष

सोम का भक्षण कर्तव्य है, अकर्तव्य नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

चमसिनां वा सन्निधानात् । २९ ।

पद०-चमसिनां । वा । सन्निधानात् ।

पदा०-"वा" शब्द आशङ्का के लिये आया है (चमसिनां) उक्त वाक्य में सर्व शब्द से चमसियों का ही ग्रहण है, क्योंकि (सन्निधानात्) उनकी सन्निधि में उक्त शब्द का प्रयोग किया गया है ।

भाष्य-उक्त "अथैतस्य" वाक्य में जो सर्व शब्द का प्रयोग किया है उससे चमसी अचमसी ऋत्विक् मात्र का ग्रहण नहीं कर सक्ते, क्योंकि सर्व शब्द सर्व नाम है और उसका सर्वदा सन्निहित वाची होना स्वभाव है, उक्त वाक्य के उपक्रम में चमसियों का उपन्यास होने से चमसी ही सन्निहित हैं उनको छोड़कर उपसंहार वाक्य में प्रयुक्त हुआ सर्व शब्द अन्य का वाची नहीं होसक्ता, सम्पूर्ण वाक्य का आकार यह है "यथा चमसमन्याँश्चमसाँश्चमसिनो भक्षयन्ति, अथैतस्य हारियोजनस्य सर्वएव लिप्सन्ते"= इसका अर्थ पीछे किया गया है, इस वाक्य पर दृष्टि देने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिन चमसियों का अपने २ चमस में भक्षण कथन किया है उन्हीं का सर्व शब्द से परामर्श करके "हारियोजन" नामक पात्र के प्रति लिप्सु कथन किया है चमसी, अचमसी सबका नहीं, इसलिये सिद्ध हुआ कि अचमसी होने से हारियोजन पात्र में ग्रावस्तुत् को सोम का भक्षण नहीं हो सकता ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

सर्वेषां तु विधित्वात्तदर्था चमसिश्रुतिः । ३० ।

पद०-सर्वेषां । तु । विधित्वात् । तदर्था । चमसिश्रुतिः ।

पदा०-"तु" शब्द उक्त आशङ्का की निवृत्ति के लिये आया है (सर्वेषां) चमसी, अचमसी सब ऋत्विजों का सर्व शब्द से ग्रहण है क्योंकि (विधित्वात्) हारियोजन पात्र में सबके भक्षण का विधान पाया जाता है और (चमसिश्रुतिः) पूर्ववाक्य में चमसियों का उपन्यास (तदर्था) उक्त पात्र की स्तुति के लिये है ।

भाष्य-यदि "सर्व" शब्द से ऋत्विक् मात्र का ग्रहण न होता तो अथ शब्द का मध्य में प्रयोग करके विच्छेद न किया जाता, विच्छेद करने से स्पष्ट है कि "अथैतस्य" वाक्य में सर्व ऋत्विक्कर्तृक हारियोजन पात्र के भक्षण का विधान है और **"यथा चमसमन्यांश्चमसांश्चमसिनो भक्षयन्ति"** इस पूर्व वाक्य में जो चमसियों का उपन्यास किया है वह हारियोजन पात्र की प्रशंसा के लिये है अर्थात् अन्य चमसों को तो चमसि ऋत्विक् यथा चमस भक्षण करते हैं और हारियोजन ऐसा सुभग तथा प्रशंसनीय पात्र है कि इसके भक्षण की चमसी, अचमसी सब इच्छा करते हैं, इस प्रकार पूर्ववाक्य का प्रशंसा में तात्पर्य्य होने से यह कल्पना कदापि नहीं होसक्ती कि उत्तर वाक्य में सर्व शब्द से पूर्ववाक्योपन्यसित चमसियों का ही ग्रहण है, क्योंकि चमसियों के ग्रहण करने से एक तो उक्त प्रकार की प्रशंसा का लाभ नहीं होसक्ता और दूसरे अथ शब्द का प्रयोग व्यर्थ होजाता है और अथ शब्द के प्रयोग से यह शीघ्र ही बुद्धिस्थ होता है कि यहां पूर्व की अपेक्षा कुछ अधिक वक्तव्य है और

वह हारियोजन पात्र में सबके भक्षण का विधान माने बिना उपलब्ध नहीं होसक्ता, इसलिये सिद्ध हुआ कि अन्य ऋत्विजों की भांति "ग्रावस्तुत्" ऋत्विक् को भी उक्त पात्र में भक्षण करना चाहिये ।

सं०—अब "वषट्कार" को भक्षण का निमित्त कथन करते हैं :-

वषट्काराच्च भक्षयेत् । ३१ ।

पद०—वषट्कारात् । च । भक्षयेत् ।

पदा०—(च) और (वषट्कारात्) वषट्कार करने से (भक्षयेत्) होता शेष सोम का प्रथम भक्षण करे ।

भाष्य—"**वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः**"=वषट्कर्ता को प्रथम भक्षण करना चाहिये, वषट् तथा वषट्कार यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, "वषट्" शब्द के उच्चारण करने वाले को "**वषट्कर्ता**" कहते हैं, इस वाक्य में जो वषट्कार के कर्ता होता को अन्य ऋत्विजों की अपेक्षा प्रथम सोम का भक्षण विधान किया है उसका निमित्त "वषट्कार" है अर्थात् "होतुश्चमसः" इस पूर्वोक्त समाख्या के बल से जो होता नामक ऋत्विक् को चमस का भक्षण कथन किया है उसके अनुवाद पूर्वक "प्राथम्य" मात्र का विधान इस वाक्य में नहीं किया, क्योंकि समस्त पद होने के कारण "प्रथम-भक्ष" से भक्षण के अनुवाद पूर्वक प्राथम्य का विधान मानने में वाक्यभेद रूप दोष आजाता है इसलिये प्राथम्य विशिष्ट भक्षण का विधान मानना उचित है परन्तु इसका निमित्त उक्त समाख्या नहीं होसक्ती, और अन्य कोई निमित्त उपलब्ध

नहीं होता, इसलिये परिशेष से यह सिद्ध हुआ कि वषट्कर्ता = होता के प्रथम सोम भक्षण का निमित्त "वषट्कार" है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे समाख्या तथा वाक्य यह दोनों सोम भक्षण में निमित्त हैं वैसे ही वषट्कार भी सोम भक्षण में निमित्त है।

सं०-अब वषट्कार की भांति होम तथा सोमाभिषव दोनों को सोमभक्षण का निमित्त कथन करते हैं:-

होमाभिषवाभ्याञ्च । ३२ ।

पद०-होमाभिषवाभ्यां । च ।

पदा०-(च) और (होमाभिषवाभ्यां) होम तथा अभिषव यह दोनों भी भक्षण का निमित्त हैं।

भाष्य-समाख्या, वाक्य, वषट्कार यह तीन ही सोम भक्षण के निमित्त हैं किंवा इनके अतिरिक्त कोई और भी उसका निमित्त है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि "**हविर्धाने ग्रावभिरभिषुत्याहवनीये हुत्वा प्रत्यञ्चः परेत्यसदसि भक्षान् भक्षयन्ति**" = "हविर्धान" नामक मण्डप में शिला = वट्टे से सोम को कूट रस निकाले और आहवनीय अग्नि में हवन करके पश्चात् पश्चिम के दरवाज़े से घुसकर "सदो" नामक मण्डप में शेष सोम का भक्षण करे। इस वाक्य में प्रथम सोम के अभिषव = कूटने तथा हवन का उपन्यास करके पश्चात् भक्षण विधान किया है और पूर्व पश्चिम भाव प्रायः निमित्त तथा नैमित्तिक दोनों में ही हुआ करता है यह नियम है, यदि होम तथा अभिषव यह दोनों भक्षण का निमित्त न

होते तो "ल्यप्" प्रत्यय से उनका निर्देश न किया जाता, क्योंकि "प्रातःस्नाय भोक्तव्यम्" = प्रातः काल स्नान करके भोजन करना चाहिये, इत्यादि वाक्यों में प्रायः निमित्त अर्थ में ही उक्त प्रत्यय का प्रयोग पाया जाता है, स्नान् भोजन का निमित्त लोक प्रसिद्ध है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, यदि उक्त वाक्य में होम, सोमाभिषव तथा भक्षण इन तीनों का विधान मानें तो ठीक नहीं, क्योंकि सोमाभिषव तथा होम यह दोनों प्रथम प्राप्त हैं और प्राप्त का विधान नहीं होसक्ता यह सर्व सम्मत है, परन्तु प्राप्त का निमित्त रूप से अनुवाद मानने में कोई दोष नहीं, क्योंकि लोक तथा शास्त्र में प्रथम प्राप्त का निमित्त रूप से अनुवाद देखा जाता है जैसाकि प्रथम प्राप्त स्नान के अनुवाद पूर्वक भोजन विधायक "प्रातःस्नाय भोक्तव्यं" इस लौकिक वाक्य में दिखाया गया है, इसलिये सिद्ध होता है कि जैसे समाख्या, वाक्य तथा वषट्कार यह तीनों भक्षण में निमित्त हैं वैसे ही सोमाभिषव तथा होम यह दोनों भी निमित्त हैं।

सं०—अब वषट्कर्ता आदिकों का वषट्कारादिनिमित्तक चमसों में सोमभक्षण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

प्रत्यक्षोपदेशाच्चमसानामव्यक्तः शेषे।३३।

पद०—प्रत्यक्षोपदेशात्। चमसानाम्। अव्यक्तः। शेषे।

पदा०—(चमसानां) चमसों के भक्षण में वषट्कार आदि निमित्त नहीं होसक्ते, क्योंकि (प्रत्यक्षोपदेशात्) उनके भक्षण में साक्षात् चमसियों को निमित्त कथन किया गया है और (अव्यक्तः)

"वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः" यह वाक्य (शेषे) चमस भिन्न ग्रहों के भक्षण में चरितार्थ है ।

भाष्य-होता तथा अध्वर्यु को चमसीनिमित्तक सोम का भक्षण होना चाहिये किंवा होता को वषट्कारनिमित्तक और अध्वर्यु को होम निमित्तक अर्थात् होता को चमसी तथा वषट्कारकर्तृत्व और अध्वर्यु को चमसी तथा होमकर्तृत्व उभय निमित्तक सोम का भक्षण प्राप्त है, उक्त दोनों ऋत्विजों को चमसी निमित्तक सोम का भक्षण होना चाहिये अथवा वषट्कार आदि निमित्तक ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "यथा चमसमन्याँश्चमसाँश्चमसिनो भक्षयन्ति"=इस वाक्य से होता तथा अध्वर्यु दोनों ऋत्विजों को चमसी होने के कारण सोम का भक्षण प्रत्यक्ष प्राप्त है उसको छोड़कर अन्य निमित्तक सोम भक्षण की कल्पना करना ठीक नहीं और "वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः" वाक्य में जो वषट्कार को होता के प्रथम सोम भक्षण का निमित्त कथन किया है वह चमस भिन्न ग्रहों के लिये किया है अर्थात् चमसभिन्न ग्रहों में होता के सोम भक्षण का निमित्त वषट्कार तथा चमस पात्र में भक्षण का निमित्त चमसित्व है, और एक निमित्त से कार्य्य का संभव होने पर दोनों के समुच्चय की कल्पना करना अयुक्त है, और उक्त प्रकार से वाक्यों की व्यवस्था होने के कारण विकल्प का आश्रयण भी युक्त नहीं, इसलिये चमस पात्रों में वषट्कर्त्ता आदि के सोम भक्षण का निमित्त चमसित्व है वषट्कार आदि नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

स्याद्वा कारणभावादनिर्देशश्चमसानां कर्तुस्तद्वचनत्वात् । ३४ ।

पद०—स्यात् । वा । कारणभावात् । अनिर्देशः । चमसानां । कर्तुः । तद्वचनत्वात् ।

पदा०—“ वा ” शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (स्यात्) वषट्कार आदि भी चमसों के भक्षण में निमित्त हैं, क्योंकि (कारणभावात्) उनका कारण रूप से निर्देश किया गया है और (चमसानां) चमसों के भक्षण में (कर्तुः) चमसियों का (अनिर्देशः) निमित्त रूप से कथन नहीं पाया जाता क्योंकि (तद्वचनत्वात्) “ यथाचमसं ” वाक्य चमसियों के भक्षण मात्र का विधायक है अन्य का निवर्त्तक नहीं ।

भाष्य—जैसे “**यथा चमसमन्याँश्चमसाँश्चमसिनो भक्षयन्ति**” वाक्य से चमसियों के भक्षण में चमसी होना निमित्त पाया जाता है वैसे ही “**वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः**” आदि वाक्यों से भी वषट्कार आदि निमित्त पाये जाते हैं, इन दोनों के मध्य एक को निमित्त मान कर दूसरे को अनिमित्त नहीं मान सकते और “**वषट्कर्तुः**” वाक्य को चमस भिन्न ग्रहों के भक्षण का विधायक कल्पना करना भी प्रमाण रहित होने से उपादेय नहीं होसक्ता, और “ यथाचमसं ” वाक्य से भी चमसों में चमसियों के भक्षण का विधान पाये जाने पर भी अन्य वषट्कार आदि निमित्तों का निषेध नहीं पाया जाता, और उसके न पाये जाने से यह कदापि

कल्पना नहीं कीजासक्ती कि चमसों के भक्षण में केवल चमसी होना ही निमित्त है वषट्कार आदि नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे चमसों के भक्षण में चमसी होना निमित्त वाक्य सिद्ध है वैसेही वषट्कार आदि का कर्त्ता होना भी वाक्य सिद्ध निमित्त है, उक्त दोनों निमित्तों के मध्य समान होने के कारण बाध्यबाधक भाव की कल्पना नहीं होसक्ती और उक्त दोनों वाक्यों का भिन्न २ विषय में लापन करके व्यवस्था का मानना भी मनोरथ मात्र है जबकि होता में चमसित्व, वषट्कर्तृत्व और अध्वर्यु में चमसित्व तथा होमकर्तृत्व दोनों निमित्त विद्यमान हैं तब यह कैसे होसक्ता है कि वह एक निमित्त से चमस में सोम भक्षण करें और दूसरे निमित्त से चमस भिन्न ग्रहों में भक्षण करे, ऐसी बेजोड़ कल्पित व्यवस्था कैसे आदरणीय होसक्ती है और चमसों के भक्षण में यदि चमसी होना तथा वषट्कार आदि का कर्ता होना दोनों निमित्त माने जायं अर्थात् एक ही भक्षण में उक्त दोनों निमित्तों का समुच्चय माना जाय तो "यथाचमसं" तथा "वषट्कर्तुः" इत्यादि निमित्त विधायक सम्पूर्ण वाक्य सङ्गत होजाते हैं और जिसके मानने से सम्पूर्ण वाक्य सङ्गत होजाते तथा कोई दोष भी नहीं आता उसका मानना उचित है, इसलिये सिद्ध हुआ कि वषट्कर्ता आदिकों के चमस भक्षण में वषट्कार आदि भी निमित्त हैं ।

सार यह निकला कि होता तथा अध्वर्युकर्तृक चमसों के भक्षण में चमसी होने की भांति वषट्कार तथा होम आदि का कर्ता होना भी निमित्त है या यों कहो कि वषट्कर्ता आदिकों का

वषट्कार आदि निमित्तक चमसों में सोम भक्षण होता है यही मानना उचित है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :—

चमसेचान्यदर्शनात् । ३५ ।

पद०—चमसे । च । अन्यदर्शनात् ।

पदा०—(च) और (अन्यदर्शनात्) चमसाध्वर्यु द्वारा वषट्कर्ता के प्रति चमसों का दान पाये जाने से (चमसे) वषट्कर्ता आदि का वषट्कार आदि निमित्तक चमस में सोम भक्षण सिद्ध होता है ।

भाष्य—"**चमसाँश्चमसाध्वर्यवे प्रयच्छति, तान् स वषट्कर्त्रे हरति**" = चमसों को प्रथम "चमसाध्वर्यु" को देवे और वह उनको वषट्कर्ता को दे, इस वाक्य में जो चमसों का प्रथम चमसाध्वर्यु को देना और पश्चात् उसका वषट्कर्ता को देना विधान किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि वषट्कर्ता आदिकों को वषट्कार आदि निमित्तक चमस भक्षण न होता तो उक्त वाक्य में वषट्कर्ता को चमसों का देना विधान न किया जाता उसके विधान करने से सिद्ध होता है कि वषट्कर्ता आदिकों को वषट्कार आदि निमित्तक चमसों का भक्षण होता है ।

तात्पर्य्य यह है कि भक्षण के लिये ही शेष सोम दिया जाता है रक्षण के लिये नहीं, यदि वषट्कर्ता आदिकों को चमसों में भक्षण युक्त न होता तो वषट्कर्ता को उनका देना कदापि विधान न किया जाता परन्तु किया है, इसलिये सिद्ध होता है

कि वषट्कर्ता आदिकों को वषट्कार आदि निमित्तक चमसों का भक्षण होना चाहिये ।

सं०-अब एक पात्र में अनेक ऋत्विजों के भक्षण की प्राप्ति होने पर "होता" का प्रथम भक्षण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

एकपात्रे क्रमादध्वर्युः पूर्वो भक्षयेत् । ३६ ।

पद०-एकपात्रे । क्रमात् । अध्वर्युः । पूर्वः । भक्षयेत् ।

पदा०-(एकपात्रे) एक पात्र में होता, अध्वर्यु आदि ऋत्विजों के भक्षण की युगपत् प्राप्ति होने पर (अध्वर्युः) अध्वर्यु नामक ऋत्विक् (पूर्वः) प्रथम (भक्षयेत्) भक्षण करे, क्योंकि (क्रमात्) भक्षणीय द्रव्य उसके अत्यन्त सन्निहित है ।

भाष्य-एक पात्र में होता अध्वर्यु आदि अनेक ऋत्विजों का भक्षण प्राप्त होने पर प्रथम अध्वर्यु को भक्षण करना चाहिये किंवा होता को ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि हवन के अनन्तर जो सोमरस शेष रह जाता है उसका सब ऋत्विज भक्षण करते हैं यह नियम है, हवन करना अध्वर्यु का काम है अर्थात् प्रति प्रस्थाता नामक ऋत्विक् पात्र को सोमरस से भर हवन के लिये अध्वर्यु के हाथ में देता है और अध्वर्यु उसका यथाविधि आहवनीय अग्नि में हवन करता है, यह प्रक्रिया है, इस प्रकार सोम का अध्वर्यु के द्वारा हवन होने से उसका उसके अत्यन्त सन्निहित होना सिद्ध होता है और जिसके जो अत्यन्त सन्निहित है उसके भक्षण काल में उसको छोड़कर किसी अन्य व्यवहित के प्रथम

भक्षण की कल्पना करना अयुक्त है, क्योंकि सन्निहित तथा व्यवहित दोनों के मध्य सन्निहित ही आदरणीय तथा उपादेय होता है, अध्वर्यु सोम रूप हवि के सन्निहित सर्वसम्मत है,इसलिये एक पात्र में सोम भक्षण समय प्रथम अध्वर्यु को भक्षण करना चाहिये होता को नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

होता वा मन्त्रवर्णात् । ३७ ।

पद०-होता । वा । मन्त्रवर्णात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (होता) होता को प्रथम भक्षण करना चाहिये, क्योंकि (मन्त्रवर्णात्) वेदमंत्र से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य--"होतुश्चित् पूर्वे हविरद्यमाशत"=होता से प्रथम कोई शेषहविः का भक्षण न करे, इस मन्त्र में जो होता से प्रथम हविः के भक्षण का निषेध किया है, इससे सिद्ध होता है कि होता को शेषहविः का भक्षण प्रथम प्राप्त है, क्योंकि प्राप्ति के बिना अप्राप्त का निषेध कदापि नहीं होसक्ता और जो प्रथम प्राप्त है उसका सन्निधि से बाध होना असंभव है अर्थात् अध्वर्यु को प्रथम सोम का भक्षण सन्निधि प्रमाण से प्राप्त है, सन्निधि, स्थान तथा क्रम यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, और होता को मन्त्रलिङ्ग से प्राप्त है, सन्निधि की अपेक्षा लिङ्ग प्रबल और लिङ्ग की अपेक्षा सन्निधि निर्बल होती है, यह नियम है, इसका विशेष निरूपण मी० ३ । ३ । १४ में किया गया है, यहां उसके निरूपण की आवश्यकता नहीं । और निर्बल तथा प्रबल दोनों के

मध्य प्रबल के अनुसार ही व्यवस्था होनी उचित है, इसलिये सन्निहित होने के कारण अध्वर्यु को प्रथम भक्षण प्राप्त होने पर भी वेदमन्त्रोक्त लिङ्ग से "होता" को ही प्रथम भक्षण करना चाहिये, यही समीचीन पक्ष है ।

सार यह निकला कि एक पात्र में अनेक ऋत्विजों को भक्षण प्राप्त होने पर सबसे प्रथम "होता" को भक्षण करना चाहिये अध्वर्यु को नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :—

वचनाच्च । ३८ ।

पद०—वचनात् । च ।

पदा०—(च) और (वचनात्) वाक्यविशेष से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"**वषट्कर्तुः प्रथमभक्षः**"=सबके मध्य वषट्कार-कर्ता का प्रथम भक्ष है, इस वाक्यविशेष में वषट्कर्ता=होता का साक्षात् प्रथम भक्षण करना विधान किया है, इसका बाध केवल सन्निधि प्रमाण से नहीं होसक्ता अर्थात् अध्वर्यु को प्रथम सोम का भक्षण केवल सन्निधि प्रमाण से प्राप्त है और वाक्य की अपेक्षा सन्निधि निर्बल होती है यह सर्वसम्मत है, इसलिये वाक्य को छोड़कर निर्बल सन्निधि के सहारे अध्वर्यु का प्रथम भक्षण मानना उचित नहीं, इसलिये सिद्ध होता है कि एक पात्र में अनेक ऋ-त्विजों को सोम भक्षण प्राप्त होने पर प्रथम होता को ही सोम भक्षण कर्तव्य है अध्वर्यु को नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :-

कारणानुपूर्व्याच्च । ३९ ।

पद०-कारणानुपूर्व्यात् । च ।

पदा०-(च) और (कारणानुपूर्व्यात्) कारण के क्रम से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-होता के भक्षण का कारण "वषट्कार" और अध्वर्यु के भक्षण का कारण "होम" है, कारण तथा निमित्त यह दोनों और कार्य्य तथा नैमित्तिक यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, प्रथम वषट् शब्द का उच्चारण और उसके पश्चात् होम होता है अर्थात् होता के वषट् शब्द उच्चारण करने पर अध्वर्यु आहवनीय अग्नि में हविः को डालता है, इससे स्पष्ट है कि प्रथम वषट्कार और उसका पश्चात्भावी होम है, इस प्रकार होता तथा अध्वर्यु के भक्षण में निमित्तभूत वषट्कार तथा होम का पूर्वापरीभाव होने से नैमित्तिक भक्षण का भी पूर्वापरीभाव होना आवश्यक है क्योंकि कारणक्रम का अनुसारी ही कार्य्यक्रम होता है यह नियम है, वषट् शब्द का उच्चारण प्रथम होने से तन्निमित्तक होताकर्तृक भक्षण प्रथम और होम पश्चात्भावी होने से तन्निमित्तक अध्वर्युकर्तृक भक्षण उसके पीछे होना चाहिये ।

सार यह है कि होता के भक्षण का निमित्त वषट्कार शब्द प्रथमभावी और अध्वर्यु के भक्षण का निमित्त होम पश्चाद्भावी है, और निमित्त के क्रम से नैमित्तिक का क्रम होना भी उचित है, इसलिये एकपात्र में अनेक ऋत्विजकर्तृक भक्षण प्राप्त होने पर प्रथम होता को ही भक्षण करना चाहिये, अध्वर्यु को नहीं ।

सं०-अब अनुज्ञापूर्वक सोम का भक्षण कथन करते हैं :-

वचनादनुज्ञातभक्षणम् । ४० ।

पद०-वचनात् । अनुज्ञातभक्षणम् ।

पदा०-(अनुज्ञातभक्षणं) अनुज्ञा को प्राप्त हुआ सोम का भक्षण करे, क्योंकि (वचनात्) वाक्य से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-जिससे प्रेरणा पाई जाय ऐसी दूसरे की " अनुमति " का नाम "अनुज्ञा" है, या यों कहो कि "आओ" इस प्रकार दूसरे के बुलाने का नाम "अनुज्ञा" है प्रवर्तना, प्रेरणा यह दोनों तथा अनुज्ञा, अनुज्ञापन, उपह्वान तथा बुलाना, यह चारो और अनुज्ञात, उपहूत तथा बुलायागया, यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, " आओ भक्षण करो " इस प्रकार दूसरे की अनुज्ञा से सोम का भक्षण करना चाहिये किंवा उक्त लक्षण अनुज्ञा के बिना अर्थात् दूसरे का बुलाया हुआ सोम का भक्षण करे किंवा बिना बुलाये आप जाकर करे ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि "तस्मात्सोमोनानुपहूतेन पेयः" = बिना बुलाये सोम के भक्षण करने में कदाचित् तिरस्कार का होना सम्भव है, इसलिये बिना बुलाये कदापि सोम का भक्षण न करे, इस वाक्य में जो अनुज्ञा के बिना सोम भक्षण का निषेध किया है वह अनुज्ञापूर्वक सोम के भक्षण में लिङ्ग है यदि सोम के भक्षण में अनुज्ञा की आवश्यकता न होती तो उक्त वाक्य में अनुज्ञा के बिना सोम भक्षण का निषेध न किया जाता परन्तु निषेध किया है इससे स्पष्ट होता है कि बिना अनुज्ञा के कदापि सोम का भक्षण न करना चाहिये किन्तु अनुज्ञापूर्वक ही करना उचित है ।

तात्पर्य्य यह है कि बिना बुलाये सोम भक्षण करने में कदाचित् तिरस्कार आदि का होना सम्भव है, जैसाकि लोक में प्रायः देखा जाता है, इसलिये अनुज्ञापूर्वक ही सोम का भक्षण करना चाहिये अनुज्ञा के बिना नहीं ।

सं०–अब वेद मन्त्र द्वारा अनुज्ञा का होना कथन करते हैं :–

तदुपहूतउपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेल्लिङ्गात् ।४१।

पद०–तत् । उपहूतउपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेत् । लिङ्गात् ।

पदा०–(तत्) सोम भक्षण का (उपहूतउपह्वयस्वेत्यनुज्ञापयेत्) "उपहूतउपह्वयस्व" इस मन्त्र से अनुज्ञापन करे, क्योंकि (लिङ्गात्) उक्त मन्त्र में अनुज्ञापन की सामर्थ्य पाई जाती है ।

भाष्य–अनुज्ञा लौकिक वाक्य से होनी चाहिये किंवा वैदिक वाक्य से अर्थात् प्रतिदिन बोल चाल में प्रचलित लोकभाषा से सोम भक्षण के लिये बुलाना चाहिये अथवा वेद मन्त्र से ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि लौकिक वाक्य की अपेक्षा वैदिक वाक्य का उच्चारण श्रेष्ठ होता है, यदि वैदिक वाक्य से कार्य्य सिद्ध होजाय तो उसको छोड़कर लौकिक वाक्य का प्रयोग करना ठीक नहीं अर्थात् यज्ञ देवकर्म है उसमें यथाशक्ति देवभाषा से कार्य्य सिद्ध करना उक्त कर्म का एक अङ्ग है, जिस याग में उक्त भाषा नहीं बोली जाती वह अङ्गहीन होजाने के कारण विहित फल का जनक नहीं होसक्ता, और देवभाषा की अपेक्षा ईश्वरीय भाषा तो सहस्रशः पुण्यजनिका है, उसके आगे लोकभाषा की क्या गणना है और "उपहूतउपह्वयस्व" इस मन्त्र में उपह्वान की सामर्थ्य पाईजाती है, यदि सोम भक्षण समय उसका उच्चारण किया जाय तो ऋत्विज

समझ जायंगे कि सोम भक्षण के लिये बुलाया गया है ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त मन्त्र में "उप" उपसर्गपूर्वक "ह्वेञ" धातु का प्रयोग किया गया है इससे "उपह्वान" स्पष्ट पाया जाता है और उसके पाये जाने से उक्त मन्त्र का उसमें विनियोग करना उचित है, इसलिये सोम भक्षण के लिये उक्त मन्त्र से अनुज्ञापन करना चाहिये, लौकिक वाक्य से नहीं ।

सं०-अब अनुज्ञा की भांति प्रतिवचन का भी वैदिक वाक्य से होना कथन करते हैं :-

तत्रार्थात् प्रतिवचनम् । ४२ ।

पद०-तत्र । अर्थात् । प्रतिवचनम् ।

पदा०-(तत्र) वेद मन्त्र द्वारा अनुज्ञापन की सिद्धि होने पर (प्रतिवचनं) उसका प्रतिवचन=उत्तर (अर्थात्) अर्थ से वेद मन्त्र द्वारा होना सिद्ध होता है ।

भाष्य-जैसे अनुज्ञा वेद मन्त्र से होती है वैसे आगे से उसका उत्तर भी वेद मन्त्र से ही होना चाहिये किंवा लौकिक वाक्य से अर्थात् "आओ सोम भक्षण करो" इस प्रकार अनुज्ञा के होने पर "बहुत अच्छा मैं आया" इस प्रकार उसका प्रतिवचन भी वेद मन्त्र द्वारा होना चाहिये अथवा लौकिक वाक्य द्वारा ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जब अनुज्ञा वेद मन्त्र से होती है तो उसका प्रतिवचन भी उक्त मन्त्र से ही होना चाहिये क्योंकि वचन प्रतिवचन दोनों की एकरूपना सर्वत्र विवक्षित है, यदि अनुज्ञा वेद मन्त्र से और उसका प्रतिवचन लौकिक भाषा से हो तो याग का वैगुण्य होना सम्भव है, सो ठीक नहीं, इसलिये अनुज्ञा का प्रतिवचन भी अनुज्ञा

की भांति वेदमन्त्र से ही होना चाहिये, लौकिक वचन से नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि अनुज्ञा तथा उसके प्रतिवचन के लिये पृथक् २ मन्त्र नियत नहीं किन्तु "उपहूतउपह्वयस्व" मन्त्र का ही विभाग करके अनुज्ञा तथा प्रतिवचन दोनों में विनियोग किया जाता है अर्थात् "उपह्वयस्व" से अनुज्ञा और "उपहूतः" से प्रतिवचन होता है, क्योंकि उक्त मन्त्र के वह दोनों अंश उक्त अर्थ के स्पष्ट रूप से बोधक हैं।

सं०-अब एक पात्र में अनेक ऋत्विजकर्तृक भक्षण होने पर अनुज्ञा का होना कथन करते हैं :-

तदेकपात्राणां समवायात् । ४३ ।

पद०-तत् । एकपात्राणां । समवायात् ।

पदा०-(तत्) सोम भक्षण के लिये अनुज्ञापन (एकपात्राणां) एकपात्र में भक्षण करने वालों का ही होना चाहिये, क्योंकि (समवायात्) उसमें इकट्ठे होकर ही भक्षण करना उचित है ।

भाष्य-अपने २ पात्र में सोमभक्षण के समय उक्त प्रकार की अनुज्ञा होनी चाहिये किंवा एक पात्र में सबके भक्षण समय? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि अपने २ पात्र में भक्षण के लिये अनुज्ञा की आवश्यकता नहीं, क्योंकि पात्र नियत होने से यथासमय ऋत्विक अपने आप उसका भक्षण कर सक्ता है और उस पात्र में अन्य किसी का भक्ष न होने से कलह की संभावना भी नहीं है, परन्तु एक पात्र में अनेक ऋत्विजकर्तृक भक्षण होने पर आगे पीछे आकर भक्षण करने में "इसने पहिले आकर अधिक भक्षण करलिया

होगा" इस प्रकार संशय होने से परस्पर कलह का होना सम्भव है, उसकी निवृत्ति के लिये सबका बुलाना उचित है, जब वह यजमान के बुलाने पर इकट्ठे होकर एक पात्र में भक्षण करेंगे तो फिर उनमें कदापि कलह न होगी, इसलिये उक्त प्रकार की अनुज्ञा एकपात्र के भक्षण समय में ही होनी चाहिये अपने २ पात्र के भक्षण समय नहीं।

सं०-अब स्वयं याग कर्ता होने के कारण यजमान का सोम भक्षण कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

याज्यापनये नापनीतो भक्षः प्रवरवत्।४४

पद०-याज्यापनये। न। अपनीतः। भक्षः। प्रवरवत्।

पदा०-(प्रवरवत्) वरण की भांति (याज्यापनये) याज्या का अपनयन होने पर भी (भक्षः) भक्षण का (न, अपनीतः) अपनयन नहीं होता।

भाष्य-याग के आरम्भ में पठनीय "ऋचा" विशेष का नाम "याज्या" है, जितनी "याज्या" हैं वह सब "हौत्र-काण्ड" में पठित होने के कारण "होता" संज्ञक ऋत्विक् को पठनीय होती हैं और याज्या पाठ के अनन्तर जब होता "वषट्" शब्द का उच्चारण करता है तब अध्वर्यु नामक ऋत्विक् आहुति को आहवनीय अग्नि में हवन कर देता है, वषट्कार शब्द के उच्चारण पूर्वक आहुति के हवन करदेने का नाम ही "यजन" है, यजन, याग तथा यज्ञ यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, याज्या के पाठ को "होता" से छुड़ालेना "अपनयन" कहलाता है अपनय तथा अपनयन यह दोनों और अपनीत तथा छुड़ायागया,

यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, ज्योतिष्टोमयागान्तर्गत "ऋतुयाज" नामक यागों के प्रकरण में "**यजमानस्य याज्या, सोऽभिप्रेष्यति होतरेतद्यजेति, स्वयं वा निषद्य यजति**" = "ऋतुयाज" यागों में यजमान याज्या का पाठ करे और होता को आज्ञा दे कि तू यजन कर अथवा आप ही बैठकर याग करे, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो होता से याज्या का अपनयन करके यजमान को उसका पढ़ना विधान किया है इससे यह सन्देह हुआ कि जैसे "होता" नामक ऋत्विक् से याज्या का अपनयन होता है वैसे ही याज्या निमित्तक भक्षण का भी अपनयन होता है किंवा नहीं, या यों कहोकि जिस प्रकार होता से अपनीत हुई "याज्या" को यजमान पढ़ता है इसी प्रकार याज्या के अपनयन से अपनीत हुआ सोमभक्षण भी यजमान को होना चाहिये किंवा नहीं अर्थात् याज्या पाठ तथा सोम भक्षण यह दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं इन दोनों के मध्य याज्या के अपनयन से भक्षण का अपनयन होना भी आवश्यक है याज्यापनय निमित्तक होता से अपनीत हुआ भक्षण यजमान को होना चाहिये अथवा नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती और द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि होता के सोमभक्षण का निमित्त "वषट्कार" है यदि उक्त वाक्य में "वषट्कार" का अपनयन विधान किया होता तो उसके नियत सम्बन्धी भक्षण का भी अवश्य अपनयन होता परन्तु अपनयन केवल "याज्या" का विधान किया है अर्थात् उक्त वाक्य में होता को पठनीय ऋचा विशेष का यजमान को पाठ करना विधान किया है "वषट्कार" का उच्चारण करना नहीं, और

यजमान को "याज्या" ऋचा का पाठ करने पर भी होता का वरणी होना जैसे दूर नहीं होता वैसे ही सोम का भक्षण भी दूर नहीं होसक्ता, और उसके दूर न होने से यजमान को भक्षण का होना भी नहीं कहसक्ते, इसलिये सिद्ध हुआ कि याज्या के अपनय होनें पर भी सोम का भक्षण "होता" संज्ञक ऋत्विक् को ही होता है यजमान को नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

यष्टुर्वा कारणागमात् । ४५ ।

पद०—यष्टुः । वा । कारणागमात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (यष्टुः) याग कर्ता यजमान को भक्षण होना चाहिये, क्योंकि (कारणागमात्) याज्या के आगम से भक्षण के कारण वषट्कार का आगम भी पाया जाता है।

भाष्य—यद्यपि उक्त वाक्य में यजमान को केवल याज्या का पाठ करना ही विधान किया है भक्षण नहीं तथापि याज्या के साथ "**स्वयं वा निषद्य यजति**" वाक्य से याग का स्वयं करना भी कथन किया है और जो याग का कर्त्ता होता है वही "वषट्कार" का भी होता है यह नियम है अर्थात् प्रथम याज्या पश्चात् वषट्कार तदनन्तर आहुति प्रदान होती है, जब यजमान को याज्या पाठ की भांति स्वयं आहुति का देना विहित है तो मध्यवर्ती "वषट्कार" अविहित नहीं होसक्ता, क्योंकि उसके बिना यजमान का यष्टा होना असम्भव है, याग कर्ता तथा यष्टा यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और याज्या के अनन्तर वषट्कार का

होना आवश्यक है जैसाकि कहा है कि "**याज्याया अधि वषट्-करोति**"=याज्या पाठ के पीछे "वषट्कार" करे, और यह भी नहीं होसक्ता कि प्रथम यजमान याज्या का पाठ करे पश्चात् "होता" नामक ऋत्विक् वषट्कार करे, क्योंकि "**अनवानं यजति**"=एक श्वास में याज्यापाठ तथा वषट्कार करे, इस वाक्य से याज्या तथा वषट्कार का समानकर्तृक होना सिद्ध है क्योंकि एक कर्त्ता के बिना याज्या तथा वषट्कार का एक श्वास में पाठ नहीं होसकता, और दोनों के समानकर्तृक होने से स्पष्ट है कि जैसे "वषट्कार" भक्षण का निमित्त है वैसे ही याज्या भी उसका निमित्त है, क्योंकि निमित्त का नियत सहचारी भी निमित्त होता है यह लोक सिद्ध है, और निमित्त के होने से नैमित्तिक का होना भी आवश्यक है इसलिये वषट्कार रूप निमित्त के विद्यमान होने से यजमान को सोम भक्षण अवश्य होना चाहिये, होता को नहीं।

सं०-अब "प्रवरवत्" दृष्टान्त का समाधान करते हैं :-

प्रवृत्तत्वात् प्रवरस्यानपनयः । ४६ ।

पद०-प्रवृत्तत्वात् । प्रवरस्य । अनपनयः ।

पदा०-(प्रवरस्य) होता के वरणी होने का (अनपनयः) अपनय नहीं होसक्ता, क्योंकि (प्रवृत्तत्वात्) वह प्रवृत्त होचुका है।

भाष्य-याग के आरम्भ से प्रथम यजमान की ओर से ऋत्विजों का वरण होता है, जब ऋत्विज स्वीकार करलेते हैं कि हम आपका याग करायंगे तब उनको वरणी दी जाती है अर्थात् यजमान यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों से प्रथम यह कहता है कि मैंने यज्ञ करना है आप मेरे ऋत्विज बनें, तब वह नौकरी

के समान अपनी कुछ दक्षिणा नियत करलेते हैं और याग की समाप्ति पर्य्यन्त उसका नियम होता है, यजमान की ओर से दक्षिणा के और ब्राह्मणों की ओर से दूसरे किसी के याग में ऋत्विज न बनने के नियम का नाम "वरण" और बयाने के सदृश जो प्रथम कुछ द्रव्य तथा वस्त्र आदि दियेजाते हैं उसका नाम "वरणी" है, इस प्रकार नियत होजाने से प्रवृत्त हुआ "वरण" मध्य में किसी प्रकार निवृत्त नही होसक्ता, उसकी निवृत्ति का एकमात्र उपाय याग की समाप्ति है, यदि वरण भी वषट्कार की भांति प्रथम प्रवृत्त न हुआ होता तो याज्या के अपनय से उसका भी अपनय होजाता परन्तु प्रवृत्त होजाने के कारण याग समाप्ति के विना बीच में उसका अपनय अर्थात् उसकी निवृत्ति नहीं होसक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे सञ्चित क्रियमाण तथा प्रारब्ध तीन प्रकार के कर्मों के मध्य सञ्चित, क्रियमाण दो प्रकार के कर्मों की परमात्मज्ञान से निवृत्ति होने पर भी प्रारब्ध कर्म की निवृत्ति नहीं होती, क्योंकि वह फल देने के लिये प्रवृत्त होचका है वैसेही याज्या के निवृत्त होने पर भी प्रवृत्त हुए वरण की निवृत्ति नहीं होसक्ती, इसलिये दृष्टान्त की विषमता होने से यह नहीं कह सक्ते कि याज्या के निवृत्त होने पर भक्षण की निवृत्ति नहीं होती किन्तु याज्या की निवृत्ति होने से भक्षण की भी निवृत्ति होजाती है इसलिये होता नामक ऋत्विक् से निवृत्त हुआ भक्षण यजमान को होना आवश्यक है, यह निश्चेतव्य है।

सं०-अब "फलचमस" को यागार्थ होना कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

फलचमसो नैमित्तिको भक्षविकारः श्रुतिसंयोगात् ।४७।

पद०—फलचमसः । नैमित्तिकः । भक्षविकारः । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०—(नैमित्तिकः) क्षत्रिय तथा वैश्य के निमित्त से बनाया हुआ (फलचमसः) फलचमस (भक्षविकारः) भक्षण के लिये है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) वाक्यशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "स यदि राजन्यं वा वैश्यं वा याजयेत स यदि सोमं बिभक्षयिषेत् न्यग्रोधस्तिभीः आहृत्य ताः सम्पिष्य दधनि उन्मृज्य तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्नसोमम्" = यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य को सोमयाग करायाजाय और वह सोम पीने को मागें तो न्यग्रोध = बट वृक्ष की कलियोंको ला पीस-दधि में छान उनदोनों को दे, सोम न दे। यह वाक्य पढ़ा है, बटवृक्ष की कलियों को पीस दधि सहित छान रस भरे पात्र का नाम "फलचमस" है, इस वाक्य में जो क्षत्रिय तथा वैश्य के निमित्त से "फलचमस" का बनाना तथा भक्षण के लिये देना विधान किया है वह केवल भक्षण के लिये ही किया है किंवा याग के लिये अर्थात् यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य सोम याग के यजमान हों तो उनको भक्षण के लिये "फलचमस" दिया जाय अथवा फलचमस से याग करायाजाय? यह सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य के शेष में "तम-

स्मैभक्षं प्रयच्छेत्" = उनको भक्षण के लिये फलचमस देना कथन किया है, यदि वह याग के लिये होता तो उसका भक्षण के लिये देना कथन न किया जाता परन्तु किया है, इससे सिद्ध है कि वह भक्षण के लिये ही है याग के लिये नहीं ।

सार यह निकला कि क्षत्रिय अथवा वैश्य के यजमान होने पर फलचमस से याग के करने का नियम नहीं, केवल दोनों यजमानों को भक्षण के लिये फलचमस के देने का नियम है, इसलिये वह भक्षण के लिये है याग के लिये नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

इज्याविकारो वा संस्कारस्य तदर्थत्वात्।४८।

पद०-इज्याविकारः । वा । संस्कारस्य । तदर्थत्वात् ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (इज्याविकारः) " फलचमस " याग के लिये है, क्योंकि (संस्कारस्य) उसका भक्षण (तदर्थत्वात्) याग के लिये होने से ही बन सक्ता है ।

भाष्य-यदि " फलचमस " को याग के लिये न माना जाय तो उक्त वाक्य के शेष में जो उसका भक्षण विधान किया है वह नहीं बन सक्ता, क्योंकि यज्ञ शेष का ही भक्षण होता है और वह भक्षण यज्ञ हविः का एक संस्कार विशेष है, यह सर्वसम्मत है अर्थात् जैसे धूम का वह्नि के साथ नियत सम्बन्ध है और जहां वह रहता है वह्नि भी वहीं रहती है यह नियम है वैसे ही भक्षण का भी यज्ञहविः के साथ नियत सम्बन्ध है, जहां हविः का भक्षण होगा वहां उसका यागार्थ होना भी अवश्य होगा, यदि कोई कहे

कि धूम तो पर्वत में है परन्तु वह्नि नहीं है तो जैसे यह उसका अज्ञान मात्र है क्योंकि धूम के होने पर वह्नि का न होना कदापि नहीं होसक्ता वैसे ही यह भी अज्ञान मात्र है कि उक्त वाक्य में फलचमस के भक्षण का विधान तो है परन्तु वह यागार्थ नहीं क्योंकि यागार्थ होने के विना फलचमस के भक्षण का विधान, कदापि नहीं होसक्ता, उसका विधान पाये जाने से सिद्ध होता है कि फलचमस भक्षण के लिये ही नहीं किन्तु याग के लिये है।

सार यह निकला कि जब क्षत्रिय अथवा वैश्य सोम याग करावे तो उसका याग फलचमस से कराया जाय और उसीका शेष उसको भक्षण के लिये दिया जाय, फलचमस के भक्षण का विधान ही अन्यथा अनुपपन्न हुआ उसका यागार्थ होना सिद्ध करता है अतएव वह यागार्थ है भक्षणार्थ नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

होमात् । ४९ ।

पद०-होमात् ।

पदा०-(होमात्) होम का अनुवाद पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य--यदि "फलचमस" याग के लिये न होता तो **"यदान्याँश्चमसान् जुह्वति अथैतस्य दर्भतरुणकेनोपहत्य जुहोति"**=जब और चमसों का हवन करे तब फलचमस का दर्भमुष्टि से हिलाकर हवन करे, इस वाक्य में जो फलचमस के होम का अनुवाद करके दर्भमुष्टि से हिलाना रूप गुण विशेष विधान किया है, इससे सिद्ध होता है कि फलचमस की आहुति दीजाती है,यदि उसकी आहुति न दीजाती तो आहुति देने से

पूर्व उसका दर्भमुष्टि से हिलाना विधान न किया जाता परन्तु होम के अनुवाद पूर्वक उसका विधान किया है वह फलचमस को यागार्थ माने बिना नहीं बन सक्ता, इसलिये सिद्ध हुआ कि क्षत्रिय अथवा वैश्यकर्तृक याग में जो फलचमस का विधान है वह याग के लिये है केवल भक्षण के लिये नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं :–

चमसैश्चतुल्यकालत्वात् । ५० ।

पद०–चमसैः । च । तुल्यकालत्वात् ।

पदा०–(च) और (चमसैः) चमसों के साथ (तुल्यकालत्वात्) फलचमस के उन्नयन=उठाने का एक काल होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–"यदाऽन्याँश्चमसानुन्नयन्ति अथैनंचमस-मुन्नयन्ति"=जब और चमसों को आहुति देने के लिये उठाया जाय तो फलचमस को भी उठाये, इस वाक्य में जो अन्य चमसों तथा फलचमस का आहुति देने के लिये एककाल में उठाना विधान किया है वह फलचमस का यागार्थ होना सिद्ध करता है, यदि वह यागार्थ न होता तो यागार्थ होने वाले अन्य चमसों के साथ उसका आहुति देने के लिये उठाना विधान न किया जाता परन्तु विधान किया है, इसलिये सिद्ध हुआ कि फलचमस याग के लिये है केवल भक्षण के लिये नहीं ।

सं०–अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :–

लिङ्गदर्शनाच्च । ५१ ।

पद०–लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-" तमस्मै भक्षं प्रयच्छेन्नसोमम् " = इनको फल-चमस भक्षण के लिये देवे सोम नहीं, इस वाक्यशेष में जो सोम के देने का निषेध करके फलचमस का देना विधान किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि फलचमस याग के लिये न होता तो भक्षण के लिये सोम देने का निषेध करके फल-चमस का देना विधान न किया जाता, निषेध पूर्वक विधान करने से स्पष्ट है कि सोम का स्थानी फलचमस है और सोम का याग के लिये होना सर्वसम्मत है, उसको यागार्थ होने से उसके स्थानी का यागार्थ होना भी युक्त है अयुक्त नहीं । इसलिये क्षत्रिय अथवा वैश्यकर्तृक याग में जो " फलचमस " विधान किया है वह याग के लिये है, केवल भक्षण के लिये नहीं, याग के लिये तथा यागार्थ यह दोनों पर्य्याय शब्द है ।

सं०-अब " दशपेय " नामक याग में सोम भक्षणार्थ यजमानचमस के प्रति दश ब्राह्मणों का अनुप्रसर्पण=चलकर जाना कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

अनुप्रसर्पिषु सामान्यात् । ५२ ।

पद०-अनुप्रसर्पिषु । सामान्यात् ।

पदा०-(अनुप्रसर्पिषु) यजमान चमस के प्रति भक्षणार्थ जाने वालों में दश क्षत्रिय होने चाहिये, क्योंकि (सामान्यात्) ऐसा होने से यजमान के साथ एक जातित्व का लाभ होता है ।

भाष्य-" राजसूय " याग में क्षत्रिय का ही अधिकार है इतर

का नहीं, उक्त याग के अन्तर्गत "दशपेय" नामक याग में "दशदशैकैकं चमसमनुप्रसर्पन्ति"=एक २ चमस के प्रति दश २ भक्षणार्थ जायें, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो प्रति चमस सोम भक्षणार्थ दश २ का जाना कथन किया है इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त याग में जो यजमान का चमस है उसके प्रति भक्षणार्थ दश क्षत्रिय जायें अथवा ब्राह्मण ? इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त याग का यजमान क्षत्रिय है उसके चमस में ब्राह्मणों का सोम भक्षण करना नहीं बन सक्ता, क्योंकि वह यजमान से विजातीय है और दश क्षत्रियों का अनुप्रसर्पण मानने में उक्त दोष नहीं, क्योंकि यजमान के साथ उनका साजात्य है और सजातियों का एक चमस में भक्षण विरुद्ध नहीं, इसलिये उक्त याग में जो यजमान चमस के प्रति दश का अनुप्रसर्पण विधान किया है वह दश क्षत्रिय होने चाहियें ब्राह्मण नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

ब्राह्मणा वा तुल्यशब्दत्वात् । ५३ ।

पद०-ब्राह्मणाः । वा । तुल्यशब्दत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (ब्राह्मणाः) यजमानचमस के प्रति अनुप्रसर्पण करने वाले ब्राह्मण होने चाहियें क्षत्रिय नहीं, क्योंकि (तुल्यशब्दत्वात्) सब चमसों के प्रति अनुप्रसर्पण करने वालों का एक ब्राह्मण शब्द से उपन्यास किया है ।

भाष्य-यदि यजमानचमस के प्रति अनुप्रसर्पण करने वाले क्षत्रिय होते तो उक्त वाक्य के उपक्रम में "शतं ब्राह्मणाः

सोमान् भक्षयन्ति "=सौ ब्राह्मण सोम का भक्षण करें, इस प्रकार सौ ब्राह्मणों का सोम भक्षण करना विधान न किया जाता अर्थात् उक्त याग में दश चमस हैं जिनके मध्य यजमान का चमस एक है यदि उस एक चमस में क्षत्रियों का सोम भक्षण करना अभिप्रेत होता तो उक्त उपक्रम वाक्य में १०० ब्राह्मणों के स्थान में ९० ब्राह्मणों का कथन किया जाता परन्तु कथन सौ का किया है इससे सिद्ध होता है कि यजमानचमस के प्रति भी सोम भक्षण के लिये दश ब्राह्मणों का ही प्रसर्पण होना चाहिये।

सार यह निकला कि यद्यपि क्षत्रिय होने के कारण यजमान का ब्राह्मणों के साथ साजात्य नहीं तथापि उसका वह क्षत्रियपन याग भूमि से बाहर है भीतर नहीं, क्योंकि याग की दीक्षा होने से सब वर्ण के मनुष्य ब्राह्मण होजाते हैं यह नियम है, इसका विस्तार पूर्वक निरूपण " मीमांसासूत्र-वैदिकवृत्तिः " में किया गया है, यहां उसके विस्तार की आवश्यकता नहीं और दीक्षित होने से यजमान का चमस " ब्राह्मण चमस " कहा जासक्ता है " क्षत्रियचमस " नहीं, और ब्राह्मणचमस होने से उसके प्रति ब्राह्मणों के अनुप्रसर्पण से ही यजमान के साथ साजात्य का लाभ होसक्ता है क्षत्रियों के अनुप्रसर्पण से नहीं, इसलिये "दशपेय" नामक याग में जो यजमानचमस के प्रति दश का अनुप्रसर्पण कथन किया है वह दश ब्राह्मण होने चाहियें क्षत्रिय नहीं।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
तृतीयाध्याये
पञ्चमःपादः

ओ३म्

अथ तृतीयाध्याये षष्ठःपादः प्रारभ्यते

सं०-अब "स्रुवादि पात्र खादिर = खैर आदि लकड़ी के होने चाहियें" इस प्रकार के विधि वाक्यों को प्रकृतियाग में विधायक कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

सर्वार्थमप्रकरणात् । १ ।

पद०-सर्वार्थम् । अप्रकरणात् ।

पदा०-(सर्वार्थं) खैर आदि लकड़ी के स्रुवादि पात्र बनाने का विधान प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों के लिये है, क्योंकि (अप्रकरणात्) वह किसी याग के प्रकरण में पठित नहीं ।

भाष्य-अनारभ्याधीत, अप्रकरण पठित तथा किसी याग-विशेष के प्रकरण में अपठित यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं "यस्य खादिरःस्रुवोभवति स छन्दसामेवरसेनावद्यति सरसा अस्याहुतयो भवन्ति, यस्य पर्णमयी जुहुर्भवति नसपापं श्लोकंश्रृणोति" = जिस यजमान का स्रुवापात्र खैर की लकड़ी का होता है वह उस स्रुवा से जो हविः का अवदान करता है वह वेदोक्त कर्म करता है, उससे दीहुई सम्पूर्ण आहुतियें फलवती होती हैं और जिस यजमान की जुहु पलाश की होती है वह अपयश को नहीं सुनता, इत्यादि अप्रकरण पठित वाक्य इस अधिकरण का विषय हैं, उक्त वाक्य दर्शपूर्ण-मासादि प्रकृति तथा सौर्य्यादि विकृति दोनों प्रकार के

यागों में खैर आदि की लकड़ी से स्रुवादि पात्रों के बनाने का विधान करते हैं किंवा केवल प्रकृति याग में? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यदि उक्त वाक्य किसी प्रकृति याग के प्रकरण में पठित होते तो उक्त याग में उनका विधायक होना बनसक्ता परन्तु वह किसी याग के प्रकरण में पठित नहीं किन्तु अप्रकरण पठित है और अप्रकरण पठित होने से उनका प्रकृति तथा विकृति दोनों प्रकार के यागों के साथ सम्बन्ध होसक्ता है और जैसे प्रकृति याग में आहुति आदि के अवदानार्थ स्रुवा आदि पात्रों की आवश्यकता है वैसेही विकृति याग में भी है और उक्त दोनों प्रकार के यागों के यजमान को पूर्वोदाहृत फल की कामना भी समान रूप से होसक्ती है, इसलिये उक्त वाक्य केवल प्रकृति याग में ही खैर आदि की लकड़ी से स्रुवादि पात्रों के बनाने का विधान नहीं करते किन्तु प्रकृति विकृति दोनों यागों में करते हैं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

प्रकृतौवाद्विरुक्तत्वात्। २।

पद०-प्रकृतौ। वा। द्विरुक्तत्वात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (प्रकृतौ) उक्त वाक्य दर्शपूर्णमासादि प्रकृति यागों में ही उक्तार्थ के विधायक हैं सौर्य्यादि विकृति यागों में नहीं, क्योंकि (द्विरुक्तत्वात्) ऐसा मानने से द्विरुक्ति की प्राप्ति होती है।

भाष्य-जो धर्म प्रकृति याग में विधान किये गये हैं उनकी "**प्रकृतिवद् विकृतिःकर्तव्या**" इस चोदक वाक्य से

विकृति में अवश्य प्राप्ति होती है उनकी प्राप्ति के लिये विधि माननें की आवश्यकता नहीं, यदि चोदक के बल से प्राप्त की पुनः विकृति में विधि मानी जाय तो दोबार उसकी प्राप्ति माननी पड़ती है, एक चोदक तथा दूसरी विधि से, इसी को द्विरुक्ति कहते हैं सो ठीक नहीं, क्योंकि एक बार की प्राप्ति से ही निर्वाह होसक्ता है फिर दोबारा प्राप्ति माननी व्यर्थ है, अतएव अप्रकरण पठित होने पर भी खादिरत्वादि की विकृति याग में विधि मानना अनुचित है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि खादिरत्वादि का अप्रकरण पठित होने के कारण प्रकृति तथा विकृति दोनों प्रकार के यागों के साथ सम्बन्ध होसक्ता है तथापि विकृति में उनके सम्बन्ध का मानना व्यर्थ है, क्योंकि प्रकृति में विहित होने के कारण उक्त चोदक वाक्य के बल से स्वयं उसकी विकृति में प्राप्ति होसक्ती है और प्राप्त की विधि नहीं होसक्ती यह सर्वसम्मत बात है, इस लिये "यस्यखादिरःस्रुवः" इत्यादि विधिवाक्य दर्शपूर्णमासादि प्रकृति याग में स्रुवादि का खादिरादि होना विधान करते हैं सौर्य्यादि विकृति याग में नहीं।

सं०—अब उक्तार्थ में पुनः पूर्वपक्ष करते हैं:—

तद्वर्जन्तु वचनप्राप्ते । ३ ।

पद०—तद्वर्जं । तु । वचनप्राप्ते ।

पदा०—"तु" शब्द पुनः पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (तद्वर्जं) अप्रकरण पठित को छोड़कर (वचनप्राप्ते) जो विधि से प्रकृति याग में प्राप्त है उसमें चोदक वाक्य की प्रवृत्ति होसक्ती है।

भाष्य—उक्त चोदक वाक्य में "प्रकृतिवत्" पद का प्रयोग किया है जिसका "प्रकृति की भांति" यह अर्थ होता है अर्थात् जैसा प्रकृति में है वैसा ही विकृति में होना चाहिये, इससे यह स्पष्ट होजाता है कि प्रकरण पठित विधिवाक्य से जो धर्म प्रकृति याग में विधान किये गये हैं उन्हीं की विकृति याग में प्राप्ति के लिये उक्त चोदक वाक्य की प्रवृत्ति होती है क्योंकि वह प्रकरण पठित होने से प्रकृति में ही प्राप्त हैं विकृति में नहीं और विकृति में उनकी प्राप्ति के लिये "प्रकृतिवत्" कहाजासक्ता है, और जिनकी प्रकृति तथा विकृति दोनों में समानरूप से प्राप्ति है उनमें चोदक वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती और "यस्य खादिरः स्रुवः" इत्यादि विधिवाक्यों में जो स्रुवादि के खादिरतादि धर्म विधान किये गये हैं वह प्रकृति तथा विकृति दोनों में प्राप्त हैं, क्योंकि उक्त वाक्य अप्रकरण पठित होने के कारण दोनों के सम्बन्धी समान हैं, इसलिये वह प्रकृति याग में ही स्रुवादि पात्रों के लिये खादिरतादि के विधायक नहीं किन्तु प्रकृति विकृति दोनों में हैं।

तात्पर्य्य यह है कि अप्रकरण पठित विधिवाक्य चोदक वाक्य की अपेक्षा बली है, बली होने के कारण उसकी आकांक्षा नहीं करता और निराकांक्ष होने के कारण उसमें चोदक वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती, उसकी प्रवृत्ति न होने से प्रकृति याग से विकृति याग में खादिरतादि का सम्बन्ध होना असम्भव है सो ठीक नहीं, इसलिये प्रकृति विकृति दोनों में उक्त वाक्य खादिरतादि का विधान करता है केवल प्रकृति में ही नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष में सिद्धान्ती आशङ्का करता है :-

दर्शनादितिचेत् । ४ ।

पद०-दर्शनात् । इति । चेत् ।

पदा०-(दर्शनात्) विकृति में प्रकृति के धर्मों का सम्बन्ध पाये जाने से सर्वत्र चोदक वाक्य की प्रवृत्ति सिद्ध होती है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है-

भाष्य-यदि प्रकरण पठित वाक्य विहित धर्मों की विकृति याग में चोदक वाक्य से प्राप्ति न होती तो किसी प्राकृत धर्म का विकृति में सम्बन्ध न पाया जाता परन्तु "**प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति**"=माषे के पांचवें भाग का नाम "कृष्णल" है, प्रति प्रयाज सौवर्ण कृष्णलों का होम करे, इत्यादि वाक्यों से जो विकृति याग में प्राकृत प्रयाजों के अनुवादपूर्वक कृष्णल होमों का विधान किया है इससे स्पष्ट है कि अप्रकरण पठित वाक्य से विहित धर्मों का भी चोदक वाक्य से विकृति याग में सम्बन्ध होता है, क्योंकि अनुवाद प्राप्त का ही होसक्ता है अप्राप्त का नहीं और प्रकृति के धर्म प्रयाजों की प्राप्ति होने में चोदक वाक्य के बिना अन्य कोई उपाय नहीं है अर्थात् विकृति याग में जो "प्रयाजसंज्ञक" होमों का अनुवाद पाया जाता है वह बिना चोदक वाक्य की प्रवृत्ति के नहीं होसक्ता और अप्रकरण पठित वाक्य से विहित जैसे प्रयाज हैं वैसे ही खादिरतादि धर्म भी हैं और एकमें प्रवृत्ति तथा अन्य में अप्रवृत्ति यह कदापि नहीं होसक्ता और जिसकी प्राप्ति चोदक वाक्य से विकृति याग में होसक्ती है उसका उसमें साक्षात् सम्बन्ध से विधान मानना

गौरव दोष होने के कारण युक्त नहीं, इसलिये "यस्यखादिरः" इत्यादि अप्रकरण पठित वाक्य प्रकृति विकृति दोनों यागों में खादिरता आदि के विधायक नहीं किन्तु केवल प्रकृति याग में ही विधायक हैं।

सं०-अब पूर्वपक्षी सिद्धान्ती की उक्त आशङ्का का समाधान करता है :-

न चोदनैकार्य्यात् । ५ ।

पद०-न । चोदनैकार्य्यात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (चोदनैकार्य्यात्) उक्त वाक्यों से प्रकृति विकृति साधारण एकही प्रकार की विधि पाई जाती है।

भाष्य-"प्रयाजे प्रयाजे कृष्णलं जुहोति" यह वाक्य प्रयाजों के अनुवाद पूर्वक कृष्णलों का होम विधान नहीं करता किन्तु "कृष्णलहोम" संज्ञक प्रयाजों का विधान करता है और कृष्ण होम का विधायक होने से वह उक्त अर्थ में उदाहरण भी नहीं बन सक्ता और "यस्यखादिरः" इत्यादि वाक्य प्रकृति विकृति साधारण खादिरतादि धर्मों का विधान करते हैं जो साक्षात् सम्बन्ध से विधान माने विना उपपन्न नहीं होसक्ता अर्थात् चोदक वाक्य से जो धर्मों का याग के साथ सम्बन्ध होता है वह आनुमानिक है और विधिवाक्य से जो सम्बन्ध होता है वह साक्षात् कहलाता है, साक्षात् तथा आनुमानिक दोनों के मध्य साक्षात् श्रेष्ठ किंवा आदरणीय होता है उसको छोड़कर आनुमानिक का उपादान नहीं होसक्ता और साक्षात् सम्बन्ध प्रकृति

विकृति उभय साधारण खादिरतादि धर्मों का विधान मानने से होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसलिये अप्रकरण पठित उक्त वाक्य केवल प्रकृति याग में ही खादिरतादि के विधायक नहीं किन्तु प्रकृति विकृति दोनों विधायक हैं।

सं०—अब उक्त अर्थ में पुनः सिद्धान्ती आशङ्का करता है :-

उत्पत्तिरिति चेत्। ६।

पद०—उत्पत्तिः। इति। चेत्।

पदा०—(उत्पत्तिः) विधिवाक्य से विहित सम्पूर्ण धर्मों का प्रकृति याग के साथ साक्षात् सम्बन्ध स्वाभाविक है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र के साथ सम्बन्ध है—

भाष्य—जितने धर्म विधान किये गये हैं जैसा उनका प्रकृति याग के साथ सम्बन्ध है वैसा विकृति के साथ नहीं, क्योंकि वह सब प्रकृति याग के सन्निहित होने के कारण विकृति से व्यवहित हैं और जो जिससे व्यवहित है उसका उसके साथ साक्षात् सम्बन्ध कदापि नहीं होसक्ता यह नियम है, यदि व्यवहित होने पर भी विकृति याग के साथ विधिविहित सम्पूर्ण धर्मों का साक्षात् सम्बन्ध माना जाय तो चोदक वाक्य सर्वथा निरवकाश होजाता है और यह ठीक नहीं, क्योंकि जैसे अन्य धर्म विधि-विहित हैं वैसे ही खादिरतादि धर्म भी विधिविहित हैं उनका भी विकृति याग के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होसक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि खादिरतादि धर्म अप्रकरण पठित विधिवाक्य से विधान किये गये हैं तथापि उनका प्रकृति विकृति उभय साधारण विधान नहीं मान सक्ते और जब प्रकृति

तथा विकृति का ही परस्पर समानभाव नहीं है तब उक्त धर्मों का उनके साथ समानभाव से सम्बन्ध कैसे होसक्ता है अर्थात् प्रकृति विकृति यागों का परस्पर कार्य्यकारणभाव है जिनमें प्रकृति याग कारण तथा विकृति याग उसका कार्य्य है और कारण प्रथमभावी तथा कार्य्य पश्चात्भावी होता है यह नियम है, विधि-विहित धर्मों के सम्बन्ध काल में प्रथमभावी होने के कारण प्रकृति याग ही प्रथम उपस्थित होसक्ता है विकृति याग नहीं, क्योंकि वह प्रकृति याग का विकार होने से पश्चाद्भावी है और जो प्रथम उपस्थित है उसको छोड़कर अन्य के साथ सम्बन्ध की कल्पना करना जघन्य है और कारण के साथ सम्बन्ध होने से कार्य्य के साथ भी परम्परा सम्बन्ध होसक्ता है उसके मानने की आवश्य-कता नहीं, इससे स्पष्ट है कि विहित धर्मों का प्रकृति याग के साथ ही साक्षात् सम्बन्ध होना सम्भव है विकृति याग के साथ नहीं, इसलिये उक्त वाक्य प्रकृति विकृति उभय साधारण खादिरतादि के विधायक नहीं किन्तु केवल प्रकृति याग में ही विधायक हैं ।

सं०-अब सिद्धान्ती की उक्त आशङ्का का पूर्वपक्षी समाधान करता है :-

न तुल्यत्वात् । ७ ।

पद०-न । तुल्यत्वात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तुल्यत्वात्) उक्त धर्म प्रकृति विकृति दोनों में समान रूप से विधान किये गये हैं ।

भाष्य– यद्यपि प्रकृति विकृति का परस्पर कार्य्य कारण भाव है परन्तु अप्रकरण पठित उक्त विधिवाक्यों में जो खादिरतादि धर्म विधान किये गये हैं वह दोनों के प्रति समान रूप से किये गये हैं और समान रूप से विधान किये जाने के कारण उनका प्रकृति विकृति दोनों के साथ साक्षात् सम्बन्ध होसक्ता है ।

तात्पर्य्य यह है कि जहां विधि वाक्य का प्रकृति याग के साथ सम्बन्ध है विकृति याग के साथ नहीं वहां ही उक्त वाक्य से विहित धर्म की चोदक वाक्य द्वारा विकृति याग में प्राप्ति होती है और जहां विधि वाक्य दोनों यागों में समान रूप से विधायक हैं वहां चोदक वाक्य की प्रवृति नहीं होती, खादिरतादि धर्म प्रकृति विकृति दोनों में समान रूप से विधान किये गये हैं उनमें चोदक वाक्य की अप्राप्ति होने में कोई दोष नहीं ।

सार यह निकला कि "यस्यखादिरः" इत्यादि वाक्य प्रकृति विकृति दोनों के प्रति समान हैं इसलिये वह उक्त दोनों में ही खादिरतादि धर्म के विधायक हैं केवल प्रकृति याग में नहीं ।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का सिद्धान्ती समाधान करता है :–

चोदनार्थकात्स्न्यात्तु मुख्यविप्रतिषेधा-त्प्रकृत्यर्थः । ८ ।

पद०–चोदनार्थकात्स्न्यात् । तु । मुख्यविप्रतिषेधात् । प्रकृत्यर्थः ।

पदा०–"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (प्रकृत्यर्थः) "यस्यखादिरः" इत्यादि वाक्यों से खादिरतादि का

विधान केवल प्रकृति याग के लिये है विकृति के लिये नहीं,क्योंकि (चोदनार्थकात्स्न्यात्) उसमें चोदक वाक्य से सम्पूर्ण धर्म प्राप्त होसक्ते हैं और (मुख्यविप्रतिषेधात्) दोनों के लिये विधान मानने में "गौणमुख्य" न्याय से विरोध होजाता है।

भाष्य-यद्यपि "**यस्यखादिरः**" आदि वाक्य समानरूप से पढ़े गये हैं तथापि वह प्रकृति याग में ही उक्त धर्मों को विधान कर सक्ते हैं विकृति में नहीं, क्योंकि प्रकृति में विहित धर्मों की विकृति में चोदक वाक्य से स्वयमेव प्राप्ति होजाती है उसमें उनके विधान की कोई आवश्यकता नहीं, दूसरे प्रकृति याग मुख्य और विकृति याग गौण है, और "**गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्य्यं सम्प्रत्ययः**"=गौण मुख्य दोनों के मध्य मुख्य में कार्य्य बुद्धि होती है गौण में नहीं, इस न्याय के अनुसार मुख्य प्रकृति याग को छोड़कर गौण विकृति याग में उक्त धर्मों का विधान मानना ठीक नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि विधान वहां ही माना जाता है जहां वह धर्म किसी प्रकार से प्राप्त नहीं होसक्ता और जो उपायान्तर से भी प्राप्त होसक्ता है उसका विधान अपेक्षित नहीं, यदि खादिर-तादि धर्मों का प्रकृति याग में ही विधान माना जाय तो विकृति याग में उनकी प्राप्ति चोदक वाक्य से स्वयमेव होसक्ती है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्त वाक्य केवल प्रकृति याग में ही स्रुवादि पात्रों के खादिर-तादि धर्मों का विधान करते हैं प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों में नहीं।

सं०—अब सामिधेनियों की सप्तदश संख्या का विकृति याग में विधान कथन करते हैं :—

प्रकरणविशेषात्तु विकृतौविरोधिस्यात् । १ ।

पद०—प्रकरणविशेषात् । तु । विकृतौ । विरोधि । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द सिद्धान्त सूचना के लिये आया है (विरोधि) सामिधेनियों की पञ्चदश संख्या का विरोधी सप्तदश संख्या (विकृतौ) विकृति याग में (स्यात्) विधान कीगई है प्रकृति याग में नहीं, क्योंकि (प्रकरणविशेषात्) उसमें प्रकरण पठित वाक्य-विशेष से पञ्चदश संख्या प्राप्त है ।

भाष्य—अप्रकरण पठित "**सप्तदश सामिधेनीरन्वाह**"= सत्तरह सामिधेनियों का पाठ करे, इस वाक्य में जो सामिधेनियों की सप्तदश संख्या विधान की है उसका प्रकृति में निवेश है किंवा विकृति में अर्थात् "**प्रवोवाजा अभिद्यवः**" ऋ० ३।१।२८।१ इत्यादि ११ ऋचाओं का नाम "**सामिधेनी**" है, इनके मध्य प्रथम तथा अन्तिम ऋचा को तीन २ बार पाठ करने से प्रकृति याग में पञ्चदश सामिधेनी पूर्व विधान कीगई हैं, अब उक्त अप्रकरण पठित वाक्य में जो प्रथम तथा अन्तिम सामिधेनी का चार २ बार उच्चारण करके सप्तदश सामिधेनी विधान की हैं वह प्रकृति याग में उच्चारण के लिये की हैं किंवा विकृति याग में ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि प्रकृति याग प्रथम ही पञ्चदश सामिधेनियों से रुका हुआ है उसमें सप्तदश सामिधेनी का निवेश नहीं होसक्ता और

कदाचित् पञ्चदश कदाचित् सप्तदश इस प्रकार विकल्प मानकर निवेश करने में कोई नियामक नहीं है और विकृति याग में प्रथम अप्राप्त होने के कारण सप्तदश सामिधेनी का विधान होसक्ता है।

तात्पर्य्य यह है कि यदि पर्वाधिकरण के अनुसार पञ्चदश तथा सप्तदश दोनों सामिधेनियों की संख्याओं का प्रकृति याग में ही निवेश माना जाय तो कदाचित् पञ्चदश कदाचित् सप्तदश इस प्रकार विकल्प मानना पड़ता है और वह अष्ट दोषों से ग्रसित होने के कारण बिना किसी प्रबल प्रमाण के आदरणीय नहीं होसकता, विकल्प पक्ष में होने वाले आठ दोषों का निरूपण आगे किया जायगा, और विकृति याग में यद्यपि चोदक वाक्य के बल से पञ्चदश सामिधेनियों की प्राप्ति होसक्ती है तथापि वह आनुमानिक होने के कारण अप्रकरण पठित उक्त वाक्य से विहित प्रत्यक्ष सप्तदश सामिधेनियों की अपेक्षा निर्बल है अर्थात् जो जिसकी विकृति होती है उसमें उसके धर्मों की अवश्य प्राप्ति होती है जैसाकि मृत्तिकारूप प्रकृति के धर्मों की घटरूप उसकी विकृति में प्राप्ति देखी जाती है, इस प्रकृति याग का यह याग भी विकृति है और प्रकृति में पञ्चदश सामिधेनियें हैं, इसलिये वह विकृति याग में भी होनी चाहियें, इस प्रकार प्रकृति याग में विहित पञ्चसामिधेनियों की जो चोदक वाक्य से विकृति याग में प्राप्ति होती है वह अनुमान सिद्ध होने से "**आनुमानिक**" और प्रत्यक्ष वाक्य विहित होने से सप्तदश सामिधेनियें प्रत्यक्ष हैं "**प्रत्यक्षानुमान प्राप्तयोश्चप्रत्यक्ष प्राप्तं बलीयः**" = प्रत्यक्ष प्राप्त तथा अनुमानप्राप्त के मध्य प्रत्यक्षप्राप्त बली होता है, इस

न्याय के अनुसार प्रत्यक्ष प्राप्त सप्तदश सामिधेनियों को छोड़कर अनुमानप्राप्त पञ्चदश सामिधेनियें आदरणीय होसक्ती हैं, इसलिये उक्त अप्रकरण पठित वाक्य से जो सप्तदश सामिधेनियें विधान की हैं वह विकृति याग के लिये की हैं प्रकृति याग के लिये नहीं ।

सं०—अब नैमित्तिक सप्तदश सामिधेनियों का प्रकृति में विधान कथन करते हैं :—

नैमित्तिकन्तु प्रकृतौ तद्विकारः संयोगविशेषात् । १० ।

पद०—नैमित्तिकं । तु । प्रकृतौ । तद्विकारः । संयोगविशेषात् ।

पदा०—"तु" शब्द सिद्धान्त सूचना के लिये आया है (नैमित्तिकं) वैश्य के निमित्त से विहित सप्तदश सामिधेनियों का (प्रकृतौ) प्रकृति याग में निवेश है विकृति में नहीं और वह सप्तदश सामिधेनियें (संयोगविशेषात्) वाक्य विशेष से विधान होने के कारण (तद्विकारः) प्रथम विहित पञ्चदश सामिधेनियों का बाधक हैं ।

भाष्य—"**सप्तदशानुब्रूयाद् वैश्यस्य**"=वैश्य के याग में सप्तदश सामिधेनी का उच्चारण करे, इस वाक्य में वैश्य निमित्तक सप्तदश सामिधेनी का विधान किया है उसका प्रकृति में निवेश है किंवा विकृति में ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि पूर्वाधिकरण के अनुसार सप्तदश सामिधेनियों का विकृति याग में निवेश होना चाहिये प्रकृति

याग में नहीं, क्योंकि वह पूर्व ही प्रथम विहित पञ्चदश सामिधेनियों से अवरुद्ध है तथापि पूर्वाधिकरण के अनुसार विकृति याग में उसका निवेश नहीं होसक्ता, क्योंकि पूर्वाधिकरण में नैमित्तिक सामिधेनियों का निवेश निर्णय नहीं किया गया और उक्त सप्तदश सामिधेनियें नैमित्तिक हैं और प्रकृति याग में जो प्रथम पञ्चदश सामिधेनियें विधान की हैं वह भी नैमित्तिक नहीं हैं और नैमित्तिक न होने से वह उक्त सप्तदश सामिधेनियों की विरोधी भी नहीं होसक्तीं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकृति याग में जो प्रथम पञ्चदश सामिधेनियें विधान की हैं उनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य आदि के यजमान होने का कोई नियम नहीं और उक्त वाक्य में सप्तदश सामिधेनियें विधान कीगई हैं उनमें वैश्य निमित्त है, इस प्रकार निमित्त के बिना विधान कीगईं पञ्चदश सामिधेनियों का वैश्य के निमित्त से विहित सप्तदश सामिधेनियों के साथ कोई विरोध नहीं होसक्ता, क्योंकि एक निमित्त से विधान होने पर ही परस्पर विरुद्ध संख्याओं का विरोध होसकता है और विरोध के न होने से प्रकृति याग में ही वैश्य यजमान होने पर पञ्चदश के स्थान में सप्तदश सामिधेनियों का विधान होसक्ता है, इसमें कोई दोष नहीं।

सार यह है कि उक्त सप्तदश सामिधेनियें जो वैश्य के निमित्त से विधान कीगई हैं वह प्रकृति याग के प्रकरण में पठित हैं और प्रकरण में पठित होने से उनमें वैश्य यजमान होने पर वैश्य निमित्तक सप्तदश सामिधेनियों का निवेश होसक्ता है, क्योंकि प्रथम विहित पञ्चदश सामिधेनियें सर्वसाधारण होने से नैमित्तिक सामिधेनियों के प्रवेश में प्रतिबन्धक नहीं होसक्तीं, इसलिये यह

सिद्ध हुआ कि वैश्य के निमित्त से जो सप्तदश सामिधेनियें विधान कीगई हैं उनका प्रकृति याग में निवेश है विकृति में नहीं ।

सं०—अब अग्न्याधान को "पवमान" आदि इष्टियों की अनङ्गता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

इष्ट्यर्थमग्न्याधेयं प्रकरणात् । ११ ।

पद०—इष्ट्यर्थम् । अग्न्याधेयं । प्रकरणात् ।

पदा०—(अग्न्याधेयं) अग्न्याधान (इष्ट्यर्थं) पवमान आदि इष्टियों का अङ्ग है, क्योंकि (प्रकरणात्) उनके प्रकरण में उसका विधान किया गया है ।

भाष्य—"**अग्नये पवमानायाष्टा कपालं निर्वपेत्**" = परमपवित्र प्रकाश स्वरूप परमात्मा के उद्देश से आठ कपालों में पकाये गये पुरोडाश का प्रदान करे, इत्यादि वाक्यों से विहित "पवमान" आदि संज्ञक इष्टियों के प्रकरण में "**ब्राह्मणोवसन्ते ऽग्निमादधीत**" = वसन्त ऋतु में ब्राह्मण "अग्न्याधान" करे, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो "अग्न्याधान" विधान किया है वह "पवमान" आदि संज्ञक इष्टियों का अङ्ग है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जिस अङ्ग का जिसके प्रकरण में विधान किया जाता है वह उसी का अङ्ग होता है यह नियम है, "अग्न्याधान" कर्म संस्काररूप होने से अङ्ग है और उसका विधान उक्त इष्टियों के प्रकरण में किया गया है इसलिये वह उनका अङ्ग है अनङ्ग नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि "अग्न्याधान" आहवनीय आदि अग्नियों का संस्कार रूप अङ्ग है इष्टियों का नहीं तथापि वह अग्नियों के द्वारा इष्टियों का अङ्ग होसक्ता है और आहवनीयादि अग्नियें पवमान आदि संज्ञक इष्टियों में चोदकवाक्य द्वारा "दर्शपूर्णमास" याग में प्राप्त हैं और वह इष्टियों का अङ्ग सर्वसम्मत है, उनके अङ्ग होने से तद्द्वारा "अग्न्याधान" भी इष्टियों का अङ्ग होसक्ता है, क्योंकि अङ्ग का अङ्ग भी अङ्गी का अङ्ग ही होता है यह नियम है, और अग्न्याधान को उक्त इष्टियों का अङ्ग मानने से प्रकरण भी अनुकूल होजाता है ।

सार यह निकला कि जो जिसके लिये हो वह उसका अङ्ग होता है, अग्न्याधान का आहवनीय आदि अग्नियों के लिये और उक्त अग्नियों का इष्टियों के लिये होना सर्वसम्मत है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, उनको और इष्टियों के लिये होने से अग्न्याधान भी उनके लिये होसक्ता है क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध की भांति परम्परा सम्बन्ध भी अङ्गाङ्गिभाव का नियामक है, जो सम्बन्ध दूसरे के द्वारा नहीं उसका नाम **"साक्षात्सम्बन्ध"** और जो दूसरे के द्वारा होता है उसका नाम **"परम्परासम्बन्ध"** है, अग्न्याधान का पवमानादि संज्ञक इष्टियों के साथ साक्षात् सम्बन्ध न होने पर भी आहवनीयादि के द्वारा होने से परम्परा सम्बन्ध विद्यमान है जिससे वह उनका अङ्ग होसक्ता है, इसलिये सिद्ध हुआ कि पवमान आदि इष्टियों के प्रकरण में जो "अग्न्याधान" विधान किया गया है वह उक्त इष्टियों का अङ्ग है अनङ्ग नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

नवा तासां तदर्थत्वात् । १२ ।

पद०—न । वा । तासां । तदर्थत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तासां) वह इष्टियें (तदर्थत्वात्) आहवनीयादि अग्नियों के संस्कारार्थ विधान कीगई हैं ।

भाष्य—यदि "आहवनीय" आदि अग्नियें "पवमानादि" संज्ञक इष्टियों के लिये होतीं तो अग्न्याधान भी अग्नियों के द्वारा उक्त इष्टियों का अङ्ग होता, परन्तु उक्त अग्नियें उक्त इष्टियों के लिये नहीं प्रत्युत जैसे आधान अग्नियों के लिये है वैसे ही पवमानादि संज्ञक इष्टियें भी उनके लिये हैं अर्थात् संस्कारों से युक्त अग्नियें ही अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के अनुष्ठानार्ह होती हैं अन्यथा नहीं, और उनका संस्कारक कर्म जैसे अग्न्याधान है वैसे ही पवमान आदि संज्ञक इष्टियें भी संस्कारक कर्म हैं और जो संस्कारक कर्म होते हैं वह "अङ्ग" होते हैं यह नियम है, अङ्ग, गुण तथा शेष यह तीनों और आधान, अग्न्याधान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इस प्रकार अङ्गत्वरूप से समानता होने के कारण दोनों का परस्पर सम्बन्ध होना असंभव है, जैसाकि मी० ३ । १ । २२ में कहा है कि "**गुणानाञ्च परार्थत्वादसम्बन्धः समत्वात्**"=समान होने से गुणों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता और जिनका परस्पर सम्बन्ध ही नहीं होता उनका अङ्गाङ्गिभाव कैसे होसकता है ।

सार यह निकला कि अग्न्याधान तथा पवमानइष्टि यह दोनों आहवनीय आदि अग्नियों के संस्कार विधान किये गए हैं

परस्पर एक दूसरे के लिये नहीं, और जो उक्त इष्टियों के प्रकरण में आधान का विधान किया गया है वह दोनों को अग्नि संस्कारार्थ होने के अभिप्राय से है परस्पर अङ्गाङ्गिभाव के अभिप्राय से नहीं, यदि अग्न्याधान को उक्त इष्टियों का अङ्ग मानाजाय तो उनको फलवाली अवश्य मानना पड़ता है, क्योंकि दोनों के अफल होने से **"फलवत्सान्निधावफलं तदङ्गं"**= फल वाले के समीप पठित अफल उसका अङ्ग होता है, इस न्याय के अनुसार वह इष्टियों का अङ्ग नहीं होसक्ता और उक्त दोनों का अफल होना सर्वसम्मत है, और अफलों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होसक्ता यह भी नियम है, इसलिये पवमानआदि संज्ञक इष्टियों के प्रकरण में जो अग्न्याधान विधान किया गया है वह उनका अङ्ग नहीं किन्तु अनङ्ग है ।

सं०—अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :—

लिङ्गदर्शनाच्च । १३ ।

पद०—लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—**"जीर्य्यति वा एष आहितः पशुर्यदग्निः; तदेतान्येव अग्न्याधेयस्य हवींषि संवत्सरे निर्वपेत्, तेन वा एष न जीर्य्यति, तेनैनंपुनर्नवं करोति"**= वह पशु के समान गृह में आधान कीगई अग्नि जीर्णावस्था को प्राप्त होजाती है जिसके संस्कारार्थ प्रतिवर्ष आरम्भ में पवमानेष्टियें नहीं कीजातीं, इसलिये प्रति संवत्सर आरम्भ में ही उक्त इष्टियें

करे, क्योंकि उनके करने से वह नूतन होजाती हैं और जीर्णावस्था को प्राप्त नहीं होतीं, इस वाक्य में जो उक्त इष्टियों के न होने से आधान कीगई अग्नि का जीर्ण होना और जीर्ण से पुनः नूतन होजाना कथन किया है वह उक्त इष्टियों के संस्कारार्थ होने में लिङ्ग है, यदि उक्त इष्टियें आधान कीगई आहवनीय आदि अग्नियों का संस्काररूप न होतीं तो उनके न होने से उक्त अग्नियों का जीर्णावस्था को प्राप्त होजाना तथा प्राप्त होने से नूतन होजाना कथन न किया जाता परन्तु कथन किया है, इससे अनुमान होता है कि जैसे स्नान के न करने से मनुष्य का शरीर जीर्ण तथा प्रतिदिन प्रातः आरंभ समय नियमपूर्वक स्नान होने से नूतन होजाता है और वह शरीर का संस्कार कर्म सर्वसम्मत है वैसे ही उक्त इष्टियें भी उक्त अग्नियों का संस्कार कर्म हैं।

तात्पर्य्य यह है कि प्रतिदिन नियमपूर्वक प्रातः समय स्नान आदि के करने से संस्कृत हुआ मनुष्य का शरीर प्रत्येक कार्य्य के सिद्ध करने में सोत्साह तथा समर्थ होजाता है वैसेही उक्त इष्टियों को प्रतिवर्ष आरम्भ में नियमपूर्वक करदेने से आधान कीगई अग्नियें भी अग्निहोत्रादि सम्पूर्ण वैदिक कर्म के सिद्ध करने में समर्थ होजाती हैं, उक्त कर्म के सिद्ध करने में समर्थ होने का नाम ही नूतन होना है और वह उक्त इष्टियों को स्नानादि की भांति संस्कार कर्म माने विना नहीं होसक्ता, और आहित=आधान कीगई अग्नियों का प्रत्येक वैदिक कर्म के लिये समर्थ होना आवश्यक है।

सार यह निकला कि जैसे गर्भाधान की भांति अग्न्याधान संस्कार कर्म है वैसेही स्नानादि की भांति उक्त इष्टियें भी संस्कार कर्म हैं और दोनों को संस्कार कर्म होने से एक दूसरे का अङ्ग

किंवा अङ्गी होना असम्भव है इसलिये अग्न्याधान उक्त इष्टियों का अङ्ग नहीं किन्तु दोनों आहवनीयादि अग्नि के लिये होने से उनका अङ्ग है यही मानना ठीक है ।

सं०–अब अग्न्याधान को प्रकृति विकृति सम्पूर्ण वैदिक कर्मों का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

तत्प्रकृत्यर्थं यथान्येऽनारभ्यवादाः । १४ ।

पद०–तत् । प्रकृत्यर्थं । यथा । अन्ये । अनारभ्यवादाः ।

पदा०—(यथा) जैसे (अनारभ्यवादाः) अप्रकरणपठित "यस्यखादिरः" आदि वाक्यों से विधान किये गये (अन्ये) खादिरतादि धर्म प्रकृति याग के लिये हैं वैसेही (तत्) अग्न्याधान भी (प्रकृत्यर्थं) प्रकृति याग के लिये है ।

भाष्य–वेदोक्त विधि से आहवनीय आदि अग्नियों के स्थापन करने का नाम "अग्न्याधान" है, वह प्रकृति याग के लिये ही है किंवा प्रकृति विकृतिरूप सम्पूर्ण वैदिक कर्मों के लिये है अर्थात् आधान कीगई अग्नि में केवल प्रकृति याग ही होना चाहिये अथवा प्रकृति विकृति दोनों प्रकार के याग होने चाहिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे खादिरतादि किसी प्रकृति तथा विकृति याग के प्रकरण में पठित नहीं वैसेही अग्न्याधान भी पवमान इष्टियों के प्रकरण में पठित होने पर भी किसी प्रकृति तथा विकृति याग के प्रकरण में पठित नहीं है और उक्त दोनों के प्रकरण में अपठित होने के कारण जैसे खादिरतादि प्रकृति याग के लिये ही हैं विकृति याग के लिये नहीं वैसेही अग्न्याधान भी प्रकृति याग के लिये ही होना चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि अप्रकरण पठित होने के कारण खादिरतादि की भांति अग्न्याधान केवल प्रकृति याग के लिये ही है, इसलिये आधान कीगई अग्नि में केवल प्रकृति संज्ञक याग ही होने चाहियें विकृति संज्ञक नहीं ।

सार यह निकला कि अग्न्याधान केवल प्रकृति याग का अङ्ग है प्रकृति विकृति दोनों का नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

सर्वार्थं वाऽऽधानस्य स्वकालत्वात् । १५ ।

पद०-सर्वार्थं । वा । आधानस्य । स्वकालत्वात् ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वार्थं) अग्न्याधान प्रकृति विकृति सम्पूर्ण वैदिक कर्मों के लिये है, क्योंकि (आधानस्य) वह (स्वकालत्वात्) अपने काल में विधान किया गया है ।

भाष्य-प्रकृति तथा विकृति याग के विधान का जो काल है उसमें अग्न्याधान का विधान नहीं किया किन्तु स्वतन्त्र वसन्तादि ऋतुओं में विधान किया है, यदि वह प्रकृति किंवा विकृति याग का अङ्ग होता तो अवश्यमेव उनके मध्य किसी एक काल में उसका विधान किया जाता परन्तु उसका किसी याग के प्रकरण में विधान न करके स्वतन्त्र "वसन्त" आदि काल विधान किये हैं इससे स्पष्ट है कि वह वैदिककर्ममात्र का अङ्ग है ।

तात्पर्य्य यह है कि जितने अग्निहोत्रादि वैदिक कर्म हैं उन सब का मूल कारण संस्कृत अग्नि हैं, आहवनीयादि नामक अग्नियों का नाम "**संस्कृताग्नि**" और लौकिक अग्नि का नाम

असंस्कृताग्नि" है, संस्कार युक्त को सस्कृत कहते है, अग्नि का संस्कार अग्न्याधान कर्म है, क्योंकि उसके होने से वह संस्कृत कहलाती है, जिस संस्कार कर्म से संस्कृत हुई अग्नि सम्पूर्ण वैदिक कर्मों के योग्य होजाती है वह अग्न्याधान संस्कार सम्पूर्ण वैदिक कर्मों के लिये है, इसमें ननु नच की आवश्यकता नहीं, और प्रकृति याग जैसे वैदिक कर्म हैं वैसेही विकृति याग भी वैदिक कर्म हैं, दोनों वैदिक कर्म समान होने से अग्न्याधान केवल प्रकृति याग का ही अङ्ग है विकृति याग का नहीं, यह कल्पना कदापि नहीं होसकती और न ऐसी कल्पना करने में कोई प्रमाण उपलब्ध होता है कि जिसके सहारे उक्त कल्पना कीजाय, और जो यह कथन किया है कि जैसे अपकरणपठितखादिरतादि धर्म प्रकृतिमात्र के लिये है विकृति के लिये नहीं वैसे ही अग्न्याधान भी प्रकृति मात्र के लिये होना चाहिये, सो ठीक नहीं, क्योंकि उनका प्रकृति में विधान मानने से विकृति में उनकी प्राप्ति स्वयं होजाती है, इसलिये विकृति में उनके विधान की आवश्यकता नहीं, परन्तु अन्याधान में यह नहीं कहा जासक्ता, क्योंकि वह " यज्जुहोति तदाहवनीये जुहोति "=जो हवन हो वह आहवनीय अग्नि में ही होना चाहिये, इस वाक्य विशेष के बल से अग्नियों के प्राप्त होने के कारण स्वयं प्राप्त है और अग्नियों के सम्बन्ध बिना केवल अन्याधान की चोदक वाक्य के द्वारा प्राप्ति भी नहीं होसक्ती इसलिये केवल प्रकृति याग के लिये ही उसका मानना व्यर्थ है ।

सार यह निकला कि अन्याधान कर्म साक्षात् किसी वैदिक कर्म का अङ्ग नहीं किन्तु आहवनीयादि अग्नियों के द्वारा है और वह अग्नियें प्रकृति तथा विकृति सर्वप्रकार के कर्मों में विद्यमान हैं,

क्योंकि उनके विना कोई वैदिक कर्म शास्त्रविहित फल का जनक नहीं होसक्ता और उनके विद्यमान होने से उनके संस्कार का "आधान" भी सर्वत्र होना चाहिये, और जो सर्वत्र विद्यमान है उसका संकोच विना किसी प्रमाण के कदापि नहीं होसक्ता, इसलिये अग्न्याधान कर्म अग्नियों द्वारा प्रकृति विकृति सम्पूर्ण वैदिक कर्मों का अङ्ग है, केवल प्रकृति कर्म का ही नहीं, यही पक्ष समीचीन है।

सं०—अब पवमान इष्टियों की असंस्कृत अग्नि में कर्तव्यता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

तासामग्निः प्रकृतितः प्रयाजवत्स्यात् ।१६।

पद०—तासाम् । अग्निः । प्रकृतितः । प्रयाजवत् । स्यात् ।

पदा०—(प्रयाजवत्) जैसे "प्रयाज" संज्ञक होम (प्रकृतितः) "दर्शपूर्णमास" याग से प्राप्त "आहवनीय" आदि संस्कृत अग्नि में किये जाते हैं वैसे ही (तासां) "पवमान" इष्टियें भी (अग्निः) उक्त संस्कृत अग्नि में ही (स्यात्) होनी चाहियें।

भाष्य—"पवमान" इष्टियें संस्कृताग्नि में होनी चाहियें किंवा असंस्कृताग्नि में? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीय पक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जो २ इष्टियां होती हैं वह सब संस्कृताग्नि में ही कीजाती हैं और "पवमान" इष्टियें भी इष्टियें हैं यह भी प्रयाज की भांति संस्कृताग्नि में ही होनी चाहियें असंस्कृत में नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे प्रथम "अग्न्याधान" पश्चात् आधान कीगई आहवनीय आदि अग्नियों का पवमान आदि इष्टियों से संस्कार तदनन्तर "दर्शपूर्णमास" आदि प्रधान इष्टियों में विनियुक्त हुई उक्त संस्कृताग्नियों में प्रयाज आदि अङ्ग इष्टियें होती हैं

वैसेही पवमान इष्टियें भी " दर्शपूर्णमास " आदि प्रधान इष्टियों में विनियोग को प्राप्त हुई उक्त संस्कृताग्नियों में ही होनी उचित हैं, क्योंकि इष्टित्वधर्म के समान होने पर अग्नि की विषमता बिना किसी प्रबल प्रमाण के नहीं मानीजासक्ती, इसलिये उक्त इष्टियें संस्कृताग्नि में ही कर्तव्य हैं, असंस्कृताग्नि में नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

नवा तासां तदर्थत्वात् । १७ ।

पद०-न । वा । तासां । तदर्थत्वात् ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (तासां) " पवमान " इष्टियें (तदर्थत्वात्) अग्नियों के संस्कारार्थ विधान कीगई हैं ।

भाष्य-यद्यपि " इष्टित्व" धर्म के समान होने के कारण प्रयाज की भांति पवमानइष्टियों में दर्शपूर्णमास रूप प्रकृति याग से संस्कृताग्नियों की प्राप्ति होनी चाहिये और उनकी प्राप्ति होने से वह उनमें ही कर्तव्य होसक्ती हैं तथापि उक्त इष्टियों में प्रकृति याग से संस्कृत अग्नियों की प्राप्ति नहीं होसक्ती क्योंकि अग्न्याधान की भांति पवमानइष्टियें भी संस्कार रूप हैं, उनके हुए बिना अग्नियें संस्कृत ही नहीं होसक्तीं, और संस्कृत न होने के कारण पवमान इष्टियों में उनकी प्राप्ति कैसे होसक्ती है ।

तात्पर्य्य यह है कि यदि पवमान इष्टियों के लिये प्रकृति याग से संस्कृत अग्नियों की प्राप्ति मानीजाय तो इनके होने से अग्नियें संस्कृत और अग्नियों के संस्कृत होने से पवमान इष्टियें, इस प्रकार अन्योऽन्याश्रय दोष आजाता है । परस्पर की सिद्धि में परस्पर की आकांक्षा का नाम "अन्यो-

ऽन्याश्रय" दोष है "अन्योऽन्याश्रय" तथा "परस्पराश्रय" यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, अन्योऽन्याश्रय दोष के आजाने से उक्तार्थ की सिद्धि होनी असंभव है ।

सार यह निकला कि प्रयाज दर्शपूर्णमास याग का अङ्ग है और अङ्ग में अङ्गी याग से संस्कृत अग्नियों की प्राप्ति होसक्ती है परन्तु पवमान इष्टियें उक्त याग का अङ्ग नहीं हैं और अङ्ग न होने से उनमें प्रयाज की भांति प्रकृति याग से संस्कृत अग्नियों की प्राप्ति नहीं होसक्ती, क्योंकि पवमान इष्टियों के होने पर अग्नियें संस्कृत और संस्कृत अग्नियों का प्रकृति याग में विनियोग होने के अनन्तर उससे चोदक वाक्य के द्वारा उक्त इष्टियों में प्राप्ति होनी सर्वथा असम्भव है, अधिक क्या जिसके बिना अग्नियें संस्कृत नहीं होसक्तीं किन्तु जिसके सिद्ध होने से अग्नियें संस्कृत होती हैं उनकी सिद्धि के लिये संस्कृत अग्नियों की प्राप्ति कदापि नहीं होसक्ती और प्राप्ति न होने के कारण वह उक्त अग्नियों से नहीं कीजासक्तीं और असंस्कृत अग्नियें सुगमता से प्राप्त होसक्ती हैं और उनके प्राप्त होने से उक्त इष्टियों का उनमें भले प्रकार होना सम्भव है इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि "पवमान" इष्टियें असंस्कृत लौकिक अग्नियों से होनी चाहियें, आहवनीय आदि संस्कृत अग्नियों से नहीं ।

सं०—अब "उपाकरण" आदि को अग्नीषोमीय पशु का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

तुल्यः सर्वेषां पशुविधिः प्रकरणाविशेषात् । १८ ।

पद०—तुल्यः। सर्वेषां। पशुविधिः। प्रकरणाविशेषात्।

पदा०—(पशुविधिः) पशु के उद्देश से विधान किये गये उपाकरण आदि धर्म (सर्वेषां) अग्नीषोमीयादि सब पशुओं के (तुल्यः) समान हैं, क्योंकि (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण से उनका सब पशुओं के साथ समानरूप से सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग में तीन पशु दान किये जाते हैं जिनमें एक को "अग्नीषोमीय" दूसरे को "सवनीय" तथा तीसरे को "अनुबन्ध्य" कहते हैं, प्रकाश तथा सोम्यस्वभाव परमात्मा के उद्देश से "औपवस्थ्य" नामक दिन में जिसका दान किया जाता है उसका नाम "अग्नीषोमीय" "सौत्य" नामक दिन में जिसका दान किया जाता है उसका नाम "सवनीय" "अवभृथ" नामक इष्टि के अनन्तर जिसका दान किया जाता है उसका नाम "अनुबन्ध्य" है। जिस दिन याग का आरम्भ किया जाता है उसको "औपवस्थ्य" तथा जिस दिन "सोम" कूट कर हवन के लिये रस निकाला जाता है उसको "सौत्य" कहते हैं, या यों कहो कि प्रथम दिन का नाम "औपवस्थ्य" और द्वितीय दिनका नाम "सौत्य" है, मुख्य याग के समाप्त होजाने पर विधिपूर्वक "अवभृथ" नामक स्नान के अनन्तर जो उक्त याग का अङ्गभूत "इष्टि" कीजाती है उसको "अवभृथेष्टि" अथवा "अवभृथ" कहते हैं, उक्त तीनों पशुओं का विधान करके "धिष्ण्य" नामक वेदि के निर्माणान्तर "उपाकरण" "पर्य्यग्निकरण" आदि पशुधर्म

विधान किये हैं "सदो" नामक मण्डप तथा "आग्नीध्र" नामक शाला में जो मृत्तिका और शर्करा दोनों मिलाकर हस्त परिमाण वेदियें बनाई जाती हैं उनको "धिष्ण्य" तथा "प्रजापतेर्जायमानः" और "इमंपशुं" इन दोनों मन्त्रों से पशु के स्पर्श को "उपाकरण" कहते हैं, पर्य्यग्निकरण का अर्थ पीछे कर आए हैं, उक्त धर्म अग्निषोमीयादि सब पशुओं के समानरूप से विधान किये हैं किंवा उनके मध्य किसी एक के ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उक्त तीनों पशुओं का विधान करके उपाकरण आदि धर्म विधान किये हैं, प्रकरण के समान होने से उक्त पशु धर्मों का भी समानरूप से सम्बन्ध होना उचित है, क्योंकि प्रकरण भेद किंवा अन्य किसी प्रबल प्रमाण के बिना सबके मध्य किसी एक में उक्त धर्मों के विधान की कल्पना नहीं कीजासक्ती ।

तात्पर्य्य यह है कि यदि उक्त धर्म अग्नीषोमीय आदि के मध्य किसी एक पशु के प्रकरण में विहित होते तो उनका किसी एक में विधान माना जाता परन्तु ऐसा विधान नहीं किया, किन्तु साधारण रूप से विधान किया है और साधारण रूप से विधान किये गये धर्म का विशेष पशु व्यक्ति में पर्य्यवसान कल्पना करना ठीक नहीं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो उपाकरण आदि पशुधर्म विधान किये गए हैं वह अग्नीषोमीय आदि सब पशुओं के विधान किये हैं, उनके मध्य किसी एक के नहीं ।

सं०—अब दूसरा पूर्वपक्ष करते हैं :—

स्थानाच्च पूर्वस्य । १९ ।

पद०-स्थानात् । च । पूर्वस्य ।

पदा०-" च " शब्द " तु " शब्द के अर्थ में आने से पूर्व-पक्ष का सूचक है (पूर्वस्य) उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के होने चाहियें, क्योंकि (स्थानात्) उसकी सन्निधि में उनका पाठ है ।

भाष्य-जो धर्म जिसकी सन्निधि में विधान किया गया है वह उसी का धर्म होसक्ता है दूसरे का नहीं, उपाकरण आदि धर्म यदि " अग्नीषोमीय " आदि सब पशुओं की सन्निधि में विधान किये जाते तो वह सबके धर्म हैं इस प्रकार की कल्पना होसकती, परन्तु इनका सबकी सन्निधि में विधान नकरके केवल "अग्नीषोमीय" नामक प्रथम पशु की सन्निधि में विधान किया है अर्थात् "सौत्य नामक दिन से प्रथम " औपवस्थ्य " नामक दिन में " धिष्ण्य " संज्ञक वेदियों के निर्माणानन्तर उक्त धर्मों का विधान किया गया है, इससे उनका " औपवस्थ्य " स्थान स्पष्ट है और अग्नीषोमीय पशु का भी वही स्थान है, क्योंकि उसका भी उसी दिन दान किया जाता है, स्थान, क्रम, सन्निधि तथा सामीप्य यह चारो पर्य्याय शब्द हैं, इस प्रकार दोनों का एक स्थान होने से स्पष्ट होता है कि उक्त धर्म यदि सब पशुओं के होते तो अग्नीषोमीय पशु की सन्निधि में कैसे विधान किये जाते, परन्तु किये हैं, इसलिये अनुमान होता है कि वह धर्म उसी के विधान किये हैं, सबके नहीं ।

सं०-अब तीसरा पूर्वपक्ष करते हैं :-

श्वस्त्वेकेषां तत्र प्राकृश्रुतिर्गुणार्था । २० ।

पद०-श्वः । तु । एकेषां । तत्र । प्राकृश्रुतिः । गुणार्था ।

पदा०-"तु"शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है(श्वः)उक्त

धर्म "सवनीय" पशु के हैं, क्योंकि (एकेषां) एक शाखा में उनका उसके साथ स्पष्ट सम्बन्ध पाया जाता है और (तत्र) उक्त धर्मों का (प्राक्श्रुतिः) जो "सौत्य" दिन से प्रथम औपवसथ्य दिन में श्रवण है (गुणार्था) वह गौण है।

भाष्य-"आश्विनं ग्रहंगृहीत्वा त्रिवृता यूपं परिवीयाग्नेयं सवनीयं पशुमुपाकरोति"="आश्विन" संज्ञक पात्र को ग्रहण करके त्रिगुण रज्जू से यूप को लपेटे और लपेट कर प्रकाशस्वरूपअग्निपरमात्मा के उद्देश से देय सवनीय पशु का "उपाकरण" नामक संस्कार करे, इस वाक्य में स्पष्ट रूप से सवनीय पशु का "उपाकरण" संस्कार विधान किया है, यदि अग्निषोमीय का ही उक्त संस्कार अभिप्रेत होता तो सवनीय का नाम न लिया जाता और जो उक्त धर्मों का विधान "सौत्य" दिन से प्रथम "औपवसथ्य" दिन में किया है वह मुख्य नहीं किन्तु गौण है अर्थात् उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के हैं इस अभिप्राय से नहीं किया गया किन्तु सौत्य दिन में देय पशु के सम्बन्धार्थ प्रथम ही उनका विधान किया गया है, यह लोक सिद्ध बात है कि कहीं २ प्रथम धर्मों का विधान करके पश्चात् धर्मी का विधान और कचित् धर्मी का विधान करके पश्चात् धर्मों का विधान किया जाता है।

तात्पर्य्य यह है कि सौत्यदिन औपवसथ्य दिन के अत्यन्त सन्निहित है और उसके अत्यन्त सन्निहित होने से उसमें प्रदेय सवनीय पशु भी अत्यन्त सन्निहित है, इस अत्यन्त सन्निधिरूप गुण के अनुसन्धान से ही औपवसथ्य दिन में उक्त धर्म विधान किये गये हैं, अग्नीषोमीय पशु के अभिप्राय से नहीं।

सार यह निकला कि यद्यपि उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु की सन्निधि में विधान किये गये हैं इससे उनको अग्नीषोमीय पशु का धर्म होना चाहिये तथापि वह सन्निधि गौण होने से विनियोजक नहीं होसक्ती और सवनीय पशु का उपाकरण एक शाखा में साक्षात् श्रुत है और प्रकरण से वह धर्म सवनीय पशु के साथ विनियोग को प्राप्त होसक्ते हैं, क्योंकि प्रकरण सर्वसाधारण है, इनको छोड़ कर केवल सन्निधि मात्र से उनको अग्नीषोमीय पशु का धर्म नहीं मानसक्ते, इसलिये उक्तधर्म सवनीय पशु के हैं "अग्नीषोमीय" के नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं:-

तेनोत्कृष्टस्य कालविधिरितिचेत् । २१ ।

पद०-तेन । उत्कृष्टस्य । कालविधिः । इति । चेत् ।

पदा०--(तेन) आश्विन वाक्य में (उत्कृष्टस्य) उत्तरभावी "सवनीय" पशु के (कालविधिः) अनुष्ठान काल का विधान है (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-"**आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा**" इस वाक्य में सवनीय पशु का उपाकरण धर्म विधान नहीं किया किन्तु उपाकरण का अनुष्ठान काल विधान किया है कि सवनीय पशु का उपाकरण संस्कार "आश्विन" ग्रह ग्रहण के अनन्तर होना चाहिये, यदि उक्त वाक्य में काल का विधान विवक्षित न होता तो "क्त्वा" प्रत्यय का प्रयोग न किया जाता, परन्तु उसमें उक्त प्रत्यय का प्रयोग किया है इससे स्पष्ट है कि उक्त वाक्य काल मात्र का विधायक है संस्कार का नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि "समानकर्तृकयोः पूर्वकाले" अष्टा० ३ । ४ । २१ = जिन दो क्रियाओं का कर्ता एक है उनके मध्य पूर्वकालवर्ती क्रिया में "क्त्वा" प्रत्यय होता है, इस सूत्र के अनुसार उक्त वाक्यान्तर्गत "गृहीत्वा" पद में जो "क्त्वा" प्रत्यय है वह पूर्वकाल में हुआ है और "उपाकरोति" पद से पूर्वविहित "उपाकरण" रूप संस्कार का अनुवाद है और वह केवल काल के विधानार्थ किया गया है, यदि उक्त आश्विन वाक्य में अनुवाद न मानकर विधान ही मानाजाय तो पूर्व विधान सर्वथा व्यर्थ होजाता है, सो ठीक नहीं, प्रत्युत उसकी अपेक्षा इस वाक्य में पूर्व विहित का अनुवाद मानना ही ठीक है, क्योंकि उसके मानने से दोनों वाक्य सार्थक होजाते हैं ।

सार यह निकला कि "आश्विन" वाक्य में केवल उपाकरण का ग्रहण है पर्य्यग्निकरण आदि का नहीं, यदि इसको अनुवादक न मानकर विधायक माना जाय तो पर्य्यग्निकरण आदि के लिये पूर्वविधायक वाक्य का भी आश्रयण करना पड़ता है, क्योंकि इस वाक्य से उनका विधान नहीं पाया जाता, जब इस प्रकार इस वाक्य को विधायक मानकर भी पूर्व वाक्य को विधायक तथा इष्टसिद्धि के लिये उसका वहां से सवनीय स्थान में उत्कर्ष भी मानना पड़ता है तब पूर्व वाक्य को विधायक और आश्विन वाक्य को अनुवादक मान लेना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि दोनों के विधायक मानने में गौरव तथा वाक्यभेद दोष है, यह कदापि नहीं होसक्ता कि एक ही वाक्य काल तथा संस्कार दोनों अर्थों का एक ही काल में विधान करे, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो उपाकरण आदि पशुधर्म विधान किये गये हैं वह आग्नीषोमीय के किये हैं सवनीय के नहीं ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का निराकरण करते हैं :-

नैकदेशत्वात् । २२ ।

पद०-न । एकदेशत्वात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (एकदेशत्वात्) एकदेश के विधान से समुदाय का विधान पाया जाता है ।

भाष्य-यद्यपि "आश्विन" वाक्य में उपाकरण आदि संस्कारों के एकदेश उपाकरण मात्र का ग्रहण किया है तथापि एकदेश के ग्रहण से सम्पूर्ण संस्कारों का ग्रहण होसक्ता है और सबके ग्रहण होजाने से उक्त वाक्य को कालमात्र का विधायक मानना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने में एकही वाक्य काल का विधायक तथा संस्कार का अनुवादक होने से वाक्यभेद दोष आजाता है और जो दो अर्थों का विधायक मानने में वाक्य भेद रूप दोष कथन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि एक वाक्य एक ही व्यापार से दो अर्थों का विधायक होसक्ता है परन्तु अनुवादक तथा विधायक नहीं होसक्ता, क्योंकि यह दोनों विरुद्ध अर्थ हैं, और विरुद्ध होने से इनके लिये भिन्न व्यापार की आवश्यकता है, और यदि यह भी मान लिया जाय कि उपाकरण आदि संस्कारों का विधायक पूर्व वाक्य ही है आश्विन वाक्य में केवल काल का विधान तथा उपाकरण का अनुवाद किया गया है तो भी सन्निधिमात्र से वह अग्नीषोमीय के धर्म नहीं होसक्ते किन्तु "आश्विन" वाक्य से सवनीय पशु के ही धर्म होसक्ते हैं, यदि वह सवनीय पशु के धर्म न होते तो आपके मन्तव्यानुसार सवनीय पशु के उपाकरण का अनुवाद क्यों किया जाता, अनुवाद करने से ही स्पष्ट है कि आश्विन वाक्य में उपाकरण

आदि संस्कारों के एकदेश उपाकरण मात्र का ग्रहण है और वह सब संस्कारों का उपलक्षण है, इसलिये वह सब संस्कार सवनीय पशु के विधान किये गये हैं, अग्नीषोमीय के नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में पुनः आशङ्का करते हैं :-

अर्थेनेतिचेत् । २३ ।

पद०-अर्थेन । इति । चेत् ।

पदा०-(अर्थेन) आश्विन वाक्य में सबका ग्रहण अर्थ से होता है साक्षात् नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य-एकदेश के ग्रहण से समुदाय का ग्रहण होने पर भी समुदाय के विधान का लाभ नहीं होसक्ता और एक देश के अनुवाद से समुदाय का अनुवाद होसक्ता है और जो अनुवाद पक्ष में वाक्यभेदरूप दोष कथन किया है सो ठीक नहीं, क्योंकि अनुवादपूर्वक काल का विधान सर्वसम्मत है अर्थात् जिन संस्कारों के अनुष्ठानार्थ काल का विधान विवक्षित है यदि उन का अनुवाद न किया जाय तो काल का विधान ही नहीं होसक्ता, इसलिये आश्विन वाक्य पूर्वविहित उपाकरण आदि संस्कारों का अनुवादक है सवनीय पशु के धर्म उपाकरण आदि का विधायक नहीं ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का खण्डन करते हैं :-

न श्रुतिविप्रतिषेधात् । २४ ।

पद०-न । श्रुतिविप्रतिषेधात् ।

पदा०-(न)उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि(श्रुतिविप्रतिषेधात्) ऐसा मानने में साक्षात् श्रुति से विरोध होता है ।

भाष्य-"आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा" वाक्य में सवनीय पशु के उपाकरण का साक्षात् विधान श्रवण किया है, उक्त वाक्य को काल मात्र का विधायक मानने में उसके साथ विरोध आजाता है सो ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि यदि उपाकरण आदि धर्मों का अग्नीषोमीय में विधान मानें तो सवनीय में उनका अतिदेश मानना होगा, "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" वाक्य से प्राप्ति का नाम अतिदेश है, अतिदेश से प्राप्त तथा साक्षात् श्रुति के मध्य साक्षात् श्रुत प्रबल होता है जैसाकि कहा है कि "श्रुताश्रुतयोः श्रुतं बलीयः"=श्रुत तथा अश्रुत दोनों के मध्य श्रुत बली होता है, सवनीय पशु में उपाकरण आदि धर्म श्रुत हैं उनको छोड़कर चोदक वाक्य से प्राप्त अश्रुत का ग्रहण ठीक नहीं इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो उपाकरणादि पशु धर्म विधान किये गये हैं वह अग्नीषोमीय के विधान नहीं किये किन्तु सवनीय पशु के किये हैं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

स्थानात्तु पूर्वस्य संस्कारस्यतदर्थत्वात् ।२५।

पद०-स्थानात् । तु । पूर्वस्य । संस्कारस्य । तदर्थत्वात् ।

पदा०-" तु " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (पूर्वस्य) उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के विधान किये जानने चाहियें, क्योंकि (स्थानात्) सन्निधि प्रमाण से ऐसा ही पाया जाता है और (संस्कारस्य) संस्कार मात्र को (तदर्थत्वात्)

अग्नीषोमीय पशु के लिये होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य–यद्यपि प्रकरण के साधारण होने से उपाकरण आदि पशु धर्मों का सब पशुओं के साथ सम्बन्ध पाया जाता है और आश्विन वाक्य के बल से प्रकरण का सङ्कोच होजाने के कारण उक्त धर्म सवनीय पशु के भी सिद्ध होसक्ते हैं तथापि आश्विन वाक्य से प्रकरण का सङ्कोच असम्भव है, यदि आश्विन वाक्य उपाकरण आदि संस्कारों का विधायक होता तो कदाचित् प्रकरण के सङ्कोच की कल्पना कीजासक्ती परन्तु वह उक्त संस्कारों का विधायक नहीं किन्तु उनके अनुवाद पूर्वक सवनीय पशु के उपाकरण काल का विधायक है, क्योंकि उपाकरण आदि सम्पूर्ण संस्कारों का प्रथम औपवसथ्य दिन में विधान होचुका है और जिनका विधान होचुका है उनका आश्विन वाक्य में पुनः विधान कैसे होसक्ता है, क्या यह कदाचित् सम्भव है कि जो प्रथम ही ज्ञात है उसको पुनरपि ज्ञातव्य समझ कर ज्ञात करने की चेष्टा कीजाय, औपवसथ्य दिन में प्रथम ही सब संस्कार विधान किये गये हैं केवल सवनीय पशु का उपाकरण काल विशेषरूप से जिज्ञासितव्य है उसीके विधानार्थ आश्विन वाक्य प्रवृत्त हुआ है उसको उपाकरण आदि संस्कारों का विधायक कल्पना करना ठीक नहीं, और अनुवादक होने से वह प्रकरण के सङ्कोच का कारण भी नहीं होसक्ता, और उसके संकुचित न होने से उनका सवनीय पशु के साथ साक्षात् सम्बन्ध होना भी असम्भव है और अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके बल से उक्त धर्मों का सवनीय पशु के साथ सम्बन्ध कल्पना किया जाय अर्थात् औपवसथ्य दिन में उपाकरण आदि सब

संस्कार विधान किये गये हैं, और औपवस्थ्य दिन अग्नीषोमीय का है, सवनीय पशु का नहीं, यदि उक्त संस्कारों का विधान "सौत्य" दिन में होता तो वह स्थान की एकता के कारण सवनीय पशु के धर्म समझे जाते, क्योंकि सवनीय पशु का भी "सौत्य" ही स्थान है, परन्तु "औपवस्थ्य" दिन में विधान होने से वह स्थान की एकता के कारण "अग्नीषोमीय" पशु के धर्म होसक्ते हैं, इसमें कोई दोष नहीं, और स्थानरूप एक दृढ़ प्रमाण के मिल जाने से उनका किसी अन्य पशु के साथ साक्षात् सम्बन्ध भी कल्पना नहीं किया जासक्ता और न प्रकरण के सङ्कोच की कोई आवश्यकता है, प्रकरण प्रमाण केवल उक्त धर्मों का सब पशुओं के साथ सम्बन्ध सामान्य पाया जाता है और वह अग्नीषोमीय पशु में उनका विधान तथा अन्य दो में चोदक वाक्य से उनका अतिदेश मान लेने में भी चरितार्थ होजाता है, उसके सहारे कोई विशेष कल्पना नहीं कर सक्ते ।

तात्पर्य्य यह है कि स्थान प्रमाण से उक्त धर्म अग्नीषोमीय पशु के स्पष्ट हैं और स्थान प्रमाण को छोड़कर अन्य कोई पुष्कल प्रमाण नहीं है जिससे स्थान का बाध किया जाय और दानक्रम से भी प्रथम अग्नीषोमीय पशु ही उपस्थित है और उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित पशु के धर्म की कल्पना करना जघन्य तथा निष्प्रमाण है जैसाकि कहा है कि "उपस्थितं परित्यज्यानुपस्थितकल्पनेमानाभावः" =उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना करने में कोई प्रमाण नहीं और दानक्रम से जो प्रथम उपस्थित है योग्यता के बल से भी उक्त धर्म उसी के होने चाहिये, क्योंकि संस्कृत हुए बिना पशु का

दान तथा संस्कारों के सम्बन्ध बिना उसका संस्कृत होना असम्भव है ।

सार यह निकला कि जितने उपाकरण आदि पशुसंस्कार विधान किये गये हैं वह पशु के उद्देश से किये गये हैं, याग के उद्देश से नहीं और सब पशुओं के मध्य अग्नीषोमीय पशु ही मुख्य तथा प्रथम उपस्थित है, इसलिये उनका अग्नीषोमीय के साथ साक्षात् सम्बन्ध और सवनीय आदि के साथ आतिदेशिक सम्बन्ध है अर्थात् उक्त धर्मों का अग्नीषोमीय पशु में साक्षात् विधान और सवनीयादि शेष पशुओं में चोदक वाक्य से अतिदेश होता है उनमें उनका विधान नहीं किया गया ।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :-

लिङ्गदर्शनाच्च । २६ ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-" **अग्नीषोमीयेन पुरोडाशेन प्रचरति** "= प्रकाश तथा सोमस्वभाव परमात्मा के उद्देश से पुरोडाश का हवन करे, इस वाक्य में अग्नीषोमीय पुरोडाश का विधान करके पश्चात् " **पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने** "= मध्यन्दिन सवन में भी पुरोडाश से हवन करे, इस वाक्य में जो सवनीय पुरोडाश का अनुवाद करके मध्यन्दिन काल का विधान किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि उपाकरण आदि धर्म

अग्नीषोमीय पशु के विधान किये जाते तो अग्नीषोमीय पुरोडाश के अनन्तर सवनीय पुरोडाश के काल का विधान किया जाता क्योंकि उनका विधान माने बिना केवल काल का विधान नहीं होसक्ता अर्थात् जब औपवस्थ्य दिन में अग्नीषोमीय पशु के उक्त धर्मों तथा तदनन्तर अग्नीषोमीय पुरोडाश का विधान माना जाय तब "सौत्य" आदि दिनों में उक्त धर्मों तथा पुरोडाश का चोदक वाक्य द्वारा अतिदेश होने से उनके अनुष्ठानार्थ काल की जिज्ञासा भी होसक्ती है और उसकी जिज्ञासा होने से उसका विधान होना सम्भव है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्यों में सवनीय पशु के उपाकरण काल तथा पुरोडाश के हवन काल का तभी विधान उपपन्न हो सक्ता है यदि औपवस्थ्य दिन में अग्नीषोमीय पशु के उक्त धर्मों तथा पुरोडाश के हवन का विधान मानकर सवनीय आदि पशुओं तथा सौत्य आदि दिनों में उनका अतिदेश माना जाय, क्योंकि प्रथम अग्नीषोमीय में विधान और सवनीय आदि में पश्चात् अतिदेश माने बिना उक्त लिङ्ग वाक्यों में उनके अनुष्ठान काल का विधान नहीं बन सक्ता, परन्तु किया है इससे अनुमान होता है कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो उपाकरण आदि धर्म विधान किये गये हैं वह अग्नीषोमीय के किये हैं सवनीय आदि के नहीं, क्योंकि उनमें उनका अतिदेश द्वारा सम्बन्ध होता है।

सं०-ननु, "आश्विनं" तथा "पुरोडाशेन" यह दोनों वाक्य अर्थवाद हैं, काल के विधायक नहीं? उत्तर:-

अचोदना गुणार्थेन । २७ ।

पद०-अचोदना । गुणार्थेन ।

पदा०-(गुणार्थेन) उक्त दोनों वाक्यों को अर्थवाद होने से (अचोदना) काल का लाभ नहीं होसक्ता।

भाष्य—यदि "आश्विनं ग्रहं गृहीत्वा" वाक्य तथा "पुरोडाशेन माध्यन्दिने सवने" वाक्य इन दोनों वाक्योंको काल का विधायक न मानकर केवल अर्थवाद ही मानाजाय तो सवनीय पशु के उपाकरणकाल का तथा सवनीय पुरोडाश के हवन काल का किसी प्रकार से भी लाभ नहीं होसक्ता, क्योंकि उक्त दोनों वाक्य अर्थवाद होने से विधायक नहीं होसक्ते और अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिससे काल का विधान माना जाय और अन्यत्र काल का विधान न पाये जाने से इन दोनों वाक्यों का अर्थवाद होना भी असम्भव है अर्थात् जिनका विधान अभी कहीं भी पाया नहीं जाता उनका गौणरूप से अर्थवाद वाक्यों में अनुवाद कैसे होसक्ता है और उसके न होने से वह अर्थवाद भी कैसे होसक्ते हैं और सवनीयपुरोडाश के हवन काल का तथा सवनीयपशु के उपाकरणकाल का विधान अत्यन्त आवश्यक है जो उक्त दोनों वाक्यों को विधायक माने विना नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त दोनों वाक्य अर्थवाद नहीं किन्तु उक्त काल के विधायक हैं।

सार यह निकला कि ज्योतिष्टोम याग प्रकरण में उपाकरण पर्य्यग्निकरण आदि धर्म "अग्नीषोमीय" पशु के विधान किये हैं उसमें उनका अनुष्ठान विधि के बल से और "सवनीय" तथा "अनुबन्ध्य" पशु में "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस

चोदक वाक्य द्वारा अतिदेश होने से होता है, तीनों में विधि बल से नहीं ।

सं०-अब "शाखाहरण" आदि को सायंप्रातः उभय "दोहों" का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

दोहयोः कालभेदादसंयुक्तंश्रुतं स्यात् । २८ ।

पद०-दोहयोः । कालभेदात् । असंयुक्तं । श्रुतं । स्यात् ।

पदा०-(श्रुतं) दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में श्रवण किये गये शाखाहरण आदि (दोहयोः) सायं तथा प्रातः दोनों दोहों के (असंयुक्तं) धर्म नहीं होसक्ते, क्योंकि (कालभेदात्) उनके काल का भेद है ।

भाष्य- दर्शपूर्णमास याग में दधि तथा दूध रूप हविः के सम्पादनार्थ दो बार गौओं का दोहन होता है अर्थात् दो बार गौएं दोही जाती हैं, प्रथम अमावस्या दिन में सायंकाल तथा दूसरे प्रतिपत् दिन में प्रातःकाल दोहन होता है दोहन, दोहना तथा दोह यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, उक्त दोनों दोहों के मध्य सायं दोह के दिन में शाखाहरण, वत्सापाकरण तथा गोदोहन आदि अनेक दोह के धर्म विधान किये हैं, वह सब सायं दोह के धर्म हैं किंवा सायं प्रातः दोनों दोहों के धर्म हैं? यह उनमें सन्देह है, इसमें प्रथम पक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि दोनों दोह प्रातः तथा सायं इस प्रकार भिन्न २ काल में होने से परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं और शाखाहरण आदि दोह-धर्म केवल सायंदोह के दिन में ही विधान किये गये हैं दोनों दोहों के दिन में नहीं, और उनका सायंदोह के दिन में विधान करने से सायंदोह के साथ ही सम्बन्ध होसक्ता है प्रातः

दोह के साथ नहीं, क्योंकि सायं दोह उनके अत्यन्त सन्निहित तथा ज्येष्ठ होने के कारण प्रथम उपस्थित है और उपस्थित को छोड़कर अनुपस्थित की कल्पना करना ठकि नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि सन्निहित तथा असन्निहित दोनों के मध्य सन्निहित आदरणीय होता है और उक्त दोहधर्म जैसे सायंदोह के अत्यन्त सन्निहित हैं वैसे प्रातःदोह के नहीं, क्योंकि वह उसके दिन में विधान न करके सायंदोह के दिन में ही विधान किये गये हैं और जो जिसके दिन में विधान किये गये हैं उनका उसी के साथ सम्बन्ध होना उचित है, दूसरे के साथ नहीं।

सार यह निकला कि जैसे ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में पठित होने पर भी उपाकरण आदि धर्मों का अग्नीषोमीय पशु के साथ ही सम्बन्ध होता है सवनीय तथा अनुबन्ध्य पशु के साथ नहीं वैसे ही दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में पठित होने पर भी सन्निधिरूप प्रमाण के बल से दोहधर्मों का सायं दोह के साथ ही सम्बन्ध होना उचित है, प्रकरण के ऐक्य होने से दोनों दोहों के साथ नहीं, इसलिये दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो शाखाहरण आदि दोहधर्म विधान किये गये हैं वह सायंदोह के ही हैं प्रातः सायं दोनों के नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

प्रकरणाविभागाद्वा तत्संयुक्तस्य कालशास्त्रम् । २९ ।

पद०—प्रकरणाविभागात् । वा । तत्संयुक्तस्य । कालशास्त्रम् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (कालशास्त्रं) दोहधर्म विधायक शास्त्र (तत्संयुक्तस्य) सायंप्रातः

उभय दोह संयुक्त धर्मों का ही विधायक है केवल सायं दोह संयुक्त का नहीं, क्योंकि (प्रकरणाविभागात्) प्रकरण से उनका दोनों के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग में हविः के लिये दधि तथा पय=दूध अपेक्षित है उसीके सम्पादनार्थ गौऐं सायं तथा प्रातः दोही जाती हैं परन्तु सायंदोह तथा शाखाहरण आदि दोहधर्मों का प्रथमदिन=अमावास्या में विधान नहीं किया किन्तु दूसरे प्रतिपत् दिन में किया है और उसी दिन में दोह धर्मों का भी विधान किया है, इस प्रकार दोनों दोहों तथा उनके धर्मों का एकही स्थान में विधान होने से परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है, और प्रकरण के अभेद होने से शाखाहरणादि दोह धर्मों के सम्बन्ध भेद की कल्पना करना सर्वथा अनुचित है, जब दोनों दोह तथा उनके शाखाहरण आदि धर्मों का विधान एकही प्रतिपत् दिन में किया गया है तब यह कैसे होसक्ता है कि वह सब धर्म सायं-दोह केही समझे जायं दोनों के नहीं, और दोनों दोहों का एकही प्रतिपत् दिन में विधान होने पर भी जो सायं दोह का अनुष्ठान अमावास्या के दिन सायंकाल में होता है वह अर्थ के अनुरोध से होता है, विधायक वाक्य के अनुरोध से नहीं अर्थात् प्रतिपत् में दधि तथा दूध यह दोनों हविः के लिये अपेक्षित हैं और उसी अपेक्षा की निवृत्यर्थ प्रतिपत् में ही गौओं का सायं प्रातः दोहन तथा शाखाहरण आदि उनके धर्मों का विधान किया गया है, परन्तु प्रतिपत् में दोनों काल दोहन करने से दूध प्राप्त होने पर भी दधि का यथासमय प्राप्त होना असम्भव है, क्योंकि वह मध्य में रात्रि का व्यवधान हुए बिना ठीक २ नहीं बन सक्ता और रात्रि का व्यवधान तभी होसक्ता है जब अमावास्या के

दिन सायंकाल में गौऐं दोही जायं, इस प्रकार प्रथम अमावास्या के दिन सायंकाल में आर्थिक दोह होने पर भी उसका विधान प्रथम दिन में कल्पना नहीं किया जासक्ता और विधान का अभेद न होने से विधेय दोहों का भेद होना असम्भव है और दोहों का भेद न होने से सायंदोह के साथ दोह धर्मों का सम्बन्ध प्रातः दोह के साथ असम्बन्ध है, इस प्रकार दोह धर्मों के सम्बन्धविषय में भी विषम कल्पना नहीं कीजासक्ती।

तात्पर्य्य यह है कि "**ऐन्द्रं दध्यमावास्यायाम् ऐन्द्रं पयोऽमावास्यायाम्**"=इन्द्र परमात्मा के उद्देश से अमावास्या में दधि तथा दूध की आहुति दीजाती हैं, इस प्रकार आहुति का विधान करके सायं प्रातः गौओं का दोह तथा शाखाहरण आदि दोह धर्म विधान किये हैं दोह विधान के अनन्तर दोह धर्मों का विधान होने से उनका दोनों दोहों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है।

सार यह निकला कि जैसे विधायक वाक्यों का स्थान एक है वैसेही प्रकरण भी एक है, एक ही स्थान तथा प्रकरण में विधान किये गये दोह तथा दोहधर्म किसी प्रकार से भी परस्पर असम्बद्ध किंवा विषम सम्बद्ध नहीं होसक्ते, इसलिये दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो दोह धर्म विधान किये गये हैं वह केवल सायं दोह के ही नहीं किन्तु सायं प्रातः दोनों दोहों के हैं।

सं०-अब "सम्मार्जन" आदि ग्रहधर्मों का तीनों सवनों में अनुष्ठान कथन करते हैं:-

तद्वत्सवनान्तरे ग्रहाम्नानम् ।३०।

पद०-तद्वत् । सवनान्तरे । ग्रहाम्नानम् ।

पद०-(तद्वत्) दोह धर्म की भांति (ग्रहाम्नानं) ग्रह धर्मों का अनुष्ठान(सवनान्तरे)प्रातः सवन के अतिरिक्त मध्यन्दिन सवन तथा सायं सवन में भी होता है।

भाष्य-" ज्योतिष्टोम " याग सम्बन्धी " सौत्य " नामक दिन में प्रातः, मध्यान्ह तथा सायं तीन वार " सोम " कूटा जाता है इस तीन वार कूटने को यथाक्रम प्रातः कूटने से " **प्रातःसवन** " मध्यान्ह में कूटने से " **मध्यन्दिनसवन** " तथा सायं समय कूटने से " **सायंसवन** " कहते हैं, या यों कहो कि ज्योतिष्टोम याग में प्रातःसवन, मध्यान्दिनसवन तथा सायंसवन यह तीन सवन होते हैं, प्रातः सवन में " ऐन्द्रवायव " आदि नामक दश "ग्रह" मध्यन्दिनसवन में " मरुत्वतीय " आदि नामक चार " ग्रह " और सायं सवन में " आदित्य " आदि नामक छः " ग्रह " हैं, इनके मध्य प्रातः सवन सम्बन्धी ग्रहों की सन्निधि में " **दशा पवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि** "= अङ्गोछे से ग्रहों को साफ करे, इत्यादि वाक्यों से सम्मार्जन आदि अनेक ग्रहधर्म विधान किये हैं वह सब प्रातःसवन में ही अनुष्ठेय हैं किंवा तीनों सवनों में अर्थात् प्रातःसवन में ही ग्रहों के सम्मार्जन आदि धर्म कर्तव्य हैं अथवा तीनों सवनों में उनके उक्त धर्म कर्तव्य हैं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि उक्त धर्म प्रातःसवनीय ग्रहों की सन्निधि में विधान किये गये हैं तथापि वह तीनों सवनों में अनुष्ठेय हैं, क्योंकि प्रकरण से उनका सब ग्रहों के साथ सम्बन्ध-सामान्य पाया जाता है और सम्मार्जन आदि धर्मग्रहों का एक संस्कार विशेष है वह ग्रहमात्र के होने आवश्यक हैं और यह कदापि

नहीं होसक्ता कि जो ग्रह मात्र के लिये साधारण रूप से विधान किया गया है उसका किसी ग्रह के साथ सम्बन्ध तथा किसी के साथ असम्बन्ध कल्पना किया जाय ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे शाखाहरण आदि दोहधर्म सायं प्रातः दोनों दोहों के धर्म हैं और उनका दोनों दोहों में समान रूप से अनुष्ठान होता है वैसे ही सम्मार्जन आदि भी ग्रहमात्र के साधारण धर्म हैं उनका भी तीनों सवनों में समान रूप से अनुष्ठान होना उचित है ।

सार यह निकला कि यद्यपि सन्निधि प्रमाण से सम्मार्जन आदि धर्मों का प्रातःसवनीय ग्रहों के साथ सम्बन्ध है तथापि उनका केवल प्रातःसवन में ही अनुष्ठान नहीं होसक्ता, क्योंकि प्रकरण प्रमाण से तीनों सवनों के साथ उनका सम्बन्ध स्पष्ट है और सन्निधि की अपेक्षा प्रकरण प्रबल तथा प्रकरण की अपेक्षा सन्निधि निर्बल होती है, यह सर्वसम्मत है और निर्बल तथा प्रबल दोनों प्रमाणों के उपस्थित होने पर प्रबल प्रमाण के अनुसार ही अनुष्ठान होना उचित है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो प्रातःसवनीय ग्रहों की सन्निधि में सम्मार्जन आदि ग्रहधर्म विधान किये हैं वह प्रातःसवन में ही अनुष्ठेय नहीं किन्तु तीनों सवनों में अनुष्ठेय हैं ।

सं०—अब "रशनावेष्टन" आदि धर्मों का अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं में अनुष्ठान कथन करते हैं :-

रशना च लिङ्गदर्शनात् ।२१।

पद०-रशना । च । लिङ्गदर्शनात् ।

पदा०-(च) और (रशना) रशनावेष्टनादि भी अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं के धर्म हैं क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-"अग्नीषोमीय" पशु की सन्निधि में "**परिव्ययति ऊर्ग्वै रशना**"=रशना=रज्जु से यूप का वेष्टन करे, क्योंकि वह बलरूप तथा "**त्रिवृद् भवति**"=त्रिवृत्=त्रिगुण और "**दर्भमयी भवति**"=दर्भ की होती है, इत्यादि वाक्यों से यूप का रशना से वेष्टन, रशना का त्रिवृत् तथा दर्भमयी होना आदि अनेक धर्म विधान किये हैं वह अग्नीषोमीय पशु में ही अनुष्ठेय हैं किंवा अग्नीषोमीय, सवनीय तथा अनुबन्ध तीनों पशुओं में अनुष्ठेय हैं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि यद्यपि अग्नीषोमीय पशु की सन्निधि में "रशनावेष्टन" आदि धर्म विधान किये गये हैं तथापि वह पशु के धर्म नहीं किन्तु यूप आदि के धर्म हैं और यूप आदि तीनों पशुओं में समान हैं और उनके समान होने से तद्द्वारा रशनावेष्टन आदि का भी सब पशुओं के साथ सम्बन्ध होसक्ता है और "**त्रिवृता यूपं परिवीयाऽग्नेयं सवनीयंपशुमुपाकरोति**"=त्रिगुण रज्जु से यूप का वेष्टन करके अग्नी परमात्मा के उद्देश से देय सवनीय पशु का उपाकरण नामक संस्कार करे, इत्यादि वाक्यों में जो सवनीय पशु के समीप यूप का त्रिलड़ रस्सी से लपेटना कथन किया है वह अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं में उक्त धर्मों के अनुष्ठान का सूचक लिङ्ग है, यदि रशनावेष्टन आदि धर्म

केवल अग्नीषोमीय पशु में ही अनुष्ठेय होते तो सवनीय पशु में उनका पुनः कथन न पाया जाता परन्तु कथन पाया जाता है, इससे अनुमान होता है कि यह धर्म यूपादि के द्वारा अग्नीषोमीय आदि तीनों पशुओं के हैं केवल अग्नीषोमीय के ही नहीं ।

सं०–अब सम्मार्जन आदि को "अंशु" तथा "अदाभ्य" नामक ग्रहों का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :–

आराच्छिष्टमसंयुक्तमितरैरसन्निधानात् । ३२ ।

पद०–आरात् । शिष्टम् । असंयुक्तम् । इतरैः । असन्निधानात् ।

पदा०–(आरात्) प्रकरण से बाहर (शिष्टं) कथन किये गये "अंशु" तथा "अदाभ्य" दोनों पात्रों का (इतरैः) ऐन्द्रवायवादि ग्रहधर्मों के साथ (असंयुक्तं) सम्बन्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि (असन्निधानात्) उक्त ग्रहधर्म उनकी सन्निधि में विधान नहीं कियेगये ।

भाष्य––"ऐन्द्रवायव" आदि ग्रह प्रकरणपठित और "अंशु" तथा "अदाभ्य" यह दोनों ग्रह अप्रकरणपठित हैं, "**दशा पवित्रेण ग्रहं सम्मार्ष्टि**" इत्यादि वाक्यों से जो "सम्मार्जन" आदि ग्रहधर्म विधान किये गये हैं वह अप्रकरणपठित उक्त दोनों पात्रों के धर्म हैं किंवा नहीं अर्थात् जैसे सम्मार्जन आदि धर्म प्रकरणपठित ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों के धर्म हैं वैसेही अप्रकरणपठित "अंशु" तथा "अदाभ्य" दोनों पात्रों के भी हैं अथवा नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है

कि सम्मार्जन आदि धर्म " ऐन्द्रवायव " आदि ग्रहों की सन्निधि में विधान किये गये हैं " अंशु " तथा " अदाभ्य " की सन्निधि में नहीं, और जो जिसकी सन्निधि में विधान किया गया है वह उसी का धर्म होता है, यदि " अंशु " तथा "अदाभ्य" यह दोनों ग्रह भी ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों की भांति प्रकरण पठित होते तो सम्मार्जनादि इनके भी धर्म होसक्ते परन्तु यह दोनों प्रकरण पठित नहीं किन्तु प्रकरण से बाहर अर्थात् अप्रकरण पठित हैं और अप्रकरण पठित होने से ही यह उनसे अत्यन्त व्यवहित हैं और व्यवहितों का परस्पर " धर्मधर्मिभाव " सर्वथा असम्भव है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो सम्मार्जन आदि ग्रहधर्म विधान किये गये हैं वह प्रकरण पठित "ऐन्द्रवायव" आदि ग्रहों के ही धर्म हैं अप्रकरण पठित "अंशु" तथा "अदाभ्य" के नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

संयुक्तं वा तदर्थत्वाच्छेषस्य तन्निमित्तत्वात् । ३३ ।

पद०-संयुक्तं । वा । तदर्थत्वात् । शेषस्य । तन्निमित्तत्वात् ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (संयुक्तं) सम्मार्जन आदि धर्मों का उक्त दोनों ग्रहों के साथ सम्बन्ध होसक्ता है, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वह ग्रहमात्र के लिये विधान किये गये हैं और (शेषस्य) ग्रह धर्मों का (तन्निमित्तत्वात्) ग्रहमात्र के उद्देश से विधान होना उचित है।

भाष्य-यद्यपि सम्मार्जन आदि धर्म ऐन्द्रवायव आदि प्रकरण पठित ग्रहों की सन्निधि में विधान किये गये हैं तथापि वह प्रकरण

पठित अप्रकरण पठित ग्रहमात्र के धर्म होसक्ते हैं, क्योंकि उनका विधान सामान्यरूप से पाया जाता है अर्थात् यदि वह प्रकरण पठित तथा अप्रकरण पठित दोनों ग्रहों के मध्य केवल प्रकरण पठित ग्रहों के उद्देश से ही विधान किये जाते तो अप्रकरण पठित अंशु तथा अदाभ्य दोनों ग्रहों का धर्म न होसक्ते परन्तु वह ग्रहमात्र के उद्देश से विधान किये गये हैं और जो जिसके उद्देश से विधान किया जाता है वह उसका धर्म होता है, यह नियम है ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे ऐन्द्रवायव आदि प्रकरण पठित ग्रहों के सम्मार्जनादिक धर्म अपेक्षित हैं, वैसेही "अंशु" तथा "अदाभ्य" ग्रहों के भी अपेक्षित हैं और सम्मार्जन धर्मों के विधायक "ग्रहं सम्मार्ष्टि" आदि वाक्यों में भी साधारण रूप से ग्रहमात्र का ही उपादान किया है, यदि उक्त धर्म प्रकरण पठित ग्रहों के ही विवक्षित होते तो सामान्यरूप अर्थात् ग्रहमात्र के उद्देश से उनका विधान न किया जाता और सम्मार्जनादि के विधायक उक्त वाक्यों में भी " ग्रह " पद के स्थान में " प्रकरणपठितग्रहं " पद का प्रयोग किया जाता, परन्तु ऐसा नहीं किया, इससे स्पष्ट है कि उक्त धर्म प्रकरण पठित तथा अप्रकरण पठित दोनों ग्रहों के हैं, प्रकरण पठित के ही नहीं ।

सार यह निकला कि सम्मार्जन आदि धर्मों का सम्बन्ध ज्योतिष्टोम याग के साथ है परन्तु वह उसके साथ ग्रहों के द्वारा ही होसक्ता है साक्षात् नहीं, और ग्रह जैसे ऐन्द्रवायव आदि उक्त याग के सम्बन्धी हैं वैसेही " अंशु " तथा अदाभ्य भी सम्बन्धी हैं, इनमें एक के द्वारा सम्बन्ध तथा दूसरे के द्वारा

असम्बन्ध की कल्पना बिना किसी प्रबल प्रमाण के नहीं होसक्ती और दोनों प्रकार के ग्रहों द्वारा सम्बन्ध मानने में ऐन्द्रवायव आदि की भांति अंशु तथा अदाभ्य ग्रह के साथ भी उक्त धर्मों का सम्बन्ध मानना आवश्यक है, इसलिये उक्त याग के प्रकरण में जो सम्मार्जन आदि ग्रहधर्म विधान किये गये हैं वह ऐन्द्रवायव आदि ग्रहों की भांति अंशु तथा अदाभ्य ग्रह के भी धर्म हैं यह निश्चेतव्य है।

सं०—अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं:—

निर्देशाद् व्यवतिष्ठेत । ३४ ।

पद०—निर्देशात् । व्यवतिष्ठेत ।

पदा०—(निर्देशात्) उक्त विधायक वाक्य से भी (व्यवतिष्ठेत) उक्त धर्मों का ग्रहमात्र के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य—"**ग्रहं सम्मार्ष्टि**" इत्यादि वाक्य उक्त धर्मों के विधायक हैं, इनमें ग्रहमात्र के वाचक "ग्रह" पद का प्रयोग करके सम्मार्जनादि धर्मों का विधान किया है, यदि ग्रहमात्र के उक्त धर्म विवक्षित न होते तो इस प्रकार से कदापि विधान न किया जाता किन्तु विशेषरूप से किया जाता, परन्तु ऐसा नहीं किया इससे सिद्ध है कि उक्त धर्म "ऐन्द्रवायव" आदि की भांति "अंशु" तथा "अदाभ्य" नामक ग्रह के भी धर्म हैं।

सं०—अब प्रकरण पठित "अखण्डत्वादि" को अप्रकरण पठित "चित्रिणी" आदि इष्टकाओं का धर्म कथन करते हैं:—

अग्नयङ्गमप्रकरणे तद्वत् । ३५ ।

पद०—अग्न्यङ्गम् । अप्रकरणे । तद्वत् ।

पदा०-(तद्वत्) जैसे अप्रकरण पठित अंशु तथा अदाभ्य के सम्मार्जनादि धर्म हैं वैसेही (अप्रकरणे) अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टिकाओं के (अग्न्यङ्गं) अग्निचयन प्रकरण में पठित अखण्डत्वादि धर्म हैं ।

भाष्य--अग्निचयन के प्रकरण में "अखण्डामकृष्णां कुर्य्यात्"=अखण्ड = विना टूटीफूटी लाल इष्टका बनाई जाय,इत्यादि वाक्यों से अखण्डत्वादि इष्टका के धर्म विधान कियेहैं और प्रकरण से बाहर "चित्रिणीरुपदधाति" इत्यादि वाक्यों से चित्रिणी वज्रिणी आदि नामक अनेक प्रकार की इष्टका विधान की हैं, उक्त अखण्डत्वादि धर्म इन अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं के हैं किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जैसे सम्मार्जनादि अप्रकरण पठित "अंशु" तथा "अदाभ्य" नामक ग्रहों के धर्म हैं वैसेही अखण्डत्वादि भी अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि के धर्म हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि अग्निचयन के प्रकरण में चित्रिणी आदि नामक इष्टकाओं का विधान नहीं किया है तथापि उनका अग्निचयन के साथ सम्बन्ध अर्थ से प्राप्त है, क्योंकि इष्टका के बिना अग्निचयन का होना असम्भव है और जिसका जिसके बिना होना असंभव है उसका उसके साथ सम्बन्ध होसक्ता है ।

सार यह निकला कि जो २ धर्म होता है वह धर्मी के बिना नहीं रह सक्ता और सहायक के मिल जाने पर कभी धर्मी को धर्म तथा धर्म को धर्मी अपने स्थान में खींचलाता है, प्रकृत में चित्रिणी आदि धर्मी अप्रकरण पठित होने के कारण निःसहायक तथा अखण्डत्वादि धर्म प्रकरण पठित होने के कारण

ससहायक हैं और ससहायक होने से वह अपने चित्रिणी आदि धर्मियों को स्वस्थान अग्निचयन में खींच लाते हैं, इसीको आर्थिक सम्बन्ध कहते हैं, इस प्रकार धर्मधर्मियों का एक स्थान होने से परस्पर "धर्मधर्मिभाव" सम्बन्ध होसक्ता है, और उक्त धर्मों से संयुक्त हुई चित्रिणी आदि इष्टकायें भी अग्निचयन का अङ्ग होसक्ती हैं, इसलिये अग्निचयन के प्रकरण में जो अखण्डत्वादि धर्म विधान किये हैं वह अप्रकरण पठित चित्रिणी आदि इष्टकाओं के धर्म हैं और उक्त धर्मों से युक्त इष्टकायें अग्निचयन का अङ्ग हैं।

सं०—अब "अभिषव" आदि को सोममात्र का धर्म कथन करते हैं:-

नैमित्तिकमतुल्यत्वादसमानविधानं स्यात्। ३६।

पद०—नैमित्तिकम्। अतुल्यत्वात्। असमानविधानं। स्यात्।

पदा०—(नैमित्तिकं) "फलचमस" में (असमानविधानं) सोम के समान अभिषव आदि धर्मोंका विधान नहीं (स्यात्) हो सकता, क्योंकि (अतुल्यत्वात्) वह सोम के समान नहीं है।

भाष्य—"फलचमस" का निरूपण मी० ३।५।४७ में किया गया है वह क्षत्रिय तथा वैश्य के निमित्त से विधान किये जाने के कारण नैमित्तक और "सोम" बिना किसी निमित्त विशेष के विहित होने से "नित्य" कहलाता है "**सोममभिषुणोति**" "**सोमं क्रीणाति**" = सोम को कूटे तथा मूल्य ले, इत्यादि वाक्यों से जो "अभिषव" आदि धर्म विधान किये हैं वह

सोममात्र के धर्म है किंवा सोम तथा फलचमस दोनों के धर्म हैं? यह सन्देह हैं, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि अभिषव आदि संस्कार नित्य हैं वह नित्य संस्कार्य्य वस्तु के प्राप्त होने से चरितार्थ हुए अन्य किसी संस्कार्य्य वस्तु की अपेक्षा नहीं करते, संस्कार्य्य सोम नित्य तथा फलचमस नैमित्तिक सर्वसम्मत है, इसलिये वह सोममात्र के ही धर्म हैं फलचमस के नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि सोम नित्य होने से प्रकृति और फलचमस नैमित्तिक होने से उसकी विकृति है, प्रकृति पूर्वभावी और विकृति पश्चाद्भावी होती है, यह नियम है, और पूर्व होने के कारण प्रथम उपस्थित हुए सोम रूप प्रकृति में सम्बन्ध को प्राप्त होकर उक्त धर्म निराकांक्ष होजाते हैं और निराकांक्ष होजाने से पुनः फलचमस रूप विकृति में सम्बन्ध को प्राप्त नहीं होसक्ते, और जिनका जिसके साथ सम्बन्ध ही नहीं होसक्ता उनको उसका धर्म मानना अनुचित है, इसलिये जो अभिषव आदि धर्म विधान किये गये हैं वह सोममात्र के किये हैं फलचमस के नहीं।

सं०—अब "नीवार" आदि प्रतिनिधि द्रव्यों में ब्रीहि आदि मुख्य द्रव्यों के अवघात आदि धर्मों का अनुष्ठान कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

प्रतिनिधिश्चतद्वत् । ३७ ।

पद०—प्रतिनिधिः । च । तद्वत् ।

पदा०—"च" शब्द "तु" शब्द के अर्थ में वर्तमान होने से पूर्वपक्ष का सूचक है (तद्वत्) जैसे नैमित्तिक "फलचमस" अभिषव

आदि धर्म वाला नहीं वैसे ही (प्रतिनिधिः) नीवार आदि प्रति-निधि द्रव्य भी प्रोक्षण आदि धर्म वाले नहीं होसक्ते।

भाष्य-"**व्रीहिभिर्यजेत**"=व्रीहियों से याग करे, इत्यादि वाक्यों में याग का साधन व्रीहि आदि द्रव्य विधान करके उनके न मिलने पर "नीवार" आदि प्रतिनिधि द्रव्य विधान किये हैं, सदृश, स्थापन्न तथा प्रतिनिधि यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, "**व्रीहीनवहन्ति**"=धानों को कूटे, इत्यादि वाक्यों में जो व्रीहि आदि मुख्य द्रव्यों के अवघात आदि धर्म विधान किये हैं वह नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों के भी धर्म हैं किंवा नहीं अर्थात् व्रीहि आदि की भांति उक्त प्रतिनिधि द्रव्यों का अवहनन आदि करना चाहिये अथवा नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "**व्रीहीनवहन्ति**" आदि वाक्यों में जो अवघात आदि धर्म विधान किये हैं वह व्रीहित्वादि जाति के अभिप्राय से किये हैं यज्ञ के साधन द्रव्यमात्र के अभिप्राय से नहीं, यदि याग सम्बन्धी द्रव्य मात्र के उक्त धर्म अभिप्रेत होते तो व्रीहि आदि पदों के स्थान में द्रव्यवाची किसी दूसरे पद का प्रयोग किया जाता व्रीहि आदि का नहीं और नीवार आदि में नीवारत्वादि जाति के होने पर भी व्रीहित्वादि जाति नहीं है और उसके न होने से उसमें अवघातादि धर्म का सम्बन्ध होना असम्भव है, क्योंकि जिसके उद्देश से विधान किया गया है वह उसी का धर्म होसक्ता है दूसरे का नहीं अर्थात् जैसे सोम के उद्देश से विधान किये गये अभिषव आदि फलचमस के धर्म नहीं होसक्ते वैसेही व्रीहि आदि के उद्देश से विधान किये गये

अवघात आदि भी नीवार आदि के धर्म कैसे होसक्ते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि जो धर्म जिसके विधान नहीं किये गये उनका उसमें अनुष्ठान नहीं होसक्ता, इसलिये याग के साधन ब्रीहि आदि मुख्य द्रव्यों के जो अवघात आदि धर्म विधान किये गये हैं वह ब्रीहि आदि मुख्य द्रव्यों में ही करने उचित हैं उनके नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों में नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

तद्वत्प्रयोजनैकत्वात् । ३८ ।

पद०-तद्वत् । प्रयोजनैकत्वात् ।

पदा०-(तद्वत्) ब्रीहि आदि की भांति नीवारादि के भी अवघात आदि धर्म होने चाहिये, क्योंकि (प्रयोजनैकत्वात्) दोनों का याग सिद्धि रूप प्रयोजन एक है ।

भाष्य-"**ब्रीहीनवहन्ति**" आदि वाक्यों से जो अवघात आदि धर्म विधान किये हैं वह ब्रीहित्वादि जाति के अभिप्राय से नहीं किये किन्तु याग के साधन द्रव्यमात्र के अभिप्राय से किये हैं और याग के साधन जैसे ब्रीहि आदि द्रव्य हैं वैसे नीवार आदि द्रव्य भी याग के साधन हैं, क्योंकि याग की सिद्धि रूप प्रयोजन दोनों का एक है और यह भी कोई नियम नहीं है कि जितने शब्द हैं वह सब जाति को लेकरही प्रवृत्त होते हैं, क्योंकि आकार गुण तथा क्रिया आदि अन्य कारणों से भी शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है अवघात आदि के विधायक उक्त वाक्यों में जो ब्रीहि आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है वह ब्रीहित्वादि जाति के अभिप्राय से नहीं किया किन्तु आकार की सदृशता तथा याग साधनत्व रूप गुण की समानता के अभिप्राय

से किया है, क्योंकि आकार जैसा ब्रीहि आदि द्रव्यों का है वैसाही नीवार आदि द्रव्यों का भी है और याग साधनत्व भी दोनों में समान है, इस प्रकार आकार तथा यागसाधनत्वरूप धर्म के समान होने से ब्रीहि आदि मुख्य द्रव्यों की भांति नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों में भी ब्रीहि आदि शब्दों का प्रयोग होसक्ता है और उसके होसकने से उनमें अवघात आदि धर्मों का अनुष्ठान होना भी आवश्यक है ।

तात्पर्य्य यह है कि "ब्रीहिभिर्यजेत" आदि वाक्यों से जैसे ब्रीहि आदि मुख्य द्रव्य याग के साधन पाये जाते हैं वैसेही नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्य भी याग के साधन पाये जाते हैं क्योंकि ब्रीहि आदि शब्दों से दोनों प्रकार के द्रव्यों का ग्रहण होसक्ता है, इसलिये "ब्रीहीनवहन्ति" इत्यादि वाक्यों से जो अवघात आदि धर्म विधान किये हैं उनका नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों में भी अनुष्ठान होना चाहिये ।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

अर्थलक्षणत्वाच्च । ३९ ।

पद०-अर्थलक्षणत्वात् । च ।

पदा०-(च) और (अर्थलक्षणत्वात्) अर्थापत्ति प्रमाण से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"ब्रीहिभिर्यजेत" इत्यादि वाक्यों से ब्रीहि आदि की भांति नीवार आदि को याग की साधनता सिद्ध है, इसमें विशेष वक्तव्य की अवश्यकता नहीं, परन्तु जैसे ब्रीहि आदि

द्रव्य पुरोडाश की निष्पत्ति द्वारा याग के साधन हैं वैसेही नीवार आदि द्रव्य भी तद्द्वारा ही साधन होसक्ते हैं अन्यथा नहीं, परन्तु नीवारादि से पुरोडाश की निष्पत्ति, अवघात आदि के माने बिना नहीं होसक्ती, क्योंकि सतुष नीवारादि से पुरोडाश नहीं बनसक्ता और तुष का निर्मोक अवघात आदि के बिना असम्भव है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे कोई दिन में भोजन न करे और पुष्ट हो तो उसकी पुष्टि देखने से स्वयं रात्रि के भोजन का ज्ञान होता है क्योंकि वह रात्रि भोजन के बिना अनुपपन्न है वैसेही अवघात आदि के बिना नीवारादि द्रव्यों में भी याग की साधनता अनुपपन्न है, क्योंकि वह अवघात आदि के बिना याग के साधन नहीं होसक्ते और जिसके बिना वह याग का साधन नहीं होसक्ते उसका उनमें अनुष्ठान मान लेने में कोई दोष नहीं, इसलिये व्रीहि आदि की भांति नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों में भी अवघातादि अवश्य होने चाहियें।

सं०—अब प्रतिनिधि की विधायक श्रुतियों का नियमार्थ होना कथन करते हैं:—

नियमार्था गुणश्रुतिः । ४० ।

पद०—नियमार्था । गुणश्रुतिः ।

पदा०—(गुणश्रुतिः) प्रतिनिधि की विधायक श्रुति (नियमार्था) उसके नियम के लिये है।

भाष्य—"यदि सोमं न विन्देत पूतीकानभिषुणुयात्"=यदि सोम न मिल सके तो उसके स्थान में पूतीक=चि-

अक नामक औषध का अभिषव करे, अभिषव तथा कूटना यह दोनों पर्याय शब्द हैं, इत्यादि वाक्यों में जो सोम आदि के स्थान में पूतीक आदि का विधान किया है वह नियमार्थ किया है किंवा उपलक्षणार्थ अर्थात् सोमादि के न मिलने पर नियम से पूतीक आदि का ही अभिषव करे अथवा तत्सदृश अन्य का भी ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यदि मुख्य द्रव्य सोम के न मिलने पर तत्सदृश के प्रतिनिधि होने का नियम होता तो उक्त वाक्य से सोम के स्थान में पूतीक का विधान न किया जाता, क्योंकि उसके विधान बिना भी सदृशता के बल से पूतीक का ग्रहण होसक्ता है परन्तु विधान किया है, इसलिये सिद्ध होता है कि जहां २ प्रतिनिधि का विधान है वहां २ सर्वत्र उसका नियम है, अन्यत्र नहीं ।

सार यह निकला कि जहां व्रीहि आदिकों में प्रतिनिधि द्रव्यों का विधान नहीं किया गया वहां सर्वत्र सदृशता के बल से नीवार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों का और जहां सोमादि के स्थान में पूतीकादि का विधान किया गया है वहां सर्वत्र नियम से विहित प्रतिनिधि द्रव्यों का ही ग्रहण है ।

सं०—अब दीक्षणीय आदि को अग्निष्टोम याग की अङ्गता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

संस्थास्तु समानविधानाः प्रकरण-विशेषात् । ४१ ।

पद०—संस्थाः । तु । समानविधानाः । प्रकरणविशेषात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है

(संस्थाः) अग्निष्टोम आदि सातों यागों का (समानविधानाः) दीक्षणीय आदि इष्टियें अङ्ग हैं, क्योंकि (प्रकरणविशेषात्) सबका प्रकरण एक है।

भाष्य-यद्यपि ज्योतिष्टोम याग एक है तथापि समाप्ति के भेद से उसके अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र तथा आप्तोर्याम, यह सात भेद हैं, याज्ञिक लोग इनको सात संस्था कहते हैं, इन सातों के मध्य अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र यह चार संस्था मुख्य और अत्यग्निष्टोम, वाजपेय तथा आप्तोर्याम यह तीन संस्था गौण हैं और गौण होने से ही यह तीनों उक्त चारों के अन्तर्गत मानी जाती हैं, इस प्रकार ज्योतिष्टोम याग की यत्किञ्चित् भेद से सात संस्था होने पर भी प्रधानतया अग्निष्टोम आदि चार ही मुख्य संस्था हैं, संस्था नाम स्तोत्र की समाप्ति का है, "यज्ञायज्ञिय" नामक स्तोत्र की समाप्ति से ज्योतिष्टोम को "अग्निष्टोम" तदनन्तर "उक्थ्य" नामक स्तोत्र की समाप्ति से "उक्थ्य" तत्पश्चात् "षोडशी" नामक स्तोत्र की समाप्ति से "षोडशी" तथा "अतिरात्र" कहते हैं अधिक क्या जैसे अवस्था के भेद से एक ही "देवदत्त" के अनेक भेद कथन किये जाते हैं वैसेही "ज्योतिष्टोम" के एक होने पर भी स्तोत्र समाप्ति के भेद से उसके संस्था नामक चार भेद हैं, इन चारों संस्थाओं के मध्य "अग्निष्टोम" प्रकृति तथा उक्थ्य आदि तीनों उसकी विकृति हैं, उक्त चारो संस्था वाले ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "दीक्षणीय" "प्रायणीय" आदि नामक अङ्ग इष्टियें विधान की हैं वह अग्निष्टोम आदि चारो

संस्थाओं के धर्म हैं किंवा "अग्निष्टोम" संस्थामात्र के धर्म हैं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त धर्म "ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में विधान किये गये हैं और "ज्योतिष्टोमत्व" चारो संस्थाओं में समान है अर्थात् जैसे "ज्योतिष्टोम" याग की एक अवस्था विशेष होने से अग्निष्टोम संस्था ज्योतिष्टोम से भिन्न नहीं वैसेही उक्थ्य आदि संस्था भी ज्योतिष्टोम से भिन्न नहीं, और उनके भिन्न न होने से ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जिन धर्मों का विधान किया गया है उनका सब संस्थाओं के साथ समान रूप से सम्बन्ध होना आवश्यक है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो दीक्षणीय आदि धर्म विधान किये गये हैं वह अग्निष्टोम आदि चारों संस्थाओं के धर्म विधान किये गये हैं केवल "अग्निष्टोम" संस्था के ही नहीं।

सार यह निकला कि उक्त याग के प्रकरण में जो दीक्षणीय आदि इष्टियें विधान कीगई हैं वह चारों संस्थाओं के अङ्ग हैं केवल "अग्निष्टोम" संस्था का ही अङ्ग नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

व्यपदेशश्च तुल्यवत् । ४२ ।

पद०-व्यपदेशः । च । तुल्यवत् ।

पदा०-(च) और (तुल्यवत्) समान रूप से (व्यपदेशः) सब संस्थाओं का उक्त याग के प्रकरण में कथन किया गया है।

भाष्य--यदि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में उक्त चारों संस्थाओं का समान रूप से कथन न होता तो अवश्यमेव दीक्षणीय

आदि इष्टियों को अग्निष्टोम मात्र का अङ्ग माना जाता परन्तु ऐसा कथन नहीं किया किन्तु "यद्यग्निष्टोमो जुहोति यद्युकूथ्यस्तेनैव शेषेण परिधिमनक्ति" = यदि "अग्निष्टोम" है तो हवन करे, यदि "उक्थ्य" है तो उसमें शेष घृत से परिधि का अञ्जन = चोपड़ना मात्र करे, इत्यादि वाक्यों में अग्निष्टोम आदि सब संस्थाओं का समान रूप से कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि उक्त चारों संस्था प्रत्येक विषय में समान हैं और जो प्रत्येक विषय में परस्पर समान हैं उनमें अङ्गों का विधान भी समान रूप से होना आवश्यक है, इसलिये दीक्षणीय आदि इष्टियें अग्निष्टोम आदि चारों संस्थाओं का अङ्ग है केवल अग्निष्टोम का ही नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

विकारास्तु कामसंयोगे नित्यस्य समत्वात्। ४३।

पद०-विकाराः। तु। कामसंयोगे। नित्यस्य। समत्वात्।

पदा०-"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (विकाराः) उकूथ्य आदि तीनों संस्थायें अग्निष्टोम संस्था का विकार हैं क्योंकि (कामसंयोगे) पशु आदि फल की कामना के सम्बन्ध से उनका विधान पाया जाता है, इसलिये (नित्यस्य) नित्य अग्निष्टोम संस्था के (समत्वात्) समान होने पर भी उनमें दीक्षणीयादि इष्टियों का अङ्ग रूप से विधान नहीं होसकता।

भाष्य-"पशुकाम उक्थ्यं गृह्णीयात्, षोड़शिना वीर्यकामःस्तुवीत,अतिरात्रेण प्रजाकामं याजयेत्"= पशु की कामना वाला "उक्थ्य" स्तोत्र, वीर्य्य की कामना वाला "षोडशी" स्तोत्र से परमात्मा की स्तुति करे,प्रजा की कामनावाला अतिरात्रयाग करे, इत्यादि वाक्यों में जो पशु आदि काम्य फल के सम्बन्ध से "उक्थ्यादि" संस्था का विधान पाया जाता है उससे उनका विकार होना सिद्ध होता है, क्योंकि "काम्योगुणः श्रूयमाणो नित्यमर्थंविकृत्यनिविशते"=काम्य फल के सम्बन्ध से नित्य भी विकार होजाता है, यह नियम है, यदि दीक्षणीय आदि इष्टियों का अग्निष्टोम की भांति उक्थ्य आदि में भी अङ्गरूप से विधान माना जाय तो वह उसका विकार नहीं होसक्ती, और उनका विकार होना उक्त न्याय से स्पष्ट है। विकार तथा विकृति यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं और विकार होने से उनमें "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" के अनुसार उक्त इष्टियें प्राप्त होसक्ती हैं उनमें उनके विधान की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि अग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशी तथा अतिरात्र यह चारो संस्था समान हैं तथापि इनकेमध्य उक्थ्य आदि तीनों को पशु आदि काम्य फल का सम्बन्ध होने से विकृति और अग्निष्टोम को उनकी प्रकृति कहसक्ते हैं, क्योंकि नित्यकर्म भी काम्य फल के सम्बन्ध से नैमित्तिक अर्थात् विकृति होजाता है और जो विकृति होता है उसमें प्रकृति के समान अङ्गों के विधान मानने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि चोदक वाक्य के बल से ही विकृति में प्रकृति विहित अङ्ग प्राप्त होजाते हैं।

सार यह है कि ज्योतिष्टोम याग की मुख्य संस्था अग्निष्टोम है और शेष सब संस्थायें उसी में अन्तर्भूत होसक्ती हैं केवल काम्य फल के सम्बन्ध से उनका पृथक् अनुष्ठान अपेक्षित है और जो जिसके अन्तर्भूत हैं वह उसके अङ्गों से अङ्ग वाला होसक्ता है पृथक् अङ्ग विधान व्यर्थ है,इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो दीक्षणीय, प्रायणीय आदि इष्टियें विधान की हैं वह प्रकृतिभूत अग्निष्टोम संस्था का अङ्ग विधान कीगई हैं विकृतिभूत उक्थ्यादि का नहीं ।

सं०-अब "व्यपदेशश्चतुल्यवत्" सूत्र में कथन कीगई युक्ति का समाधान करते हैं :—

वचनात्तुसमुच्चयः । ४४ ।

पद०-वचनात् । तु । समुच्चयः ।

पदा०-"तु" शब्द समानरूप से विधान की व्यावृत्ति के लिये आया है (वचनात्) "यद्यग्निष्टोमः" इत्यादि उक्त वाक्य से (समुच्चयः) अग्निष्टोम तथा उक्थ्य आदि का परस्पर प्रकृति विकार भाव रूप से समुच्चय पायाजाता है, समान विधान नहीं ।

भाष्य- "यद्यग्निष्टोमोजुहोति यद्युक्थ्यः" इत्यादि व्यपदेश से केवल अग्निष्टोम आदि चारो संस्थाओं का समुच्चय मात्र पाया जाता है उनमें समान रूप से अङ्गों का विधान नहीं और समुच्चय प्रकृति विकृति भाव से भी कथन किया जासक्ता है इसमें कोई दोष नहीं, और प्रकृति विकृति भाव होने से उक्थ्य आदि में दीक्षणीय अङ्गों के विधान मानने की कोई आवश्यकता नहीं, इसलिये उक्त दीक्षणीय आदि इष्टियें अग्निष्टोम का अङ्ग विधान कीगई हैं, उक्थ्य आदि का नहीं, यही निश्चेतव्य है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :-

प्रतिषेधाच्च पूर्वलिङ्गानाम् । ४५ ।

पद०-प्रतिषेधात् । च । पूर्वलिङ्गानाम् । ४५ ।

पदा०-(च) और (पूर्वलिङ्गानां) प्रथम होने वाले होमों का (प्रतिषेधात्) उक्थ्य आदि में निषेध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"यद्यग्निष्टोमो जुहोति, यदि उक्थ्यः, परिधिमनक्ति न जुहोति"=यदि अग्निष्टोम है हवन करे, यदि "उक्थ्य" है तो शेष घृत से परिधि का चोपड़नामात्र करे हवन न करे, इस वाक्य से जो उक्थ्य आदि में हवन का निषेध किया है इससे उनका विकृति होना स्पष्ट है क्योंकि निषेध प्राप्त का ही होता है अप्राप्त का नहीं यह नियम है, और उक्थ्यादि में हवन किसी वाक्यान्तर से प्राप्त नहीं है, परिशेष से चोदक वाक्य द्वारा ही उसकी प्राप्ति माननी होगी और चोदक वाक्य की प्रवृत्ति अग्निष्टोम को प्रकृति तथा उक्थ्य आदि को विकृति माने बिना होनी असंभव है, इसलिये सिद्ध हुआ कि उक्थ्य आदि तीनों अग्निष्टोम की विकृति और अग्निष्टोम उनकी प्रकृति है, अतएव दीक्षणीय आदि इष्टियें अग्निष्टोम का अङ्ग विधान कीगई हैं उक्थ्य आदि का नहीं ।

सं०-ननु, ज्योतिष्टोम याग एक है उसकी सात संस्था कैसे हो गईं ? उत्तर :-

गुणविशेषादेकस्य व्यपदेशः । ४६ ।

पद०-गुणविशेषात् । एकस्य । व्यपदेशः ।

पदा०-(गुणविशेषात्) स्तोत्रादि रूप गुण विशेष के भेद से (एकस्य)एक ही ज्योतिष्टोम का (व्यपदेशः)सात संस्थाओं के द्वारा कथन कियागया है।

भाष्य-यद्यपि ज्योतिष्टोम याग एक है तथापि उसमें परमात्मा की स्तुति के वेदमंत्ररूप स्तोत्र अनेक हैं, उक्त याग के अनुष्ठान काल में जहां २ उक्त स्तोत्रों की समाप्ति होती है वहां २ ही उक्त याग की समाप्ति समझी जाती है, इस याग में सबसे प्रथम "**यज्ञायज्ञिय**" नामक स्तोत्र का गान होता है। जहां उसकी समाप्ति होती है उतने याग का नाम "**अग्निष्टोम**" है, इसमें अग्नि रूप परमात्मा के उद्देश से पशुओं का दान तथा हवन और उक्त स्तोत्र का उच्चस्वर से पाठ होता है, इसी प्रकार अन्य संस्थाओं के भेद का कारण भी स्तोत्रों की समाप्ति ही समझनी चाहिये, वस्तुतः कोई भेद नहीं, हां उक्त संस्थाओं के मध्य अग्निष्टोम में विशेषता यह है कि इसका ज्योतिष्टोम के साथ कदापि व्यभिचार नहीं होता अर्थात् जहां ज्योतिष्टोम होगा वहां अग्निष्टोम अवश्य होगा, क्योंकि वह "उक्थ्य" आदि संस्थाओं में भी अनुगत है परन्तु उक्थ्य आदि संस्थायें ऐसी नहीं हैं क्योंकि अग्निष्टोम काल में उनका व्यभिचार पाया जाता है अर्थात् अग्निष्टोम ज्योतिष्टोम की सब संस्थाओं में अनुगत है, क्योंकि उसके बिना कोई संस्था नहीं होसक्ती, वैसे उक्थ्यादि संस्थायें सर्वत्र अनुगत नहीं हैं उनका अग्निष्टोम काल में न होना स्पष्ट है और जो स्वरूप तथा अङ्गों के द्वारा जिनमें अनुगत रहता है वह उनकी प्रकृति और शेष सब उसकी विकृति होती हैं, यह नियम है, इसमें विशेष वक्तव्य अपेक्षित नहीं, और अग्निष्टोम को प्रकृति होने से उसमें अङ्ग रूप से विधान कीगई,

दीक्षणीयादि इष्टियों की चोदक वाक्य द्वारा उक्थ्यादि संस्थाओं में प्राप्त होसक्ती है, विधान मानने की आवश्यकता नहीं, इसलिये सम्पूर्ण अधिकरण का सार यह निकला कि ज्योतिष्टोम की "अग्निष्टोम" संस्था में दीक्षणीय आदि इष्टियों का अङ्ग रूप से विधान है और उक्थ्यादि में उनका अतिदेश=चोदक वाक्य से प्राप्ति होती है ।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये तृतीयाध्याये षष्ठःपादः

ओ३म्

अथ तृतीयाध्याये सप्तमःपादः प्रारभ्यते
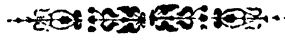
सङ्गति-अब "वेदि" तथा "वर्हि" आदि और उनके धर्मों को अंगों सहित दर्शपूर्णमास याग का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

प्रकरणविशेषादसंयुक्तंप्रधानस्य । १ ।

पद०-प्रकरणविशेषात् । असंयुक्तं । प्रधानस्य ।

पदा०-(प्रधानस्य) "वेदि" आदि प्रधान याग के धर्म हैं अङ्गों के नहीं क्योंकि (प्रकरणविशेषात्) प्रकरण विशेष से (असंयुक्तं) उनका अङ्गों के साथ सम्बन्ध नहीं पाया जाता ।

भाष्य-"दर्शपूर्णमास" याग के प्रकरण में "वेदिं खनति"= वेदि को बनावे, "वेद्यां हवींषि आसादयति" = वेदि के भीतर हवनीय द्रव्यों को रखे, "बर्हिर्लुनाति"=कुशा को काटे, "वर्हिषि हवींषि आसादयति"=कुशा पर हवनीय द्रव्यों को रखे, इत्यादि वाक्य पढ़े हैं । इनमें जो वर्हि आदि तथा वर्हि आदि के हवनीय द्रव्यों का आसादनरूप धर्म विधान किये हैं वह प्रधान याग के लिये किये हैं किंवा प्रधान याग तथा अङ्ग याग दोनों के लिये हैं अर्थात् वर्हि आदि उक्त प्रधान याग का धर्म हैं अथवा प्रधान तथा अङ्ग याग दोनों का धर्म है ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी

का कथन यह है कि जिस प्रकरण में वर्हि आदि का विधान किया गया है वह दर्शपूर्णमास रूप प्रधान याग का प्रकरण है उसके अङ्ग यागों का नहीं, और जो जिसके प्रकरण में विधान किये गये हैं वह उसका धर्म होसक्ते हैं दूसरे का नहीं, यदि वह अङ्ग यागों का भी धर्म होते तो अवश्यमेव उनके प्रकरण में उनका विधान किया जाता, परन्तु विधान नहीं किया, इससे सिद्ध है कि वर्हि आदि प्रधान याग का धर्म हैं, प्रधान तथा अङ्ग दोनों का नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि श्रुति आदि छः विनियोजक प्रमाणों के मध्य प्रकरण भी एक विनियोजक प्रमाण है, विनियोजक तथा सम्बन्ध कराने वाला यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, जिस प्रकरण में वेदि आदि धर्म विधान किये गये हैं वह प्रधान याग का प्रकरण है उसके अङ्गों का नहीं और जिनका वह प्रकरण नहीं है उनके साथ उक्त धर्मों का विनियोजक नहीं होसक्ता और जिनके साथ जिनका सम्बन्ध ही नहीं है वह उनके लिये कदापि नहीं होसक्ते और प्रधान याग के साथ उनका सम्बन्ध स्पष्ट है क्योंकि वह उसके प्रकरण में विधान किये गये हैं, इससे सिद्ध है कि वह केवल प्रधान याग के लिये ही हैं प्रधान तथा अङ्ग दोनों के लिये नहीं, और जो जिसके लिये है वह उसी का धर्म है यह सर्वसम्मत है,इसलिये दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो वेदि आदिक विधान किये गये हैं वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों के धर्म नहीं किन्तु प्रधान मात्र के धर्म हैं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

सर्वेषां वा शेषत्वस्यातत्प्रयुक्तत्वात्। २।

पद०—सर्वेषां । वा । शेषस्य । अतत्प्रयुक्तत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वेषां) वेदि आदिक प्रधान तथा अङ्ग सबके धर्म हैं, क्योंकि (शेषस्य) यहां धर्मधर्मिभाव का (अतत्प्रयुक्तत्वात) नियामक वाक्य है प्रकरण नहीं।

भाष्य—धर्मधर्मिभाव का नियामक जैसे प्रकरण है वैसेही वाक्य भी उसका नियामक है परन्तु इन दोनों के मध्य वाक्य प्रबल तथा प्रकरण निर्बल है और निर्बल के अनुसार प्रबल का सङ्कोच नहीं होता किन्तु प्रबल के अनुसार ही निर्बल का सङ्कोच होता है यह नियम है, यद्यपि यहां वेदि आदिक दर्शपूर्णमास रूप प्रधान याग के प्रकरण में विधान किये गये हैं तथापि "**वेदिंखनति**" "**वेद्यां हवींष्यासादयति**" आदि वाक्यों से वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों का धर्म सिद्ध होते हैं, क्योंकि भाविफल की प्राप्ति के लिये जैसे प्रधान याग में वेदि आदिक अपेक्षित हैं वैसेही अङ्ग यागों में भी अपेक्षित हैं, और जिनको जो अपेक्षित हैं उनके साथ उनका सम्बन्ध होना आवश्यक है और उक्त वाक्यों से वेदि आदि का प्रधान तथा अङ्ग दोनों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है उसका प्रकरण के बल से सङ्कोच नहीं होसक्ता, क्योंकि प्रकरण निर्बल और वाक्य प्रबल है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्यों में वेदि का खनन, बर्हिका लवन तथा उसमें हवियों का रखना आदि धर्म प्रधान तथा अङ्ग सर्व साधारण विधान किये हैं उनमें कोई ऐसा पद नहीं जिसके सहारे यह कल्पना कीजाय कि उक्त धर्म प्रधान के ही हैं अङ्गों के नहीं,

और जिस प्रकरण में उक्त वाक्य पढ़े गये हैं वह प्रकरण यद्यपि प्रधान याग का है तथापि वह निर्बल होने के कारण उनका सङ्कोचक नहीं होसक्ता।

सार यह निकला कि प्रधान याग तथा अङ्ग याग दोनों समान रूप से वेदि आदि धर्मों के आकांक्षी हैं और उक्त वाक्यों से भी वह समान रूप से दोनों के ही धर्म पाये जाते हैं, यदि प्रकरण के अनुरोध से वह प्रधान मात्र के ही धर्म कल्पना किये जायं तो एकतो अङ्ग यागों की आकांक्षा ज्यों की त्यों बनी रहती है जिसका शान्त करना आवश्यक है और दूसरे उक्त वाक्यों का प्रकरण से सङ्कोच मानना पड़ता है कि वह प्रधान मात्र के ही धर्म विधान करते हैं प्रधान अङ्ग दोनों के नहीं, सो अत्यन्त जघन्य है, क्योंकि निर्बल से प्रबल का सङ्कोच कदापि नहीं होसक्ता और अन्य कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं होता जिसके बल से वेदि आदि को प्रधान मात्र का ही धर्म माना जाय और निष्प्रमाण कल्पना करना उचित नहीं, इसलिये दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो वेदि आदि धर्म विधान किये हैं वह प्रधान मात्र के नहीं किये किन्तु प्रधान तथा अङ्ग सबके किये हैं।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

आरादपीति चेत्। ३।

पद०-आरात्। अपि। इति। चेत्।

पदा०-(आरात्) प्रधान याग की सन्निधि में पठित "पिण्डपितृयज्ञ" के भी वेदि आदि धर्म होने चाहियें (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य-यदि दर्शपूर्णमास रूप प्रधान याग के प्रकरण में विहित होने पर भी वेदि आदिक प्रधान तथा प्रधानसम्बन्धी अङ्ग दोनों के धर्म हैं तो उक्त प्रधान याग के समीप में पठित "पिण्डपितृयज्ञ" के भी वह धर्म होने चाहियें, क्योंकि अङ्गों की भांति वह भी प्रधानयाग की सन्निधि में विधान किया गया है।

तात्पर्य्य यह है कि जिसके प्रकरण में वेदिआदि धर्म विधान किये गये हैं जब उसको छोड़कर वह अङ्गों के भी धर्म होजाते हैं तब उनको पिण्डपितृयज्ञ का भी धर्म होना चाहिये, क्योंकि अङ्गों की भांति वह भी प्रधान याग की सन्निधि में विधान किया गया है।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न तद्वाक्यं हि तदर्थत्वात् । ४ ।

पद०-न । तद्वाक्यं । हि । तदर्थत्वात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं (हि) क्योंकि (तद्वाक्यं) उक्त वाक्य (तदर्थत्वात्) प्रधान तथा अङ्ग दोनों के लिये वेदि आदि का विधान करता है।

भाष्य-"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामोयजेत" = इस जन्म तथा परजन्म में सुखकी कामना वाला पुरुष "दर्शपूर्णमास" संज्ञक याग करे, इस प्रकार दर्शपूर्णमास याग का प्रकरण चलाकर "वेदिंखनति" इत्यादि वाक्यों से "वेदि" तथा "वेदिधर्म" और "बर्हि" तथा "बर्हिधर्म" आदि का विधान किया गया है, यदि उक्त वेदि आदिक किसी के प्रकरण में विधान न किये जाते तो प्रधान

था उसके अङ्गों की भांति समीपपठित पिण्डपितृयज्ञ के भी धर्म कल्पना किये जाते परन्तु उनका इस प्रकार विधान नहीं किया और विधान न करने से वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों को छोड़कर अन्य के धर्म भी नहीं होसक्ते, क्योंकि उसका साधक कोई प्रमाण नहीं है, और प्रकरण से केवल प्रधान याग उसके अङ्गों का ही ग्रहण होसक्ता है पिण्डपितृयज्ञ का नहीं और प्रकरण से जिसका ग्रहण नहीं होता उसके प्रकरण-विहित वेदि आदिक धर्म कैसे होसक्ते हैं अर्थात् कदापि नहीं होसक्ते, इसलिये वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों के ही धर्म हैं अन्य के नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :—

लिङ्गदर्शनाच्च ।५।

पद०—लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०—(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—"**ध्रुवामेवाग्रेऽभिघारयति ततो हि प्रथमावाज्यभागौ यक्ष्यन् भवति**"=प्रथम "ध्रुवा" नामक पात्र में अभिघारण करे, तदनन्तर "आज्यभाग" नामक प्रधान आहुति दे, इस वाक्य में जो अभिघारण को आज्यभाग की अङ्गता कथन की है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि वेदि आदिक धर्म प्रधान तथा अङ्ग दोनों के लिये न होते तो दोनों के लिये होने वाले अभिघारण रूप अङ्ग का आज्यभागार्थ कथन न किया जाता परन्तु कथन किया है इससे स्पष्ट है कि जैसे अभिघारण

रूप अङ्ग उक्त दोनों के लिये है वैसेही वेदि आदि भी दोनों के लिये हैं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे अभिघारण उभयार्थ है वैसेही वेदि आदि भी उभयार्थ होने चाहिये, क्योंकि वह परस्पर समान हैं, और दोनों के मध्य विषम रूप से सम्बन्ध होने में कोई निमित्त उपलब्ध नहीं होता, इसलिये अभिघारण की भांति वेदि आदि प्रधान तथा अङ्ग दोनों के धर्म हैं प्रधानमात्र के ही नहीं।

सार यह निकला कि "वेदि" तथा "वेदिधर्म" "बर्हि" तथा "बर्हिधर्म" आदि का प्रधान तथा अङ्ग दोनों प्रकार के यागों में समान रूप से अनुष्ठान होना चाहिये केवल प्रधान याग में ही नहीं।

सं०—अब यजमान के "वपन" आदि संस्कारों को प्रधान याग का अङ्ग कथन करते हैं :-

फलसंयोगात्तु स्वामियुक्तं प्रधानस्य । ६ ।

पद०—फलसंयोगात् । तु । स्वामियुक्तं । प्रधानस्य ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वाधिकरण से विलक्षणता सूचन करने के लिये आया है (स्वामियुक्तं) यजमानसम्बन्धी "वपन" आदि संस्कार कर्म (प्रधानस्य) प्रधान याग का अङ्ग हैं क्योंकि (फलसंयोगात्) वह फल वाले हैं।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "केशश्मश्रु वपते"= सिर के बाल तथा दाढ़ी मुड़ावे, इत्यादि वाक्यों से "केशश्मश्रुवपन" तथा "पयोव्रत" आदि अनेक धर्म यजमान के विधान किये हैं, वह प्रधान के अङ्ग हैं किंवा प्रधान तथा अङ्ग दोनों के

अङ्ग हैं अर्थात् ज्योतिष्टोम याग में जो ग्रहों के द्वारा सोम का होम होता है वह प्रधान कर्म तथा अग्नीषोमीयादि पशुओं का दान आदि गौण कर्म है इन दोनों के मध्य प्रधान कर्म काल में उक्त वपन आदि यजमान को कर्तव्य हैं अथवा प्रधान तथा गौण दोनों कर्मों के अनुष्ठान काल में कर्तव्य हैं? यह सन्देह है, इसकी .ते उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यजमान जैसे याग का कर्ता है वैसेही उसके फल का भोक्ता भी है, यदि वह फल का भोक्ता न होता तो उसकी कामना से उक्त याग के करने में प्रवृत्त न होता और उक्त याग के मध्य फल वाला केवल प्रधान कर्म ही है गौण कर्म नहीं, क्योंकि "**फलवत्सन्निधावफलं तदङ्गं**"=फल वाले प्रधान कर्म की सन्निधि में जो फलरहित कर्म विधान किये गये हैं उनको अङ्ग अर्थात् गौण कर्म कहते हैं यह नियम है, और जिस कर्म का कोई अङ्ग नहीं उसके अनुष्ठान में उक्त यजमान धर्मों का कोई उपकार प्रतीत नहीं होता अर्थात् यजमान के जो "वपन" आदि संस्कार कर्म विधान किये हैं वह किसी संस्कार्य्य कर्म की आकांक्षा करते हैं जिसके अनुष्ठान से यजमान को प्रभूत फल की प्राप्ति हो, परन्तु ऐसा एक प्रधान कर्म ही है इसलिये यजमान के उक्त वपन आदि धर्म भी उसी के अङ्ग हैं प्रधान तथा अङ्ग दोनों कर्मों के नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि यजमान के "**यागकर्तृत्व**" तथा "**यागफलभोक्तृत्व**" यह दो आकार हैं और इनमें प्रथम आकार गौण तथा दूसरा मुख्य है, मुख्य तथा प्रधान यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, उक्त दोनों आकारों के मध्य यदि प्रथम आकार की अपेक्षा से यजमान के उक्त धर्मों का विधान मानाजाय तो

वह प्रधान तथा गौण दोनों कर्मों का अङ्ग होसक्ते हैं, क्योंकि यजमान द्वारा उनका दोनों के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है, परन्तु उक्त आकार की अपेक्षा से उनका विधान नहीं किया किन्तु दूसरे आकार की अपेक्षा से किया है, क्योंकि यजमान के उक्त याग का कर्त्ता होने में एक प्रबल निमित्त है और फलवाला होने से केवल प्रधान कर्म ही उक्त आकार का प्रयोजक होसकता है गौण नहीं और जो यजमान के उक्त धर्म का प्रयोजक नहीं है उसके साथ यजमान धर्मों का सम्बन्ध होना असम्भव है।

सार यह निकला कि जैसे अग्नीषोमीय आदिक कर्म गौण हैं वैसेही "वपन" आदि संस्कार कर्म भी गौण हैं और गौण कर्मों का प्रधान कर्म के साथ ही सम्बन्ध होता है परस्पर नहीं, यह नियम है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो यजमान के "वपन" आदि धर्म विधान किये गये हैं वह प्रकरण के समान होने पर भी योग्यता के बल से प्रधान कर्म का ही अङ्ग हैं प्रधान तथा अङ्ग दोनों का नहीं।

सं०-अब "सौमिकी" नामक वेदि कोप्रधान तथा गौण दोनों कर्मों का अङ्ग कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

चिकीर्षया च संयोगात्। ७।

पद०-चिकीर्षया। च। संयोगात्।

पदा०-(च) और "सौमिकी" नामक वेदि प्रधान कर्म का अङ्ग है, क्योंकि (चिकीर्षया) चिकीर्षा द्वारा (संयोगात्) उसका उसी के साथ सम्बन्ध पाया जाता है।

भाष्य—करने की इच्छा का नाम "चिकीर्षा" तथा "प्राचीनवंश" नामक मण्डप की पूर्वदिशा में होने वाले "सदः" तथा "हविर्धान" आदि मण्डप विशेष सहित भूभाग का नाम "सौमिकी" वेदि है, इस वेदि में सोम सम्बन्धी सम्पूर्ण कार्य्य किये जाते हैं, अतएव इसको "सौमिकी" कहते हैं. ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "षट्त्रिंशत्प्रक्रमा प्राची, चतुर्विंशतिरग्रेण, षट्त्रिंशत् जघनेन, इयति शक्ष्यामहे"=छत्तीस पाद (कदम) लम्बी, चौबीसपाद तथा तीसपाद आगे पीछे से चौड़ी होनी चाहिये, इतनी लम्बी चौड़ी वेदि में याग किया जासक्ता है, इस वाक्य से उक्त सौमिकी वेदि का विधान करके उसमें याग करने की इच्छा कथन की है, वह प्रधान कर्म का अङ्ग है किंवा प्रधान तथा गौण दोनों कर्मों का अङ्ग है ? यह उक्त वेदि मे सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में जो "इयति शक्ष्यामहे" अंश से चिकीर्षा कथन की है वह प्रधान कर्म के ग्रहण पक्ष में ही भले प्रकार से उपपन्न होसक्ती है प्रधान तथा गौण दोनों कर्मों के ग्रहण पक्ष में नहीं अर्थात् चिकीर्षा उसीकी होसक्ती है जिसका कोई फल है, प्रधान तथा अङ्ग कर्मों के मध्य फलवाला केवल प्रधान कर्म ही है और जो फलवाला है उसी के साथ उक्त वेदि का सम्बन्ध होना भी उचित है अन्य के साथ नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि प्रधान तथा अङ्ग दोनों कर्मों की चिकीर्षा होती है तथापि फल के उद्देश से केवल प्रधान कर्म

की ही चिकीर्षा होती है अङ्गकर्मों की नहीं, क्योंकि वह फल वाले नहीं हैं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो " सौमिकी " वेदि विधान कीगई है वह फल के उद्देश से चिकीर्षित = करने को इष्ट प्रधान कर्म का ही अङ्ग है प्रधान तथा गौण दोनों कर्मों का नहीं ।

सं०-अब "अभिमर्शन" को प्रधान तथा अङ्ग उभय प्रकार के कर्मों का अंग कथन करने के लिये दूसरा पूर्वपक्ष करते हैं :-

तथाऽभिधानेन । ८ ।

पद०-तथा । अभिधानेन ।

पदा०-(तथा) जैसे सौमिकी वेदि प्रधान कर्म का अंग है वैसेही अभिमर्शन भी प्रधान आहुति का अंग है, क्योंकि (अभिधानेन) उसका कथन पाया जाता है ।

भाष्य-दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में **"चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्, पञ्चहोत्राऽमावास्याम्"** = " चतुर्होता " नामक मन्त्रों से पौर्णमासी आहुति का और " पञ्चहोता " नामक मन्त्रों से अमावास्या आहुति का अभिमर्शन करे, अभिमर्शन तथा स्पर्श यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, इत्यादि वाक्य पढ़े हैं, **"पृथिवीहोता"** इत्यादि मन्त्रों का नाम **"चतुर्होता"** तथा **"अग्निहोता"** इत्यादि मन्त्रों का नाम **"पञ्चहोता"** है, उक्त वाक्यों में जो " चतुर्होता " तथा " पञ्चहोता " मन्त्रों से आहुति का स्पर्श विधान किया है वह प्रधान आहुति का अंग है किंवा प्रधान तथा अंग दोनों प्रकार की आहुतियों का

अंग है अर्थात् उक्त मन्त्रों से केवल प्रधान आहुति का ही अभिमर्शन करे अथवा अंग प्रधान दोनों आहुतियों का ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्यों में प्रधान आहुति के अभिधायक "पौर्णमासी" तथा "अमावास्या" पद साक्षात् पढ़े हैं, इससे उनका अभिमर्शन क्रिया के साथ सम्बन्ध स्पष्ट है अर्थात् उक्त वाक्यों में जो "पौर्णमासी" तथा "अमावास्या" पद हैं वह प्रधान आहुति के वाचक हैं और उसीका अभिमर्शन उक्त वाक्यों से विधान किया गया है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि अभिमर्शन क्रिया का कर्त्ता पुरुष और "पौर्णमासी" तथा "अमावास्या" पद का वाच्य प्रधान आहुति कर्म है और कर्त्ता का व्यापार स्व कर्म में ही नियम से होता है यह सर्वसम्मत है, यहां कर्त्ता का व्यापार "अभिमर्शन" और कर्म प्रधान आहुति स्पष्ट है, इसलिये वह उसी का अंग है प्रधान तथा अंग दोनों आहुतियों का नहीं।

सं०—अब प्रथम पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

तद्युक्ते तु फलश्रुतिस्तस्मात्सर्वचिकीर्षा स्यात् । ९ ।

पद०—तद्युक्ते । तु । फलश्रुतिः । तस्मात् । सर्वचिकीर्षा । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (फलश्रुतिः) फल की साधनता का श्रवण (तद्युक्ते) अंग सहित प्रधान में पाया जाता है (तस्मात्) इसलिये (सर्वचिकीर्षा) "इयति-

शक्ष्यामहे" में अंग तथा प्रधान सबकी चिकीर्षा (स्यात्) है केवल प्रधान की नहीं ।

भाष्य—यद्यपि प्रधान कर्म ही फल वाला है अंग कर्म नहीं तथापि उसको फल वाला होने के लिये अंगों की अत्यन्त अपेक्षा है, क्योंकि वह उनके बिना फल वाला नहीं होसक्ता अर्थात् अंगयुक्त हुआ ही प्रधानकर्म फलवाला होसक्ता है अन्यथा नहीं और जिनके होने से वह फलवाला होसक्ता है और जिनके न होने से नहीं होसक्ता वह भी "**विशिष्टवृत्तिधर्मस्य विशेषणवृत्तित्वनियमात्**" = अङ्गसहित प्रधान वृत्ति धर्म को अंगवृत्तित्व का नियम है, इस न्याय के अनुसार फल वाले कहे जासक्ते हैं, इस प्रकार अंग सहित प्रधान को फल वाला होने से "**इयति शक्ष्यामहे**" वाक्य में कथन कीगई चिकीर्षा भी अंग सहित प्रधान विषयक ही माननी उचित है और चिकीर्षा को अंग तथा प्रधान कर्म दोनों विषयक होने से वेदि का भी दोनों के लिये होना आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना अंग तथा प्रधान कर्म कोई भी नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि "**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**" वाक्य में जो ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की प्राप्ति रूप फल कथन किया है वह केवल प्रधान कर्म का नहीं किया किन्तु अंगों सहित प्रधान का किया है अर्थात् अंग तथा प्रधान कर्म दोनों का किया है और दोनों के फल का कथन करने से "**इयति शक्ष्यामहे**" में भी दोनों की चिकीर्षा का ही कथन उचित है, क्योंकि सुख तथा सुख के साधन दोनों में चिकीर्षा का

ोना लोक शास्त्र उभय सिद्ध है और सुख का साधन जैसे प्रधान कर्म है वैसेही अंग कर्म भी सुख का साधन है और दोनों का उक्त वेदि के बिना फल का जनक होना असम्भव है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "षट्त्रिंशत्प्रक्रमा प्राची" आदि वाक्यों से सौमिकी वेदि विधान कीगई है वह प्रधान तथा अंग द॥ प्रकार के कर्मों का अंग है केवल प्रधान कर्म का ही नहीं।

सं०-अब दूसरे पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

गुणाभिधानात्सर्वार्थमभिधानम्। १०।

पद०-गुणाभिधानात्। सर्वार्थम्। अभिधानम्।

पदा०-(अभिधानं) "चतुर्होत्रा" इत्यादि वाक्यों में जो अभिमर्शन विधान किया है वह (सर्वार्थं) अङ्ग तथा प्रधान दोनों आहुतियों के लिये है, क्योंकि (गुणाभिधानात्) उनमें "पौर्णमासी" तथा "अमावास्या" पद से काल का कथन है आहुति का नहीं।

भाष्य—यदि "चतुर्होत्रा पौर्णमासीमभिमृशेत्" पञ्चहोत्राऽमावास्यामभिमृशेत्"=वाक्यों में पौर्णमासी तथा अमावास्या पद प्रधान आहुति के वाचक होते तो अवश्यमेव उक्त अभिमर्शन प्रधान आहुति का अङ्ग होता परन्तु उक्त दोनों पद आहुति के वाचक नहीं किन्तु काल के वाचक हैं अर्थात् पौर्णमासी तथा अमावास्या पद का अर्थ पौर्णमासी तथा अमावास्या काल है और उसका सम्बन्ध प्रधान तथा अङ्ग आहुति दोनों के साथ समान है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्यों में जो पौर्णमासी तथा

अमावास्या पद के आगे द्वितीयाविभक्ति है वह सप्तमीविभक्ति के अर्थ में होने से आधार का वाचक है कर्म का वाचक नहीं, और पौर्णमासी काल तथा अमावास्या काल जैसे प्रधान आहुति का आधार है वैसेही अङ्ग आहुतियों का भी आधार है और दोनों आहुतियों का समान रूप से आधार होने के कारण "मञ्चाक्रोशन्ति" में मञ्चस्थवाची मञ्चपद की भांति उक्त दोनों पद भी उनके वाचक होसकते हैं इसमें ननु, नच का यत्किञ्चित् भी अवकाश नहीं, और उक्त दोनों प्रकार की आहुतियें उक्त दोनों पदों का वाच्य होने से अभिमर्शन क्रिया का कर्म होसकती हैं, क्योंकि दोनों के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट है, इसलिये दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो अभिमर्शन विधान किया गया है वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों आहुतियों का अङ्ग है केवल प्रधान आहुति का ही नहीं।

सं०-अब दीक्षा तथा दक्षिणा को प्रधान कर्म का अङ्ग कथन करते हैं :-

दीक्षादक्षणिन्तु वचनात्प्रधानस्य । ११ ।

पद०-दीक्षादक्षिणं । तु । वचनात् । प्रधानस्य ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वाधिकरण से विलक्षणता सूचन करने के लिये आया है (दीक्षादक्षिणं) दीक्षा तथा दक्षिणा (प्रधानस्य) प्रधान कर्म का अङ्ग हैं, क्योंकि (वचनात्) वाक्य से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "दण्डेन दीक्षयति"= जिस दीक्षा में पलाश का दण्ड हाथ में दिया जाता है वह दीक्षा

जमान को दे, "**तस्यद्वादशशतं दक्षिणा**" = ज्योतिष्टोम याग की बारासौ दक्षिणा है, इत्यादि वाक्यों से जो दीक्षा तथा दक्षिणा विधान की है वह प्रधान तथा अङ्ग दोनों कर्मों का अङ्ग है किंवा प्रधान कर्म का ही अङ्ग है अर्थात् दीक्षादि प्रति प्रधान ... तथा प्रत्यङ्ग कर्म होने चाहिये अथवा प्रतिप्रधान कर्म ही ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यद्यपि प्रकरण से दीक्षादि का प्रधान तथा अङ्ग उभय कर्म साधारण सम्बन्ध पाया जाता है तथापि "**दीक्षासोमस्य**"=यह ज्योतिष्टोम याग की दीक्षा है, "**दक्षिणा सोमस्य**" = यह ज्योतिष्टोम याग की दक्षिणा है, इत्यादि वाक्यों से उनका प्रधान कर्म के साथ स्पष्टतया सम्बन्ध पाये जाने के कारण प्रकरण सिद्ध उक्त सम्बन्ध नहीं माना जासक्ता अर्थात् वाक्यसिद्ध तथा प्रकरण सिद्ध दोनों के मध्य वाक्यसिद्ध सम्बन्ध ही आदरणीय है प्रकरण सिद्ध नहीं, क्योंकि प्रकरण की अपेक्षा वाक्य प्रबल और प्रकरण उसकी अपेक्षा निर्बल है और प्रकरण के बल से उक्त वाक्यों में ज्योतिष्टोम शब्द का अर्थ प्रधान तथा अङ्ग दोनों कर्म भी कल्पना नहीं किये जासक्ते, क्योंकि "**मुख्यामुख्ययोर्मुख्ये सर्वे व्यपदेशा भवन्ति**" = प्रधान तथा गौण दोनों के मध्य प्रधान में ही नाम आदि सब व्यपदेश होते हैं, इस न्याय के अनुसार अङ्गों में मुख्यतया ज्योतिष्टोम शब्द की प्रवृत्ति होना असम्भव है, अतएव उक्त वाक्यों में "सोम" प्रातिपदिकोत्तरवर्ति "स्य" विभक्ति का सम्बन्धसामान्य अर्थ मानकर अङ्गतथा प्रधान दोनोंकर्मों के साथ दीक्षा तथा दक्षिणा के सम्बन्ध की कल्पना भी

नहीं होसक्ती, और यदि "तुष्यतुदुर्जन" न्याय से उक्त वाक्यों में "सोम" पद का अङ्ग तथा प्रधान दोनों कर्म तथा "स्य" इस षष्ठी विभक्ति का सम्बन्ध सामान्य अर्थ माना जाय तो भी दीक्षा तथा दक्षिणा दोनों का अङ्गकर्मों के साथ सम्बन्ध नहीं होसक्ता, क्योंकि वह प्रथम ही प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध होने से निराकांक्ष होजाते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त षष्ठी विभक्ति के वाच्य सम्बन्ध-सामान्य के अन्तर्गत साक्षात् तथा परम्परा यह दो सम्बन्ध हैं जिनमें प्रथम उपस्थित होने के कारण प्रधान कर्म के साथ साक्षात् तथा प्रधान द्वारा होने के कारण अङ्ग कर्मों के साथ परम्परा सम्बन्ध है और साक्षात् तथा परम्परा सम्बन्ध के मध्य परम्परा सम्बन्ध की अपेक्षा साक्षात्सम्बन्ध श्रेष्ठ तथा ग्रहणीय होता है यह सर्वसम्मत है, और उसका ग्रहण होने से प्रधान कर्म के साथ सम्बन्ध को प्राप्त हुए दीक्षा तथा दक्षिणा पुनः अङ्ग कर्मों के सम्बन्ध की आकांक्षा नहीं करते और बिना आकांक्षा के सम्बन्ध होना असम्भव है।

सार यह निकला कि यद्यपि उक्त वाक्यों में "सोम" नाम से प्रधान तथा अङ्ग सब कर्मों का ग्रहण होसक्ता है तथापि उससे अङ्ग कर्मों का ग्रहण ठीक नहीं, क्योंकि नाम की प्रवृत्ति का हेतु सर्वदा प्रधान ही होता है अङ्ग नहीं, ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिससे अङ्गनिमित्तक नाम की प्रवृत्ति पाई जाय प्रत्युत लोक में जितने वंश प्रसिद्ध तथा प्रचलित हैं उनके नाम की प्रवृत्ति का कारण भी कोई प्रधान पुरुष ही पाया जाता है, "ज्योतिष्टोम" भी एक नाम है उसकी प्रवृत्ति का हेतु भी प्रधान

र्म ही होना उचित है और जो उक्त नाम की प्रवृत्ति का निमित्त है उसके सम्बन्ध में विधान किये गये दीक्षादि भी उसी के धर्म होने चाहियें, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो दीक्षा तथा दक्षिणा विधान कीगई है वह उक्त दोनों वाक्यों के बल से प्रधान कर्म का अङ्ग है प्रधान तथा अङ्ग दोनों का नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ की सिद्धि में युक्ति कथन करते हैं:-

निवृत्तिदर्शनाच्च । १२ ।

पद०-निवृत्तिदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (निवृत्तिदर्शनात्) निरूढ़ पशुबन्ध* नामक अङ्ग याग में दीक्षा की निवृत्ति पाये जाने से उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"अध्वर्य्यो यत् पशुना अयाक्षरिथकाऽस्य दीक्षा यत् षड्ढोतारं जुहोति साऽस्य दीक्षा"=हे अध्वर्यु जिस देय पशु के उद्देश से तुम याग करते हो उसकी दीक्षा क्या है? उत्तर-जो "षड्होता" संज्ञक मन्त्रों का उच्चारण करके आहुति दीजाती है यही उसकी दीक्षा है, इस वाक्य में जो "निरूढ पशुबन्ध" नामक याग की दीक्षा का प्रश्न करके "षड्ढोता" संज्ञक मन्त्रों के उच्चारण पूर्वक आहुति देना कथन की है, इससे अङ्ग कर्मों में दीक्षा की निवृत्ति पाई जाती है, यदि उक्त कर्मों में दीक्षा की निवृत्ति न होती तो उक्त अङ्ग याग में दीक्षा का प्रश्न न

---

* देय पशु के उद्देश से जो घृत आहुतियों का प्रक्षेपरूप याग विशेष किया जाता है, उसको "निरूढ़पशुबन्ध" कहते हैं।

उठाया जाता और न उसकी आहुति रूप दीक्षा कथन की जाती उसके कथन करने से स्पष्ट है कि "दण्डेन दीक्षयति" वाक्य से विहित दीक्षा की प्रधान कर्म पर्य्यन्त ही समाप्ति होजाती है और अङ्ग कर्मों में उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, जैसे अङ्ग कर्मों में दीक्षा की निवृत्ति सिद्ध है वैसेही दक्षिणा की निवृत्ति भी जानना चाहिये, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो दीक्षा तथा दक्षिण विधान कीगई है वह प्रधान कर्म्म का अङ्ग है, प्रधान तथा अङ्ग उभय कर्म का नहीं।

सं०—अब "वेदि" को यूप की अनङ्गता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:—

तथायूपस्य वेदिः । १३ ।

पद०—तथा । यूपस्य । वेदिः ।

पदा०—(तथा) जैसे वाक्यविशेष मे दीक्षा तथा दक्षिणा प्रधान कर्म का अङ्ग है वैसेही (वेदिः) वेदि भी यूप का अङ्ग है।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के अन्तगत देय "अग्नि षोमीय" पशु के प्रकरण में "वज्रो वै यूपो यदन्तर्वेदि मिनुयात् तन्निर्दहेत्, यद्बहिर्वेदि, तदनवरुद्धः स्यात्, अर्द्धमन्तर्वेदि मिनोति अर्द्धं बहिर्वेदि, अवरुद्धो भवति न निर्दहति"=जिस यूप के गाड़ने के लिये वेदि के भीतर भूमि मापी जाता है वह वज्र=विद्युत के समान यजमान को जलाने वाला होता है, जिसके लिये वेदि से अत्यन्त दूर भूमि मापी जाती है वह दृढ़ नहीं होता, इसलिये न वेदि के भीतर और न वेदि से अत्यन्त दूर किन्तु वेदि के समीप यूप के गाढने की भूमि मापे,

ऐसा मापने से वह दृढ़ तथा सुखकारी होता है यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो देय पशु के बन्धनार्थ यूप गाड़ने के लिये वेदि के समीप भूमि का मापना लिखा है इसमें वेदि का यूप की अङ्गता के अभिप्राय से ग्रहण है किंवा यूप गाड़ने की भूमि जतलाने के अर्थ ग्रहण है यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे दीक्षा तथा दक्षिणा वाक्य विशेष से प्रधान कर्म का अङ्ग पाई जाती हैं, वैसेही वेदि भी उक्त वाक्य से यूप का अङ्ग सिद्ध होती है क्योंकि उक्त वाक्य में "**यदन्तर्वेदि**" से उसका साक्षात् ग्रहण किया गया है, यदि वह यूप का अङ्ग न होती तो उसके गाड़ने की भूमि के लिये वेदि का उपादान न किया जाता परन्तु उपादान किया है, इससे सिद्ध होता है कि वेदि यूप का अङ्ग है।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

देशमात्रं वाऽशिष्येणैकवाक्यत्वात् । १४ ।

पद०—देशमात्रं । वा । अशिष्येण । एकवाक्यत्वात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (देशमात्रं) उस वाक्य में "अर्द्धमन्तर्वेदि" शब्द देश मात्र का उपलक्षण है क्योंकि (अशिष्येण) उसकी "अर्द्धबहिर्वेदि" के साथ (एकवाक्यत्वात्) एकवाक्यता पाई जाती है।

भाष्य—यदि उक्त वाक्य में "**अर्द्धमन्तर्वेदि**" अंश से वेदि का यूप की अङ्गरूपता से कथन अभिप्रेत होता तो उक्त अंश के आगे "अर्द्धबहिर्वेदि" का उपादान न किया जाता, क्योंकि जैसे प्रथम अंश से वेदि यूप का अङ्ग प-

तीत होती है वैसेही वहिर्देश भी अङ्ग प्रतीत होता है, परन्तु एकही वाक्य में परस्पर विरुद्ध दो बातों का विधान नहीं होसक्ता, यदि उक्त दोनों अंशों के मध्य एक को विधायक तथा दूसरी को उपलक्षण माना जाय तो उनकी एकवाक्यता भङ्ग होजाती है और दोनों की एकवाक्यता स्पष्ट है, वह और तभी रहसक्ती है जब वेदि को स्वसमीपवर्ती वहिर्देश का उपलक्षण माना जाय, क्योंकि ऐसा मानने में दोनों अंशों का एकही अर्थ में पर्य्यवसान होजाता है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में "अर्द्धमन्तर्वेदि" तथा "अर्द्धवहिर्वेदि" की परस्पर एकवाक्यता पाये जाने से वेदि का उपलक्षण रूप से उपादान स्पष्ट प्रतीत होता है और उसका उपलक्षण होने से तदुपलक्षित बहिर्देश का भी भले प्रकार बोध होता है कि अग्निषोमीय आदि देय पशुओं के यज्ञ देश में बान्धने के लिये वेदि के समीप यूप गाड़ा जाय और उसके गाड़ने के लिये वेदि के समीप वहिर्देश में उतनी भूमि मापी जाय जितना उसका नीचे का सिरा हो और ऐसा मानने में कोई दोष भी नहीं है, इसलिये जैसे दीक्षा तथा दक्षिणा प्रधान कर्म का अङ्ग हैं वैसे वेदि यूप का अङ्ग नहीं किन्तु यूप गाड़ने के योग्य स्व समीपवर्ती बाह्य भूमि का उपलक्षण है।

सं०-अब "हविर्धान" नामक शकट* को सामिधेनियों की अनङ्गता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति हविर्धानयोर्वचनात्सामिधेनीनाम् । १५ ।

---

* शकट, छकड़ा, गड्डा, गाड़ी यह सब पर्य्याय शब्द हैं।

पद०-सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति । हविर्धानयोः । वचनात् । सामिधेनीनाम् ।

पदा०-(हविर्धानयोः) "हविर्धान" नामक शकटों के मध्य जिस शकट में सोम कूटा जाता है वह (सामिधेनीनां) सामिधेनियों का अङ्ग है, क्योंकि (सामिधेनीस्तदन्वाहुरिति) "सामिधेनीस्तद-" इस (वचनात्) वाक्य से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "उत यत्सुवन्वन्ति सामिधेनिस्तदन्वाहुः"=हविर्धान नामक मण्डप के दक्षिण तथा उत्तर भाग में स्थित "दक्षिणहविर्धान" तथा "उत्तरहविर्धान" नामक दोनों शकटों के मध्य जिस"दक्षिणहविर्धान"नामक कशट में सोम कूटा जाता है उसमें सामिधेनियों का उच्चारण करे, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो सामिधेनियों के उच्चारण का आधार"दक्षिणहविर्धान" नामक शकट कथन किया है वह सामिधेनियों का अङ्ग है किंवा स्वसन्निहित देशविशेष का उपलक्षण है अर्थात् उक्त वाक्य में "दक्षिणहविर्धान" नामक शकट सामिधेनियों के उच्चारण का स्थान कथन किया है कि उक्त शकट में खड़ा होकर सामिधेनियों का उच्चारण करे अथवा उक्त शकट स्वसन्निहित देशविशेष का बोधक है कि उक्त शकट के समीप देशविशेष में खड़ा होकर सामिधेनियों का उच्चारण करे ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य से सामिधेनियों के उच्चारण का आधार उक्त शकट स्पष्टतया प्रतीत होता है क्योंकि उसमें आधारवाची "यत्" "तत्" पद का प्रयोग पाया जाता है, और प्रतीत अर्थ को छोड़कर अप्रतीत अर्थ की कल्पना करना ठीक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य से "दक्षिणहविर्धान" नामक शकट के साथ सामिधेनियों का आधाराधेयभाव सम्बन्ध स्पष्ट है कि उक्त शकटसम्बद्ध सामिधेनियों का उच्चारण किया जाय और वह सम्बन्ध परस्पर अङ्गाङ्गिभाव माने बिना नहीं बन सक्ता और उक्त शकट के उपलक्षण मानने में मुख्यार्थ का परित्यागरूप दोष है जिसका यथा सम्भव स्वीकार ठीक नहीं, इसलिये सिद्ध है कि उक्त शकट सामिधेनियों का अङ्ग है स्वसन्निहित देशविशेष का उपलक्षण नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

देशमात्रं वा प्रत्यक्षं ह्यर्थकर्म सोमस्य। १६।

पद०-देशमात्रं। वा। प्रत्यक्षं। हि। अर्थकर्म। सोमस्य।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (देशमात्रं) उक्त शकट स्वसन्निहित देशविशेष का उपलक्षण है (हि) क्योंकि (सोमस्य) वह ज्योतिष्टोम याग का (अर्थकर्म) अङ्ग (प्रत्यक्षं) प्रत्यक्ष है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग को अपेक्षित सोम के धारण करने का नाम यहां "अर्थकर्म" है, और उक्त शकट में सोम रखा जाता है यह प्रत्यक्ष है जैसाकि कहा है कि "दक्षिणे हविर्धाने सोममासादयति"= "दक्षिणहविर्धान" नामक शकट में सोम रखना चाहिये, इससे उक्त शकट ज्योतिष्टोम याग का अङ्ग स्पष्ट है, क्योंकि वह तद पेक्षित सोम का धारण करने से उसका उपकारी है और सामिधेनियें भी तदपेक्षित अग्नियों के प्रज्वालन में विनियुक्त होने से उक्त याग का ही अङ्ग हैं अर्थात् ज्योतिष्टोम याग में हविः देने के

लिये जब अग्नियें प्रज्वलित कीजाती हैं तब "सामिधेनी" संज्ञक मन्त्रों का उच्चस्वर से उच्चारण किया जाता है यह उन अग्नियों का एक संस्कार विशेष है, इसीसे संस्कृत हुई अग्नियें उक्त याग में हविः ग्रहण के लिये समर्थ होती हैं अतएव अग्नियों के संस्कार द्वारा सामिधेनियें भी उक्त याग का अङ्ग हैं और अङ्गों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं होसक्ता, यह सर्वसम्मत है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में अङ्ग रूप से सामिधेनियों का विधान किया गया है, इससे वह इनकी प्रकृति तथा उसीसे चोदक वाक्य द्वारा सर्वत्र प्राप्ति होती है और उक्त प्रकृति याग में सामिधेनियों के उच्चारण का स्थान आहवनीय अग्नि का पश्चिम देश है और ज्योतिष्टोम याग में "उत्तरवेदि" आहवनीय अग्नि के स्थानापन्न है और उसके पश्चिम देश में "दक्षिणहविर्धान" नामक शकट का स्थान होने से उक्त वाक्य में उनके उच्चारण के लिये उक्त शकट का उपादान किया गया है, इससे यह कल्पना कदापि नहीं करसक्ते कि उक्त वाक्य में उक्त शकट ही सामिधेनियों के उच्चारण का स्थान कथन किया है प्रत्युत आहवनीयाग्नि के स्थानापन्न उत्तरवेदि के पश्चिम देश को उक्त शकट द्वारा अवरुद्ध होजाने के कारण तत्सन्निहित देश विशेष के तात्पर्य्य से किया है यह कल्पना हो-सक्ती है, क्योंकि ज्योतिष्टोम याग का अङ्ग होने के कारण उक्त शकट तथा सामिधेनियें दोनों का परस्पर अङ्गाङ्गिभाव अस-म्भव है।

सार यह निकला कि जैसे "**गङ्गायां घोषः**"=गङ्गा में

ग्राम है, इस वाक्य में "अन्वयानुपपत्ति" तथा "तात्पर्य्यानुपपत्ति" से "गङ्गा" पद स्वसन्निहित "तीर" रूप देशविशेष के अभिप्राय से प्रयुक्त हुआ है वैसे ही उक्त वाक्य में भी स्वसन्निहित देशविशेष के अभिप्राय से ही उक्त शकटवाची "यत्" तथा "तत" शब्द प्रयुक्त हुए हैं, पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध तथा उक्त सम्बन्ध में वक्ता के तात्पर्य्य का न बन सकना "अन्वयानुपपत्तिः" तथा "तात्पर्य्यानुपपत्तिः" कहलाती है, अन्वय तथा सम्बन्ध यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, प्रकृत वाक्य में "अन्वयानुपपत्तिः" तथा "तात्पर्य्यानुपपत्तिः" दोनों स्पष्ट हैं, उक्त शकट प्रथम ही हवनीय सोम द्रव्य से अवरुद्ध है उसमें खड़े होकर सामिधेनियों का उच्चारण नहीं बन सक्ता, क्योंकि सोम हवनीय द्रव्य होने के कारण पाओं से दबाने योग्य नहीं है, और इसमें वक्ता का तात्पर्य्य भी नहीं होसक्ता क्योंकि वाक्यरचना के अनुसन्धान से स्पष्ट होजाता है कि आहवनीयाग्नि के स्थानापन्न उत्तर वेदि से पश्चिम देश में सामिधेनियों का उच्चारण विवक्षित है शकट में नहीं और जिसमें जिनका उच्चारण अभिप्रेत नहीं है वह उनका अङ्ग कैसे होसक्ता है, इसलिये उक्त वाक्य में "दक्षिणहविर्धान" नामक शकट के वाची "यत्" तथा "तत्" पद का प्रयोग देशविशेष के अभिप्राय से किया है सामिधेनियों की अङ्गता के अभिप्राय से नहीं, अतएव उक्त शकट उनका अङ्ग नहीं किन्तु उनके उच्चारणार्थ स्वसन्निहित देशविशेष का उपलक्षण है ।

सं०—अब उक्त अर्थ की साधक युक्ति कथन करते हैं :—

समाख्यानञ्चतद्वत् । १७ ।

पद०—समाख्यानं । च । तद्वत् ।

पदा०—(च) और (तद्वत्) जैसे शकटवाची पद देशविशेष का उपलक्षण है वैसेही (समाख्यानं) हविर्धान को ज्योतिष्टोम का ... कथन करना भी उक्त अर्थ का साधक है ।

भाष्य—जैसे शकटवाची यत्, तत् पद लक्षणावृत्ति से शकट सम्बन्धी देशविशेष के बोधक हैं वैसेही "सोमस्य हविर्धानं"=ज्योतिष्टोम का हविर्धान नामक शकट अंग है, यह समाख्यान भी उक्त शकट को ज्योतिष्टोम का अंग बोधन करता हुआ उक्त अर्थ को सिद्ध करता है अर्थात् उक्त समाख्यान से सिद्ध है कि हविर्धान शकट ज्योतिष्टोम याग का अंग है और सामिधेनियें प्रधान कर्म का अंग प्रथम ही सिद्ध हैं और अंगों का परस्पर सम्बन्ध नहीं होता, यह भी कई बार कथन किया गया है, इसमें पुनः कथन की आवश्यकता नहीं, और अंग होने के कारण जब हविर्धान शकट तथा सामिधेनियों का परस्पर सम्बन्ध ही नहीं होसक्ता तो उनके परस्पर अङ्गाङ्गिभाव की कैसे संभावना होसक्ती है और जिसकी संभावना भी नहीं हो सक्ती उसका मानना सर्वथा अनुचित है, इसलिये "उत यत्सुन्वन्ति" वाक्य में जो यत्, तत् पदों से दक्षिणहविर्धान नामक शकट का निर्देश किया है वह देशविशेष के अभिप्राय से किया है अतएव वह सामिधेनियों के उच्चारणार्थ स्वसन्निहित देशविशेष का उपलक्षण है सामिधेनियों की अङ्गता का बोधक नहीं ।

सं०—अब ऋत्विजों द्वारा अंग कर्मों का अनुष्ठान कथन करने के लिये प्रधान कर्म का अनुष्ठान यजमानमात्र को कर्तव्य कथन करते हैं :—

शास्त्रफलं प्रयोक्तरि तल्लक्षणत्वात् तस्मात्स्वयं प्रयोगे स्यात् । १८ ।

पद०—शास्त्रफलं । प्रयोक्तरि । तल्लक्षणत्वात् । तस्मात् । स्वयं । प्रयोगे । स्यात् ।

पदा०—(शास्त्रफलं) शास्त्रोक्त "अग्निहोत्र" आदि कर्मों का फल (प्रयोक्तरि) अनुष्ठाता में होता है, क्योंकि (तल्लक्षणत्वात्) वही उसका भोक्ता शास्त्र से सिद्ध है (तस्मात्) इसलिये (प्रयोगे) उनके अनुष्ठान में (स्वयं) आपही (स्यात्) अनुष्ठाता हो।

भाष्य—"**अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकामः**" "**दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत स्वर्गकामः**" "**ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत**"=इस जन्म तथा परजन्म में सुख की कामना वाला पुरुष अग्निहोत्र; दर्शपूर्णमास तथा ज्योतिष्टोम याग करे, इत्यादि वाक्यों में जो ऐहिक तथा पारलौकिक सुख के साधन अग्निहोत्र आदि कर्म विधान किये हैं उनका स्वयं अनुष्ठान करे किंवा दूसरे से करावे ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इसप्रकार कीगई है कि जो कर्म का कर्ता होता है वही उसके फल का भोक्ता होता है यह नियम है, यदि यह नियम न होता तो उक्त वाक्यों में स्वर्गकाम के उद्देश से अग्निहोत्रादि कर्मों का विधान न किया जाता अर्थात् उक्त वाक्यों में जो "जुहुयात्" आदि क्रिया पदों के साथ "स्वर्गकामः" पद का सम्बन्ध किया है उससे भले

प्रकार स्फुट होता है कि जो ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की कामना वाला है वही उक्त कर्मों का अनुष्ठाता होना चाहिये, अनुष्ठान करने वाला तथा अनुष्ठाता यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और यथाविधि कर्म करने का नाम "**अनुष्ठान**" है, यदि कर्त्ता तथा भोक्ता का ऐक्य अभिप्रेत न होता तो जुहुयात् आदि का कर्त्ता ...म कदापि कथन न किया जाता।

तात्पर्य्य यह है कि जुहुयात् आदि पदों में धातु तथा प्रत्यय यह दो अंश हैं, धातु का अर्थ "**होम**" आदि तथा प्रत्यय का अर्थ "**कर्ता**" है और उसका "**स्वर्गकामः**" के साथ समानाधिकरण सम्बन्ध है उन दोनों के सम्बन्ध से यह अर्थ होता है कि सुखभोग की कामना वाला तथा अग्निहोत्रादि कर्मों का कर्ता एक है, जब स्वर्गकाम तथा होमादि का कर्ता यह दोनों एक हैं तब यह अर्थ स्फुट होता है कि यजमान के अतिरिक्त अन्य किसी का उक्त कर्म कर्तव्य नहीं और न उनके किये कर्मों का फल यजमान को प्राप्त होसक्ता है क्योंकि उस पक्ष में जो कर्ता है वह स्वर्ग काम नहीं और जो स्वर्ग काम है वह कर्ता नहीं, अतएव यजुर्वेद ४०।२ में कहा है कि "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः**" = वेदोक्त कर्मों को करता हुआ ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करे, यदि अन्य के किये कर्मों का फल अन्य को प्राप्त होता तो "**कुर्वन्**" के स्थान में अवश्यमेव "**कारयन्**" का प्रयोग किया जाता परन्तु ऐसा नहीं किया, और वैशेषिक ६।१।४ में इसका बलपूर्वक निषेध किया है कि "**आत्मान्तरगुणानामात्मान्तरेऽकारणत्वम्**" = एक के किये कर्म दूसरे

में फल के जनक नहीं होते, और वेदान्त दर्शन में भी इस बात को पुष्ट किया है कि "कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः" = जीव जैसा कर्म करता है ईश्वर उसी के अनुसार फल देता है, यदि ऐसा न माना जाय तो सम्पूर्ण विधि निषेध शास्त्र व्यर्थ होजाते हैं, इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि जीव अपने किये कर्मों का फल भोग सक्ता है, दूसरे के किये कर्मों का नहीं, इसलिये मनुष्य मात्र के लिये जो अग्निहोत्रादि कर्म विधान किये गये हैं उनका यजमान स्वयं अनुष्ठान करे कदापि भूलकर ऋत्विजों द्वारा न कराये।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जो पौराणिक लोग मृतक श्राद्ध के पक्षपाती हुए यह कहते हैं कि अन्य के किये कर्म का फल दूसरे को भी होता है, वह इस सूत्र से सर्वथा कट जाता है क्योंकि उक्त सूत्र में स्पष्ट रूप से वर्णन किया गया है कि जो कर्म का अनुष्ठाता है वही कर्म के फल का भोक्ता है, यदि अन्य के किये कर्म का फल अन्य को प्राप्त होता तो उक्त सूत्र की प्रवृत्ति कदापि न होती उसकी प्रवृत्ति से सिद्ध है कि जैसे अन्य द्वारा किये गये अग्निहोत्रादि कर्म अन्य में फल के जनक नहीं होते वैसेही अन्य का किया श्राद्ध भी मृतक पित्रों की तृप्ति का हेतु नहीं होसक्ता, मृतक श्राद्ध की मीमांसा "आर्यमन्तव्यप्रकाश" द्वितीय भाग में विस्तार पूर्वक कीगई है, विशेष विस्तार के अभिलाषियों को उक्त भाग का अवलोकन करना चाहिये, यहां उसके विस्तार की आवश्यकता नहीं, इसलिये दिक्प्रदर्शन मात्र ही बहुत है।

सं०—अब अन्य द्वारा भी अङ्ग कर्मों का अनुष्ठान होसक्ता है यह कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

उत्सर्गे तु प्रधानत्वात् शेषकारीप्रधानस्य तस्मादन्यः स्वयं वा स्यात् । १९ ।

पद०—उत्सर्गे । तु । प्रधानत्वात् । शेषकारी । प्रधानस्य । तस्मात् । अन्यः । स्वयं । वा । स्यात् ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (उत्सर्गे) दक्षिणादान में (प्रधानस्य) यजमान का (प्रधानत्वात्) मुख्यत्व विवक्षित है अन्यत्र नहीं, इसलिये (शेषकारी) दक्षिणादान के अतिरिक्त यावदङ्गों का अनुष्ठाता (तस्मात्) यजमान से (अन्यः) भिन्न ऋत्विज (वा) अथवा (स्वयं) आप ही (स्यात्) होता है ।

भाष्य—सम्पूर्ण यागाङ्गों के मध्य दक्षिणादान अर्थात् याग की दक्षिणा देना एक मुख्य अङ्ग है उसका अनुष्ठाता यजमान से भिन्न और कोई नहीं होसक्ता, क्योंकि और सब वरणी से आये हुए होने के कारण असमर्थ हैं और यजमान धनी होने से समर्थ है, परन्तु उक्त अङ्ग से भिन्न और जितने अङ्ग कर्म हैं वह यजमान की भांति ऋत्विज भी कर सक्ते हैं, क्योंकि उनके करने में धन की अपेक्षा न होने के कारण वह स्वयं समर्थ हैं, इसलिये दक्षिणादान रूप अङ्ग कर्म को छोड़कर शेष सब अङ्गकर्मों के अनुष्ठान में यजमान का नियम नहीं उनका अनुष्ठाता यजमान अथवा यजमान से भिन्न ऋत्विज भी होसक्ते हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि धनसाध्य दक्षिणादान रूप कर्म में यजमान के अनुष्ठाता होने का नियम होने पर भी शेष अङ्गकर्मों में उसके अनुष्ठाता होने का कोई नियम नहीं, क्योंकि वह आहुति प्रक्षेप आदि रूप होने से यजमान तथा ऋत्विजों के द्वारा भी

होसक्ते हैं, इसलिये प्रधान कर्म की भांति अङ्ग कर्मों के अनुष्ठान में यजमान किंवा ऋत्विजों का नियम नहीं ।

सार यह निकला कि प्रधानकर्म की भांति दक्षिणादान रूप अङ्ग कर्म को छोड़कर शेष अङ्गकर्मों का अनुष्ठान स्वयं यजमान करे अथवा ऋत्विज करें, दोनों समान हैं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

अन्यो वा स्यात्परिक्रयाम्नानाद्विप्रतिषेधा-त्प्रत्यगात्मनि । २० ।

पद०—अन्यः । वा । स्यात् । परिक्रयाम्नानात् । विप्रतिषेधात् । प्रत्यगात्मनि ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अन्यः) यजमान से भिन्न ऋत्विज ही (स्यात्) शेष अङ्गकर्मों के अनुष्ठाता होने चाहियें, क्योंकि (परिक्रयाम्नानात्) उक्त कर्मों के अनुष्ठानार्थ ही ऋत्विजों का परिक्रय कथन किया है और वह (प्रत्यगात्मनि) अपने आप में (विप्रतिषेधात्) विरुद्ध होने से नहीं होसक्ता ।

भाष्य—प्रधानकर्म तथा अङ्गकर्मों के समुदाय का नाम "**याग**" है, फल के जनक कर्म को "**प्रधानकर्म**" तथा उसके सहकारी कर्मों को "**अङ्गकर्म**" कहते हैं, जैसे प्रधानकर्म अनेक हैं वैसेही अङ्गकर्म भी अनेक हैं, इन सब कर्मों का यथाविधि अनुष्ठान एकाकी यजमान से नहीं होसक्ता, इस अभिप्राय से ऋत्विजों का परिक्रय कथन किया है, परिक्रय, वरण, मूल्यलेना, नौकर रखना, यह सब पर्य्याय शब्द हैं, वह परिक्रय अपने से भिन्नों

में ही बन सक्ता है अपने में नहीं, यदि प्रधान कर्म की भांति सम्पूर्ण अङ्गकर्म भी यजमान को ही अनुष्ठातव्य होते तो "**ऋत्विजो वृणीते**"=ऋत्विजों को मूल्यले, इत्यादि वाक्यों से ऋत्विजों का वरण कथन न किया जाता परन्तु कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि याग में जितने कर्म हैं वह यथाशक्ति यजमान तथा ऋत्विज दोनों से कर्तव्य हैं, करने योग्य, कर्तव्य तथा अनुष्ठातव्य यह तीनों पर्याय शब्द हैं, प्रधान कर्म तथा दक्षिणा-दान रूप अङ्गकर्म यह दोनों केवल यजमानसाध्य होने से यजमान को ही कर्तव्य हैं ऋत्विजों को नहीं, क्योंकि वह प्रधान कर्म के करने में अनधिकारी तथा दक्षिणादान में असमर्थ हैं, और जो शेष अङ्गकर्म हैं उनको वह यथाविधि करसक्ते हैं परन्तु यजमान परिश्रान्त होने के कारण नहीं करसक्ता और स्वयं यजमान के न करने तथा ऋत्विजों के करने पर भी वह यजमानकृत कहे जासक्ते हैं ऋत्विज कृत नहीं, क्योंकि वह यज-मान के परिक्रीत हैं और "**द्रव्येण परिक्रीतैः कृते स्वयमेव कृतं भवति**"=जो नौकरों का किया होता है वह स्वामी का ही किया होता है, इस न्याय के अनुसार उनको यजमानकृत कहने में कोई दोष नहीं, इसलिये शेष अङ्गकर्मों के अनुष्ठाता ऋत्विज हैं यजमान नहीं, यही मानना ठीक है।

तात्पर्य्य यह है कि यागान्तर्गत प्रधान तथा अङ्ग भेद से कर्म अनेक हैं वह सब अकेला यजमान नहीं करसक्ता परन्तु राजा की भांति भृत्यों द्वारा करासक्ता है इसलिये स्वयंकर्तव्य-प्रधानकर्म तथा दक्षिणादान रूप अङ्गकर्म को छोड़कर जितने

शेष अङ्गकर्म हैं वह सम्पूर्ण ऋत्विजों को ही कर्तव्य हैं यजमान को नहीं ।

सं०-अब याग में ऋत्विजों की संख्या कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

तत्रार्थात्कर्तृपरिमाणं स्यादनियमोऽविशेषात् । २१ ।

पद०-तत्र । अर्थात् । कर्तृपरिमाणं । स्यात् । अनियमः। अविशेषात् ।

पदा०-(अनियमः) ऋत्विजों की संख्या का कोई नियम नहीं क्योंकि (अविशेषात्) उसका विधायक कोई वाक्यविशेष नहीं पाया जाता, इसलिये (तत्र) अङ्ग कर्मों के अनुष्ठान में (कर्तृ-परिमाणं) उनकी संख्या (अर्थात्) कर्म के अनुसार (स्यात्) होनी चाहिये ।

भाष्य-यदि "ज्योतिष्टोम" याग के प्रकरण में किसी वाक्य-विशेष से ऋत्विजों की संख्या का विधान पाया जाता तो उक्त याग में उसका कोई नियम होता, क्योंकि वाक्य-विशेष के अनुसार ही नियम का होना संभव है परन्तु ऐसा कोई वाक्यविशेष नहीं है जिससे उनकी संख्या नियत कीजाय और अन्य कोई संख्यानियम का उपाय उपलब्ध नहीं, परिशेष से कर्तव्य कर्म के अनुसार ही संख्या का नियम होना उचित है अर्थात् जैसे लोक में गृह आदि के निर्माण समय कार्य्य को देख कर उसके अनुसार मज़दूर आदि रखे जाते हैं वैसेही याग में भी कर्तव्य कर्मों को देखकर उनके अनुसार ही ऋत्विजों का परिक्रय करना चाहिये, उनकी संख्या का कोई नियम नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अपिवा श्रुतिभेदात्प्रतिनामधेयं स्युः ।२२।

पद०-अपि । वा । श्रुतिभेदात् । प्रतिनामधेयं । स्युः ।

पदा०-"अपि, वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आये हैं (स्युः) ज्योतिष्टोम याग में १७ ऋत्विज नियत होने चाहियें, क्योंकि (प्रतिनामधेयं) प्रत्येक कर्तव्य कर्म के साथ (श्रुतिभेदात्) उनके नाम का भिन्न २ श्रवण पाया जाता है ।

भाष्य-यद्यपि ज्योतिष्टोम याग में इतने ऋत्विज होने चाहियें इस प्रकार संख्याविधायी कोई वाक्यविशेष नहीं मिलता तथापि

"तान्पुरोऽध्वर्युर्विभजाति, प्रतिप्रस्थाता मन्थिनं जुहोति, नेष्टा पत्नीमभ्युदानयति, उन्नेता चमसान् उन्नयति, प्रस्तोता प्रस्तौति, उद्गाता, उद्गायति, प्रतिहर्ता प्रतिहरति, सुब्रह्मण्यः सुब्रह्मण्यामाह्वयति, होता प्रातरनुवाकमनुब्रूते, मैत्रावरुणः प्रेष्यति, अच्छावाको यजति, ग्रावस्तुद् ग्रावस्तोत्रीयमन्वाह" = प्रथम "**अध्वर्यु**" ऋत्विजों का विभाग करता है "**प्रतिप्रस्थाता**" "मन्थी" नामक पात्र से हवन करता है, "**नेष्टा**" यजमान पत्नी को अग्नि के समीप लाता है, "**उन्नेता**" चमस पात्रों को बाहर करता है, "**प्रस्तोता**" प्रस्ताव नामक सामभाग का गान करता है, "**उद्गाता**" साम गाता है, "**प्रतिहर्ता**" साम के चतुर्थ भाग का गान करता है "**सुब्रह्मण्य**" सुब्रह्मण्या नामक ऋचा

का आह्वान करता है "होता" प्रातुरनुवाक का उच्चारण करता है "मैत्रावरुण" प्रैष का उच्चारण करता है "अच्छावाक" याग करता है, "ग्रावस्तुत्" ग्रावस्तोत्र का पाठ करता है, इत्यादि वाक्यों से अध्वर्यु आदि ऋत्विजों की संख्या पाई जाती है उसके पाये जाने से स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम याग में १७ ऋत्विज नियत हैं।

तात्पर्य्य यह है कि ज्योतिष्टोम याग में इतने ऋत्विज होने चाहियें, इस प्रकार का वाक्यविशेष न मिलने पर भी प्रतिकर्म उनके नाम स्पष्टतया उक्त वाक्य में उपलक्षण रूप से कथन किये गये हैं उनकी गणना करने तथा "ब्रह्मा" आदि अन्य ऋत्विजों के मिलाने से नियत संख्या का ज्ञान सहज में ही होजाता है कि ज्योतिष्टोम याग में १७ ऋत्विज होते हैं, इसलिये उनकी संख्या नियत है, अनियत नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं:-

एकस्य कर्मभेदादिति चेत्। २३।

पद०-एकस्य। कर्मभेदात्। इति। चेत्।

पदा०-(कर्मभेदात्) क्रिया भेद से (एकस्य) एकही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि उक्त नाम हैं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-जैसे पाकादिक्रिया के भेद से एकही देवदत्त के पाचक, पाठक आदि अनेक नाम होते हैं वैसेही उक्त विभाग आदि क्रिया के भेद से एकही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि उक्त नाम भी कथन किये गये हैं, इसलिये उनसे ज्योतिष्टोम याग में होने वाले

ऋत्विजों की संख्या का ज्ञान नहीं होसक्ता, अतएव वह नियत भी नहीं मानी जासक्ती ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

नोत्पत्तौ हि । २४ ।

पद०-न । उत्पत्तौ । हि ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं (हि) क्योंकि (उत्पत्तौ) वरण विधायक वाक्य में "अध्वर्यु" आदि १७ ऋत्विजों का वरण विधान किया गया है ।

भाष्य-यदि क्रिया भेद से एकही ऋत्विक् के अध्वर्यु आदि नाम होते तो "अध्वर्युं वृणीते ब्रह्माणं वृणीते" = अध्वर्यु तथा ब्रह्मादि को वरे, इत्यादि वरणवाक्य में एक २ का भिन्न २ वरण न विधान किया जाता, क्योंकि एक के नाना वरण विधान व्यर्थ हैं परन्तु वरण भिन्न २ विधान किया है इससे स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम में १७ ऋत्विज होते हैं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि उक्त १७ ऋत्विजों के मध्य अध्वर्यु १ होता २ उद्गाता ३ ब्रह्मा ४ यह चार मुख्य और शेष इनके तीन २ सहकारी ऋत्विज हैं, इनका विभाग इस प्रकार है कि अध्वर्यु, प्रतिप्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता, होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक, ग्रावस्तुत, उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्यः तथा ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छंसी, आग्नीध्र, पोता, इनके मध्य प्रतिप्रस्थाता आदि गौण ऋत्विज अध्वर्यु आदि मुख्य ऋत्विजों के अधिकार में सर्वदा कार्य्य करते हैं और मुख्य की अपेक्षा इनको दक्षिणा भी अल्प दीजाती है, उसका विशेष रूप से वर्णन आगे किया गया है, यहां उसका दिक्प्रदर्शन ही बहुत है ।

सं०-अब "चमसाध्वर्यु" संज्ञक सहकारी कर्मकर विशेषों का उक्त १७ ऋत्विजों से भेद कथन करते हैं:-

चमसाध्वर्यवश्च तैर्व्यपदेशात् । २५ ।

पद०-चमसाध्वर्यवः । च । तैः । व्यपदेशात् ।

पदा०-(च) और (चमसाध्वर्यवः) उक्त १७ ऋत्विजों से चमसाध्वर्यु भिन्न हैं, क्योंकि (तैः) उक्त १७ के साथ (व्यपदेशात्) इनके वरण का पृथक् कथन पाया जाता है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "अध्वर्यु" आदि की भांति "**चमसाध्वर्यून् वृणीते**"=चमसाध्वर्युओं को वरे, इत्यादि वाक्यों से "चमसाध्वर्युओं" का वरण विधान किया है वह उक्त अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से भिन्न है किंवा नहीं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त याग के प्रकरण में जैसे अध्वर्यु आदि का वरण विधान किया है वैसे चमसाध्वर्युओं का वरण भी विधान किया है, यदि चमसाध्वर्यु उनसे पृथक् न होते तो इनका वरण भी पृथक् विधान न किया जाता, क्योंकि एकही ऋत्विक का दो बार वरण नहीं होसक्ता ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि पाकक्रिया के सम्बन्ध से पाचक संज्ञा की भांति चमससंज्ञक पात्रों के योग से अध्वर्यु आदि उक्त ऋत्विजों की भी "चमसाध्वर्यु" संज्ञा होसक्ती है तथापि "**मध्यतः कारिणां चमसाध्वर्यवः**"=यह अध्वर्यु आदि के सहकारी चमसाध्वर्यु हैं, "**होत्रकाणां चमसाध्वर्यवः**"=यह प्रतिप्रस्था आदि के सहकारी चमसाध्वर्यु हैं, इस प्रकार सम्बन्धार्थक षष्ठी विभक्ति से कथन पाये जाने के कारण अध्वर्यु आदि की ही उक्त

संज्ञा है यह नहीं होसक्ता, क्योंकि सम्बन्ध सर्वदा भिन्नों का ही होता है यह नियम है, यदि अध्वर्यु आदि से चमसाध्वर्यु भिन्न न होते तो "यह मध्यतःकारी अध्वर्यु आदि के चमसाध्वर्यु हैं" "यह प्रतिप्रस्थाता आदि होत्रकों के चमसाध्वर्यु हैं" इस प्रकार भेद कथन न किया जाता, परन्तु किया है, इससे स्पष्ट है कि "चमसाध्वर्यु" उक्त १७ ऋत्विजों से भिन्न हैं।

सं०-अब अध्वर्यु आदि की भांति चमसाध्वर्युओं की संख्या कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

उत्पत्तौ तु बहुश्रुतेः । २६ ।

पद०-उत्पत्तौ । तु । बहुश्रुतेः ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है, चमसाध्वर्यु बहुत होने चाहियें क्योंकि (उत्पत्तौ) वरण वाक्य में (बहुश्रुतेः) बहुवचन से निर्देश कियागया है।

भाष्य-अध्वर्यु आदि की भांति चमसाध्वर्यु नियत हैं किंवा अनियत हैं? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष सिद्धान्ती तथा द्वितीयपक्ष पूर्वपक्षी का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "**चमसाध्वर्यून् वृणीते**" इस वरण वाक्य में चमसाध्वर्युओं का बहुवचन से निर्देश किया है और बहुवचन के अन्तर्गत तीन से लेकर परार्द्ध पर्य्यन्त संख्या का निवेश सर्वसम्मत है, इससे उनकी संख्या की इयत्ता नियत नहीं कीजासक्ती कि इतने चमसाध्वर्यु होने चाहियें।

तात्पर्य्य यह है कि "चमसाध्वर्यून्०" में जो बहुवचन है उसका अर्थ बहुत है और यथासमय तीन, चार, पाञ्च, सात, दश, बीस, को भी बहुत कहसक्ते हैं, इस प्रकार बहुत की सीमा

अत्यन्त लम्बी होने के कारण चमसाध्वर्युओं की कोई संख्या नियत नहीं करसक्ते, इसलिये वह अनियत हैं नियत नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

दशत्वं लिङ्गदर्शनात् । २७ ।

पद०—दशत्वं । लिङ्गदर्शनात् ।

पदा०—(दशत्वं) चमसाध्वर्यु दश होने चाहियें, क्योंकि (लिङ्ग-दर्शनात्) लिङ्ग से उनका दश होना पाया जाता है ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग के विकार "दशपेय" नामक याग में जो **"दशदशैकैकं चमसमनुसर्पन्ति शतं ब्राह्मणाः"**= दश २ एक २ चमसपात्र के समीप सोम भक्षणार्थ जायं, और यह सब ब्राह्मण सौ होते हैं, इस प्रकार एक २ चमस के प्रति दश २ ब्राह्मणों का अनुसर्पण विधान करके ब्राह्मणों की सौ संख्या कथन की है, यह चमसाध्वर्युओं के दश होने में लिङ्ग है, यदि "चमसाध्वर्यु" दश न होते तो तत्सम्बन्धी चमसों के मध्य प्रति चमस सोमभक्षणार्थ दश २ ब्राह्मणों का अनुसर्पण विधान करके उनकी सौ संख्या कथन न की जाती, उक्त संख्या के कथन करने से स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम याग में दश चमस तथा तत्सम्बन्धी चमसाध्वर्यु भी दश ही होते हैं न्यूनाधिक नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में एक २ चमस के प्रति दश २ ब्राह्मणों के अनुसर्पण पूर्वक जो उनकी एकसौ संख्या कथन की है, इससे चमसों का दश होना अत्यन्त स्फुट है, क्योंकि उनके दश होने के कारण ही एक २ के प्रति दश २ ब्राह्मणों का अनुसर्पण मानने से एकसौ संख्या पूर्ण होसक्ती है

अन्यथा नहीं और चमसों के दश होने से तत्सम्बन्धी चमसाध्व-र्युओं का दश होना आवश्यक है, इसमें विवाद का कोई अवसर नहीं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग में जिन चमसाध्वर्युओं का वरण विधान किया है वह दश होते हैं अनियत नहीं।

सं०-अब "शमिता" नामक ऋत्विक् का अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से अपृथक्त्व=पृथक् न होना कथन करने के लिये पूर्व-पक्ष करते हैं:-

शमिता च शब्दभेदात्।२८।

पद०-शमिता। च। शब्दभेदात्।

पदा०-"च" शब्द "तु" शब्द के अर्थ में होने से पूर्वपक्ष का सूचक है (शमिता) "शमिता" नामक ऋत्विक् अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से पृथक् है, क्योंकि (शब्दभेदात्) उनसे इसका नाम भिन्न है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो "**शमितार-मुपनयति**"=शमिता को देय पशु के समीप रहने की आज्ञा दे, इस वाक्य से जो "शमिता" कथन किया है वह अध्वर्यु आदि से पृथक् है किंवा उनके मध्य किसी एकका नाम है? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि अध्वर्यु आदि जितने ऋत्विज कथन किये गये हैं उनके मध्य "शमिता" यह नाम किसी का नहीं और यज्ञ में दान के लिये लाये गये पशु को पृष्ठ स्पर्श तथा पुच २ शब्द आदि के द्वारा शान्त रखना जो शमिता का कर्तव्य कर्म है वह भी किसी का विधान नहीं किया,

प्रत्युत इसके विपरीत उनके नाम तथा कर्म विधान किये गये हैं, और जिसका नाम तथा कर्म जिनसे पृथक् है वह उनसे अपृथक् कैसे होसक्ता है ।

तात्पर्य्य यह है कि संज्ञा तथा कर्तव्य कर्म यह दोही भेद के प्रयोजक हैं और यह दोनों "शमिता" नामक ऋत्विक् में विद्यमान हैं, इसलिये वह अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से पृथक् हैं अपृथक् नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

प्रकरणाद्वोत्पत्त्यसंयोगात् । २९ ।

पद०-प्रकरणात् । वा । उत्पत्त्यसंयोगात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (प्रकरणात्) प्रकरण पठित अध्वर्यु के प्रतिप्रस्थाता आदि सहकारी पुरुषों से "शमिता" भिन्न नहीं, क्योंकि (उत्पत्त्यसंयोगात्) उसका कोई भिन्न वरण वाक्य नहीं पाया जाता ।

भाष्य-दान के लिये यज्ञभूमि में लाया हुआ पशु विलक्षण मनुष्य समुदाय को देखकर व्याकुल तथा चञ्चल न हो जाय, इस अभिप्राय से उसके शमनार्थ अध्वर्यु के सहकारी पुरुषों के मध्य जो नियत किया जाता है उसकी संज्ञा पशु को शान्त रखने के कारण "**शमिता**" होजाती है, यदि यह संज्ञा अध्वर्यु आदि संज्ञा की भांति वरण वाक्य में कथन कीजाती तो अवश्य उसका संज्ञी "शमिता" अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से पृथक् होता, परन्तु वरण वाक्यों में उक्त संज्ञा का श्रवण नहीं होता और जिस प्रकरण में पशु शान्तिरूप निमित्त के वश से उक्त संज्ञा कथन कीगई है

वह अध्वर्यु के सहकारी पुरुषों का प्रकरण है और प्रकरण के बल से उक्त सहकारी पुरुषों के मध्य किसी एककी ही उक्त संज्ञा होनी आवश्यक है, क्योंकि अप्रकृत के ग्रहण से प्रकृत का त्याग होजाता है सो ठीक नहीं, इसलिये "शमिता" अध्वर्यु आदि १७ ऋत्विजों से पृथक् नहीं किन्तु अध्वर्यु के प्रतिप्रस्थाता आदि सहकारी पुरुषों के मध्य किसी एकका नाम है ।

सं०-अब "उपगाताओं" का अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से अपृथक्त्व कथन करते हैं :-

उपगाश्च लिङ्गदर्शनात् । ३० ।

पद०-उपगाः । च । लिङ्गदर्शनात् ।

पदा०-(च) और (उपगाः) उपगाता भी अध्वर्यु आदि से भिन्न नहीं, क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) उनके अभिन्न होने का लिङ्ग पाया जाता है ।

भाष्य-मुख्य गाने वालों के आस पास दायें बायें बैठे हुए जो लोग उनकी खेंची हुई स्वर के साथ मध्य में अपनी स्वर मिलाकर गाते हैं उनको "उपगाता" कहते हैं, ज्योतिष्टोम याग में जो साम गाने वाले उद्गाता आदि ऋत्विजों के उपगाता कथन किये हैं वह अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न हैं किंवा अभिन्न ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इसप्रकार कीगई है कि जैसे अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का वरण विधान किया है वैसे उपगाताओं का वरण विधान नहीं किया, यदि वह पृथक् होते तो अवश्य उनका भी पृथक् वरण विधान किया जाता परन्तु नहीं किया इससे अनुमान होता है कि वह भी शमिता की भांति अध्वर्यु आदि से भिन्न नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि साम गान के प्रकरण में "नाध्वर्युरुपगायेत्" = अध्वर्यु उपगान न करे, इस वाक्य से जो अध्वर्यु के उपगान का निषेध किया है वह उपगाताओं के अपृथक् होने में लिङ्ग है, यदि अध्वर्यु आदि ऋत्विज उपगाता न होते किन्तु उनसे पृथक् कोई अन्य होते तो अध्वर्यु के उपगान का निषेध न किया जाता, क्योंकि निषेध प्राप्त का ही होसक्ता है अप्राप्त का नहीं, परन्तु निषेध किया है, इसलिये सिद्ध है कि ज्योतिष्टोम में जो उपगाता कथन किये हैं वह अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से पृथक् नहीं किन्तु उक्त ऋत्विज ही उपगाता हैं।

सार यह निकला कि जब उद्गाता आदि चारो ऋत्विज सामगान करते हैं तब अन्य ऋत्विज ही उनके आस पास बैठे हुए उपगान करने से उपगाता होजाते हैं उपगान के लिये उक्त ऋत्विजों से अतिरिक्त कोई वरणी से सम्पादन नहीं किया जाता इसलिये शमिता की भांति उपगाता भी अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न नहीं।

सं०-अब सोमविक्रयी को उक्त ऋत्विजों से भिन्न कथन करते हैं:-

विक्रयीत्वन्यः कर्मणोऽचोदितत्वात् ।३१।

पद०-विक्रयी। तु। अन्यः। कर्मणः। अचोदितत्वात्।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वाधिकरण से विलक्षणता सूचनार्थ आया है (विक्रयी) सोम का बेचने वाला (अन्यः) अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न है, क्योंकि (कर्मणः) उसके कर्म सोमविक्रय का (अचोदितत्वात्) विधान नहीं किया गया।

भाष्य-सोमविक्रयी अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न होता है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि विहित कर्मानुष्ठान अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का कर्तव्य है, जिस कर्म का विधान नहीं किया गया उसका वह अनुष्ठान नहीं करसक्ते, सोमविक्रयरूप कर्म का कहीं भी विधान नहीं किया गया और जिसका विधान नहीं कियागया वह अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से किसी अन्य का कर्तव्य होना चाहिये ।

तात्पर्य्य यह है कि ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में **सोमं-क्रीणाति**"=सोम को मूल्य ले,इत्यादि वाक्यों से सोम का मूल्य लेना विधान कियाहै परन्तु जबतक कोई सोम का विक्रेता=बेचनेवाला नहीं है तबतक उसका मूल्य लेना नहीं होसक्ता,बेचनेवाला तथा विक्रयी यह दोनों और विक्रय तथा बेचना यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं,इस प्रकार क्रीणाति विधानान्यथानुपपत्ति से विक्रय का आर्थिक लाभ होने पर भी किसी विधिवाक्य से वह प्राप्त नहीं है और अध्वर्यु आदि ऋत्विज उसी कर्म को करसक्ते हैं जो याग के प्रकरण में विधान कियागया है क्योंकि वह याग करने के लिये वरे गये हैं, याग बाह्य कर्म करने के लिये नहीं, और विहित न होने से सोमविक्रयरूप कर्म यागबाह्य है यागान्तर्गत नहीं,इसलिये ज्योतिष्टोम याग में उपर्युक्त सोम का विक्रयी अध्वर्यु आदि ऋत्विजों से भिन्न है उनके अन्तर्गत कोई एक नहीं ।

सं०-अब यागान्तर्गत कर्म कर पुरुषों के मध्य ऋत्विक् नाम किनका है इसके निर्णयार्थ पूर्वपक्ष करते हैं :-

कर्मकार्य्यात्सर्वेषामृत्विक्त्वमविशेषात् ।३२।

पद०—कर्मकार्य्यात् । सर्वेषाम् । ऋत्विक्त्वम् । अविशेषात् ।

पदा०—(सर्वेषां) याग में जितने कर्म कर पुरुष हैं सब (ऋत्विक्त्वं) ऋत्विक् हैं, क्योंकि (अविशेषात्) एकरूप से (कर्मकार्य्यात्) विहित कर्मों के अनुष्ठाता हैं ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग में जो सत्तरह अध्वर्यु आदि ऋत्विज तथा चमसाध्वर्यु विधान किये गये हैं, उन सब का ऋत्विक् नाम है किंवा केवल अध्वर्यु आदि का ही नाम है चमसाध्वर्युओं का नहीं ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे अध्वर्यु आदि विहित कर्म के अनुष्ठाता हैं वैसेही चमसाध्वर्यु भी विहित कर्म के अनुष्ठाता हैं और ऋतुविशेष में विहित कर्मों के अनुष्ठान करने वाले को ही ऋत्विक् कहते हैं अर्थात् ऋतुविशेष में विहित कर्मों का अनुष्ठान ही ऋत्विक् शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है, और ऋतुविशेष में विहित कर्मों का अनुष्ठान जैसे अध्वर्यु आदि करते हैं वैसेही "चमसाध्वर्यु" भी करते हैं, उक्त कर्मानुष्ठातृत्व रूप निमित्त सबमें समान होने से तन्निमित्तक ऋत्विक् नाम भी सबका समान होना चाहिये, इसलिये ज्योतिष्टोम याग में कर्मकरों के मध्य केवल अध्वर्यु आदि का नाम ही ऋत्विक् नहीं किन्तु १७ अध्वर्यु आदि तथा १० चमसाध्वर्यु सबका नाम ऋत्विक् है ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

न वा परिसंख्यानात् । ३३ ।

पद०—न । वा । परिसंख्यानात् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये आया है (न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (परिसंख्यानात्) ऋत्विजों की सप्तदश संख्या का श्रवण पाया जाता है।

भाष्य—यद्यपि अध्वर्यु आदि तथा चमसाध्वर्यु यह दोनों विहितकर्म के अनुष्ठाता हैं तथापि सबका नाम "ऋत्विक्" नहीं होसक्ता, क्योंकि "सौम्यस्याध्वरस्य यज्ञक्रतोः सप्तदशर्त्विजः"=ज्योतिष्टोम याग के १७ ऋत्विक् होते हैं, इस वाक्य में उनकी संख्या कथन कीगई है, उसका परित्याग उचित नहीं प्रत्युत ऋत्विक् नाम की प्रवृत्ति के निमित्त का भी इसी के अनुसार सङ्कोच होना उचित है अर्थात् "ऋतुषु यजति इति ऋत्विक्"=जो ऋतु विशेष में विहितकर्म का अनुष्ठान करता है उसको "ऋत्विक्" कहते हैं, इस प्रकार अवयवार्थ से सबका नाम ऋत्विक् होने पर भी वाक्य से अध्वर्यु आदि का ही ऋत्विक् नाम सिद्ध होता है और "रूढिर्योगमपहरति"=लोक अथवा शास्त्र उभय सिद्ध अर्थ अवयवार्थ का बाधक होता है, इस न्याय के अनुसार शास्त्रसिद्ध अर्थ का परित्याग करके बाधित अवयवार्थ का ग्रहण उचित नहीं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग में जितने कर्मकर मनुष्य हैं उन सबका नाम ऋत्विक् नहीं किन्तु अध्वर्यु आदि का ही नाम ऋत्विक् है।

सं०—अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं:—

पक्षेणेति चेत्। ३४।

पद०—पक्षेण। इति। चेत्।

पदा०-(पक्षेण) "सौम्यस्याध्वरस्य" वाक्य में सप्तदश का ग्रहण एकदेश के अभिप्राय से किया है (चेन्न) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-"सौम्यस्याध्वरस्य" वाक्य में जो सप्तदश ऋत्विजों का कथन किया है वह इस अभिप्राय से नहीं किया कि ज्योतिष्टोम याग में जितने कर्मकर पुरुष हैं उनके मध्य ऋत्विज केवल अध्वर्यु आदि १७ ही हैं किन्तु "अवयुत्यानुवाद" के अभिप्राय से किया है, एकदेश के ग्रहण पूर्वक समुदाय के अनुवाद का नाम "अवयुत्यानुवाद" है अर्थात् जैसे एकपक्ष के ग्रहण से सम्पूर्ण पक्षी का ग्रहण होजाता है अथवा वस्त्र के एक देश का ग्रहण करने से सम्पूर्ण वस्त्र का ग्रहण समझा जाता है वैसेही यहां एकदेश का ग्रहण है वस्तुतः "ज्योतिष्टोम याग में केवल सप्तदश ही ऋत्विक् हैं" इसके बोधनार्थ नहीं, इसलिये ज्योतिष्टोम याग में जितने पुरुष कर्म कररहे हैं उन सबकी संज्ञा ऋत्विक् है ।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :-

न सर्वेषामनधिकारात् । ३५ ।

पद०-न । सर्वेषाम् । अनधिकारात् ।

पदा०-(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (सर्वेषां) सबका (अनधिकारात्) ऋत्विक् होना कहीं भी कथन नहीं किया ।

भाष्य-यदि "सौम्यस्य" वाक्य के अतिरिक्त किसी अन्य वाक्य में ऋत्विजों की संख्या सत्तरह से अधिक कथन कीजाती

तो उक्त वाक्य में सप्तदश का ग्रहण अनयुत्यानुवाद के अभिप्राय से कल्पना किया जाता, क्योंकि एकत्र समुदाय का कथन होने के कारण ही अन्यत्र एकदेश के ग्रहण से समुदाय का ग्रहण समझा जासक्ता है परन्तु ज्योतिष्टोम याग में जितने कर्मकर पुरुष हैं वह सब ऋत्विज हैं अथवा ज्योतिष्टोम याग में इतने ऋत्विज होते हैं, इस प्रकार किसी वाक्य में भी कथन नहीं किया और ऐसा कथन न होने से उक्त वाक्य में कथन कीगई सप्तदश संख्या को पाक्षिक नहीं मानसक्ते, एकपक्ष में होने वाली तथा दूसरे में न होने वाली का नाम "पाक्षिक" है, इसलिये ज्योतिष्टोम में सब कर्मकर पुरुषों का नाम ऋत्विज नहीं किन्तु अध्वर्यु आदि का नाम ही ऋत्विज है ।

सं०-अब उक्त वाक्य में कथन किये सप्तदश ऋत्विज अध्वर्यु आदि ही ग्रहणीय हैं अन्य नहीं यह नियम कथन करते हैं :-

नियमस्तुदक्षिणाभिः श्रुतिसंयोगात् । ३६ ।

पद०-नियमः । तु । दक्षिणाभिः । श्रुतिसंयोगात् ।

पदा०-"तु" शब्द अनियम की व्यावृत्ति के लिये आया है (नियमः) उक्त सप्तदश ऋत्विज अध्वर्यु आदि ही हैं अन्य नहीं यह नियम (दक्षिणाभिः) दक्षिणावाक्य से पाया जाता है, क्योंकि (श्रुतिसंयोगात्) दक्षिणावाक्य में उनके नाम का सम्बन्ध स्पष्ट है ।

भाष्य-"**सौम्यस्याध्वरस्य**" इस वाक्य में जो सप्तदश ऋत्विज कथन किये हैं वह सप्तदश कौन हैं, क्या अध्वर्यु आदि हैं किंवा उनसे कोई भिन्न हैं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त

सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि " ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ददाति " = ऋत्विजों को दक्षिणा दे, इस वाक्य से ऋत्विजों के प्रति दक्षिणादान का विधान करके पश्चात् " अग्नीधे प्रथमं ददाति ततो ब्रह्मणे ततोऽध्वर्यवे " = सबसे प्रथम अग्नीध्र को दक्षिणा दे, तदनन्तर ब्रह्मा को तत्पश्चात् अध्वर्यु को दे, इत्यादि वाक्यों में एक २ ऋत्विक् के नाम ग्रहण पूर्वक दक्षिणा का विधान किया है, इससे स्पष्ट है कि जिनका दक्षिणा के सम्बन्ध में कीर्तन किया है वही सप्तदश ऋत्विज प्रकृत में विवक्षित हैं, यदि चमसाध्वर्युओं की भी ऋत्विज श्रेणी में ही गणना होती तो दक्षिणा वाक्य में अध्वर्यु आदि की भांति दक्षिणा के साथ २ उनके नाम का उल्लेख भी अवश्य किया जाता, उसके न करने से चमसाध्वर्युओं का ऋत्विजों की श्रेणी में अन्तर्भाव सिद्ध नहीं होता।

तात्पर्य्य यह है कि यदि चमसाध्वर्यु भी ऋत्विज विवक्षित होते तो " ऋत्विग्भ्योदक्षिणांददाति " वाक्य से ऋत्विजों के प्रति दक्षिणादान की प्रतिज्ञा करके "वह ऋत्विज कौन है" इस आकांक्षा के होने पर अवश्य चमसाध्वर्युओं का नाम कथन किया जाता, परन्तु उनका नाम कथन करके अध्वर्यु आदि का नाम कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि ज्योतिष्टोम याग में जो सप्तदश ऋत्विज कथन किये हैं वह अध्वर्यु आदि ही हैं चमसाध्वर्यु नहीं।

सं०—अब उक्त अर्थ में और हेतु कथन करते हैं:—

उक्त्वा च यजमानत्वं तेषां दीक्षाविधानात्। ३७।

पद०—उक्त्वा। च। यजमानत्वं। तेषां। दीक्षाविधानात्।

पदा०-(च) और (यजमानत्वं) सत्र में सब ऋत्विजों को यजमान (उक्त्वा) कथन करके (तेषां) पश्चात् अध्वर्यु आदि की (दीक्षाविधानात्) दीक्षा का विधान करने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"सत्रे ये ऋत्विजस्ते यजमानाः" = "सत्र" में सब ऋत्विज यजमान होते हैं, इस वाक्य से ऋत्विजों को यजमान कथन करके पश्चात् "अध्वर्युर्गृहपतिं दीक्षयित्वा ब्रह्माणंदीक्षयति तत उद्गातारं ततो होतारं ततस्तं प्रतिप्रस्थाता दीक्षयित्वाऽर्धिनोदीक्षयति" = अध्वर्यु गृहपति यजमान को दीक्षा देकर ब्रह्मा, उद्गाता तथा होता को दीक्षा दे, और तदनन्तर "प्रतिप्रस्थाता" अध्वर्यु को दीक्षा देकर अर्धियों को दीक्षा दे, इस दीक्षा वाक्य में यजमान के सदृश अध्वर्यु आदि की दीक्षा का विधान किया है, यदि चमसाध्वर्यु भी ऋत्विज होते तो उक्त दीक्षावाक्य में अध्वर्यु आदि की भांति उनकी दीक्षा का भी कीर्तन किया जाता परन्तु नहीं किया, इसलिये सिद्ध है कि अध्वर्यु आदि ही ऋत्विज हैं, चमसाध्वर्यु नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे ऋत्विजों को दक्षिणा देने का विधान करके पश्चात् दक्षिणावाक्य में अध्वर्यु आदि का ही ग्रहण किया है वैसे ही सत्र में ऋत्विजों को यजमान कथन करके पश्चात् यजमान के धर्म दीक्षा की सब ऋत्विजों में प्राप्ति होने पर अध्वर्यु आदि की दीक्षा का ही विधान किया है, चमसाध्वर्युओं की दीक्षा का नहीं, यदि वह भी ऋत्विज होते तो "सत्रे ये ऋत्विजस्ते यजमानाः" के अनुसार यजमान के धर्म दीक्षा की अवश्य

प्राप्ति होने से उक्त दीक्षा वाक्य में उनकी दीक्षा का विधान किया जाता उसके न करने से स्पष्ट है कि चमसाध्वर्यु ऋत्विज नहीं किन्तु अध्वर्यु आदि ही ऋत्विज हैं।

सार यह निकला कि यद्यपि दीक्षा यजमान का ही धर्म है ऋत्विजों का नहीं तथापि "सत्र" में ऋत्विजों के यजमान होजाने से यजमान के धर्म दीक्षा की भी उनमें प्राप्ति होजाती है और उसकी सब ऋत्विजों में प्राप्ति होने से "वह दीक्षार्ह ऋत्विज कौन हैं" इस प्रकार आकांक्षा होने पर अध्वर्यु आदि की दीक्षा कथन की है, चमसाध्वर्युओं की नहीं, यदि वह भी ऋत्विज होते तो उनकी दीक्षा भी अवश्यमेव विधान की जाती उसके विधान न करने से यह हस्तामलकवत् स्फुट होजाता है कि चमसाध्वर्यु ऋत्विज नहीं किन्तु अध्वर्यु आदि ही ऋत्विज हैं।

सं०—अब उक्त सप्तदश ऋत्विजों में सत्तरहवां यजमान कथन करते हैं:—

स्वामिसप्तदशाः कर्मसामान्यात् । ३८ ।

पद०—स्वामिसप्तदशाः । कर्मसामान्यात् ।

पदा०—(स्वामिसप्तदशाः) उक्त सत्तरह ऋत्विजों में सत्तरहवां यजमान है, क्योंकि (कर्मसामान्यात्) विहितकर्म का कर्ता होने से उनके सदृश है ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग में जो सप्तदश ऋत्विज कथन किये हैं उनमें सत्तरहवां यजमान है किंवा कोई अन्य है? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जैसे विहितकर्म के कर्ता अध्वर्यु आदि ऋत्विज हैं वैसेही यजमान भी विहितकर्म का कर्ता और उक्त कर्मकर्तृत्व रूप सामान्य दोनों

में समान होने से अध्वर्यु आदि के मध्य सत्तरहवां यजमान ही ग्रहण करना ठीक है अन्य नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे छः ज्ञानेन्द्रिय कथन करने से चक्षु आदि के साथ छठे "मन" का ही ग्रहण होता है किसी अन्य हस्त पाद आदि का नहीं वैसे ही सप्तदश ऋत्विज कथन करने से अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विजों के साथ सत्तरवें यजमान का ग्रहण होना उचित है, क्योंकि विहित कर्म का कर्ता होने से वही उनके अत्यन्त सन्निहित है और "**सन्निहितासन्निहितयोःसन्निहितग्रहणं बलीयः**"=सन्निहित तथा असन्निहित दोनों के मध्य सन्निहित का ग्रहण बली होता है, इस न्याय के अनुसार उसका परित्याग भी अनुचित है ।

सार यह निकला कि यद्यपि ज्योतिष्टोम याग में कर्मकर पुरुष अनेक हैं तथापि विहितकर्म के कर्ता केवल सप्तदश हैं, जिनमें १६ अध्वर्यु आदि ऋत्विज तथा सत्तरहवां यजमान है, इसलिये "सप्तदश ऋत्विजः" में भी विहितकर्मकर्तृत्व रूप सामान्य से अध्वर्यु आदि के साथ सत्तरहवें यजमान का ही ग्रहण है अन्य का नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि सप्तदश ऋत्विजों के मध्य १६ अध्वर्यु आदि ऋत्विज और सत्तरहवां यजमान है और उक्त सोलह के मध्य भी अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा ब्रह्मा यह चार ऋत्विज मुख्य और शेष सब इनके सहकारी हैं, यह पीछे कथन किया गया है, यहां उसके दुहराने की आवश्यकता नहीं, उक्त १२ सहकारी ऋत्विजों के मध्य भी कोई विशेष तथा कोई न्यून है अतएव उनकी दक्षिणा भी न्यूनाधिक होती है, यजुर्वेदोक्त कर्म के

करने वाले "अध्वर्यु" के प्रतिप्रस्थाता १ नेष्टा २ उन्नेता ३ यह तीनों सहकारी ऋत्विक अध्वर्यु सहित दीक्षारूप कार्य्य के कर्ता हैं ऋग्वेदोक्त शंसनरूप स्तुति आदि कर्मों के कर्ता "होता" के मैत्रावरुण १ अच्छावाक २ ग्रावस्तुत् ३ यह तीन ऋत्विज साम वेदोक्तगानरूप कर्म के कर्ता "उद्गाता" के प्रस्तोता १ प्रतिहर्त्ता २ सुब्रह्मराय ३ यह तीन ऋत्विज, और चारों वेद के वक्ता सब कर्म्मों के निरीक्षण करने वाले "ब्रह्मा" के ब्राह्मणाच्छंसी १ अग्नीत् २ पोता ३ यह तीन सहकारी ऋत्विज हैं, इनमें मुख्य अध्वर्यु आदि चारों ऋत्विजों की पूर्ण दक्षिणा और सहकारियों के मध्य प्रतिप्रस्थाता, मैत्रावरुण, प्रस्तोता तथा ब्राह्मणाच्छंसी इन चारों की आधी दक्षिणा तथा अर्धिनः संज्ञा नेष्टा, आच्छावाक, प्रतिहर्त्ता तथा अग्नीत् = अग्नीध्र इन चारों की तृतीयांश दक्षिणा तथा "तृतीयिनः" संज्ञा उन्नेता, ग्रावस्तुत, सुब्रह्मण्य तथा पोता इन चारों की चतुर्थांश दक्षिणा तथा "चतुर्थिनः" संज्ञा है अर्थात् यदि याग की चालीस रुपये दक्षिणा हो तो मुख्य ऋत्विजों को चार २ अर्धियों को तीन २ तृतीयांश वालों को दो २ तथा चतुर्थांश वालों को एक २ रुपया दक्षिणा देनी चाहिये, इस प्रकार सर्वत्र दक्षिणा का व्योरा जानना उचित है ।

सं०—अब याग में अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का नियत कर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

ते सर्वार्थाः प्रयुक्तत्वात् । ३९ ।

पद०—ते । सर्वार्थाः । प्रयुक्तत्वात् ।

पदा०—(ते) अध्वर्यु आदि ऋत्विज (सर्वार्थाः) यागान्तर्गत

सब कर्मों के लिये हैं, क्योंकि (प्रयुक्तत्वात्) वह उन्हीं के लिये नियुक्त किये गये हैं।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में जो अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विज हैं वह सबके सब यागान्तर्गत सम्पूर्ण कर्मों के लिये हैं किंवा नियत कर्मों के लिये हैं अर्थात् इनके कर्म अनियत हैं अथवा नियत हैं? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त ऋत्विज यागान्तर्गत सम्पूर्ण कर्म करने के लिये वरे गये हैं किसी एक नियत कर्म के लिये नहीं, और जिन कर्मों के लिये वह वरे गये हैं उन सबका अनुष्ठान उनको अवश्य कर्तव्य है, इसलिये यागान्तर्गत सम्पूर्ण कर्म सब ऋत्विजों को कर्तव्य हैं कोई कर्म किसी का नियत किंवा अनियत नहीं।

तात्पर्य यह है कि अध्वर्यु आदि जो सोलह ऋत्विज हैं उनके मध्य अमुक का अमुक कर्म है, इस प्रकार कर्मानुष्ठान का कोई नियम नहीं सब कर्म सब करसक्ते हैं, क्योंकि वह सब कर्मों के यथाविधि अनुष्ठानार्थ ही भृत्य की भांति रखे गये हैं, इसलिये सबकर्म सबके हैं, कोई कर्म किसी का नियत नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

तत्संयोगात्कर्मणोऽव्यवस्थास्यात् संयोगस्यार्थवत्त्वात्। ४०।

पद०-तत्संयोगात्। कर्मणः। व्यवस्था। स्यात्। संयोगस्य। अर्थवत्त्वात्।

पदा०-(कर्मणः) कर्म का (व्यवस्था) प्रति ऋत्विक् नियम (स्यात्) है, क्योंकि (तत्संयोगात्) उसके साथ आध्वर्यव आदि

समाख्या का सम्बन्ध पाया जाता है और (संयोगस्य) उक्त सम्बन्ध (अर्थवत्त्वात्) सार्थक है निरर्थक नहीं।

भाष्य—यद्यपि यागान्तर्गत सम्पूर्ण कर्मों के यथाविधि अनुष्ठानार्थ अध्वर्यु आदि ऋत्विक् वरे गये हैं तथा वह प्रत्येक कार्य्य के करने में समर्थ भी हैं और प्रकरण से भी उनका सम्पूर्ण कर्मों के साथ सम्बन्ध पाया जाता है तथापि सब ऋत्विक् सब कर्मों के लिये हैं यह कदापि नहीं मानसक्के, क्योंकि ऐसा मानने से अव्यवस्था होजाती है और किसको कौन कर्म कर्तव्य है इसका निर्धारण न होने से याग में विघ्न होजाने का सम्भव है, यह लोक में बहुधा देखा जाता है कि जहां कर्तव्य कर्म अनेक और उनके अनुष्ठाता पुरुष भी अनेक हैं परन्तु अमुक कर्म अमुक पुरुष को कर्तव्य है इस प्रकार की व्यवस्था नहीं है वहां निर्विघ्न समाप्ति नहीं होती, कथञ्चित्समाप्ति होजाने पर भी अनुष्ठान का यथाविधि होना सर्वथा असम्भव है और यह भी लोकसिद्ध बात है कि व्यवस्थित कर्म अपने कर्मानुसार पूर्ण रीति से होते हैं, ज्योतिष्टोम याग में जैसे कर्तव्यकर्म अनेक हैं वैसेही कर्मकर पुरुष भी अनेक हैं उनमें कर्म की व्यवस्था का होना आवश्यक है और उसका एकमात्र उपाय समाख्या है अर्थात् उक्त याग के प्रकरण में जो "आध्वर्यवमिदं हौत्रमेतत्" = यह कर्म आध्वर्यव = अध्वर्यु सम्बन्धी और यह कर्म हौत्र = होता सम्बन्धी है, इस प्रकार प्रत्येक कर्म के साथ "आध्वर्यव" आदि समाख्या का सम्बन्ध पाया जाता है वह निष्प्रयोजन नहीं होसक्ता, क्योंकि निष्प्रयोजन का उल्लेख आर्षग्रन्थों में सर्वथा असम्भव है और सप्रयोजन होने से केवल कर्मव्यवस्था ही उसका प्रयोजन हो-

सक्ती है अन्य नहीं, इसलिये जिस कर्म के साथ जिस समाख्या का योग है वह कर्म उक्त समाख्या वाले ऋत्विक् को ही कर्तव्य है दूसरे को नहीं, यह नियम मानना उचित है।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त याग के प्रकरण में प्रत्येक कर्म के साथ आध्वर्यव आदि समाख्या का सम्बन्ध पाया जाता है और वह लिङ्ग तथा प्रकरण की अपेक्षा निर्बल होने पर भी यहां निर्बल नहीं है क्योंकि उसका लिङ्ग तथा प्रकरण के साथ कोई विरोध नहीं, और विरोध अवस्था में ही निर्बल तथा प्रबल का विचार और उसके अनुसार प्रबल का उपादान तथा निर्बल का हान किया जाता है और विरोध के न होने पर तो लिङ्ग तथा प्रकरण भी समाख्या के अनुसारी होजाते हैं, प्रकृत में लिङ्ग तथा प्रकरण से प्रत्येक कर्म प्रत्येक ऋत्विक् को कर्तव्य प्राप्त है और उक्त दोनों प्रमाणों से प्राप्त कर्म की समाख्या द्वारा व्यवस्था होती है कि अमुक कर्म अमुक ऋत्विक् को कर्तव्य है, इस प्रकार लिङ्ग, प्रकरण तथा समाख्या तीनों प्रमाणों का एकविषय में ऐक्यमत्य होने से सिद्ध है कि ज्योतिष्टोम याग में सबकर्म सब को कर्तव्य नहीं किन्तु जिस कर्म की "आध्वर्यव" समाख्या है वह अध्वर्यु को, जिसकी "हौत्र" समाख्या है वह होता को, और जिसकी "औद्गात्र" समाख्या है वह उद्गाता को कर्तव्य है।

सार यह निकला कि ज्योतिष्टोम याग में कर्म की अव्यवस्था नहीं कि जो जिसको चाहे उसको करे किन्तु समाख्या के बल से प्रत्येक कर्म प्रत्येक ऋत्विक् का नियत है।

सं०—अब समाख्या से प्राप्त नियम का बाध कथन करते हैं:—

तस्योपदेशसमाख्यानेन निर्देशः । ४१ ।

पद०-तस्य । उपदेशसमाख्यानेन । निर्देशः ।

पदा०-(उपदेशसमाख्यानेन) कहीं वाक्यविशेष से (तस्य) कर्म का (निर्देशः) नियम होता है ।

भाष्य-"होतर्यज" "अग्नयेसमिध्यमानायानुब्रूहि" इत्यादि आज्ञावाची "यज" तथा "अनुब्रूहि" आदि पद वाले वाक्यों का नाम "प्रैष" तथा "प्रवो वाजा अभिद्यवः" "अञ्जन्ति त्वामध्वरे देवयन्तः" इत्यादि परमात्मा के स्तावक मन्त्रों का नाम "अनुवचन" है, प्रैप तथा अनुवचन यह दोनों समस्त तथा व्यस्त भेद से दो प्रकार के हैं, भिन्न२ को "व्यस्त" तथा समुच्चित को "समस्त" कहते हैं, उपरोक्त "व्यस्त" के उदाहरण और "होताऽयक्षदग्निं समिधं होतर्यज" इत्यादि समस्त के उदाहरण हैं, अधिक क्या प्रैप भिन्न तथा अनुवचन भिन्न हो तो "व्यस्त" और एकवाक्य में ही दोनों हों तो "समस्त" कहलाते हैं।समस्त,मिलेहुए तथा समुच्चित यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, इनमें "प्रैषा आध्वर्यवा"=प्रैप का कर्ता अध्वर्यु हैं, इत्यादि वाक्यों से प्रैप की समाख्या "आध्वर्यव" और "अनुवचनानि हौत्राणि"=अनुवचन का कर्ता "होता" है, इत्यादि वाक्यों में अनुवचन की समाख्या "हौत्र" कथन की है जिससे उक्त दोनों "अध्वर्यु" तथा "होता" का कर्तव्य सिद्ध होते हैं, परन्तु "मैत्रावरुणः प्रेष्यति चानुचाह"=मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् प्रैष का उच्चारण तथा अनुवाक का पाठ करे, इस वाक्य विशेष में उक्त दोनों "मैत्रावरुण" ऋत्विक् का

कर्तव्य कथन किये हैं, इनमें एक हेय तथा दूसरा उपादेय अवश्य होना चाहिये, क्योंकि परस्पर विरुद्ध होने से दोनों उपादेय कदापि नहीं होसक्ते, बाधित हेय तथा अबाधित उपादेय होता है यह नियम है, जिसका बाध होजाय उसको "बाधित" और उससे भिन्न को "अबाधित" कहते हैं, और प्रबल से निर्बल का बाध सर्व-सम्मत है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, समाख्या तथा वाक्य दोनों के मध्य समाख्या निर्बल और वाक्य प्रबल होता है यह पीछे निरूपण कियागया है, इसलिये यहां वाक्य से समाख्या का बाध होना उचित है, उसके बाध होने से प्रैष तथा अनुवचन यह दोनों अध्वर्यु आदि का कर्तव्य सिद्ध नहीं होसकते किन्तु उक्त वाक्यविशेष से मैत्रावरुण नामक ऋत्विक्विशेष का ही कर्तव्य सिद्ध होते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि समाख्या के बल से प्रैषोच्चारण तथा अनुवचन पाठ अध्वर्यु आदि का कर्तव्य है तथापि उक्त वाक्यविशेष के साथ विरोध होने से वह उनका कर्तव्य नहीं होसक्ते, क्योंकि प्रबल होने के कारण वाक्य से समाख्या का बाध होजाता है और बाधित अर्थ का ग्रहण करना उचित नहीं, इसलिये प्रैषोच्चारणादि मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् का कर्तव्य हैं अध्वर्यु आदि का नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं:-

तद्वच्चलिङ्गदर्शनम्।४२।

पदा०-तद्वत्। च। लिङ्गदर्शनम्।

पदा०-(च) और (तद्वत्) जैसे ऊपर कथन किया है वैसे ही

(लिङ्गदर्शनं) लिङ्ग के देखने से भी पाया जाता है।

भाष्य- "होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः" = प्रातरनुवाक के अनुवचनकर्ता होता से श्रवण करे, इस वाक्य में जो "होता" के अनुवचनकर्ता होने का अनुवाद किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, जो वेद मन्त्र प्रातः पढ़े जाते हैं उनका नाम "प्रातरनुवाक" है, यदि अनुवचन पाठ समाख्या से "होता" को प्राप्त न होता तो उक्त लिङ्गवाक्य में उसका अनुवाद न किया जाता, अनुवाद करने से उसकी प्राप्ति स्पष्ट है और समाख्या द्वारा प्राप्त का वाक्यविशेष से बाध होना उचित है, क्योंकि प्रबल से निर्बल का बाध सर्वसम्मत है, इसलिये वह समाख्या से "होता" आदि को प्राप्त होने पर भी उक्त वाक्यविशेष से मैत्रावरुण को ही कर्तव्य है अन्य को नहीं।

सं०-अब केवल समस्त प्रैषानुवचन को मैत्रावरुण का कर्तव्य कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

प्रैषानुवचनं मैत्रावरुणस्योपदेशात् । ४३ ।

पद०-प्रैषानुवचनं । मैत्रावरुणस्य । उपदेशात् ।

पदा०-(प्रैषानुवचनं) समस्त तथा व्यस्त सब प्रैष और अनुवचन (मैत्रावरुणस्य) मैत्रावरुण को कर्तव्य हैं, क्योंकि (उपदेशात्) वाक्यविशेष से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "मैत्रावरुणः प्रेष्यतिचानुचाह"=मैत्रावरुणनामक ऋत्विक् को प्रैष तथा अनुवचन कर्तव्य है, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें समस्त तथा व्यस्त सम्पूर्ण प्रैष और अनुवचन मैत्रावरुण को कर्तव्य कथन किये हैं किंवा

केवल समस्त अर्थात् समस्त व्यस्त जितने प्रैष तथा अनुवचन हैं उन सबका उच्चारण तथा पाठ मैत्रावरुण करे अथवा जो समस्त प्रैषानुवचन हैं उनका ही करे ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त वाक्य में "प्रेष्यति" तथा "अनुचाह" पद का प्रयोग किया है जिसका अर्थ प्रैषमात्र तथा अनुवचन मात्र होता है, यदि उक्त वाक्य में प्रैषमात्र तथा अनुवचन मात्र विवक्षित न होते तो इस प्रकार उक्त सामान्यवाची शब्द का प्रयोग न कियाजाता, क्योंकि सामान्यवाची शब्द से विशेष अर्थ का लाभ नहीं होता यह सार्वभौम नियम है, परन्तु सामान्य अर्थ के वाची शब्द का प्रयोग किया है, इससे सिद्ध है कि समस्त व्यस्त जितने प्रैष तथा अनुवचन हैं वह सब मैत्रावरुण को कर्तव्य हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे "घटमानय" घट ला, "पुस्तकंपठ" = पुस्तक पढ़, इत्यादि वाक्यों में प्रयुक्त घटमात्र तथा पुस्तकमात्र के वाची घट पुस्तकादि शब्दों से घटविशेष तथा पुस्तकविशेष का बोध नहीं होता किन्तु उपस्थित घट तथा उपस्थित पुस्तक मात्र का बोध होता है वैसे ही "मैत्रावरुणः प्रेष्यतिचानुचाह" वाक्य में भी "प्रेष्यति" तथा "अनुचाह" पद से प्रैषमात्र तथा अनुवचनमात्र का ही बोध होता है और जिस अर्थ का बोध स्पष्ट रूप से होरहा है उसका परित्याग करके अन्य अर्थ की कल्पना करना अयुक्त है, क्योंकि उसमें कोई प्रमाण नहीं पाया जाता, इसलिये जितने समस्त व्यस्त प्रैष तथा अनुवचन हैं वह सब मैत्रावरुण के ही कर्तव्य हैं अन्य के नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

पुरोऽनुवाक्याधिकारो वा प्रैषसन्निधानात् । ४४ ।

पद०-पुरोऽनुवाक्याधिकारः । वा । प्रैषसन्निधानात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (पुरोऽनुवाक्याधिकारः) प्रैषसंयुक्त अनुवचन में मैत्रावरुण का अधिकार है सबमें नहीं, क्योंकि (प्रैषसन्निधानात्) उक्त वाक्य में प्रैष की सन्निधि में अनुवचन का विधान किया गया है।

भाष्य—यद्यपि उक्त वाक्य में सामान्य अर्थ के वाची "प्रेष्यति" तथा "अनुचाहं" पद का प्रयोग किया गया है तथापि उनमें समस्त व्यस्त प्रैष तथा अनुवचन मात्र का ग्रहण नहीं होसक्ता, क्योंकि सामान्य अर्थ का वाची शब्द भी शब्दान्तर के सन्निधान से विशेषार्थ का वाचक देखाजाता है जैसाकि "घटमानय पटञ्चानय"=घट और पट ला, इत्यादि वाक्यों से सामान्य वाची घट पट आदि शब्दों का प्रयोग होने पर भी घट सम्बन्धी पट किंवा पट सम्बन्धी घट रूप विशेष अर्थ का आनयन ही प्रतीत होता है घटमात्र तथा पटमात्र का नहीं, क्योंकि सब का आनयन असम्भव है, प्रकृत वाक्य में भी यद्यपि "प्रेष्यति" आदि सामान्य शब्द का ही प्रयोग किया गया है तथापि उससे "अन्वाह" शब्द का सन्निधान होने के कारण विशेष अर्थ का बोध होना आवश्यक है अर्थात् उक्त वाक्य में जो प्रेष्यति का अन्वाह की सन्निधि में प्रयोग किया गया है वह विशेष अर्थ के माने बिना उपपन्न नहीं होसक्ता, और विशेष अर्थ मानने में

व्यस्त प्रैष तथा अनुवचन का ग्रहण होना असम्भव है, इसलिये उक्त वाक्य में जो मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् का प्रैष तथा अनुवचन कर्तव्य कथन किया है वह समस्त का किया है व्यस्त का नहीं ।

सं०—अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं :—

प्रातरनुवाके च होतृदर्शनात् । ४५ ।

पद०—प्रातरनुवाके । च । होतृदर्शनात् ।

पदा०—(च) और (प्रातरनुवाके) अनुवचनरूप प्रातः पठित अनुवाक में (होतृदर्शनात्) होता का सम्बन्ध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य—यदि सम्पूर्ण प्रैषों तथा अनुवचनों का कर्त्ता मैत्रावरुण ही होता तो अनुवचनरूप प्रातरनुवाक में होता का सम्बन्ध न पाया जाता परन्तु "होतुः प्रातरनुवाकमनुब्रुवतः"= अनुवचन=प्रातरनुवाक का पाठ करते समय होता से श्रवण करे, इस वाक्य में अनुवचन रूप प्रातरनुवाक के साथ होता का सम्बन्ध स्पष्ट पाया जाता है, इसलिये सिद्ध है कि "मैत्रावरुणः प्रेष्यति" वाक्य में जो प्रैष तथा अनुवचन का कर्त्ता मैत्रावरुण कथन किया है वह समस्त व्यस्त सब प्रैषानुवचनों का नहीं किन्तु जो समस्त प्रैषानुवचन हैं उन्हीं का कथन किया है ।

सं०—अब अध्वर्यु को चमसहोमों का कर्त्ता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

चमसांश्चमसाध्वर्यवः समाख्यानात् । ४६ ।

पद०—चमसान् । चमसाध्वर्यवः । समाख्यानात् ।

पदा०-(चमसान्) चमसहोमों को (चमसाध्वर्यवः) चमसाध्वर्यु करें, क्योंकि (समाख्यानात्) "चमसाध्वर्यु" समाख्या से ऐसा ही पायाजाता है ।

भाष्य-चमस पात्रों से जो होम किया जाता है उसका नाम "**चमसहोम**" है, उक्त होम चमसाध्वर्यु करें किंवा अध्वर्यु अर्थात् चमसहोमों का कर्त्ता चमसाध्वर्यु हैं अथवा अध्वर्यु ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि "चमसाध्वर्यु" समाख्या से ही चमसहोमों का कर्त्ता चमसाध्वर्यु सिद्ध है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं अर्थात् यदि चमसहोमों के कर्त्ता चमसाध्वर्यु न होते तो उनका नाम चमसाध्वर्यु ही न होता, चमसाध्वर्यु नाम से सिद्ध है कि वह चमसहोमों के कर्त्ता हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि श्रुति लिङ्ग आदि की भांति समाख्या भी एक विनियोजक प्रमाण है यदि कोई अन्य प्रमाण न हो तो समाख्या से भी अर्थ का निर्णय होता है यह नियम है, प्रकृत में चमसाध्वर्यु समाख्या स्पष्ट है, इसलिये उक्त समाख्या के बल से सिद्ध है कि चमसहोमों का कर्त्ता चमसाध्वर्यु हैं, अन्य नहीं ।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :-

अध्वर्युर्वा तन्न्यायत्वात् । ४७ ।

पद०-अध्वर्युः । वा । तन्न्यायत्वात् ।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अध्वर्युः) चमसहोमों का कर्त्ता अध्वर्यु है, क्योंकि (तन्न्यायत्वात्) यह न्याय से प्राप्त है ।

भाष्य–जितने होम हैं उन सब की समाख्या "आध्वर्यव" है जिससे यह अर्थ स्पष्ट होजाता है कि अध्वर्यु के बिना अन्य किसी को कोई होम कर्तव्य नहीं, यदि चमसहोम का कर्ता अध्वर्यु को न मानकर केवल चमसाध्वर्यु समाख्या के बल से चमसाध्वर्युओं को ही कर्ता मानाजाय तो अन्याय होजाता है, क्योंकि इसमें यावद्होमों के प्रति कर्तारूप से प्राप्त अध्वर्यु का परित्याग किया गया है।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि यावद्होम का कर्ता अध्वर्यु तथा चमसहोमों के कर्त्ता चमसाध्वर्यु दोनों आध्वर्यव तथा चमसाध्वर्यु समाख्या से ही प्राप्त हैं तथापि चमसहोमों के कर्त्ता चमसाध्वर्यु नहीं होसक्ते, क्योंकि "आध्वर्यव" समाख्या की अपेक्षा सापेक्ष होने के कारण चमसाध्वर्यु समाख्या निर्बल तथा "चमसाध्वर्यु" समाख्या की अपेक्षा निरपेक्ष होने के कारण आध्वर्यु समाख्या प्रबल है और प्रबल तथा निर्बल प्रमाण से प्राप्त अर्थों के मध्य प्रबल प्रमाण से प्राप्त ही उपादेय तथा सत्करणीय होता है, यह लोकसिद्ध न्याय है जिसकी उपेक्षा किसी अवस्था में भी उचित नहीं, यदि "आध्वर्यव" समाख्या से प्राप्त अध्वर्यु का परित्याग कियाजाय तो न्याय प्राप्त का त्याग स्पष्ट है। इसलिये चमसहोमों के कर्त्ता चमसाध्वर्यु नहीं किन्तु यावद्होमों का कर्त्ता होने से उनका कर्त्ता भी अध्वर्यु ही है।

सं०–अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:–

चमसेचान्यदर्शनात्। ४८।

पद०–चमसे। च। अन्यदर्शनात्।

पदा०-(च) और (चमसे) चमसहोम में (अन्यदर्शनात्) अन्य का सम्बन्ध पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य--"चमसाँश्चमसाध्वर्य्यवे ददाति"=इन सबके अनन्तर भक्षण के लिये चमसपात्र चमसाध्वर्यु को दे, इस वाक्य में जो हवन के अनन्तर चमसपात्रों का भक्षण के लिये चमसाध्वर्यु को देना कथन किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में हेतु है, यदि चमसहोम के कर्त्ता चमसाध्वर्यु होते तो हवन के अनन्तर उक्त पात्रों का भक्षण के लिये चमसाध्वर्यु को देना कथन न किया जाता, उसके कथन करने से स्पष्ट है कि होमकर्त्ता चमसाध्वर्युओं से अन्य हैं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में होम कर्त्ता को देने वाला और चमसाध्वर्यु को लेने वाला कथन किया है, देनेवाला तथा लेनेवाला यह दोनों कभी एक नहीं होसक्ते, उक्त कथन से सिद्ध है कि चमसहोम का कर्त्ता चमसाध्वर्युओं से कोई भिन्न है और जो भिन्न है वह "आध्वर्यव" समाख्या से "अध्वर्यु" है, इसलिये सार यह निकला कि चमस होम का कर्त्ता अध्वर्यु है चमसाध्वर्यु नहीं।

सं०-अब चमसाध्वर्युओं में "चमसाध्वर्यु" समाख्या की प्रवृत्ति का निमित्त कथन करते हैं, या यों कहो कि यदि चमसाध्वर्यु चमसहोम के कर्त्ता नहीं हैं तो उनकी उक्त समाख्या क्यों प्रवृत्त हुई ? इस शङ्का का समाधान करते हैं:-

अशक्तौ ते प्रतीयेरन् ।४९।

पद०-अशक्तौ । ते । प्रतीयेरन् ।

पदा०-(अशक्तौ) होम करने में अध्वर्यु के असमर्थ होने पर (ते) चमसाध्वर्यु (प्रतीयेरन्) हवन करते हैं।

भाष्य-याग में जितने होम होते हैं उन सब का कर्त्ता अध्वर्यु है, यदि वह किसी कारण से होम न कर सके तो उसके स्थान में चमसाध्वर्यु ही चमस होम करते हैं, इस प्रकार अध्वर्यु की अशक्ति दशा में कदाचित् होम करने का कारण चमसाध्वर्युओं की उक्त समाख्या प्रवृत्त हुई है नियम से चमस होम का कर्त्ता होने के कारण नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त समाख्या की प्रवृत्ति का हेतु अध्वर्यु के असमर्थ काल में होने वाला कादाचित्क चमसहोम है नियत होम नहीं।

सं०-अब प्रसङ्ग सङ्गति से वेदोक्त नानाविध कर्मोंका वेदानुसार अनुष्ठान कथन करते हैं:-

वेदोपदेशात्पूर्ववद्वेदान्यत्वे यथोपदेशं स्युः। ५०।

पद०-वेदोपदेशात्। पूर्ववत्। वेदान्यत्वे। यथोपदेशं। स्युः।

पदा०-(पूर्ववत्) जैसे पूर्व अधिकरण में (वेदोपदेशात्) वैदिक समाख्या के अनुसार चमसहोम का कर्त्ता अध्वर्यु सिद्ध है वैसे ही (वेदान्यत्वे) वेदोक्त नाना कर्मों में भी (यथोपदेशं) वैदिकोपदेशानुसार (स्युः) अनुष्ठान होना चाहिये।

भाष्य-ईश्वरीय होने से वेद ही एक स्वतःप्रमाण है, उसमें जिन२ कर्मों का विधान तथा निषेध किया गया है वह सब यथोपदेश उपादेय तथा हेय हैं अर्थात् वेद जिन कर्मों का विधान करता है उनका अनुष्ठान और जिनका निषेध करता है उनका परिहान

करना उचित है इसमें अनु नच की कोई आवश्यकता नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ को दृढ़ करने के लिये साङ्गवेदाध्ययन की शिक्षा करते हैं:-

तद्ग्रहणाद्वा स्वधर्मः स्यादधिकारसामर्थ्यात् सहाङ्गैरव्यक्तः शेषे । ५१ ।

पद०-तदग्रहणात् । वा । स्वधर्मः । स्यात् । अधिकारसामर्थ्यात् । सह । अङ्गैः । अव्यक्तः । शेषे ।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वोक्त अर्थ से विलक्षणता सूचनार्थ आया है (अधिकारसामर्थ्यात्) अपनी शक्ति अनुसार (अङ्गैः) व्याकरण आदि अङ्गों के (सह) सहित (तद्ग्रहणात्) वेद का ग्रहण होने से ही (स्वधर्मः) स्वधर्म का (स्यात्) निश्चय होसक्ता है अन्यथा नहीं, क्योंकि (शेषे) अङ्गों को छोड़कर केवल वेद से (अव्यक्तः) स्वधर्म स्फुट नहीं होता।

भाष्य-यह बात सत्य है वेदोक्त कर्मों का अनुष्ठान ही मनुष्य मात्र का धर्म है परन्तु वेद ऐसी गम्भीर तथा नाना विद्यामय होने से दुरवग्राह्य है कि साधारण मनुष्य केवल वेदों के अध्ययन से स्वधर्म का निश्चय नहीं कर सक्ता और नाही अवैदिक पुरुषों के व्याख्यानों द्वारा उसका पूर्णरीति से निश्चय होसक्ता है और यावत्पर्य्यन्त निश्चय नहीं होता तावत्पर्य्यन्त उक्त अर्थ के अनुष्ठान में मनुष्य उत्साही नहीं होसक्ता और वेदार्थ का निश्चय व्याकरण आदि षट्अङ्ग तथा सांख्य आदि षट् उपाङ्गाध्ययन के अधीन है अर्थात् जो पुरुष पाञ्च वा आठ वर्ष की आयु से लेकर पचीस वा तीस वर्ष पर्य्यन्त गुरुकुल में ब्रह्मचर्य्यपूर्वक साङ्गोपाङ्ग वेद चतुष्टय का अध्ययन करता है वही पुरुष कौन कर्म अनुष्ठेय तथा

कौन कर्म हेय हैं इस प्रकार वेदोक्त स्वधर्म का निश्चय करके उत्साह पूर्वक अनुष्ठान होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसलिये सब को यह अवश्य कर्तव्य है कि यथाशक्ति साङ्गोपाङ्ग वेद का अध्ययन करें और पश्चात् तदनुकूल कर्म करने में दृढ़ता पूर्वक उत्साही होवें।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि वर्तमान समय में जो अङ्गों तथा उपाङ्गों पर भाष्य उपलब्ध होते हैं वह सब अवैदिक हैं या यों कहो कि अवैदिक भावों को भरकर उनको अवैदिक बना दिया है, अधिक क्या वर्त्तमान भाष्यों में ऐसा कोई भाष्य उपलब्ध नहीं होता जिसको आद्योपान्त वैदिक भाष्य माना जाय श्रीमन्महर्षिस्वामीदयानन्दसरस्वतीजीमहाराज ने जो वर्त्तमान भाष्यों के नाम लिखे हैं वह पाठ्य पुस्तकों के अभिप्राय से लिखे हैं वैदिक तथा प्रमाण होने के अभिप्राय से नहीं, इसलिये वैदिकों को इनके पठन तथा पाठन काल में सर्वदा सावधान रहना चाहिये और वैदिकसिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक पालन तथा प्रचार करना चाहिये।

इति मीमांसार्य्यभाष्ये
तृतीयाध्याये
सप्तमःपादः

ओ३म्

अथ तृतीयाध्याये अष्टमःपादः प्रारभ्यते
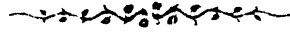
सङ्गति-अब ऋत्विजों के वरण को यजमान का कर्तव्य कथन करते हैं :-

स्वामिकर्म परिक्रयः कर्मणस्तदर्थत्वात् ।१।

पद०-स्वामिकर्म । परिक्रयः । कर्मणः । तदर्थत्वात् ।

पदा०-(परिक्रयः) ऋत्विजों का वरण (स्वामिकर्म) यजमान को कर्तव्य है, क्योंकि (कर्मणः) याग (तदर्थत्वात्) उसी के लिये है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो "ऋत्विजोवृणीते"= ऋत्विजों को वरे, इस वाक्य से ऋत्विजों का वरण विधान किया है वह अध्वर्यु को कर्तव्य है किंवा यजमान को अर्थात् ऋत्विग्-वरण अध्वर्यु का कर्म है अथवा यजमान का ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जिस याग के लिये ऋत्विजों का वरण विधान किया है उसके फल का भोक्ता यजमान है ऋत्विज नहीं, और जो जिसके फल का भोक्ता है उसीको कर्म सिद्धि के लिये ऋत्विग्वरण कर्तव्य है ।

तात्पर्य्य यह है कि याग में आहुति आदिरूप नाना प्रकार के कर्म होते हैं जिनका एकाकी यजमान सम्यक् अनुष्ठान नहीं करसक्ता, उसको उनके अनुष्ठानार्थ सहायकों की परम आवश्यकता है और वह वरणी के नियत किये बिना प्राप्त नहीं

होसक्ते वरणी, भृति तथा नौकरी यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं और जिसके विना सहायक प्राप्त नहीं होसक्ते उसका नियत करना यजमान का ही कर्म होसक्ता है स्वयं ऋत्विजों का नहीं, क्योंकि अपना वरण अपने से सर्वथा असंभव है, इसलिये ऋत्विग्-वरण यजमान का कर्तव्य है स्वयं ऋत्विजों का नहीं।

सं०—अब यजमान की आज्ञा से उक्त वरण को "अध्वर्यु" का कर्तव्य कथन करते हैं :—

वचनादितरेषां स्यात्। २।

पद०—वचनात्। इतरेषां। स्यात्।

पदा०—(वचनात्) यजमान की आज्ञा से (इतरेषां) अध्वर्यु आदि ऋत्विजों का भी (स्यात्) उक्त वरण कर्तव्य होसक्ता है।

भाष्य—यद्यपि ऋत्विग्वरण केवल यजमान का ही कर्तव्य है ऋत्विजों का नहीं तथापि यजमान की प्रेरणा से अध्वर्यु आदि प्रधान ऋत्विजों का भी उक्त वरण कर्तव्य होसक्ता है अर्थात् अध्वर्यु आदि सोलह ऋत्विजों के मध्य अध्वर्यु, होता, उद्गाता तथा ब्रह्मा यह चार प्रधान ऋत्विज हैं, यदि इन चारों का वरण करके पश्चात् यजमान आज्ञा दे कि "तुम सब अपने २ सहायक ऋत्विज स्वयं वर लो" तो उक्त चारो ऋत्विज भी अन्य ऋत्विजों को वर सक्ते हैं और उनके वरे भी यजमान के वरे ही कहेजा-सक्ते हैं क्योंकि वस्तुतः उनके वरण का कर्त्ता वही है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे राजा की आज्ञा से अमात्य द्वारा वरे गये भृत्य राजा के वरे ही कहलाते हैं वैसेही अध्वर्यु आदि ऋत्विजों द्वारा वरे गये ऋत्विज भी यजमान के वरे ही कहे जा

सकते हैं, इसमें कोई दोष नहीं, इसलिये यजमान की आज्ञा से कचित् अध्वर्यु आदि का भी उक्त वरण कर्तव्य होसकता है, यह निश्चेतव्य है ।

सं०-अब "वपन" आदि संस्कारों को याजमानता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

संस्कारास्तु पुरुषसामर्थ्ये यथावेदं कर्मवद् व्यवतिष्ठेरन् । ३ ।

पद०-संस्काराः । तु । पुरुषसामर्थ्ये । यथावेदं । कर्मवत् । व्यवतिष्ठेरन् ।

पदा०-"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (पुरुषसामर्थ्ये) अनुष्ठान योग्यता की सम्पत्ति के लिये (संस्काराः) विधान किये गये "वपन" आदि संस्कारों की (कर्मवत्) आध्वर्यव आदि कर्म की भांति (यथावेदं) वेद के अनुसार (व्यवतिष्ठेरन्) व्यवस्था होनी चाहिये ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "केशश्मश्रूवपते" "दतोधावते" "नखानि निकृन्तते स्नाति"=केश तथा दाढ़ी मुड़ावे, दातन करे, नखून कटाये, स्नान करे, इत्यादि वाक्यों से जो "वपन"=मुंड़ाना आदि संस्कार विधान किये हैं वह ऋत्विजों को कर्तव्य हैं किंवा यजमान को? अर्थात् उक्त संस्कार ऋत्विजों के होने चाहियें अथवा यजमान के ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त संस्कारकर्म यजुर्वेद के व्याख्यानभूत

शतपथ ब्राह्मण में विधान किये गये हैं और उक्त ब्राह्मण यजुर्वेद सम्बन्धी होने के कारण "आध्वर्यव" समाख्या से प्रसिद्ध हैं और जो जिस समाख्या से प्रसिद्ध है उसमें विधान किये गये कर्म भी उक्त समाख्या से समाख्यातपुरुष को ही कर्तव्य होने उचित हैं अर्थात् यजुर्वेदी को "अध्वर्यु" तथा अध्वर्यु सम्बन्धी को "आध्वर्यव" कहते हैं, शतपथ ब्राह्मण को आध्वर्यव होने से तद्विहित उक्त कर्म भी आध्वर्यव होने चाहियें।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे शस्त्र, स्तोत्र आदि कर्म आध्वर्यव, औद्गात्र आदि समाख्या से अध्वर्यु आदि को कर्तव्य हैं वैसेही "केशश्मश्रू वपन" आदि संस्कार कर्म भी आध्वर्यव समाख्या के अनुसार अध्वर्यु को ही कर्तव्य होने ठीक हैं, क्योंकि ऐसा होने से वह यथावेद सिद्ध होते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का यथावेद होना सर्वथा प्रशंसनीय है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो "केशश्मश्रू वपन" आदि संस्कार कर्म विधान किये गये हैं वह अध्वर्यु को कर्तव्य हैं यजमान को नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

याजमानास्तु तत्प्रधानत्वात् कर्मवत् । ४ ।

पद०—याजमानाः । तु । तत्प्रधानत्वात् । कर्मवत् ।

पदा०—"तु" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (कर्मवत्) जैसे प्रधान कर्म यजमान को कर्तव्य होने से याजमान हैं वैसेही (याजमानाः) उक्त वपन आदि संस्कार कर्म भी याजमान हैं, क्योंकि (तत्प्रधानत्वात्) वह फल का भोक्ता होने से प्रधान है।

भाष्य–यजमान सम्बन्धी का नाम "याजमान" है अर्थात् जिसको यजमान करे उसको "याजमान" कहते हैं, जैसे अङ्ग तथा प्रधान कर्मों के मध्य प्रधान कर्म यजमान को कर्तव्य हैं जैसा कि पिछले पाद के १८ वें सूत्र में निरूपण किया गया है वैसे ही "वपन" आदि संस्कार कर्म भी यजमान को कर्तव्य हैं।

तात्पर्य्य यह है कि ऐहिक तथा पारलौकिक फल की कामना से यजमान ही उक्त याग के अनुष्ठान में प्रवृत्त हुआ है और वह अनुष्ठान के योग्य तभी होसक्ता है जब वैदिक मर्य्यादा के अनुसार संस्कृत हो, संस्कृत तथा संस्कारयुक्त यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और उक्त संस्कारों के होने से यजमान यागानुष्ठान के योग्य होता है जैसाकि "मृता वा एषा त्वगमेध्या यत्केशश्मश्रु, मृतामेव त्वचममेध्यामपहत्य यज्ञियो भूत्वा मेधमुपैति" =यह प्राणरहित त्वचा परम अपवित्र है जिसका नाम केश तथा श्मश्रु है, इस अमेध्य त्वचा के दूर करने से पवित्र हुआ यज्ञ के योग्य होजाता है, इत्यादि वाक्यों में स्पष्ट है, और यह लोकसिद्ध भी है कि जो पुरुष संस्कृत हुआ लौकिक तथा वैदिक कर्म नहीं करता वह उससे यथेष्ट फल का लाभ नहीं उठा सक्ता, और यथेष्ट फल की कामना से ही यजमान की उक्त याग के अनुष्ठान में प्रवृत्ति हुई है, यदि वह उक्त संस्कारों से संस्कृत न होतो यागानुष्ठान से यथेष्ट फल को प्राप्त नहीं होसक्ता, और ऋत्विज यजमान की अपेक्षा गौण है, क्योंकि वह केवल यथाविधि कर्मकर है कर्म फल का भोक्ता नहीं और यजमान कर्मकर तथा कर्मफल का भोक्ता होने से प्रधान है, गौण तथा प्रधान दोनों के मध्य फलसमृद्धि के हेतु "वपन" आदि संस्कारों का

भी प्रधान के साथ ही सम्बन्ध होना उचित प्रतीत होता है गौण के साथ नहीं ।

सार यह निकला कि यावत्पर्य्यन्त मनुष्य संस्कृत नहीं होता तावत्पर्य्यन्त वह वैदिक कर्मों के करने का अधिकारी नहीं होसक्ता और यजमान के अधिकारी हुए बिना ऋत्विग्वरण आदि कोई कर्म भी नहीं होसक्ता, और यजमान के अधिकारी हुए बिना जिन ऋत्विजों का वरण ही नहीं होसक्ता उनको वपनादि संस्कार कर्म कर्तव्य हैं यह कदापि बुद्धि में नहीं आसक्ता, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो "वपन" आदि संस्कार विधान किये हैं वह समाख्या के बल से अध्वर्यु को कर्तव्य नहीं किन्तु यजमान को ही कर्तव्य हैं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में हेतु कथन करते हैं :-

व्यपदेशाच्च । ५ ।

पद०-व्यपदेशात् । च ।

पदा०-(च) और (व्यपदेशात्) वपन सम्बन्धी अभ्यञ्जनादि का साक्षात्कथन पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"तमभ्यनक्ति" = यजमान का अभ्यञ्जन=तैलादि से मर्दन करे और तदनन्तर स्नान करे, इत्यादि वाक्यों में वपन के सम्बन्धी अभ्यञ्जनादि का विधान किया है, यदि वपनादि संस्कार ऋत्विजों के विवक्षित होते तो उनके सम्बन्धी अभ्यञ्जनादि संस्कार यजमान के विधान न किये जाते, क्योंकि वपन तथा अभ्यञ्जनादि का परस्पर अव्यभिचारी सम्बन्ध है । लोक में यह बात प्रसिद्ध है कि वपन के अनन्तर तैलादि लगाये जाते और तत्पश्चात् स्नान आदि

कर्म किये जाते हैं, लोक और ब्राह्मणवचन की एकवाक्यता होना आवश्यक है, इसलिये ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में जो वपन आदि संस्कारकर्म विधान किये गये हैं वह यजमान के हैं अध्वर्यु के नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में साधक कथन करते हैं :-

गुणत्वे तस्य निर्देशः । ६ ।

पद०-गुणत्वे । तस्य । निर्देशः ।

पदा०-(गुणत्वे) यजमान के धर्म होने पर ही (तस्य) वपन आदि का (निर्देशः) उक्त विधान बन सक्ता है ।

भाष्य-इसका विशेष वित्ररण ऊपर क भाष्य में किया गया है, उसका भाव यह है कि "तमभ्यनक्ति" वाक्य में जो यजमान का साक्षात् उपादान करके अभ्यञ्जन आदि का विधान किया है वह वपन आदि को यजमान का धर्म माने बिना उपपन्न नहीं होसक्ता, क्योंकि जिसका वपन उसीका अभ्यञ्जन लोक प्रसिद्ध है, यदि वपन ऋत्विजों का और अभ्यञ्जन यजमान का धर्म मानें तो दोनों का वैयधिकरण्य होजाने से लोकप्रसिद्धि का बाध होजाता है, इतना ही नहीं उक्त ब्राह्मण वाक्य भी असम्बद्ध होजाते हैं, इसलिये वपन आदि को यजमान सम्बन्धी मानना ही ठीक है ।

सं०-अब उक्त अर्थ में साधकान्तर कथन करते हैं :-

चोदनांप्रति भावाच्च । ७ ।

पद०-चोदनां । प्रति । भावात् । च ।

पदा०-(च) और (चोदनां, प्रति) जिसके लिये कर्म

विधान किया गया है उसीके प्रति (भावात्) उक्त संस्कार कर्मों का सद्भाव होने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है ।

भाष्य-"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"= ऐहिक तथा पारलौकिक सुख की कामना वाला पुरुष ज्योतिष्टोम याग करे, इस विधिवाक्य में जिस सुख काम के प्रति सुख के साधन ज्योतिष्टोम याग का विधान किया है उक्त संस्कार कर्म भी उसीके होने चाहियें, क्योंकि वह उक्त विधिवाक्य की सन्निधि में विधान किये गये हैं अर्थात् यदि उक्त संस्कारकर्म ऋत्विजों के अभिप्रेत होते तो वह प्रधानकर्म के विधायक वाक्य की सन्निधि में विधान न किये जाते, उनके विधान करने से स्पष्ट है कि जो प्रधान कर्म का कर्ता है उक्त संस्कार कर्म भी उसीके हैं और फल का भोक्ता होने से प्रधानकर्म का कर्ता यजमान निर्णीत है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, इसलिये वपन आदि संस्कार कर्म भी यजमान को ही कर्तव्य हैं अध्वर्यु नामक ऋत्विक् को नहीं ।

सं०-ननु, जैसे फल का भोक्ता होने से उक्त संस्कारकर्म यजमान को कर्तव्य हैं वैसे ही पूर्वपक्ष सूत्रोक्त "आध्वर्यव" समाख्या के बल से अध्वर्यु को भी कर्तव्य क्यों न माने जायं ? उत्तर :-

अतुल्यत्वादसमानविधानाःस्युः ।८।

पद०-अतुल्यत्वात् । असमानविधानाः । स्युः ।

पदा०-(असमानविधानाः, स्युः) उक्त संस्कार कर्म अध्वर्यु तथा यजमान दोनों के लिये समानरूप से विधान किये गये

नहीं होसक्ते, क्योंकि (अतुल्यत्वात्) उक्त दोनों परस्पर समान नहीं हैं।

भाष्य—अध्वर्यु तथा यजमान दोनों के मध्य भृत्य होने से अध्वर्यु गौण तथा स्वामी होने से यजमान प्रधान है, इतना ही नहीं यजमान फल का भोक्ता और अध्वर्यु उसका अभोक्ता है, इस प्रकार दोनों का परस्पर समानभाव न होने से उक्त संस्कार कर्म भी दोनों के लिये समानरूप से विधान किये गये नहीं मानेजासक्ते अर्थात् अध्वर्यु तथा यजमान दोनों में नितान्त भेद है और उसके होने से दोनों के संस्कारों का भेद होना भी उचित है, वपन आदि संस्कारकर्म प्रधानकर्म की सन्निधि में विहित होने से यजमान के निर्णीत हैं वह अध्वर्यु के कदापि नहीं होसक्ते।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि "आध्वर्यव" समाख्या से उक्त संस्कारकर्म अध्वर्यु सम्बन्धी प्रतीत होते हैं तथापि वह अध्वर्यु को कर्तव्य नहीं माने जासक्ते, क्योंकि स्थान प्रमाण से वह यजमान का कर्तव्य सिद्ध हैं और स्थान की अपेक्षा निर्बल होने से उक्त समाख्या का स्थान से बाध होना आवश्यक है और जिसका बाध होजाता है वह पुनः विनियोजक नहीं होसक्ता यह सर्वसम्मत है, अतएव समाख्या के बल से उक्त संस्कारकर्म अध्वर्यु को कर्तव्य सिद्ध नहीं होसक्ते और स्थानप्रमाण तथा पूर्वोक्त युक्तियों से वह यजमान को कर्तव्य सिद्ध हैं, इसलिये उनका दोनों के प्रति समानरूप से विधान नहीं होसक्ता।

सम्पूर्ण अधिकरण का सार यह निकला कि वपन आदि संस्कार यजमान के विधान किये हैं अध्वर्यु के नहीं, अतएव वह याजमान कर्म हैं आध्वर्यव नहीं।

सं०-अब "तप" को याजमान कर्म कथन करते हैं :-

तपश्चफलसिद्धित्वाल्लोकवत् । ९ ।

पद०-तपः । च । फलसिद्धित्वात् । लोकवत् ।

पदा०-(च) और (तपः) वपन आदि की भांति तप भी यजमान का कर्म है, क्योंकि (लोकवत्) लोकसिद्ध परिश्रम रूप तप की भांति वह भी (फलसिद्धित्वात्) फल की सिद्धि का हेतु है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "द्व्यहं नाश्नाति" "त्र्यहं नाश्नाति" = दो दिन अथवा तीन दिन अन्न न खाय, इत्यादि वाक्यों से जो दुग्ध आदि के सेवनपूर्वक दो अथवा तीन दिन पर्य्यन्त अन्न का न खानारूप "तप" विधान किया है वह यजमान का कर्म है किंवा ऋत्विजों का अर्थात् उक्त तप यजमान को कर्तव्य है अथवा ऋत्विजों को ? यह सन्देह है, इस की निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि महान् कार्यों के करने में मनुष्य को निरालस तथा परिश्रमी होना आवश्यक है, जो मनुष्य इन दोनों बातों की ओर पूर्णरीति से ध्यान नहीं देते वह उसको साङ्गोपाङ्ग कदापि पूर्ण नहीं कर सक्ते और उसके पूर्ण न होने से वह फल का लाभ भी नहीं उठा सक्ते, ज्योतिष्टोम याग एक महान् कार्य्य है उसका निर्विघ्न साङ्गोपाङ्ग पूर्ण होना यजमान के अधीन है ऋत्विजों के नहीं, क्योंकि वह यजमान के होने से सर्वदा उसके अनुकारी हैं विपरीतकारी नहीं, यदि उक्त याग का कर्त्ता यजमान तपस्वी तथा परिश्रमी है तो ऋत्विज भी तपस्वी तथा परिश्रमी होसक्ते हैं, अधिक अन्न के अशन

से मनुष्य आलसी और आलसी होने से परिश्रमहीन होजाता है यह लोकसिद्ध है, यदि यजमान अधिक अन्नाशी होने से आलसी तथा परिश्रम हीन होजाय तो याग का यथाविधी साङ्गो-पाङ्ग पूर्ण होना असम्भव है, इसलिये निरालस तथा परिश्रमी होने के अभिप्राय से जो ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "अनशन" रूप "तप" विधान किया है वह यजमान का कर्तव्य है ऋत्विजों का नहीं।

सं०—अब "वाक्यशेष" से उक्त अर्थ की सिद्धि कथन करते हैं :-

वाक्यशेषश्च तद्वत् । १० ।

पद०—वाक्यशेषः । च । तद्वत् ।

पदा०—(च) और (तद्वत्) लोक की भांति (वाक्यशेषः) वाक्य-शेष भी उक्त अर्थ का साधक है।

भाष्य—जैसे कर्मकर पुरुषों के मध्य निरालसी तथा परिश्रमी होनारूप तप प्रधान पुरुष का कर्म लोकसिद्ध है वैसेही **"यदा वै दीक्षितःकृशोभवति अथ मेध्योभवति यदाऽ-स्मिन्नन्तर्न किञ्चन भवति अथ मेध्योभवति"**=जब यज-मान दीक्षित हुआ परिश्रमी होता है तब पवित्र=कर्मानुष्ठान के योग्य होता है, जब इसके भीतर अन्नानशन के कारण यत्किञ्चित् भी आलस्य नहीं रहता तब पवित्र होता है, इत्यादि वाक्यशेष से भी उक्त प्रकार का तप यजमान का ही कर्म सिद्ध होता है, यदि वह यजमान का कर्म न होता तो उक्त वाक्यशेष में तप के प्रभाव से यजमान का पवित्र होना कथन न किया जाता किन्तु

यजमान से अतिरिक्त ऋत्विजों का पवित्र होना कथन किया जाता, परन्तु उसमें उक्त प्रकार के तप से यजमान का ही पवित्र होना कथन किया है इससे सिद्ध है कि वह यजमान का कर्म है ऋत्विजों का नहीं।

सं०—अब उक्त "तप" को वाक्यविशेष के बल से क्वचित् ऋत्विजों का कर्म भी कथन करते हैं :—

वचनादितरेषां स्यात्। ११।

पद०—वचनात्। इतरेषां। स्यात्।

पदा०—(वचनात्) वाक्यविशेष के बल से (इतरेषां) क्वचित् ऋत्विजों का कर्म भी (स्यात्) उक्त तप होता है।

भाष्य—यद्यपि उक्त तप यजमान का ही कर्म है तथापि वचन-विशेष के बल से ऋत्विजों का कर्म भी होता है अर्थात् उक्त तप याजमान कर्म है यह उत्सर्ग है, यदि किसी वाक्यविशेष से इसका अपवाद होजाय तो वह ऋत्विजों का कर्म भी होसक्ता है। सामान्य से प्राप्त का नाम "**उत्सर्ग**" और उत्सर्ग के सङ्कोचकविशेष का नाम "**अपवाद**" है, प्रकृत में तप याजमान कर्म सामान्य से प्राप्त है उसका "**रात्रिसत्रे सर्वे ऋत्विज उपवसन्ति**"= रात्रि सत्र नामक याग में सब ऋत्विज उपवास करें, इस वाक्य-विशेष से रात्रि सत्र में सङ्कोच होजाता है, इसलिये उक्त तप यजमान का कर्म होने पर भी क्वचित् वाक्यविशेष के बल से ऋत्विजों का कर्म भी होजाता है यह निश्चेतव्य है।

सं०—अब उक्त अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं :—

गुणत्वाच्च वेदेन न व्यवस्था स्यात्। १२।

पद०—गुणत्वात् । च । वेदेन । न । व्यवस्था । स्यात् ।

पदा०—(च) और (वेदेन) वेद सम्बन्धी "आध्वर्यव" आदि समाख्या से (व्यवस्था) उक्त तप आदि कर्मों की व्यवस्था (न) नहीं (स्यात्) होसक्ती, क्योंकि (गुणत्वात्) वह गौणकर्म होने से सबका धर्म हैं ।

भाष्य—तप आदि संस्काररूप होने से गौण कर्म हैं और जो गौण कर्म होते हैं उनका समान रूप से सब के साथ सम्बन्ध होता है यह नियम है, यदि समाख्या के बल से उनको केवल अध्वर्यु का ही धर्म मानाजाय तो प्रधान कर्म की सन्निधि में जो उनका विधान किया गया है वह सर्वथा अनुपपन्न होजाता है और स्थान की अपेक्षा निर्बल होने से समाख्या उसका बाध नहीं कर सक्ती प्रत्युत उक्त सन्निधिरूप स्थान प्रमाण से बाधित हुई उक्त कर्मों को अध्वर्यु मात्र का धर्म भी सिद्ध नहीं कर सक्ती, इसलिये समाख्या से उक्त कर्मों की व्यवस्था करना ठीक नहीं, किन्तु कचित् स्थान प्रमाण तथा कचित् वाक्यविशेष से व्यवस्था करना ही ठीक है ।

सार यह निकला कि पूर्वोक्त युक्ति तथा सन्निधि प्रमाण से उक्त "तप" आदि कर्म यजमान को और वाक्यविशेष के बल से कचित् ऋत्विजों को कर्तव्य हैं अध्वर्यु मात्र को नहीं ।

सं०—अब फलकामना को यजमान का कर्म कथन करते हैं :—

तथा कामोऽर्थसंयोगात् । १३ ।

पद०—तथा । कामः । अर्थसंयोगात् ।

पदा०-(तथा) जैसे "तप" यजमान का कर्म है वैसे ही (कामः) फल की इच्छा भी यजमान को कर्तव्य है, क्योंकि (अर्थसंयोगात्) वह उसका भोक्ता है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में "यदि कामयेत-वर्षुकःपर्जन्यः स्यादिति नीचैः सदोमिनुयात्" = यदि यह इच्छा होकि वृष्टि करने वाले मेघ शीघ्र ही आकाश मण्डल में उमुड़ आयें तो जो पूर्व तथा पश्चिम भाग में "हविधान" तथा "प्राचीनवंश" नामक दो मण्डप ऊंचे बनाये गये हैं उनका मध्यवर्ती "सदः" नामक मण्डप उनकी अपेक्षा नीचा बनाया जाय, इत्यादि वाक्यों से वृष्टि आदि रूप फल की कामना कथन की है वह यजमान का कर्म है किंवा ऋत्विजों का अर्थात् उक्त कामना का कर्ता यजमान है अथवा ऋत्विज ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि फल का भोक्ता यजमान सिद्ध है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, और जो फल का भोक्ता है उसीको उसकी इच्छा होनी भी उचित है, क्योंकि भोक्तव्यबुद्धि से ही सर्वदा इष्ट पदार्थ में इच्छा हुआ करती है यह नियम है, इच्छा, कामना तथा काम यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं अर्थात् पुरुष उसी पदार्थ की इच्छा करता है जिसका वह भोक्ता होसक्ता है और जिस पदार्थ का वह भोक्ता नहीं होसक्ता उसकी कामना भी नहीं करता और न उसकी सिद्धि का प्रयत्न करता है, यदि किसान को यह बुद्धि न होकि खेत में होने वाले अन्न का मुझको किसी प्रकार से भी भोग न होगा तो वह उसकी सिद्धि के लिये भूलकर भी प्रयत्न नहीं करता यह लोकसिद्ध तथा सर्वजनसम्मत बात है और

यह भी संभव नहीं कि जो जिसकी इच्छा नहीं करता वह उसका भोक्ता होसक्ता है ।

तात्पर्य्य यह है कि इच्छा तथा भोग यह दोनों समान पदार्थ में ही होते हैं भिन्न में नहीं, कर्मफल का भोग याजमान सर्वसम्मत है और जिसका भोग जिसको सर्वसम्मत है उसकी कामना भी उसीको होना उचित है, इसलिये उक्त वाक्य में जो वृष्टि आदि भोग्य फल की कामना कथन कीगई है वह यजमान का कर्म है ऋत्विजों का नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ का क्वचित् अपवाद कथन करते हैं :-

व्यपदेशादितरेषां स्यात् । १४ ।

पद०-व्यपदेशात् । इतरेषां । स्यात् ।

पदा०-(व्यपदेशात्) वाक्यविशेष के बल से (इतरेषां) ऋत्विज भी (स्यात्) उक्त कामना के कर्त्ता होसक्ते हैं ।

भाष्य-यद्यपि फल की कामना का कर्त्ता यजमान है, यह उत्सर्ग है और जो उत्सर्ग होता है उसकी सर्वत्र अव्याहत गति होती है यह नियम है तथापि वाक्यविशेष के बल से कचित् उसका अपवाद भी होजाता है जैसाकि उद्गीथोपासना के प्रकरण में "**एवंविद् उद्गाताऽऽत्मने वा यजमानाय वायं कामं कामयते तमागायति**"=इस प्रकार विचारवान् "उद्गाता" अपने तथा यजमान के लिये जिस फल की इच्छा करे उसके उद्देश से परमात्मा की स्तुति का साम गान करे, यह वाक्यविशेष पढ़ा है, इसमें यजमान के अतिरिक्त उद्गाता नामक ऋत्विक् का फल की कामना करना स्पष्टतया कथन करने से पूर्वोक्त उत्सर्ग का

अपवाद होजाता है, क्योंकि यदि यजमान ही सर्वत्र फल कामना का कर्त्ता होता तो उक्त वाक्य में उद्गाता को उसकी कामना करने वाला कथन न किया जाता, कथन करने से स्पष्ट है कि क्वचित् वाक्यविशेष के बल से उक्त उत्सर्ग का अपवाद हो जाता है संकोच तथा अपवाद यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि "अपवादविषयं परित्यज्य उत्सर्गः प्रवर्तते" = अपवाद के विषय को छोड़कर उत्सर्ग की प्रवृत्ति होती है, इस न्याय के अनुसार जहां वाक्यविशेष से ऋत्विज फलः कामना के कर्त्ता पाये जायं वहां उक्त उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं होसक्ती, इसलिये सर्वत्र यजमान को फलकामना का कर्त्ता होने पर भी क्वचित् वाक्यविशेष के बल से ऋत्विज भी उक्त कामना के कर्त्ता होते हैं यह सिद्धान्त है ।

सं०-अब "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" इत्यादि मन्त्रों का पाठ यजमान को कर्तव्य कथन करते हैं :-

मन्त्राश्चाकर्मकरणास्तद्वत् । १५ ।

पद०-मन्त्राः । च । अकर्मकरणाः । तद्वत् ।

पदा०-(च) और (अकर्मकरणाः) जिन मन्त्रों का आहुतिप्रक्षेप आदि क्रिया में विनियोग नहीं है (मन्त्राः) उन सब मन्त्रों का पाठ (तद्वत्) फलकामना की भांति यजमान को कर्तव्य है ।

भाष्य-विनियुक्त तथा अविनियुक्त भेद से मन्त्र दो प्रकार के होते हैं, जिनका आहुतिप्रक्षेप आदि क्रिया में विनियोग है उनको "विनियुक्त" और जिनका किसी क्रिया में विनियोग

नहीं उनको "अविनियुक्त" कहते हैं। "तेजोऽसि तेजो-मयि धेहि" = हे परमात्मन् ! आप प्रकाशस्वरूप हैं मेरे में प्रकाश का आधान करें, इत्यादि अविनियुक्त मन्त्र परमात्मा से तेज आदि गुणों की प्रार्थना के लिये यज्ञ में पढ़े जाते हैं, उनका पाठ यजमान को कर्तव्य है किंवा ऋत्विजों को अर्थात् उक्त मन्त्रों द्वारा परमात्मा से तेज आदि गुणों की प्रार्थना यजमान करे अथवा ऋत्विज ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि जैसे "दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्ग-कामो यजेत" = सुख की कामनावाला पुरुष दर्शपूर्णमास याग करे, इत्यादि वाक्यों में "स्वर्गकाम" तथा "यजेत" का क्रियाकर्तृभाव सम्बन्ध होने से "जो याग का कर्त्ता है वही स्वर्गकाम है" यह अर्थ होता है, और उससे सुखरूप यागफल की कामना करना यजमान का कर्तव्य है वैसेही उक्त मन्त्रों में भी "तेज" आदि गुणों का "मयि" के साथ सम्बन्ध है जिससे अपने में तेज आदि गुणों के आधानकी प्रार्थना स्पष्टरूप से पाई जाती है, अपने लिये तेज आदि गुणों की प्रार्थना करना यजमान काही कर्तव्य है ऋत्विजों का नहीं, क्योंकि उसीने वैदिक आज्ञा के अनुसार यथाविधि याग का अनुष्ठान किया है और ऋत्विज यजमान से परिक्रीत होने के कारण अपने लिये उक्त गुणों की प्रार्थना नहीं करसक्ते अर्थात् यह लोकसिद्ध बात है कि जो पुरुष अपने स्वामी की आज्ञा का यथाशक्ति पालन करता है वही प्रसन्न समझकर उससे प्रार्थी होता है, याग का यथाविधि अनुष्ठान यजमान ने किया है ऋत्विजों ने नहीं, क्योंकि वह यज-

मान के परिक्रीत हैं और "परिक्रीतैः कृतं यजमानकृतं भवति न स्वकृतं"=परिक्रीतों का किया कार्य यजमान का ही किया होता है परिक्रीतों का नहीं, यह न्याय सिद्ध है और ऋत्विजों की ओर से भी यह प्रार्थना यजमान के लिये नहीं होसक्ती, क्योंकि उसके होने से "मयि" तथा "धेहि" का सम्बन्ध अनुपपन्न होजाता है, सो ठीक नहीं, इसलिये याग में उक्त मन्त्रों का पाठ यजमान का कर्तव्य है ऋत्विजों का नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में युक्ति कथन करते हैं:-

विप्रयोगे च दर्शनात् । १६ ।

पद०-विप्रयोगे । च । दर्शनात् ।

पदा०-(च) और (विप्रयोग) प्रवास में (दर्शनात्) उक्त प्रार्थना का विधान पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"इहैव सन् तत्र सन्तं त्वाऽग्ने"=हे प्रकाश स्वरूप परमात्मन्! मैं यहां प्रवास में रहा हुआ भी आप से उक्त गुणों की प्रार्थना करता हूं, इस वाक्य में जो प्रवास में स्थित की प्रार्थना का अनुवाद किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में हेतु है, यदि ऋत्विज उक्त मन्त्रों द्वारा प्रार्थना के कर्त्ता होते तो प्रवास में उसके होने का अनुवाद न किया जाता, क्योंकि वह याग को छोड़कर कहीं नहीं जासक्ते, और कार्य्यवशात् यजमान का प्रवास संभव है और उसके संभव होने से उक्त अनुवाद भी बन-

सक्ता है, इसलिये सिद्ध है कि उक्त मन्त्रों का पाठ यजमान को ही कर्तव्य है अध्वर्यु आदि ऋत्विजों को नहीं।

सं०–अब "वाजस्य मा प्रसव" यजु० १७।६३ इत्यादि मन्त्रों का पाठ "यजमान" तथा "अध्वर्यु" दोनों को कर्तव्य कथन करते हैं:–

द्व्याम्नातेषूभौ द्व्याम्नानस्य अर्थवत्त्वात्। १७।

पद०–द्व्याम्नातेषु। उभौ। द्व्याम्नानस्य। अर्थवत्त्वात्।

पदा०–(द्व्याम्नातेषु) दोबार जिन मन्त्रों का पाठ किया गया है उनका पाठ (उभौ) यजमान तथा अध्वर्यु दोनों को कर्तव्य है, क्योंकि (द्व्याम्नानस्य) ऐसा मानने से दोबार पाठ (अर्थवत्त्वात्) सार्थक होजाता है।

भाष्य––दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "वाजस्य मा प्रसव" यजु० १७।६३ इत्यादि मन्त्रों का पाठ विधान किया है, और उनका याजमान काण्ड में एक बार पाठ करके दोबारा आध्वर्यव काण्ड में पाठ किया है, इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त मन्त्रों का पाठ यजमान तथा अध्वर्यु दोनों को कर्तव्य है किंवा केवल यजमान अथवा केवल अध्वर्यु को ही कर्तव्य है अर्थात् उक्त मन्त्रों का पाठ यजमान तथा अध्वर्यु दोनों करें किंवा यजमान अध्वर्यु दोनों के मध्य एक ही करे? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त मन्त्रों का पाठ यजमान काण्ड में करके पुनः आध्वर्यव काण्ड में किया गया है,

यदि उनका पाठ केवल यजमान अथवा केवल अध्वर्यु को ही कर्तव्य होता तो उनका दोनों काण्डों में दोबार पाठ न किया जाता, पाठ तथा आम्नान,यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं परन्तु किया है, इससे स्पष्ट है कि उक्त मन्त्रों का पाठ दोनों को कर्तव्य है।

तात्पर्य्य यह है कि यदि याजमान काण्ड में आम्नान होने से उक्त मन्त्रों का पाठ यजमान को कर्तव्य मानें तो आध्वर्यव काण्ड में उनका आम्नान व्यर्थ होजाता है और आध्वर्यव काण्ड में आम्नान होने से उक्त मन्त्रों का पाठ अध्वर्यु को कर्तव्य मानें तो याजमानकाण्ड में पुनः उनका आम्नान व्यर्थ होजाता है और यदि दोनों काण्डों में आम्नान होने से उक्त मन्त्रपाठ को दोनों का कर्तव्य मानें तो दोनों काण्डों में उक्त मन्त्रों का आम्नान सार्थक होजाता है, व्यर्थ तथा सार्थक दोनों के मध्य सार्थक करने का यत्न करना उत्तम तथा उचित है और वह सार्थक तभी होसकता है जब यजमान तथा अध्वर्यु दोनों को उनका पाठ कर्तव्य स्वीकार किया जाय अन्यथा नहीं, इसलिये दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में जो "वाजस्य मा" इत्यादि मन्त्र पढ़े गये हैं वह यजमान तथा अध्वर्यु दोनों को ही पठितव्य हैं एक २ को नहीं।

सं०—अब मन्त्रार्थवेत्ता यजमान से मन्त्रों का पाठ कराना कथन करते हैं:—

ज्ञाते च वाचनं नह्यविद्वान् विहितोऽस्ति।१८।

पद०—ज्ञाते। च। वाचनं। न। हि। अविद्वान्। विहितः। अस्ति।

पदा०-(ज्ञाते) मन्त्रों के अर्थ को जानने वाले यजमान से (च) हा (वाचनं) याग में पठनीय मन्त्रों का पाठ कराये (हि) क्योंकि (अविद्वान्) मन्त्रार्थानभिज्ञ (विहितः) कहीं भी यजमान विधान किया गया (न, अस्ति) उपलब्ध नहीं होता।

भाष्य-याग में जिन मन्त्रों का पाठ यजमान से कराया जाता है उनके अर्थ का वह अभिज्ञ होना चाहिये किंवा नहीं अर्थात् मन्त्रार्थ के ज्ञाता यजमान से पाठ कराया जाय अथवा मन्त्रार्थानभिज्ञ से भी ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि सर्वत्र विद्वान् का ही यजमान बनाना विधान किया है, ऐसा कोई शब्द-प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो कि वेदार्थानाभिज्ञ भी यजमान होसक्ता है अर्थात् वेद तथा ब्राह्मण सब ग्रन्थों में विद्वान् को ही यजमान होना कथन किया है और विद्वान् उसीको कहते हैं जो साङ्गोपाङ्ग वेदार्थ का ज्ञाता हो और जो साङ्गोपाङ्ग वेदार्थ का ज्ञाता है वह याग में पठनीय मन्त्रों के अर्थ का ज्ञाता है यह स्वयमेव सिद्ध है अर्थात् वेदादि शास्त्रों के अपठित का यजमान होना कहीं भी नहीं पाया जाता और जिसका विधान नहीं पायाजाता वह यजमान भी नहीं होसक्ता, और उसके यजमान न होने से उसको मंत्रों का पाठ कर्तव्य होना भी असंभव है और जिसका संभव ही नहीं उसके विषय में सन्देह भी नहीं होसक्ता और विद्वान् का यजमान होना सर्वत्र विधान किया गया है, इसलिये ऋत्विजों को उचित है कि वह अविद्वान् यजमान के वरणी न बनें और न उससे याग में मन्त्रों का पाठ करायें किन्तु विद्वान् यजमान के वरणी बनें और विद्वान् यजमान से ही याग में मन्त्रों का पाठ करायें।

तात्पर्य्य यह है कि सर्वत्र विद्वान् को ही यजमान होना विधान किया है इसलिये याग में पठनीय मन्त्रों का पाठ भी विद्वान् को ही कारयितव्य तथा कर्तव्य है, अविद्वान् को नहीं ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि पूर्वमीमांसा के अर्वाचीन भाष्यकार "शबर" स्वामी ने जो इस अधिकरण में "कल्प्तीर्य-जमानं वाचयति" = कल्प्ति संज्ञकमन्त्रोंकापाठ यजमान सेकरावे, इस वाक्य का उदाहरण होकर यह विचार किया है कि "आयुर्यज्ञेन कल्पताम्" यजु० २२ । ६३ इत्यादि क्लृप्ति संज्ञक मन्त्रों का पाठ मन्त्रार्थाभिज्ञ यजमान से कराये अनभिज्ञ से नहीं, सो इस लिये ठीक नहीं कि जब प्रथमाध्याय में बड़े बलपूर्वक सिद्ध कर आये हैं कि मनुष्य मात्र को अर्थसहित साङ्गोपाङ्ग चारो वेद पठितव्य हैं तब यहां केवल "आयुर्यज्ञेन" इत्यादि कतिपय मंत्रों के मन्त्रार्थाभिज्ञ द्वारा पाठ के विचारार्थ इस अधिकरण की प्रवृत्ति कैसे होसक्ती है और यदि उक्त भाष्यकार के लेखानुसार यही मानाजाय कि इस अधिकरण की प्रवृत्ति इन्हीं कति-पय मन्त्रों के पाठ विचारार्थ ही हुई है, याग मात्र में पठनीय सब मन्त्रों के विचारार्थ नही तो इससे यह स्फुट होजाता है कि सर्वत्र याग में विद्वान् को ही यजमान होना आवश्यक नहीं केवल "वाज-पये" याग में ही "क्लृप्ति" संज्ञक मन्त्रों के अर्थ का ज्ञाता यजमान होना चाहिये, ऐसी अवस्था में प्रथमाध्याय के साथ विरोध होने के अतिरिक्त इसी अधिकरण सूत्र से विरोध सिद्ध है, जैसा कि "नह्य विद्वान् विहितोऽस्ति" इस सूत्रांश से स्पष्ट कर दिया है कि वेद तथा वेद व्याख्यान में कहीं भी अविद्वान्

यजमान का विधान नहीं और विधान न पाये जाने से विद्वान् का यजमान होना अर्थप्राप्त है, जब इस प्रकार विद्वान् का यजमान होना अर्थ से प्राप्त है तो याग में मन्त्रपाठ के अवसर पर यावत् मन्त्रों के अर्थों का ज्ञाता होना विचारणीय उचित प्रतीत होता है केवल "आयुर्यज्ञेन" इत्यादि मन्त्रों के अर्थों का ज्ञाता ही नहीं। इसलिये शबर स्वामी का यह विचार वैदिकों को आदरणीय नहीं ।

सं०—अब द्वादश द्वन्द्व कर्मों का कर्त्ता अध्वर्यु कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

याजमाने समाख्यानात्कर्माणि याजमानं स्युः । १९ ।

पद०—याजमाने । समाख्यानात् । कर्माणि । याजमानं । स्युः ।

पदा०—(कर्माणि) द्वादश द्वन्द्व नामक कर्म (याजमानं) यजमान को कर्तव्य हैं क्योंकि (याजमाने) याजमानकाण्ड में (समाख्यानात्) उनका कथन पाया जाता है ।

भाष्य—दर्शपूर्णमास याग के याजमानकाण्ड में यह वाक्य पढ़ा है कि "द्वादशद्वन्द्वानिदर्श पूर्णमासयोस्तानि सम्पाद्यानि इत्याहुःवत्सञ्चोपावसृजतिउखाञ्चाधिश्रयति,अवचहन्ति दृशदुपलेच समाहन्ति" = दर्शपूर्णमास याग में द्वादशद्वन्द्व= दो २ कर्म सम्पादन करने के योग्य हैं, पलाश शाखा से वत्सों का अपाकरण तथा दोहेहुए दुग्ध का स्थाली में स्थापन करे, व्रीहियों को कूटे तथा सिला लोढ़े को ठीक करे इत्यादि, इस

वाक्य में जो वत्सापाकरण तथा स्थाल्यधिश्रयण और श्रीह्यवहनन तथा दृषदुपल समाहनन आदि द्वादश द्वन्द्वकर्म विधान किये हैं वह यजमान को कर्तव्य हैं किंवा अध्वर्यु को ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त द्वन्द्वकर्मों का विधान याजमान काण्ड में किया गया है और यजमान सम्बन्धी काण्ड का नाम याजमान काण्ड प्रसिद्ध है और जो जिस काण्ड में विधान किया गया है वह उसीको कर्तव्य होना उचित है, इसलिये उक्त द्वादश द्वन्द्वकर्म यजमान को ही कर्तव्य हैं अध्वर्यु को नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :–

अध्वर्युर्वा तदर्थो हिन्यायपूर्वं समाख्यानम् । २० ।

पद०—अध्वर्युः । वा । तदर्थः । हि । न्यायपूर्वं । समाख्यानम् ।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (अध्वर्यु) अध्वर्यु को उक्त द्वादश द्वन्द्वकर्म कर्तव्य हैं (हि) क्योंकि (तदर्थः) उसका उनके लिये ही परिक्रय किया गया है और (समाख्यानं) उनका याजमान काण्ड में कथन (न्यायपूर्वं) युक्तियुक्त है ।

भाष्य—यद्यपि याजमान काण्ड में उक्त द्वन्द्वकर्मों का विधान किया गया है तथापि वह यजमान का कर्तव्य नहीं, क्योंकि सम्पादन कराने के अभिप्राय से उनका उक्त काण्ड में पाठ किया

गया है कर्तव्य के अभिप्राय से नहीं, यदि उक्त कर्म यजमान को ही कर्तव्य होते तो उनके करने के लिये अध्वर्यु का परिक्रय न किया जाता परन्तु किया है, इससे सिद्ध है कि उक्तकर्म अध्वर्यु को कर्तव्य हैं यजमान को नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि याजमानकाण्ड में जो उक्त द्वादश कर्मों का विधान किया गया है वह सम्पादनीय के अभिप्राय से किया है और यह "तानिसम्पाद्यानि" इस वाक्यांश से स्पष्ट होजाता है कि वस्तु का सम्पादन करना अपने तथा दूसरे दोनों से किया जासक्ता है परन्तु यजमान याग सम्बन्धी अनेक व्यवहारों में आसक्त होने के कारण उनके सम्पादन करने में स्वयं असमर्थ है और स्वयं असमर्थ होने के कारण ही उसने उक्त कर्मों के कर्तव्यार्थ अध्वर्यु का परिक्रय किया है और जिनके कर्तव्यार्थ उसने अध्वर्युका परिक्रय किया है वह सब उसीके कर्तव्य होने उचित हैं, क्योंकि ऐसा न होने से उसका परिक्रय व्यर्थ होजाता है, इसलिये दर्शपूर्ण मास याग के याजमान काण्ड में जो द्वादश द्वन्द्वकर्म कथन किये हैं वह अध्वर्यु को कर्तव्य हैं यजमान को नहीं।

सं०—अब अध्वर्युकर्तृक कर्म का अनुष्ठान "होता" को कर्तव्य कथन करते हैं:—

विप्रतिषेधे करणः समवायविशेषादितर-मन्यस्तेषां यतो विशेषः स्यात्।२१।

पद०—विप्रतिषेधे। करणः। समवायविशेषात्। इतरम्। अन्यः। तेषां। यतः। विशेषः। स्यात्।

पदा०-(विप्रतिषेधे) अध्वर्यु तथा होता से अनुष्ठित दो कर्मों की "कुण्डपायिनामयन" नामक याग में चोदक वाक्य द्वारा होता को कर्तव्यता प्राप्त होने पर (करणः) अध्वर्यु से अनुष्ठित कर्म ही "होता" का कर्तव्य है, क्योंकि (समवायविशेषात्) उसका उसीके साथ सम्बन्ध विशेष पाया जाता है, और (इतरं) दूसरा कर्म (तेषां) होता सम्बन्धी ऋत्विजों के मध्य (अन्यः) होता से भिन्न "मैत्रावरुण" नामक ऋत्विक् को कर्तव्य है (यतः) क्योंकि (विशेषः) उसमें होता का अत्यन्त समीप होना रूप विशेष सम्बन्ध (स्यात्) है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग में जो प्रकाश तथा सोम्यस्वभाव परमात्मा के उद्देश से दान कियाजाता है उसके प्रकरण में "परिवीरसि" यजु० ६।६ मन्त्र द्वारा रशना=रज्जु से यूप का वेष्टन अध्वर्यु को तथा "युवाः सुवासाः" ऋ० ३।१।३ मन्त्र से उक्त परिवेष्टन का अनुवाद होता को कर्तव्य विधान किया है, उक्त मन्त्रों द्वारा अध्वर्यु तथा होता के कर्तव्य यूप परिवेष्टन करण तथा उसका अनुवादन रूप दोनों कर्म वाजपेय यागान्तर्गत "कुण्डपायिनामयन" नामक विकृति याग में "प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या" इस चोदक वाक्य से कर्तव्य प्राप्त हैं, और उक्त विकृति याग में "यो होता सोऽध्वर्युः"= जो होता है वही अध्वर्यु है, इस प्रकार होता को अध्वर्यु कथन किया है, इससे यह सन्देह हुआ कि उक्त विकृति याग में जो चोदक वाक्य से यूपपरिवेष्टन तथा उसका अनुवाद रूप दो कर्म प्राप्त हैं, उन दोनों के मध्य कौन कर्म होता को कर्तव्य है, क्या अध्वर्यु से अनुष्ठित यूपपरिवेष्टनकरणरूप कर्म होता को

कर्तव्य है किंवा उसका अनुवादन रूप स्वकीय कर्म कर्तव्य है अर्थात् प्रकृति याग में यूपपरिवेष्टनकरण रूप जिस कर्म को "अध्वर्यु" करता है उक्त विकृति याग में होता उसको तथा उक्त परिवेष्टनकरण रूप कर्म के अनुवाद रूप स्वकीय कर्म को करे अथवा अध्वर्युकर्तृक उक्त परिवेष्टनकरण रूप कर्म को होता और होतृकर्तृक तदनुवाद रूप कर्म को होता के सहकारी ऋत्विजों के मध्य मैत्रावरुण नामक ऋत्विक् करे ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त विकृति याग में "यो होता सोऽध्वर्युः" वाक्य से साक्षात् होता को अध्वर्यु कथन किया है और जो अध्वर्यु है उसको चोदक वाक्य से प्राप्त अध्वर्युकर्तृक कर्म भी अवश्य कर्तव्य है, क्योंकि वह उसके न करने से अध्वर्यु नहीं होसक्ता और उसके न होने से उक्त वाक्य व्यर्थ होजाता है, परन्तु एकाकी होता चोदक वाक्य से प्राप्त अध्वर्युकर्तृक तथा स्वकर्तृक दोनों कर्मों को नहीं करसक्ता और होतृकर्तृक कर्म का करना भी आवश्यक है परन्तु उसको होता के सहकारियों के बिना कोई दूसरा नहीं करसक्ता क्योंकि दूसरे का किया "होता" का किया नहीं कहा जासक्ता और "होता" के सहकारी ऋत्विज तीन हैं उनके मध्य मैत्रावरुण ही अत्यन्त सन्निहित होने के कारण "होता" की भांति "होता" कहा जासक्ता है और जो "होता" के सदृश तथा जिसका किया कर्म होता का किया कहाजासक्ता है उसको मैत्रावरुण का कर्तव्य मानने में कोई दोष नहीं अर्थात् उक्त विकृति यागमें "यो होता सोऽध्वर्युः" वाक्य द्वारा होता को अध्वर्यु इस अभिप्राय से कथन किया है कि प्रकृति याग में जो कर्म अध्वर्यु का है वह विकृति याग में

"होता" का तथा प्रकृति याग में जो "होता" का कर्म है वह विकृति याग में "होता" के समीपवर्ती "मैत्रावरुण" का कर्तव्य होना चाहिये, यदि उक्त वाक्य का यह अभिप्राय न होता तो "होता" नामक ऋत्विक् में अध्वर्युपने का आरोप कथन न किया जाता परन्तु किया है, इससे सिद्ध है कि प्रकृति याग में जो "परिवीरसि" मन्त्र के उच्चारण पूर्वक रशना से यूप का वेष्टन-करण रूप कर्म अध्वर्यु का है वह उक्त विकृति याग में "होता" को और जो "युवा सुवासाः" मन्त्र के उच्चारण पूर्वक उक्त परि-वेष्टन करण का अनुवाद रूप कर्म होता का है वह होता के समी-पवर्ती मैत्रावरुण को कर्तव्य है दोनों "होता" को नहीं।

तात्पर्य्य यह है कि "यो होता" वाक्य से "होता" को अध्वर्यु कथन किया है वह आध्वर्यव कर्म का "होता" के साथ सम्बन्ध विशेष सूचन करने के लिये किया है और मैत्रावरुण में होता का सम्बन्ध विशेष स्वतः स्पष्ट है और सम्बन्धविशेष के विद्यमान होने से उक्त दोनों कर्मों का अनुष्ठान होता तथा मैत्रा-वरुण को कर्तव्य होसक्ता है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्य-कता नहीं, इसलिये विकृति याग में चोदक वाक्य से प्राप्त "यूप-परिवेष्टनकरण" तथा "तदनुवादनरूप" दोनों कर्म केवल "होता" को कर्तव्य नहीं किन्तु "परिवीरसि" मन्त्र से यूपपरिवेष्टन-करण रूप कर्म होता को तथा "युवो सुवासाः" मन्त्र से उक्त परिवेष्टन का अनुवाद रूप कर्म मैत्रावरुण को कर्तव्य है।

सं०—अब प्रैषकर्त्ता से प्रैषार्थकर्त्ता का भेद कथन करते हैं:—

प्रैषे च पराधिकारात्। २२।

पद०-प्रैषे । च । पराधिकारात् ।

पदा०-(च) और (प्रैषे) प्रैष का कर्त्ता प्रैष के कर्म से भिन्न है, क्योंकि (पराधिकारात्) उसका दूसरे के लिये ही विधान किया गया है ।

भाष्य-आज्ञावाची पद घटित वाक्यविशेष का नाम "प्रैष" तथा उसके उच्चारण कर्त्ता प्रेरक ऋत्विक् का नाम "प्रैषकर्त्ता" और उक्त वाक्य से सम्बोधन विभक्ति के द्वारा जिसको कार्य्य-विशेष के कर्तव्यार्थ आज्ञा दीजाय उस प्रेर्य्य ऋत्विक् का नाम "प्रैषार्थकर्त्ता" है, प्रैषार्थकारी तथा प्रैषार्थकर्त्ता यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "प्रोक्षणीरासादय" "अग्नीदग्नीन्विहर" = "प्रोक्षणी" नामक पात्र को ला, हेअग्नीध्र अग्नियों को प्रज्वलित कर, इत्यादि प्रैषवाक्य पढ़े गये हैं, उक्त प्रैषवाक्यों का उच्चारणकर्त्ता प्रैषार्थकर्त्ता से भिन्न है किंवा दोनों एक हैं? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार की गई है कि उक्त प्रैप वाक्यों में जो सम्बोधन पद "अग्नीत्" तथा मध्यम पुरुष "आसादय" आदि पदों का प्रयोग किया है वह भेदपक्ष में ही उपपन्न होसक्ता है अभेद पक्ष में नहीं, क्योंकि आपही अपनी आज्ञा का विषय नहीं होसक्ता अर्थात् आपही अपने को बुलाकर आज्ञा नहीं करसक्ता कि तु प्रोक्षणी को ला तथा अग्नियों को प्रज्वलित कर, परन्तु ऐसा किया है इससे सिद्ध है कि प्रैपकर्त्ता ऋत्विक् से प्रैषार्थकर्त्ता ऋत्विक् भिन्न है ।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त प्रैप वाक्यों में अग्नीध्र आदि ऋत्विजों को सम्बोधन करके प्रोक्षणी आदि का लाना आदि

विधान किया है उससे प्रेषकर्त्ता प्रेरक तथा प्रषौर्थ का कर्त्ता प्रेर्य्य प्रतीत होता है और प्रेरक तथा प्रेर्य्य का एक होना सर्वथा असंभव है, क्योंकि एक में ही प्रेरक तथा प्रेर्य्य भाव कदापि नहीं होसक्ता, यह लोक सिद्ध है कि आज्ञा करने वाले से जिसको आज्ञा कीजाती है वह भिन्न होता है और आपही अपने को आज्ञा करनेवाला कहीं भी दृष्टिगत नहीं होता और न शास्त्र में ऐसा कोई उदाहरण पाया जाता है जिससे आज्ञाता तथा आज्ञाप्य दोनों को एक मानाजाय प्रेरक, आज्ञाता तथा आज्ञा करनेवाला यह तीनों और प्रेर्य्य, आज्ञाप्य तथा आज्ञा किया-गया यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं। और बिना किसी पुष्कल प्रमाण के उपलब्ध हुए दोनों का एक मानना भी ठीक नहीं, इसलिये प्रैषकर्त्ता प्रेरक तथा प्रैषार्थकर्त्ता प्रेर्य्य दोनों ऋत्विक् भिन्न २ हैं एक नहीं।

सं०—अब अग्नीध्र को प्रैषार्थ का कर्त्ता कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

अध्वर्युस्तु दर्शनात्। २३।

पद०—अध्वर्युः। तु। दर्शनात्।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (अध्वर्युः) उक्त प्रैष के अर्थ का कर्त्ता अध्वर्यु है, क्योंकि (दर्शनात्) उसका प्रैषकर्त्ता से भेद पाया जाता है।

भाष्य—"स्फ्य" = खड्गाकार लकड़ी विशेष को हाथ में पकड़ कर ऋत्विक् प्रैष का उच्चारण करता है और "**वज्रो वै स्फ्यः यदन्वञ्चधारयेत् वज्रेणाध्वर्युं क्षिण्वीत**" = वह स्फ्य वज्र

के समान होता है जो नीचे की ओर झुकाहुआ धारण कियाजाताहै, और प्रैषकर्त्ता उक्त वज्र द्वारा अध्वर्यु का हनन करता है, इस वाक्य में जो प्रैष के उच्चारण समय नीचे की ओर झुका धारण किये खड्ग को वज्र समान कथन करके पुनः उससे अध्वर्यु का हनन कथन किया है, इससे स्पष्ट है कि प्रैष कर्त्ता से भिन्न प्रैषार्थकारी अध्वर्यु है, यदि प्रैषकर्त्ता अध्वर्यु ही होता तो वह उक्त वाक्य में "क्षिण्वति" क्रिया का "अध्वर्युं" इस प्रकार द्वितीयाविभक्त्यन्त"कर्म" न होता,परन्तु कर्म है, इसलिये सिद्ध है कि जो"स्फ्य" को नीची ओर झुका हुआ धारण करने वाला ऋत्विक् है वह प्रैषकर्त्ता तथा उक्त खड्ग द्वारा क्षयाई अध्वर्यु प्रैषार्थकारी है अर्थात् उक्त वाक्य में जो "स्फ्य" के तिरछा पकड़ने के निषेध के अभिप्राय से अध्वर्यु का हनन कथन किया है वह प्रैषकारी तथा प्रैषार्थकारी दोनों के भेद माने बिना उपपन्न नहीं होसक्ता, और उक्त वाक्य से अध्वर्यु हन्तव्य तथा स्फ्यधारी हन्ता है स्पट और "स्फ्यधारी को हन्ता तथा "अध्वर्यु" को हन्तव्य स्पष्ट होने से यह भी स्फुट होजाता है कि स्फ्यधारी प्रैषकारी और अध्वर्यु प्रैषार्थकारी है ।

तात्पर्य्य यह है कि यदि अध्वर्यु प्रैषार्थकारी न होता तो स्फ्यधारी से उसका भेद कथन न किया जाता, और स्फ्यधारी प्रैषकर्ता सर्वसम्मत है,इसलिये सिद्ध हुआकि प्रैषकर्ता से प्रैषार्थकारी भिन्न है और वह अध्वर्यु ही है अन्य नहीं ।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं :—

गौणो वा कर्मसामान्यात् । २४ ।

पद०-गौणः वा । कर्मसामान्यात् ।

पदा०-" वा " शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (गौणः) उक्त वाक्य में जो " अध्वर्यु " शब्द है वह गुणवृत्ति से "अग्नीध्र" का वाचक है क्योंकि (कर्मसामान्यात्) कर्मकर्तृत्वरूपगुण उसमें पाया जाता है।

भाष्य-"वज्रो वै स्फ्यः" वाक्य में जो अध्वर्यु शब्द आया है वह अध्वर्यु का वाचक नहीं किन्तु गुणवृत्ति से " अग्नीध्र " का वाचक है अर्थात् प्रत्येक पद मुख्यवृत्ति तथा गुणवृत्ति से दो अर्थ का वाचक होता है, पदअर्थ के साक्षात् सम्बन्ध का नाम " मुख्यवृत्ति " तथा गुण द्वारा सम्बन्ध का नाम "गुणवृत्ति" है जैसे " सिंहो देवदत्तः " में सिंह शब्द मुख्यवृत्ति से शेर का वाचक होने पर भी शूरवीरतादि गुणों द्वारा शूरवीर पुरुष का वाचक भी होता है वैसे ही उक्त वाक्य में " अध्वर्यु " शब्द मुख्यवृत्ति होने से " अध्वर्यु " ऋत्विक का वाचक होने पर भी कर्तृत्वरूप धर्म द्वारा " अग्नीध्र " ऋत्विक् का वाचक भी होसक्ता है।

तात्पर्य्य यह है कि जिस प्रकार अध्वर्यु प्रैष का कर्ता है वैसे ही अग्नीध्र प्रैषार्थ का कर्ता है, प्रैष तथा प्रैषार्थ का भेद होने पर भी कर्तृत्वअंश में यत्किञ्चित् भी भेद नहीं है, और प्रैष-कर्तृत्व तथा प्रैषार्थकर्तृत्व दोनों का भेद न होने से अध्वर्यु शब्द भी सिंह शब्द की भांति दोनों का वाचक होसक्ता है, भेद केवल इतना है कि अध्वर्यु प्रैषकर्ता तथा अग्नीध्र प्रैषार्थ-कर्ता है।

सार यह निकला कि उक्त वाक्य में जो अध्वर्यु शब्द है वह अध्वर्यु का वाचक नहीं किन्तु कर्मकर्तृत्व रूप धर्म की समानता से अग्नीध्र का वाचक है, इसलिये सिद्ध हुआ कि प्रैषकर्ता अध्वर्यु से प्रैषार्थकर्ता भिन्न है और वह "अग्नीध्र" नामक ऋत्विक् है।

सं०—अब "करण" मन्त्रों में यजमान के फल की प्रार्थना कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :—

ऋत्विक्फलं करणेष्वर्थवत्त्वात् । २९ ।

पद०—ऋत्विक्फलं । करणेषु । अर्थवत्वात् ।

पदा०(करणेषु) "करण" संज्ञक मन्त्रों में (ऋत्विक्फलं) अध्वर्यु ऋत्विक् के लिये फल की प्रार्थना होनी उचित है, क्योंकि (अर्थवत्त्वात्) ऐसा होने से वह सार्थक होजाते हैं।

भाष्य—"**ममाग्नेवर्चो विहवेष्वस्तु**" ऋ० ८।७। १९।१=हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् वेदविहित तथा साङ्गोपाङ्ग अनुष्ठित यज्ञों में जो फल होते हैं वह सब मेरे को प्राप्त हों, इत्यादि मन्त्रों का नाम "**करण**" है, क्योंकि आहवनीय अग्नि का अग्न्याधान करते समय इनका पाठ किया जाता है, उक्त मन्त्रों का पाठ अध्वर्यु करता है यजमान नहीं, इसलिये यह सन्देह हुआ कि उक्त मन्त्रों में जो यज्ञ फल की प्रार्थना की है वह उक्त मन्त्रों के पाठकर्ता अध्वर्यु के लिये की है किंवा यजमान के लिये अर्थात् उक्त मन्त्रों से यज्ञफल प्राप्ति की प्रार्थना अध्वर्यु अपने यजमान के लिये करे अथवा अपने लिये ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी

और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि यदि उक्त मन्त्रों में पाठकर्त्ता अध्वर्यु की ओर से यजमानार्थ यागफल प्राप्ति की प्रार्थना मानें तो उक्त मंत्रों में जो "मम. अस्तु" पद आये हैं वह सर्वथा निरर्थक होजाते हैं और उक्त पदों से स्पष्ट है कि पाठकर्त्ता मुक्तकण्ठ होकर प्रार्थी है कि "मम"=मेरे को "अस्तु"=यज्ञफल प्राप्त हो, जब इस प्रकार उक्त पदों से स्पष्ट है तो किसी प्रकार भी उक्त मन्त्रों में यजमान के लिये फल की प्रार्थना कल्पना नहीं कीजासक्ती अर्थात् उक्त मन्त्रों में जो "मम" शब्द आया है वह "अस्मद्" शब्द का षष्ठ्यन्त रूप है और अस्मद् शब्द स्वकीय आत्मा का वाचक सर्व सम्मत है, इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, और जो स्वकीय आत्मा का वाचक शब्द है उससे पर आत्मा का बोध कदापि नहीं हो सकता, और न वह दूसरे आत्मा के लिये प्रयोग कियाजासक्ता है, और यह लोक प्रसिद्ध बात है कि जब कोई पुरुष इस प्रकार अपने स्वामी से प्रार्थना करे कि अमुक पदार्थ मुझको प्राप्त हो तो उससे यह अर्थ कदापि नहीं निकलसक्ता कि वह दूसरे आत्मा के लिये प्रार्थना करता है प्रत्युत आबाल वृद्ध सब समझ जाते हैं कि यह पुरुष अपने लिये प्रार्थना करता है, क्योंकि इसने प्रार्थनावाक्य में "मेरे को प्राप्त हो" कहा है, उक्त "करण" मन्त्रों में भी "मम, अस्तु" शब्दों का प्रयोग किया है जिसका "मेरे को प्राप्त हो" अर्थ है, यदि उक्त अर्थ का परित्याग करके यजमान के लिये फल की प्रार्थना का होना कल्पना कियाजाय तो प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग हो-जाता है और उसका परित्याग होने पर भी अत्यन्त असम्बद्ध

अर्थ करना पड़ता है जिससे सम्पूर्ण मंत्र निरर्थक होजाते हैं और वेद मन्त्रों का असम्बद्धार्थ तथा निरर्थक होना इष्ट नहीं, इस लिये उक्त मन्त्रों में जो पाठकर्ता अध्वर्यु की ओर से यज्ञफल प्राप्ति की प्रार्थना कीगई है वह अपने लिये कीगई है यजमान के लिये नहीं।

सं०—अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:—

स्वामिनो वा तदर्थत्वात्। २६।

पद०—स्वामिनः। वा। तदर्थत्वात्।

पदा०—"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (स्वामिनः) उक्त मन्त्रों में यागफलप्राप्ति की प्रार्थना यजमान के लिये कीगई है, क्योंकि (तदर्थत्वात्) वही यागफल का भोक्ता है।

भाष्य—साङ्गोपाङ्ग यागफल का भोक्ता यजमान और ऋत्विज उसके परिक्रीत हैं और जो परिक्रीत होते हैं उनका किया कर्म स्वकर्म नहीं होता किन्तु जिसके वह परिक्रीत हैं उसका ही होता है यह पीछे विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है, अब ध्यान देने योग्य बात है कि जो यजमान साङ्गोपाङ्ग सम्पूर्ण याग के फल का भोक्ता है उसके द्रव्य से परिक्रीत अध्वर्यु अपने लिये यागफल प्राप्ति की प्रार्थना कैसे करसक्ता है अर्थात् अध्वर्यु ने यदि अपना कोई स्वतः याग किया होता तो उक्त मन्त्रों द्वारा परमात्मा से उसके फल की प्रार्थना करसक्ता परन्तु उसने स्वतः कोई याग नहीं किया, और जो याग किया जारहा है वह यजमान का है अध्वर्यु का नहीं और जो जिसका है ही

नहीं उसके फल की प्रार्थना वह कैसे करसक्ता है और जो उक्त मन्त्रों में "ममास्तु" शब्द का प्रयोग किया गया है उसके बल से भी अध्वर्यु की यागफलप्राप्ति की प्रार्थना का अपने लिये होना कल्पना नहीं करसक्ते, क्योंकि उनमें "**मम**" पद के साथ "**यजमानस्य**" पद का सम्बन्ध है जिसका "मेरे यजमान को यागफल प्राप्त हो" यह अर्थ होता है, और इस अर्थ के होने से पदों के निरर्थक होने का दोष भी नहीं आता, क्योंकि "यजमानस्य" पद का सम्बन्ध होने से ही सम्पूर्ण मन्त्र तथा वाक्य सार्थक होजाते हैं और यदि "यजमानस्य" पद का सम्बन्ध न कियाजाय तो भी "अध्वर्यु" "मम" शब्द से यजमान को कथन करसक्ता है और इसमें प्रसिद्ध अर्थ का परित्याग भी नहीं होता, क्योंकि लोक तथा शास्त्र दोनों में आत्मा के लिये "मम" शब्द का प्रयोग प्रसिद्ध है, अध्वर्यु का आत्मा जैसे अपना आप है वैसेही यजमान भी उसका आत्मा है, क्योंकि वह उसका स्वामी है, और यदि स्व अपने स्वामी को आत्मवाची "मम" शब्द से कथन करे तो कोई दोष नहीं आता, और नाही असम्बद्ध अर्थ करना पड़ता है और लोक में प्रायः यह बात देखी जाती है कि भृत्य स्वामी को तथा स्वामी भृत्य को अपना आत्मा कहदेता है और शास्त्र में भी इस प्रकार के बहुत प्रयोग पाये जाते हैं जिनमें स्व का अपने स्वामी को आत्मवाची "अस्मद्" शब्द से कथन किया है, इसका स्पष्ट उदाहरण "**अहं ब्रह्मास्मि**" सर्वप्रसिद्ध है, और जो अर्थ लोक तथा शास्त्र उभय प्रसिद्ध है प्रकृत में उसका स्वीकार अनुचित नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि आत्मा दो प्रकार का होता है एक मुख्य दूसरा गौण, प्रकृत में अध्वर्यु का आत्मा मुख्य तथा यजमान का आत्मा गौण है, परन्तु "अस्मद्" शब्द का प्रयोग दोनों के लिये समान रूप से किया जाता है यह सर्वसम्मत है, इसलिये उक्त मन्त्रों में आत्मवाची "मम" शब्द का प्रयोग होने पर भी यजमान के लिये ही यागफल प्राप्ति की प्रार्थना होनी चाहिये अध्वर्यु के लिये नहीं।

सार यह निकला कि "करण" संज्ञक मन्त्रों के पाठकर्त्ता अध्वर्यु की ओर से उक्त मन्त्रों में यजमान के लिये यागफल प्राप्ति की प्रार्थना कीगई है, अपने लिये नहीं।

सं०-अब उक्त अर्थ में लिङ्ग कथन करते हैं :-

लिङ्गदर्शनाच्च । २७ ।

पद०-लिङ्गदर्शनात् । च ।

पदा०-(च) और (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के पाये जाने से भी उक्त अर्थ की सिद्धि होती है।

भाष्य-"**यां वै काञ्चन ऋत्विज आशिषमाशासते, यजमानस्य एव सा**"=अध्वर्यु आदि ऋत्विज जो आशीर्वाद परमात्मा से मांगते हैं वह यजमान का जानना चाहिये, इस वाक्य में जो ऋत्विजों की ओर से यजमान के लिये आशीर्वाद की प्रार्थना का कथन किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि "करण" संज्ञक उक्त मन्त्रों में अध्वर्यु की यागफल प्राप्ति की प्रार्थना यजमान के लिये न होती तो इस वाक्य में ऋत्विजों की आशीर्वाद का यजमान के लिये होना कथन न किया जाता अर्थात् वांच्छितार्थ के

आविष्कार का "नाम" "आशीः" तथा उसकी प्रार्थना का नाम "वाद" है. जिस पदार्थ की इच्छा कीजाय उसको "वाञ्छित" तथा प्रकट करने को "आविष्कार" कहते हैं, प्रकृत में केवल यागफल ही एक वांच्छित अर्थ है जिसका स्वामी यजमान है अध्वर्यु नहीं, और जिसका स्वामी वह नहीं उसकी प्रार्थना नहीं कर सक्ता और उक्त लिङ्गवाक्य में ऋत्विजों की प्रार्थना यजमान के लिये करना स्पष्ट है जिसका अन्यथा लापन नहीं होसक्ता, इसलिये उक्त करण मन्त्रों में जो अध्वर्यु के द्वारा यागफल प्राप्ति की प्रार्थना कीजाती है वह यजमान के लिये है अपने लिये नहीं।

सं०–अब उक्त अर्थ का कचित् अपवाद कथन करते हैं:–

कर्मार्थन्तुफलं तेषां स्वामिनं प्रत्यर्थ-वत्त्वात्। २८।

पद०–कर्मार्थं। तु। फलं। तेषां। स्वामिनं। प्रति। अर्थवत्त्वात्।

पदा०–"तु" शब्द पूर्वाधिकरण से विलक्षणता सूचन के लिये आया है (तेषां) कहीं "करण" मन्त्रों में जो ऋत्विजों ने अपने लिये (फलं) अरोगतारूप फल की प्रार्थना की है वह (कमार्थं) याजमानकर्म की समृद्धि के लिये है, क्योंकि(स्वामिनं,प्रति) यजमान के प्रति (अर्थवत्त्वात्) समृद्ध हुआ कर्म ही फलवाला होसक्ता है।

भाष्य–साङ्गोपाङ्ग निर्विघ्न समाप्ति का नाम यहां "कर्म-समृद्धि" है, जैसे "करण" संज्ञक मन्त्रों में यागफल प्राप्ति

की प्रार्थना कीगई है वैसे ही अरोगता रूप फल की प्रार्थना की गई है जैसाकि "अग्नाविष्णू मा वामवक्रामिषं विजिहाथां मा मासन्तासं लोकं मे लोककृतौ कृणुतम्"= हे प्रकाशस्वरूप तथा सर्वत्र परिपूर्ण परमात्मन् ! ऐसी कृपा कर कि जिससे मैं आपकी आज्ञा का कदापि उल्लङ्घन न करूं, और न कदाचित् आपका परित्याग करूं, आप मुझको रोग आदि दुःखों से बचायें और मेरे शरीर को कर्मानुष्ठान के योग्य करें, इत्यादि मन्त्रों से स्पष्ट है, उक्त प्रार्थना अध्वर्यु की ओर से यजमान के लिये कीगई है किंवा अपने लिये ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि निर्विघ्न समाप्त हुआ ही यागकर्म यजमान के लिये फलीभूत होता है और याग का निर्विघ्न समाप्त होना ऋत्विजों की आरोग्यता के अधीन है, जिस याग में कर्मकर्त्ता ऋत्विज अरोग नहीं हैं वह निर्विघ्न समाप्त नहीं होता और उसके निर्विघ्न समाप्त न होने से यजमान को वांच्छित फल की प्राप्ति भी नहीं होसक्ती, इससे सिद्ध है कि ऋत्विजों का अरोग रहना ही यजमान के याग फल का हेतु है और अरोगता की प्रार्थना ही अध्वर्यु की ओर से करण मन्त्रों में कीगई है जिसका साक्षात् यजमान के लिये होना कल्पना नहीं किया जासक्ता, इसलिये वह अध्वर्यु की ओर से अपने लिये कीगई है, यजमान के लिये नहीं ।

तात्पर्य्य यह है कि निरोग हुआ ही अध्वर्यु याजमान कर्म के योग्य होसक्ता है अन्यथा नहीं, इसलिये कचित् "करण" मंत्रों में जो अध्वर्यु की ओर से नीरोगता की प्रार्थना कीगई है वह उसकी अपने लिये है यजमान के लिये नहीं ।

सं०-अब क्वचित् वाक्यविशेष के बल से भी फल की प्रार्थना का अध्वर्यु तथा यजमान दोनों के लिये होना कथन करते हैं :-

व्यपदेशाच्च । २९ ।

पद०-व्यपदेशात् । च ।

पदा०-(च) और (व्यपदेशात्) क्वचित् वाक्यविशेष से भी फलप्रार्थना का होना अध्वर्यु तथा यजमान दोनों के लिये पाया जाता है ।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के "हविर्धान" मण्डप में जिन दो सिलों को मिला सोम कूटा जाता है उनके लिये आग्नेयी आदि चारो उपदिशाओं में एक २ हाथ गहरे चार गढ़े खोदे जाते हैं जो नीचे से आपस में मिले हुए तथा ऊपर से पृथक २ होते हैं, मीमांसक लोग अपनी परिभाषा में इनको "उपरव" कहते हैं, इन चारों के मध्य एक में यजमान तथा दूसरे में अध्वर्यु अपना दक्षिण हस्त डाल नीचे से मिला "किमत्र नो भद्रं तन्नौसह" इस प्रश्नोत्तररूप मन्त्र का पाठ करते हैं, इस मन्त्र में "किमत्रनः"= हे अध्वर्यो इस याग का फल कैसा होगा ? यह यजमान का प्रश्न तथा "भद्रं"=चिरस्थायी सुख रूप फल होगा, यह अध्वर्यु का उत्तर है, और "तन्नौसह"=वह फल हम दोनों को समान हो, यह यजमान की पुनः प्रार्थना है, इस मन्त्र का यही अन्तिम भाग सूत्र में वाक्यविशेष के अभिप्राय से कथन किया है, उक्त वाक्यविशेष में जो "नौ" तथा "सह" पद प्रयुक्त हुए हैं

उनसे यजमान तथा अध्वर्यु के लिये इष्ट फल प्राप्ति की प्रार्थना का यजमान की ओर से होना स्पष्ट है, क्योंकि "नौ" का अर्थ हम दोनों को और "सह" का अर्थ इकट्ठा सर्वसम्मत है, जिसका परित्याग उचित नहीं, इसलिये जहां वाक्यविशेष से अध्वर्यु तथा यजमान दोनों के लिये फलप्राप्ति की प्रार्थना पाई जाय वहां सर्वत्र दोनों के लिये ही उसका मानना उचित है।

सार यह निकला कि "किमत्रनः" मन्त्र में जो फल-प्राप्ति की प्रार्थना कीगई है वह यजमान अध्वर्यु दोनों के लिये है केवल यजमान के लिये नहीं।

सं०—अब द्रव्य संस्कार को प्रकृति तथा विकृति सब कर्मों के लिये कथन करते हैं:—

द्रव्यसंस्कारः प्रकरणाविशेषात्सर्व-कर्मणाम् । ३० ।

पद०—द्रव्यसंस्कारः। प्रकरणाविशेषात्। सर्वकर्मणाम्।

पदा०—(द्रव्यसंस्कारः) यागोपयोगी "बर्हि" आदि द्रव्यों के आस्तरणादि संस्कार रूप धर्म (सर्वकर्मणां) प्रकृति विकृति सब कर्मों के लिये हैं (प्रकरणाविशेषात्) प्रकरण से उनका सब-के साथ सम्बन्ध सामान्य पायाजाता है।

भाष्य—गत सप्तमपाद के प्रथम अधिकरण में "बर्हि" आदि तथा उनके धर्मों का अङ्ग तथा प्रधान उभय कर्मों के लिये होना विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है, यहां केवल उनका प्रकृति तथा विकृति सब कर्मों के लिये होना कथन कियाजाता है भाष्य तथा उसके निरूपण का प्रकार उभयत्र समान है अर्थात् प्रकृति याग में जो "बर्हि" आदि द्रव्यों के आस्तरण आदि रूप संस्कार विधान किये

गये हैं वह प्रकृति विकृति दोनों में समान रूप से कर्तव्य हैं किंवा केवल प्रकृति में ही कर्तव्य हैं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि विकृति यागों का प्रकृति याग के साथ उपकार्य्योपकारकभाव सम्बन्ध है और उक्त सम्बन्ध के होने से प्रकृति याग के प्रकरण में पठित द्रव्य संस्कारों का विकृति याग में अनुष्ठान होना आवश्यक है, क्योंकि उसके न होने से उक्त दोनों यागों का परस्पर उपकार्य्योपकारकभाव सम्बन्ध नहीं होसक्ता, और प्रकरण से उक्त धर्मों का सम्बन्ध प्रकृति विकृति दोनों के साथ समान है, इसलिये द्रव्य संस्कार रूप धर्म प्रकृति तथा विकृति दोनों यागों के लिये विधान किये गये हैं, केवल प्रकृति याग के लिये ही नहीं ।

सं०—अब क्वचित् प्रकृति में विहितधर्मों का विकृति में असम्बन्ध कथन करते हैं :-

निर्देशात्तु विकृतावपूर्वस्यानधिकारः । ३१ ।

पद०—निर्देशात् । तु । विकृतौ । अपूर्वस्य । अनधिकारः ।

पदा०—"तु" शब्द पूर्वाधिकरण से विलक्षणता सूचनार्थ आया है (विकृतौ) अग्नीषोमीय पशु नामक विकृति याग में (अपूर्वस्य) बर्हि आदि के लवन आदि धर्मों का (अनधिकारः) सम्बन्ध नहीं होता, क्योंकि (निर्देशात्) उनके कार्य्य यूपावटस्तरण आदि का उक्त विकृति में ही विधान है दर्शपूर्णमास प्रकृति में नहीं ।

भाष्य—ज्योतिष्टोम याग में जो अग्नीषोमीय पशु नामक याग किया जाता है उसके प्रकरण में "बर्हिषा यूपावटमवस्तृणाति"= यूप के अवट में बर्हि बिछावे "आज्येन यूपमनक्ति"=

घृत से यूप को चोपड़े इत्यादि वाक्यों से बर्हि तथा आज्य द्वारा यूपावटास्तरण और यूपाञ्जन का विधान किया है और उक्त याग की प्रकृति दर्शपूर्णमास याग में बर्हि आदि के लवन आदि धर्म विधान किये हैं उनका सम्बन्ध उक्त विकृति याग में होता है किंवा नहीं ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि यह कोई नियम नहीं कि जो धर्म प्रकृति याग में विधान किये गये हैं उन सब का "**प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या**" वाक्य के अनुसार विकृति याग में सम्बन्ध होता है किन्तु प्रकृति याग में विधान किये कार्य्य का उक्त चोदक वाक्य से विकृति याग में अतिदेश होने पर तदपेक्षित धर्मों का सम्बन्ध होता है, जैसाकि "दर्शपूर्णमास" प्रकृति में वेदि तथा खनन आदि वेदि के धर्मों का विधान करके हविरासादन हवियों का रखना रूप वेदि का कार्य्य विधान किया है, चोदक वाक्य से उक्त कार्य्य का विकृति में अतिदेश होने पर वेदि तथा वेदि-धर्मों का स्वतः सम्बन्ध होजाता है, क्योंकि उनके बिना उक्त कार्य्य सिद्ध नहीं होसक्ता परन्तु यूपावट = यूप गाड़ने के गढ़े में आस्तरण = कुशा बिछाने रूप कार्य्य का उक्त विकृति याग में विधान होने पर भी प्रकृति याग में उसका विधान नहीं है और प्रकृति याग में विधान न होने से उक्त चोदक वाक्य के अनुसार उसका उक्त विकृति याग में सम्बन्ध नहीं होसक्ता, और उसका सम्बन्ध न होने से लवन आदि बर्हि धर्मों का सम्बन्ध होना असम्भव है, क्योंकि कार्य्य के अतिदेश पूर्वक ही धर्मों के अतिदेश का नियम है, अतिदेश, उक्त चोदकवाक्य से प्राप्ति तथा सम्बन्ध यह तीनों और कार्य्य, प्रयोजन तथा फल यह

तीनों पर्य्याय शब्द हैं ।

तात्पर्य्य यह है कि यद्यपि उक्त विकृति याग में यूपावट का आस्तरण तथा घृत से यूप का अञ्जन विधान किया है और उसके लिये "बर्हि" आदि के लवन आदि धर्म भी अपेक्षित हैं क्योंकि बर्हि लवन बिना आस्तरण और वत्सापाकरण तथा गोदोहन आदि के बिना घृत से अञ्जन होना असम्भव है तथापि दर्श-पूर्णमास याग में पशु का दान न होने से यूप गाढ़ा नहीं जाता और उसके गाढ़े न जाने से आस्तरण तथा अञ्जन भी नहीं होता और प्रकृति याग में न होने से उक्त विकृति याग में उनका अतिदेश भी नहीं होसक्ता और बर्हि आदि के कार्य्य आस्तरण आदि का अतिदेश न होने से तदपेक्षित लवन आदि धर्मों का अतिदेश होना भी असम्भव है, इसलिये उक्त विकृति याग में बर्हि आदि से यूपावटास्तरण आदि का विधान होने पर भी प्रकृति याग विहित लवन आदि बर्हि के तथा वत्सापाकरण गो दोहन आदि आज्य के धर्मों का उक्त चोदक वाक्य के अनुसार सम्बन्ध नहीं होता ।

सार यह निकला कि प्रकृति याग से उक्त विकृति याग में बर्हि आदि के कार्य्य आस्तरण आदि का सम्बन्ध न होने से तदपेक्षित उसके लवन आदि धर्मों का भी सम्बन्ध नहीं होता, इसलिये विकृति याग में अपेक्षित आस्तरण आदि के लिये असंस्कृत बर्हि आदि का उपयोग करना चाहिये संस्कृत नहीं, सम्पूर्ण अधिकरण का निष्कर्ष यह है कि प्रकृति याग में जो धर्म कार्य्यकारी हैं जैसाकि वेदिधर्म हविरासादन रूप कार्य्य को सिद्ध करते हैं उन्हीं का कार्य्य के सम्बन्ध पूर्वक विकृति में

सम्बन्ध होता है बर्हि आदि के लवन आदि धर्म प्रकृति में आस्तरण आदि रूप कार्य्य के कर्त्ता नहीं हैं, इसलिये उनका विकृति में सम्बन्ध नहीं होता कार्य्यकारी, कार्य्यकर्त्ता तथा कार्य्य के, सिद्ध करने वाला यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं।

सं०-अब "विधृति" तथा "पवित्र" दोनों का "परिभोजनीय" नामक बर्हि से बनाना कथन करते हैं :-

विरोधे च श्रुतिविशेषादव्यक्तः शेषे। ३२।

पद०-विरोधे। च। श्रुतिविशेषात्। अव्यक्तः। शेषे।

पदा०-(च) और (शेषे) विधृति तथा पवित्र दोनों में (अव्यक्तः) असंस्कृत बर्हि का विनियोग है संस्कृत का नहीं, क्योंकि (श्रुतिविशेषात्) उसका उक्त दोनों में विनियोग होने से वाक्यविशेष के साथ (विरोधे) विरोध होजाता है।

भाष्य-स्रुवा आदि का आधार भूत दर्भमुष्टिविशेष रूप प्रस्तर जिन दो जुड़े हुए दर्भों पर रखा जाता है उसका नाम "विधृति" तथा नखों से जिसको तोड़ा नहीं गया और आगे से जो काटी नहीं गई ऐसी प्रादेशमात्र=तर्जनि सहित विस्तृत अंगूठे के परिमाण दो दर्भविशेष की अंगूठी सी बनाई जाती है उसका नाम "पवित्र" है, दर्भ, बर्हि तथा कुशा यह पर्य्याय शब्द हैं, दर्शपूर्णमास याग के प्रकरण में "समावप्रच्छिन्नाग्रौ दर्भौ प्रादेशमात्रौ पवित्रे करोति"=जिनका अग्रभाग छेदन नहीं किया गया और टेढ़ी नहीं किन्तु एकरस हैं ऐसी प्रादेश परिमाण दो २ दर्भों के दो "पवित्र" बनाये "अरत्निमात्रे विधृती

करोति" = बद्धमुष्टि हस्त परिमाण का नाम "अरत्नि" है, अरत्नि परिमाण के दो "विधृति" बनाये, इत्यादि वाक्यों से जो दोर "विधृति" तथा "पवित्र" विधान किये हैं वह संस्कृत बर्हि से बनाने चाहिये किंवा असंस्कृत बर्हि से अर्थात् जो बर्हि वेदि में आस्तरण के लिये यथाविधि काटीगई है उससे उक्त दोनों बनाने चाहियें किंवा जिसका यथाविधि लवन नहीं हुआ ऐसी "परिभोजनीय" नामक बर्हि से ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि "वेदिंस्तृणाति" = वेदि में बिछाये, इस वाक्य से संस्कृत बर्हि का केवल वेदि के आस्तरणार्थ होना सिद्ध है और जो जिसके लिये है उसका अन्यत्र विनियोग नहीं होसक्ता अर्थात् उक्त विधिवाक्य से वेदि के आस्तरण में चरितार्थ हुई संस्कृत बर्हि अन्यत्र विनियुक्त नहीं होसक्ती, और उक्त विधिवाक्य की भांति वेद्यास्तरण को छोड़कर उसके अन्यत्र विनियुक्त होने में कोई प्रमाण भी नहीं मिलता और बिना प्रमाण विनियोग होना असंभव है, और यूपावटास्तरण की भांति विधृति तथा पवित्र दोनों असंस्कृत बर्हि से भी होसक्ते हैं।

तात्पर्य्य यह है कि उदाहृत वाक्यों से विधृति तथा पवित्र दोनों का दर्भ से बनाना विधान किया है उसमें संस्कृत किंवा असंस्कृत का नियम नहीं परन्तु वेदि के आस्तरणार्थ संस्कृत बर्हि का नियम है और जो जिसके लिये नियम है उसका दूसरे के लिये होना नहीं बन सक्ता, हां यदि संस्कृत बर्हि का वेदि के आस्तरण में विनियोग विधान न कियाजाता तो अवश्य उसका उभयत्र विनियोग होसक्ता परन्तु वेदि के आस्तरणमात्र में उसका विनियोग विधान

किया है, इससे वह वेदि के आस्तरण में चरितार्थ हुई अन्यत्र विनियोग की आकांक्षा नहीं करती और निराकांक्ष का विनियोग असंभव है और विधृति तथा पवित्र असंस्कृत बर्हि से भी बनसक्ते हैं और उदाहृत वाक्यों में भी केवल बर्हि से उनका बनाना मात्र विधान किया है, इसलिये वह परिभोजनीय नामक दर्भविशेष से बनाने चाहियें संस्कृत से नहीं।

सं०-अब प्राकृत पुरोडाश के शकल का ऐन्द्रवायव पात्र में रखना कथन करते हैं :-

अपनयस्त्वेकदेशस्य विद्यमान-संयोगात् । ३३ ।

पद०-अपनयः । तु । एकदेशस्य । विद्यमानसंयोगात् ।

पदा०-(एकदेशस्य) प्राकृत पुरोडाश के एकदेश का (तु) ही (अपनयः) ऐन्द्रवायव नामक पात्र में अपनयन होना चाहिये क्योंकि (विद्यमानसंयोगात्) ऐसा होने से विद्यमान का संयोग होता है।

भाष्य-ज्योतिष्टोम याग के प्रकरण में " **पुरोडाशशकलमैन्द्रवायवस्य पात्रे निदधाति** "=पुरोडाश का एक टुकड़ा ऐन्द्रवायव नामक पात्र में रखे, इस वाक्य में जो ऐन्द्रवायव नामक पात्र में पुरोडाश के एकदेश का रखना विधान किया है वह एकदेश प्राकृत सवनीय-पुरोडाश का होना चाहिये किंवा किसी अन्य पुरोडाश का अर्थात् उक्त प्रकृति याग में आहुति देने के लिये जो "सवनीय" नामक पुरोडाश बनाया गया है उसका एकदेश उक्त पात्र में रखे अथवा इसके अतिरिक्त कोई दूसरा पुरोडाश बनाकर उसका एकदेश उक्तपात्र

में रखे ? यह सन्देह है,इसकी निवृत्ति उक्त सूत्रमें इस प्रकार कीगई है कि यदि प्राकृत पुरोडाश को छोड़कर किसी नूतन पुरोडाश के एकदेश का उक्त पात्र में रखना मानें तो उससे विद्यमान पुरोडाश का उक्त पात्र के साथ सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता और उक्त वाक्य से विद्यमान् का सम्बन्ध स्पष्ट पाया जाता है और वह तभी होसक्ता है जब प्रकृत पुरोडाश के शकल का उक्त पात्र में रखना मानाजाय।

तात्पर्य्य यह है कि प्राकृत पुरोडाश उपस्थित होने से अत्यन्त सन्निहित और नूतन पुरोडाश अनुपस्थित होने के कारण व्यवहित है और सन्निहित तथा व्यवहित दोनों के मध्य सन्निहित पुरोडाश के शकल का ही उक्त पात्र में रखना विहित होना चाहिये, क्योंकि जो अभी निष्पन्न ही नहीं हुआ उसके शकल का उक्त पात्र में रखना कैसे विहित होसक्ता है और उक्त वाक्य से निष्पन्न पुरोडाश के शकल का उक्त पांच में रखना स्पष्टतया प्रतीत होता है, शकल, टुकड़ा, एकदेश तथा एकभाग यह चारो और उपस्थित तथा निष्पन्न यह दोनों निधान, प्रक्षेप तथा रखना यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, प्रकृति याग सम्बन्धी का नाम "प्राकृत" है, और जो स्पष्टतया प्रतीत होरहा है, उसका परित्याग उचित नहीं, और उक्त पात्र में नूतन पुरोडाश तैयार करके उसके एकदेश में रखने का विधान मानने में गौरव है, सो ठीक नहीं, इसलिये ऐन्द्रवायव नामक पात्र में जो पुरोडाश के एकदेश का रखना विधान किया है वह प्राकृत पुरोडाश के एकदेश का ही किया है किसी दूसरे पुरोडाश के एकदेश का नहीं।

सं०-अब प्रधान कर्म्येष्टि में उपांशुत्व धर्म का अनुष्ठान

कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं :-

विकृतौ सर्वार्थः शेषः प्रकृतिवत् । ३४ ।

पद०-विकृतौ । सर्वार्थः । शेषः । प्रकृतिवत् ।

पदा०-(प्रकृतिवत्) जैसे दर्शपूर्णमासरूप प्रकृति याग में विधान कीगई वेदि अङ्ग तथा प्रधान सबके लिये है वैसेही (विकृतौ) काम्येष्टि रूप विकृति याग में (शेषः) विधान किया उपांशुत्व रूप गुण भी (सर्वार्थः) अङ्ग तथा प्रधान सब इष्टियों के लिये होना चाहिये ।

भाष्य-प्रधान काम्येष्टि प्रकरण में " **आथर्वणा वै काम्येष्टयस्ता उपांशु यष्टव्याः** " = अथर्ववेद में जो काम्येष्टियें विधान कीगई हैं उनका अनुष्ठान उपांशु करना चाहिये, यह वाक्य पढ़ा है, इस वाक्य में जो काम्येष्टियों के अनुष्ठान का उपांशुत्व गुण विधान किया है उसका अङ्ग तथा प्रधान सब काम्येष्टियों में अनुष्ठान होता है किंवा प्रधान काम्येष्टियों में ही अर्थात् अङ्ग तथा प्रधान भेद से काम्येष्टियें दो प्रकार की हैं उन सब का उनुष्ठान उपांशु होना चाहिये अथवा केवल प्रधान काम्येष्टियों का ही ? यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी और द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि जैसे प्रधान याग के प्रकरण में विधान किये वेदि तथा वेदिधर्म अङ्ग और प्रधान सब कर्मों के लिये हैं वैसेही प्रधान काम्येष्टि के प्रकरण में विधान किया उपांशुत्व धर्म भी अङ्ग तथा प्रधान सब काम्येष्टियों के लिये होना चाहिये अर्थात् जैसे प्रधान के ग्रहण से अप्रधान का ग्रहण स्वयमेव होजाता है क्योंकि वह उसका अङ्ग है वैसेही प्रधान इष्टि के प्रकरण में विहित होने से प्रधान इष्टि

की भांति अङ्ग इष्टियों का भी उपांशुत्वधर्म ग्रहण किया जासक्ता है, इसलिये उक्त वाक्य में जो काम्येष्टि का उपांशु अनुष्ठान विधान किया है वह अङ्ग तथा प्रधान सब काम्येष्टियों का किया है केवल प्रधान काम्येष्टियों का ही नहीं।

सार यह निकला कि अङ्ग तथा प्रधान सब काम्येष्टियों का अनुष्ठान उपांशु होना चाहिये, उपांशु अर्थात् मन्त्रों के ओष्ठों में उच्चारण पूर्वक जो अनुष्ठान किया जाता है उसको "उपांशु-अनुष्ठान" कहते हैं।

सं०–अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:–

मुख्यार्थो वाऽङ्गस्याचोदित्वात् । ३५ ।

पद०–मुख्यार्थः । वा । अङ्गस्य । अचोदित्वात् ।

पदा०–"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (मुख्यार्थः) उपांशुत्व धर्म का विधान केवल प्रधान के लिये है, क्योंकि (अङ्गस्य) अङ्ग का (अचोदित्वात्) वह धर्म विधान नहीं किया गया।

भाष्य–उक्त वाक्य में जो "काम्येष्टयः" प्रयोग किया है जिसका प्रधान काम्येष्टियें अर्थ होता है, यदि उक्त वाक्य में सर्व इष्टियों का धर्म उपांशुत्व अभिप्रेत होता तो "काम्येष्टयःकाम्येष्ट्यङ्गानि च" इस प्रकार प्रयोग किया जाता और अङ्गों का प्रधानार्थ होने के कारण "काम्येष्टयः" पद से ग्रहण नहीं होसक्ता।

तात्पर्य्य यह है कि उक्त वाक्य में जो इष्टियों का "काम्य" विशेषण दिया गया है उससे अङ्ग इष्टियों की स्पष्ट रूप से व्यावृत्ति

होजाती है क्योंकि फलवाली होने से यजमान को केवल प्रधान इष्टि ही मुख्यतया काम्य हैं फलहीन होने के कारण अङ्गइष्टियें नहीं और उक्त वाक्य में काम्येष्टियों का ही उपांशु अनुष्ठान विधान किया है अकाम्येष्टियों का नहीं।

सार यह निकला कि यद्यपि प्रधान इष्टि के प्रकरण में विहित होने से वेदि की भांति अङ्ग तथा प्रधान सबका उपांशुत्व धर्म होना चाहिये तथा उक्त वाक्यविशेष से प्रकरण का बाध होजाने के कारण वह प्रधान इष्टि का ही धर्म होसक्ता है अङ्गों का नहीं और वाक्य से प्रकरण का बाध सर्वसम्मत है और यह भी उक्त वाक्य से स्पष्ट है कि उपांशुत्व धर्म केवल काम्येष्टियों का ही विधान किया गया है काम्य अकाम्य सबका नहीं, और अङ्ग तथा प्रधान इष्टियों के मध्य फलवाली होने से प्रधान इष्टियें काम्य तथा फलहीन होने से अङ्गइष्टियें अकाम्य सिद्ध हैं, और लोक में भी यह देखा जाता है कि मनुष्य उसीकी कामना करता है जिससे किसी भावी फलविशेष के प्राप्त होने की संभावना होती है और जिससे उक्त संभावना नहीं होती उसकी कामना कदापि नहीं करता, अङ्ग तथा प्रधान दोनों के मध्य फलवाली केवल प्रधान इष्टियें ही हैं क्योंकि "**फलवत्सान्निधावफलंतदङ्गम्**"=फल वाले के समीप जो अफल कर्म पढ़े गये हैं वह उसके अङ्ग हैं, इस न्याय के अनुसार अङ्गइष्टियें नहीं, और जो फल वाली नहीं हैं वह काम्य भी नहीं होसक्तीं और उक्त वाक्य में काम्येष्टियों का ही उपांशु अनुष्ठान विधान किया है, इसलिये सिद्ध हुआ कि उपांशुत्व प्रधान काम्येष्टियों का ही धर्म है, अतएव उसी

का उपांशु अनुष्ठान होना चाहिये, अङ्ग तथा प्रधान सब काम्येष्टियों का नहीं ।

सं०-अब नवनीताज्य को "श्येन" नामक याग के अङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों का धर्म कथन करते हैं :-

सन्निधानविशेषादसंभवे तदङ्गानाम् ।३६।

पद०-सन्निधानविशेषात् । असंभवे । तत् । अङ्गानाम् ।

पदा०-(असंभवे) "श्येन" याग में आज्य द्रव्य का असंभव होने से (तत्) विधान किया नवनीताज्य (अङ्गानां) उक्त याग की अङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों का धर्म है, क्योंकि (सन्निधान-विशेषात्) उनका धर्म होने से भी उसका उक्त याग के साथ सम्बन्धविशेष होसक्ता है ।

भाष्य-श्येन याग के प्रकरण में "**दृति नवनीतं याज्यं भवति**"=दृतौ=पात्रविशेष में चिरकाल से सङ्ग्रह किये नवनीत=माखन का आज्य=घृत श्येन याग में होता है, यह वाक्य पढ़ा है, इसमें जो "नवनीताज्य" कथन किया है वह प्रधान श्येन याग का धर्म है किंवा श्येन याग का अङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों का अर्थात् उक्त आज्य से प्रधान याग करना अथवा उसका अङ्ग याग करना ? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि श्येन ज्योतिष्टोम याग की विकृति है और ज्योतिष्टोम याग को सोमद्रव्यसाध्य होने से उसकी विकृति श्येन याग को भी सोम द्रव्य साध्य होना

आवश्यक है, क्योंकि ऐसा हुए बिना वह उसकी विकृति याग सिद्ध नहीं होसक्ता, और उसको सोम याग की विकृति याग होना सर्वसम्मत है, और जो सोमद्रव्यसाध्य है उसका नवनीताज्य साध्य होना असंभव है परन्तु उसके प्रकरण में जो "नवनीताज्य" द्रव्य विधान किया है उसका उसके साथ सम्बन्ध होना भी आवश्यक है और वह साक्षात् न होने पर भी अङ्गों के द्वारा होसक्ता है अर्थात् ज्योतिष्टोम प्रकृति याग से चोदकवाक्य द्वारा सोम द्रव्य के प्राप्त होजाने के कारण प्रधान श्येन याग को अपने साधनभूत द्रव्य की आकांक्षा न होने पर भी उसकी अङ्गभूत इष्टियों को उसकी आकांक्षा विद्यमान है, और उक्त वाक्य से विधान किया नवनीताज्य भी अपने सम्बन्ध के लिये स्व साध्य इष्टिविशेष का आकांक्षी है और परस्पर आकांक्षा रखने वाले धर्म धर्मी दोनों का सम्बन्ध होना आवश्यक है और अङ्गभूत इष्टियों के साथ सम्बन्ध होने से उक्त आज्य का श्येन याग के साथ भी सम्बन्ध कहाजासक्ता है, क्योंकि जिन अङ्गों के साथ उसका सम्बन्ध हुआ है वह श्येन याग के ही अङ्ग हैं और अङ्ग अपने अङ्गी के साथ उक्त आज्य का सम्बन्ध होने में प्रतिबन्धक नहीं होसक्ते और इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध मानने से प्रकरण भी चरितार्थ होजाता है।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकरण से उक्त आज्य श्येन याग का धर्म पाया जाता है परन्तु श्येन याग प्रधान तथा अङ्ग भेद से दो प्रकार का है और उक्त दोनों के मध्य प्रधान श्येन याग चोदक वाक्य द्वारा प्राप्त सोम रूप प्रकृति द्रव्य से अवरुद्ध है उसके साथ प्रकरण प्राप्त नवनीताज्य द्रव्य का सम्बन्ध नहीं होसक्ता,

परिशेष से अङ्ग याग ही द्रव्य के आकांक्षी विद्यमान हैं और उनके विद्यमान होने से उक्त आज्य द्रव्य का उन्हीं के साथ सम्बन्ध होना ठीक है ।

सार यह निकला कि यद्यपि श्येन याग की भांति उसकी अङ्गभूत इष्टियों में भी चोदकवाक्य द्वारा ज्योतिष्टोम रूप प्रकृति याग से आज्य रूप द्रव्य प्राप्त है तथापि नवनीताज्य प्राप्त नहीं और जो जिसमें प्राप्त नहीं है उसका उसमें विधान होना उचित है, इसलिये उक्त वाक्य में जो "नवनीताज्य" विधान किया है वह श्येन याग की अङ्गभूत इष्टियों का धर्म है, श्येन याग का नहीं ।

सं०-अब उक्त अर्थ में आशङ्का करते हैं :-

आधानेऽपितथेतिचेत् । ३७ ।

पद०-आधाने । अपि । तथा । इति । चेत् ।

पदा०-(तथा) जैसे नवनीताज्य श्येन याग के अङ्गों का धर्म है वैसेही (आधाने) अग्न्याधान का (अपि) भी धर्म होना चाहिये (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है—

भाष्य-यदि श्येन याग के प्रकरण में विधान किया गया "नवनीताज्य" उसके अङ्गों का धर्म है और उनका धर्म होने से उसका श्येन याग के साथ सम्बन्ध होसक्ता है तो उक्त याग के साधन अग्न्याधान का भी वह धर्म होना चाहिये, क्योंकि उसके द्वारा भी उसका उक्त याग के साथ सम्बन्ध होने में कोई दोष

नहीं, क्योंकि अङ्गभूत इष्टियों की भांति अग्न्याधान भी उसका एक अङ्ग है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे अन्य इष्टियें श्येन याग का अङ्ग हैं वैसेही अग्न्याधान भी उसका अङ्ग है, क्योंकि अन्य इष्टियों की भांति उसके विना भी वह सिद्ध नहीं होसक्ता और जिसके बिना जो सिद्ध नहीं होसक्ता वह उसका अङ्ग होना आवश्यक है, इसलिये उक्त आज्य जैसे अङ्गभूत इष्टियों का धर्म है वैसेही अग्न्याधान का भी होना चाहिये।

सं०—अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं :—

नाप्रकरणत्वादङ्गस्यातन्निमित्तत्वात्। ३८।

पद०—न। अप्रकरणत्वात्। अङ्गस्य। अतन्निमित्तत्वात्।

पदा०—(न) उक्त कथन ठीक नहीं, क्योंकि (अप्रकरणत्वात्) अग्न्याधान का प्रकरण नहीं है, और (अङ्गस्य) नवनीताज्य (अतन्निमित्तत्वात्) उसके उद्देश से विधान नहीं किया गया।

भाष्य—यद्यपि दीक्षणीयादि अन्य इष्टियों की भांति अग्न्याधान भी श्येन याग का अङ्ग है तथापि "नवनीताज्य" उसका धर्म नहीं होसक्ता, क्योंकि श्येन याग के प्रकरण में अग्न्याधान तथा अग्न्याधान के उद्देश से नवनीताज्य का विधान नहीं किया गया अर्थात् जैसे दीक्षणीयादि अङ्ग इष्टियों का श्येन याग के साथ सम्बन्ध है वैसे अग्न्याधान का नहीं, यह पीछे विस्तार पूर्वक निरूपण किया गया है कि समस्त वैदिक कर्मों के अनुष्ठानार्थ अग्न्याधान किया

जाता है उसका साधारण सम्बन्ध अङ्ग तथा प्रधान सब यागों के साथ है परन्तु विशेष सम्बन्ध किसी के साथ नहीं, क्योंकि अग्निहोत्रादि की भांति वह भी एक स्वतन्त्र कर्म है और जो स्वतन्त्र कर्म है वह दीक्षणीयादि अङ्ग इष्टियों की भांति श्येन याग का अङ्ग नहीं होसक्ता किन्तु उनकी अपेक्षा विलक्षण है।

तात्पर्य्य यह है कि जैसे दीक्षणीय आदि की भांति अग्न्या-धान श्येन याग का अङ्ग नहीं वैसे ही उक्त याग के प्रकरण में पठित भी नहीं, और नाही उसके उद्देश से नवनीताज्य का विधान किया गया है, और जो उक्त याग के प्रकरण में पठित तथा जिसके उद्देश से उक्त आज्य का विधान नहीं है उसका उक्त आज्य कदापि अङ्ग नहीं होसक्ता।

सार यह निकला कि प्रकरण तथा उद्देश सम्बन्ध के प्रयोजक हैं और वह दोनों अग्न्याधान में नहीं हैं, क्योंकि वह श्येन याग के प्रकरण में पठित नहीं और न उसके उद्देश से नवनीताज्य का विधान कियागया है, इसलिये वह आज्य उक्त याग की अङ्गभूत दीक्षणीयादि इष्टियों का ही धर्म है अग्न्याधान का नहीं।

सं०-अब उक्त आज्य को श्येन याग की अङ्गभूत सम्पूर्ण इष्टियों का धर्म कथन करने के लिये पूर्वपक्ष करते हैं:-

तत्काले वा लिङ्गदर्शनात्। ३९।

पद०-तत्काले। वा। लिङ्गदर्शनात्।

पदा०-"वा" शब्द पूर्वपक्ष की सूचना के लिये आया है (तत्काले) उक्त आज्य "सुत्यादिन" में होने वाली इष्टियों का अङ्ग है, क्योंकि (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के देखने से ऐसा ही पाया जाता है।

भाष्य-अनुष्ठान काल के भेद से अङ्ग दो प्रकार के हैं एक सुत्यादिन में होने वाले तथा दूसरे उसके अनन्तर कालान्तर में होने वाले, जिस दिन सोम कूटा जाता है उसका नाम "सुत्यादिन" और उक्त दिन में सवनीय पशु का दान तथा उसके उद्देश से पुरोडाश आदि का निर्वाप होता है उनका नाम "सुत्याकालीनाङ्ग" तथा उसके अनन्तर कालान्तर में जो इष्टियें कीजाती हैं उनका नाम "दाक्षणीयादि" है, पूर्वाधिकरण में जो नवनीताज्य श्येन याग के अङ्गों का धर्म निरूपण किया है वह सुत्याकालीन अङ्गों का ही धर्म है अथवा सम्पूर्ण अङ्गों का? उसमें यह सन्देह है, इसमें प्रथमपक्ष पूर्वपक्षी तथा द्वितीयपक्ष सिद्धान्ती का है, पूर्वपक्षी का कथन यह है कि उक्त याग की अङ्गरूपता से "सह पशून् आलभेत"=साथ ही पशुओं का दान करे, इस वाक्य से पशुओं का दान विधान करके जो उसका उक्त आज्य के साथ साहित्य कथन किया है वह उक्त अर्थ की सिद्धि में लिङ्ग है, यदि उक्त आज्य सुत्याकालीन अङ्गों का धर्म न होता तो सुत्यादिन में होने वाले पशुदान के साथ उसका साहित्य कदापि कथन न किया जाता, उसके कथन करने से स्पष्ट है कि उक्त आज्य सुत्याकालीन अङ्गों का ही धर्म है, सम्पूर्ण अङ्गों का नहीं।

सं०-अब उक्त पूर्वपक्ष का समाधान करते हैं:-

सर्वेषां वाऽविशेषात्।४०।

पद०-सर्वेषां। वा। अविशेषात्।

पदा०-"वा" शब्द उक्त पूर्वपक्ष के निराकरणार्थ आया है (सर्वेषां) उक्त आज्य "श्येन" याग के सम्पूर्ण अङ्गों का धर्म है, क्योंकि (अविशेषात्) उसका समान रूप से विधान किया गया है।

भाष्य-यदि नवनीताज्य श्येन याग के सम्पूर्ण अङ्गों का धर्म न होता तो श्येन याग के प्रकरण में उसका साधारण रूप से विधान न किया जाता और नवनीताज्य वाक्य से उसका साधारणतया विधान स्पष्ट है इसमें विशेष वक्तव्य की आवश्यकता नहीं, और जिसका सर्वसाधारणरूप से विधान किया गया है उसको सङ्कोच करके केवल कतिपय अङ्गों का धर्म कथन करना ठीक नहीं, इसलिये वह सम्पूर्ण अङ्गों का धर्म है केवल सुत्याकालीन अङ्गों का ही नहीं।

सं०-अब पूर्वपक्ष सूत्र में कथन किये लिङ्ग का समाधान करते हैं:-

न्यायोक्ते लिङ्गदर्शनम्। ४१।

पद०-न्यायोक्ते। लिङ्गदर्शनम्।

पदा०-(न्यायोक्ते) प्रकरण सहकृत नवनीत वाक्य से उक्त आज्य को सम्पूर्ण अङ्गों की धर्मता प्राप्त होने पर (लिङ्गदर्शनं) उक्त लिङ्गदर्शन अकिञ्चित्कर होजाता है।

भाष्य-यद्यपि वाक्य की अपेक्षा लिङ्ग प्रबल और वाक्य उसकी अपेक्षा निर्बल होता है यह नियम है तथापि प्रकृत में उक्त लिङ्गदर्शन से वाक्य निर्बल नहीं है, क्योंकि उसका सहायक प्रकरण है अर्थात् केवल वाक्य से प्रबल होने पर भी प्रकरण

सहकृत वाक्य से लिङ्ग प्रबल नहीं होता और उसके प्रबल न होने से वाक्य का बाध होना असम्भव है ।

तात्पर्य्य यह है कि प्रकरण तथा वाक्य दोनों के मिल जाने से लिङ्ग अकिञ्चित्कर तथा उसके अकिञ्चित्कर होजाने से वाक्य द्वारा शीघ्र ही उक्त आज्य तथा सम्पूर्ण अङ्गों का परस्पर धर्म-धर्मिभाव सम्बन्ध होजाता है जिसका पुनर्बाध नहीं होसक्ता, असमर्थ तथा कुछ न करसकनेवाला और अकिञ्चित्कर यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं, और जो स्वयं अकिञ्चित्कर है उसके सहारे उक्त आज्य को सुत्याकालीन अङ्गों का धर्म मानना ठीक नहीं, इसलिये उक्त आज्य श्येन याग के दीक्षणीयादि सम्पूर्ण अङ्गों का धर्म है केवल सुत्याकालीन का ही नहीं ।

सं०-अब सवनीय पुरोडाशों का प्रकृतिभूत द्रव्य कथन करते हैं :-

मांसं तु सवनीयानां चोदनाविशेषात् । ४२ ।

पद०-मांसं । तु । सवनीयानां । चोदनाविशेषात् ।

पदा०-"तु" शब्द सिद्धान्त सूचना के लिये आया है (सवनीयानां) सवनीय पुरोडाशों का (मांसं) "व्रीहि" आदि के न मिलने पर "मांसल" प्रकृति द्रव्य है, क्योंकि (चोदनाविशेषात्) द्रव्यविधायक वाक्यों से ऐसा ही पाया जाता है ।

भाष्य-"सवनीय" तथा "असवनीय" भेद से पुरोडाश दो प्रकार के होते हैं, जो प्रातः, सायं तथा मध्यन्दिन इन तीनों सवनों में बनाये जाते हैं उनका "**सवनीय**" तथा तदन्य-

तिरिक्त सम्पूर्ण पुरोडाशों को "असवनीय" कहते हैं, "व्रीहिभिर्यजेत"=धानों से याग करे, इत्यादि वाक्यों का नाम "द्रव्यविधायी" तथा "चोदना" वाक्य है, यदि उक्त तीनों सवनों में पुरोडाश बनाने के लिये व्रीहि आदि द्रव्य न मिलें तो वह नीवार के बनाने चाहियें किंवा मांसल के? यह सन्देह है, इसकी निवृत्ति उक्त सूत्र में इस प्रकार कीगई है कि उक्त द्रव्य विधायक वाक्यों में व्रीहि आदि पद जाति के अभि-प्राय से प्रयुक्त हुए हैं उनका यह भाव नहीं कि सर्वत्र व्रीहि आदि पदों से व्रीहि आदि ही उपादेय हैं तत्सदृश अथवा तत्सह-चारी नहीं, किन्तु व्रीहि आदि द्रव्यों के मध्य यथासमय जो द्रव्य मिलजाय वही पुरोडाश के लिये उपादेय है, भेद केवल इतना है कि उक्त द्रव्यों के मध्य "व्रीहि" यथासंभव प्रथम आदरणीय है और उसके न मिलने पर तत्सदृश नीवार तथा तत्सहचारी मांसल भी उपादेय हैं अर्थात् जैसे प्रकृति याग में नीवार व्रीहि के सदृश होने से पुरोडाश के लिये ग्रहणीय हैं वैसे ही विकृति यागों में तत्सहचारी होने से मांसल भी उसके लिये ग्रहणीय है, मांसल, माष तथा उड़द यह तीनों पर्य्याय शब्द हैं।

तात्पर्य्य यह है कि नीवार असवनीय पुरोडाशों में सर्वत्र चरितार्थ होने से सावकाश और मांसल चरितार्थ न होने के कारण निरवकाश है, सवनीय पुरोडाशों में व्रीहि के सदृश तथा सहचारी होने के कारण चोदकवाक्य द्वारा उक्त दोनों की समानरूपता से प्राप्ति होने पर नीवार उपादेय नहीं होसक्ते, क्योंकि वह असवनीय पुरोडाशों में सावकाश हैं और "साव-

काशनिरवकाशयोः निरवकाशो बलीयान्"=साव-काश तथा निरवकाश दोनों के मध्य सावकाश निर्बल तथा निरवकाश प्रबल होता है, इस न्याय के अनुसार सावकाश होने से नीवार निर्बल तथा निरवकाश होने से "मांसल" प्रबल है, और निर्बल तथा प्रबल दोनों की एक स्थल में प्राप्ति होने पर सर्वदा प्रबल ही उपादेय होता है निर्बल नहीं, इसलिये विकृति यागों में सवनीय पुरोडाशों का सर्वत्र प्रकृति द्रव्य मांसल है नीवार नहीं, यही मानना उचित है ।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि उक्त सूत्र में जो "मांस" शब्द आया है वह मुख्य वृत्ति से "मांस" का तथा गुणवृत्ति से "मांसल" का वाचक है, मुख्यवृत्ति तथा शक्तिवृत्ति यह दोनों और गुणवृत्ति तथा गौणीवृत्ति यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं, और मुख्यवृत्ति से जिस अर्थ का लाभ होता है उसको "**मुख्यार्थ**" तथा गुणवृत्ति से जिस अर्थ का लाभ होता है उसको "**गौणार्थ**" कहते हैं, प्रकृत में मांस रूप मुख्यार्थ का असंभव होने के कारण गौणीवृत्ति से मांसल रूप गौणार्थ कियागया है, और इसका जिस प्रकार संभव तथा मुख्यार्थ का असंभव है उसका इसी अधिकरण के उपसंहार में विस्तारपूर्वक निरूपण किया जायगा, यहां केवल इतना ही स्मरणीय है कि उक्त सूत्र में जो "मांस" शब्द के "मांसल" अर्थ किये गये हैं वह गौणी-वृत्ति से किये गये हैं मुख्यवृत्ति से नहीं ।

सं०–अब उक्त सूत्र में जो गौणीवृत्ति से "मांस" शब्द के "मांसल" अर्थ कियेगये हैं सो ठीक नहीं, यह आशङ्का करते हैं :–

भक्तिरसन्निधावन्याय्येतिचेत् । ४३ ।

पद०-भक्तिः । असन्निधौ । अन्याय्या । इति । चेत् ।

पदा०-(असन्निधौ) गुणवृत्ति के अभिव्यञ्जक किसी दूसरे पद का सन्निधान न होने पर (भक्तिः) "मांस" पद का "मांसल" अर्थ करने के लिये जो गौणीवृत्ति मानी गई है (अन्याय्या) वह ठीक नहीं (चेत्) यदि (इति) ऐसा कहो तो ठीक नहीं, इसका अगले सूत्र से सम्बन्ध है-

भाष्य-यद्यपि मुख्यवृत्ति तथा गुणवृत्ति से प्रत्येक शब्द दो अर्थ का वाचक है तथापि मुख्यवृत्ति को छोड़कर गुणवृत्ति का उस शब्द में ही आश्रयण किया जाता है जिस शब्द के समीप उक्त वृत्ति का अभिव्यञ्जक शब्दान्तर विद्यमान है, जैसाकि "सिंहो-देवदत्तः" में सिंह शब्द के समीप देवदत्त शब्द देखाजाता है, और जिस शब्द के समीप उक्त वृत्ति का अभिव्यञ्जक कोई शब्दान्तर विद्यमान नहीं है वह कदापि मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का वाचक नहीं होसक्ता, यदि "सिंहोदेवदत्तः" वाक्य में ही सिंह शब्द के समीप "देवदत्त" शब्द विद्यमान न हो तो एकाकी सिंह शब्द को गौणार्थ का वाचक होना असंभव है और देवदत्त शब्द के समीप होने से वह मुख्यार्थ को छोड़कर स्वयमेव गुणवृत्ति से गौणार्थ का वाचक होसक्ता है, क्योंकि उसके समीप उक्त वृत्ति का अभिव्यञ्जक शब्दान्तर विद्यमान है, और उक्त सूत्र में जो "मांस" शब्द आया है वह एकाकी है उसके समीप ऐसा कोई शब्द विद्यमान नहीं जिसकी समीपता से वह मुख्यार्थ को छोड़कर गौण अर्थ का वाचक होसके और गुणवृत्ति के अभिव्यञ्जक शब्दान्तर की समीपता से बिना उसको गौणार्थ का

वाचक मानना न्याय्य नहीं, न्यायप्राप्त तथा न्याय्य यह दोनों पर्य्याय शब्द हैं अर्थात् जैसे "सिंहोदेवदत्तः" में "सिंह" शब्द के समीप "देवदत्त" शब्द विद्यमान है और उसके विद्यमान होने से वह मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का वाचक होजाता है, क्योंकि मुख्यार्थ का वाचक होने से उसका देवदत्त के साथ सामानाधिकरण्य नहीं होसक्ता वैसेही उक्त सूत्र में भी यदि "मांस" शब्द के समीप कोई शब्दान्तर विद्यमान होता तो वह मुख्यार्थ को छोड़ गौणार्थ का वाचक होसक्ता परन्तु सिंह शब्द के समीप देवदत्त शब्द की भांति उसके समीप ऐसा कोई शब्दान्तर विद्यमान नहीं जिसके साथ सामानाधिकरण्य के न हो सकने से वह गौणार्थ का वाचक मानाजाय।

तात्पर्य्य यह है कि गौणार्थ के वाचक जितने शब्द उपलब्ध होते हैं वह शब्दान्तर की सन्निधि से ही उक्त अर्थ के वाचक देखे जाते हैं एकाकी नहीं, "सिंहोदेवदत्तः" में "सिंह" "गङ्गायांग्राम" में "गङ्गा" "मञ्चाःक्रोशन्ति" में "मञ्चाः" शब्द इसके स्पष्ट उदाहरण हैं, "सिंह" शब्द का मुख्यार्थ शेर "गङ्गा" शब्द का मुख्यार्थ नदी तथा "मञ्चाः" शब्द का मुख्यार्थ "मञ्चा" है, यदि उक्त तीनों शब्द एकाकी होते तो वह कदापि उक्त अर्थ को न छोड़ते, परन्तु "सिंह" शब्द देवदत्त शब्द के "गङ्गा" शब्द ग्राम शब्द के तथा "मञ्चाः" शब्द क्रोशन्ती शब्द के समीप होने से अपने मुख्यार्थ को छोड़ देता है, क्योंकि उसके न छोड़ने से सिंह का देवदत्त के साथ गङ्गा का ग्राम के साथ तथा मञ्चों का क्रोशन्ति के साथ सम्बन्ध सर्वथा अनुपपन्न होजाता है, यह सर्वजन प्रसिद्ध बात है कि मनुष्य शेर, नदी में ग्राम तथा

मञ्चों में पुकारना नहीं होसक्ता और इसके न हो सकने से ही "सिंह" शब्द सिंह सदृश, गङ्गा शब्द गङ्गातीर तथा मञ्चाः शब्द मञ्चस्थ मनुष्यों का वाचक गौणीवृत्ति से मानाजाता है, इसी प्रकार उक्त सूत्र में यदि "मांस" शब्द एकाकी न होता किन्तु देवदत्त आदि शब्द की भांति मुख्यार्थ से प्रच्युत करके गौणार्थ का वाचक बनाने वाला कोई शब्दान्तर उसके समीप होता तो वह अवश्यमेव "सिंह" आदि शब्दों की भांति गौणार्थ का वाचक होजाता परन्तु वह एकाकी है और एकाकी होने से मुख्यार्थ को नहीं छोड़सक्ता, इसलिये उसको "मांस" रूप मुख्यार्थ छोड़कर "मांसल" रूप गौणार्थ का वाचक मानना ठीक नहीं।

सं०-अब उक्त आशङ्का का समाधान करते हैं:-

स्यात् प्रकृतिलिङ्गत्वाद् वैराजवत्। ४४।

पद०-स्यात्। प्रकृतिलिङ्गत्वात्। वैराजवत्।

पदा०-(वैराजवत्) जैसे "वैराज" प्रकृतिभूत मन्त्र के बोधक "साम" शब्द की समीपता से "वैराजपृष्ठ" नामक स्तोत्र का वाचक है वैसे ही (प्रकृतिलिङ्गत्वात्) प्रकृतिभूत द्रव्य के बोधक "सवनीयानां" शब्द की समीपता से "मांस" शब्द भी "मांसल" का वाचक (स्यात्) होसक्ता है, इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं।

भाष्य-जैसे "वैराज" शब्द गानविशेष का वाचक होने पर भी "वैराजसामा" इत्यादि वाक्यों में साम शब्द की समीपता से वैराजशब्द "वैराजपृष्ठ" नामक स्तोत्र का वाचक सर्व-सम्मत है, वैसेही "मांस" शब्द भी "सवनीयानां" शब्द

की समीपता से "मांसल" अर्थ का वाचक होसक्ता है अर्थात् यह बात सत्य है कि शब्दान्तर की समीपता के बिना कोई शब्द मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का वाचक नहीं होसक्ता, परन्तु उक्त सूत्र में जो "मांस" शब्द आया है वह एकाकी नहीं किन्तु उसको भी "सवनीयानां" शब्द की समीपता प्रत्यक्ष सिद्ध है, यदि वह वस्तुतः एकाकी होता तो अवश्यमेव "मांस" रूप मुख्यार्थ का ही वाचक होता, "मांसल" रूप गौणार्थ का नहीं, परन्तु उसके समीप जो षष्ठ्यन्त "सवनीयानां" शब्द पड़ा है वह उसको मुख्यार्थ का वाचक नहीं होने देता।

तात्पर्य्य यह है कि सम्पूर्ण पुरोडाश ब्रीहि अथवा यव किंवा नीवार आदि के ही बनाये जाते हैं अन्य किसी के नहीं, सवनीय शब्द भी मुख्यवृत्ति से पुरोडाश का वाचक सुप्रसिद्ध है, और षष्ठ्यन्त होने से उसका "मांस" शब्द के साथ सम्बन्ध होना भी उचित है परन्तु वह तभी होसक्ता है जब मांस शब्द का अर्थ "मांस" न मानें किन्तु "मांसल" मानें, क्योंकि ऐसा मानने से अन्नत्व धर्म की समानता के कारण सवनीय पुरोडाशों तथा मांसल का सम्बन्ध होना सम्भव है, और लोक में अन्नमय पदार्थ का अन्न के साथ जन्यजनकभाव सम्बन्ध देखा जाता है, मांस तथा पुरोडाशों का नहीं और जो कहीं भी देखा नहीं जाता उसकी कल्पना करना सर्वथा अनुचित है।

सार यह निकला कि जैसे "सिंहोदेवदत्तः" "गङ्गायां ग्रामः" आदि में सिंह देवदत्त तथा गङ्गा ग्राम आदि के परस्पर सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने से सिंह आदि पद मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ के वाचक हैं वैसेही मांस तथा सवनीय के परस्पर

सम्बन्ध की अनुपपत्ति होने से "मांस" पद भी मुख्यार्थ को छोड़कर गौणार्थ का वाचक होसक्ता है, इसलिये उक्त सूत्र में मांस शब्द के मांसल अर्थ करना उचित है, अनुचित नहीं।

सम्पूर्ण अधिकरण का तत्त्व यह निकला कि विकृति यागों में सवनीय पुरोडाशों का प्रकृतिभूत द्रव्य मांसल है, व्रीहि आदि अन्नों के न मिलने पर उक्त द्रव्य के पुरोडाश बनाकर हवन आदि करने चाहियें।

यहां इतना विशेष स्मरण रहे कि जो आधुनिक मीमांसक "अयज्ञिया वै माषाः"=मांसल यज्ञ के अनर्ह हैं, इत्यादि वाक्यों के तात्पर्य्य को न जानकर उक्त अधिकरण में "मांस" शब्द के अर्थ मांस ही करते हैं मांसल नहीं, सो ठीक नहीं, क्योंकि उक्त वाक्यों का यह तात्पर्य्य नहीं कि माष सर्वथा यज्ञ के अनर्ह हैं किन्तु प्रकृति यागों में यथासम्भव व्रीहि आदि का ही उपयोग होना उचित है मांसल का नहीं।

और प्रकृति यागों का जैसे विकृति यागों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है वैसेही "व्रीहि" तथा "मांसल" का भी परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है, कौन नहीं जानता कि देवभूमि हिमालय के निवासी पूर्वप्रथानुसार अद्यावधि भी व्रीहि तथा मांसल को कितना उपयोग में लाते हैं और जिनका इस प्रकार परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है उनका यथासम्भव प्रकृति तथा विकृति यागों में विभागपूर्वक उपयोग होना भी युक्तियुक्त तथा नितान्त सङ्गत है, और आधुनिक मीमांसकों की लीला तो ऐसी भद्दी प्रतीत होती है कि जिसकी कोई सीमा नहीं, आप एक ओर तो मांसल को कदन्न कहकर यज्ञ के अनर्ह कहते हैं, और दूसरी ओर आंख मूंदकर

मांस को याग के अर्ह निरूपण करते हैं, और इसका कोई बिचार नहीं कि मांस होतव्य है किंवा नहीं, और वह हिंसा के बिना कैसे उपलब्ध होसक्ता है और हिंसा सर्व वेद प्रतिषिद्ध होने से कैसे अनुष्ठेय होसक्ती है, सत्य तो यह है कि जब कोई स्वार्थ का आवेश आत्मा में आजाता है तो अर्थ अनर्थ का विवेक समूल नष्ट होजाता है और उसके नष्ट होजाने से निन्दित से निन्दित कर्म करने में भी सङ्कोच नहीं रहता, यदि ऐसा न होता तो जहां अन्न के पुरोडाश बनाये जाते हैं वहां मांस के बनाने की क्यों कल्पना कीजाती और यह विचार क्यों न उपस्थित होता कि मांस के पुरोडाश कैसे बन सकेंगे और वह उनके लिये कहां से लाया जायगा और जिस याग में मांस के पुरोडाश बनाये जायेंगे उसके अनुष्ठान से पुण्य होगा किंवा वेद विरुद्ध हिंसा के कारण उलटा पाप होगा, यह तो सर्वजन सिद्ध बात है कि यजमान पुण्य की लालसा से यागानुष्ठान में प्रवृत्त हुआ है यदि उसको विदित होजाय कि इसके अनुष्ठान से उलटा पाप होगा तो वह उसके अनुष्ठान में कदापि प्रवृत्त नहीं होसक्ता, परन्तु इस बात का अनुसन्धान किसको हो सभी तो मांसास्वादन के रस में मग्न हैं, वैदिक सिद्धान्त चाहें नष्ट हो अथवा भ्रष्ट हो इससे क्या मूलतत्त्व जिह्वारस तो प्राप्त होजाता है, इस बात को प्रत्येक बिचारशील जानते हैं कि याग की नीव केवल प्रजा हितार्थ ही डाली गई है और याग से जिस प्रकार प्रजा का हित होता है उसका वर्णन भी संक्षेप से मनु आदि स्मृति ग्रन्थों में किया गया है कि :-

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।

आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततःप्रजाः । मनु० ३ । ७६

अग्नि में डाली हुई हविः किरणों द्वारा आदित्यमण्डल को पहुंचती है और वहां मेघ रूप होकर वृष्टि करती है और उससे अन्न होता और अन्न से प्रजा सुख सम्पत् को प्राप्त होती है । गीता ३ । १० में भी कहा है कि :-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥

हे अर्जुन ! परमात्मा ने यज्ञों के सहित प्रजा को उत्पन्न करके यह आज्ञा दी कि हे प्रजा ! यह यज्ञ तुम सबके मनोरथ पूर्ण करनेवाला है, इसका यथाविधि अनुष्ठान करके सर्वदा वृद्धि को प्राप्त हो ।

और उक्त वर्णन करने से यह निःसन्देह बुद्धिस्थ होजाता है कि यज्ञ में ऐसी आहुतियों का प्रक्षेप होना उचित है कि जिनसे वायु शुद्ध होकर मेघ बनें और मेघों से वृष्टि तथा वृष्टि से अन्नादि के द्वारा प्रजा का हित हो ।

अब विचारना यह है कि मांस की आहुति से वायु शुद्ध होती है किंवा नहीं, पक्षपात शून्य सब विद्वान् इस बात में सहमत हैं कि मांस आदि पदार्थ वायु के शोधक नहीं किन्तु घृत आदि पदार्थ ही उसके शोधक हैं जैसाकि "संस्कारविधि" में कथन किया है कि हवनीय द्रव्य चार प्रकार के होते हैं जिनमें "प्रथम सुगन्धित"=कस्तूरी, केशर, अगर, तगर, श्वेतचन्दन, इलायची, जायफल, जावित्री, आदि "द्वितीय पुष्टिकारक"= घृत, दूध, दधि, फल, कन्द, अन्न=चावल, गेहू, उड़द आदि

"तीसरे मिष्ट"=शक्कर, सहत, छुहारे, दाख आदि "चौथे रोग नाशक"=सोमलता, गिलोय आदि ।

जबकि मांस आदि पदार्थ आहुति द्वारा वायु के शोध नहीं प्रत्युत दुर्गन्ध फैलाकर रोगोत्पादक हैं तब उनकी आहु देना कैसे कल्पना किया जाय और आधुनिक मीमांसकों वेद शास्त्र शिष्टाचार विरुद्ध उक्त विचित्र कल्पना का वै आदर किया जाय, अस्तु, अब विचारणीय यह है कि इन उक्त कल्पना मीमांसादर्शन से कहां तक सम्बन्ध रखती मीमांसादर्शन का आद्योपान्त पाठ करने से ऐसा कोई सूत्र न मिलता जिससे यह बात प्रमाणित होकि याग में मांस पकाया जाता है, और आधुनिक लोग अपने मत की पुष्टि लिये जिन सूत्रों को प्रायः प्रमाण देते हैं वह "**पशोरेव-हविष्ट्वं समस्तचोदितत्वात्**" मी० १० । ७ । १ "**पशौ च पुरोडाशे समानतन्त्रं भवेत्**" मी० ११ । ३ । केवल यह दो ही मुख्य सूत्र हैं, इन सूत्रों का अर्थ जो कुछ कि जाता है वह अत्यन्त ही आश्चर्य्यजनक है, प्रथम सूत्र तथा द्वित सूत्र में जो पशु शब्द आया है वही इनको अपने मनोरथ सि का एकमात्र अवलम्ब है, इसीके सहारे आप मीमांसादर्शन पशुहिंसा का भाण्डार कहकर कलङ्कित करते हैं, इनके मत उक्त दोनों सूत्रों का यह अर्थ है कि श्रुति वाक्यों में समस्त का विधान पाया जाता है, इसलिये सम्पूर्ण पशु का एकही ह बनाना अर्थात् काट २ अग्नि में न डालना ज्यों का त्यों बनाया डाल देना (१) पशु पुरोडाश में वाणि संयम का तन्त्र अनुष्ठान होना चाहिये(१७)ऐसे अर्थ करने से आधुनिकों का तात्प